Harsha
Naisadhcharitām
mahakavyam

SHRI JAGADGURU VISHWARADHYA JNANAMANDIR
(LIBRARY)
JANGAMAWADIMATH, VARANASI

*****

Please return this volume on or before the date last stamped. Overdue volume will be charged ten paise per day.

श्रीमहाकविहर्षप्रणीतं

ीयचरितं महाकाव्यम्

बी० ए०, एल-एल० बी०, इत्युपाधिभाजा

पं० श्रीऋषीश्वरनाथभट्टेन

राष्ट्रभाषायामनूदितम्

तच्च

ीस्थ 'संस्कृतबुकडिपो' इत्यस्याधिपैः

ाडीलाल ऐण्ड सन्स महानुभावैः

सिद्ध 'ज्ञानमण्डल' नाम्नि यन्त्रालये

मुद्रयित्वा प्रकाशितम्

[मूल्यम् ९]

प्रकाशक
श्री जे० एम० यादव,
प्रोप्राइटर
मास्टर खेलाड़ीलाल ऐण्ड सन्स,
संस्कृत-बुकडिपो
कचौड़ीगली, बनारस सिटी।

मुद्रक
ओम् प्रकाश कपूर
ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी।
३३१५-०५

अनुवाद

प्राक्कथन

संस्कृत-साहित्य के प्रख्यात तथा प्रायः सबसे कठिन महाकाव्य—श्रीहर्ष-कृत नैषध-चरित—के अत्यन्त अविकल और सरल अनुवाद के कारण श्री ऋषीश्वर नाथ भट्ट धन्यवाद के पात्र हैं। इस महाकाव्य में नलदमयन्ती की कहानी है जो संसार भर में प्रसिद्ध है। नैषधचरित उस समय लिखा गया था जब संस्कृत-साहित्यका विकास अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया था और कवि कलाओं की माया में तथा अनुप्रास और अलंकारों के निरन्तर प्रयोगों से भाषा पर अपने अधिकार में और विद्वत्ता के विलास में अपने को भुला दिया करते थे। इस कारण नल-दमयन्ती के प्रेम की कहानी बहुत श्रम से इस प्रकार निर्मित की गई कि उसका रस केवल विद्वान् ले सकते थे और यह महाकाव्य संस्कृत के काफी अच्छे पण्डितों के लिए भी सरल नहीं है। ऐसी दशा में इस प्रसिद्ध महाकाव्य का सरल और शुद्ध हिन्दी-गद्यमें अनुवाद करके श्री ऋषी-श्वर नाथ भट्ट ने हिन्दी के तथा संस्कृत के भी पाठकों की प्रशंसनीय सेवा की है। मुझे हर्ष है कि इसे पद्यमें रूपान्तर करने का प्रयास रोक लिया गया। क्योंकि ऐसे प्रयास, साधारणतः असन्तोषजनक होने के अतिरिक्त, मूलको सरलता-पूर्वक समझाने के लिए सदा सफल नहीं होते। श्री ऋषीश्वर नाथ भट्ट ने जो अनुवाद प्रस्तुत किया है उसमें विशुद्धता का त्याग किये बिना कहानी का सिलसिला जारी रहता है। मैं खूब समझता हूँ कि श्री ऋषीश्वर नाथ भट्ट ने जो दुष्कर श्रम अपने ऊपर लिया है वह केवल साहित्य की सेवा के लिए ही लिया है और मुझे विश्वास है कि हिन्दी जाननेवाली जनता इस प्रकाशन का स्वागत करेगी, केवल यह समझ कर ही नहीं कि यह एक प्रख्यात कहानी का विशिष्ट स्थान है बल्कि इससे भी कि संस्कृत अब तक हमारे सब वर्तमान

भारतीय साहित्य की प्रेरक तथा मूल का स्रोत बनी हुई है। इसके अतिरिक्त अपने अपने समय की विद्वत्ता के अनुसंधान के क्षेत्र में ये महाकाव्य प्रायः ज्ञान के समुद्र हैं और हमें भारत की महिमा समझने में सहायता देते हैं। जब नैषध—चरित की रचना हुई थी उस समय का मध्य-कालीन भारत इतिहास में एक सबसे अधिक मनोरंजक तथा अपूर्व अध्याय है क्योंकि इसी समय हिन्दुओं की सभ्यता पूर्णता की चोटी पर पहुँच गई थी जो कदाचित् देशके इतिहास में अनुपम थी लेकिन यह एक जाति का देदीप्यमान विलास था जो पहले से ही क्षीण हो रहा था क्योंकि रचना-शक्ति की उग्रता की चिनगारी तथा संतुलित अभिव्यंजना का प्रतिबंध परिभाषा तथा विद्वत्ता के अपरिमित विलास में खो गये थे। अध्यात्मिक सूत्र कुछ शिथिल हो गया था तथा कलाओंके और साहित्य के क्षेत्र में पूर्णता का केवल प्रताप उतना इस बात का द्योतक नहीं है कि देशका पौरुष सीमित हो गया था जितना इस बात का कि सभ्यता का प्राचुर्य क्षीण हो गया था जो कि उस समय अपनी चरम सीमा को पहुँच गई थी। और यह समय दूर दूर पूर्वीय संसार में अपनी प्रतिशाखाओं से रहित नहीं था पर इस अध्याय का संबंध इतिहास से है।

२—इस महा काव्य में वर्णित जीवन का क्षणमात्र अवलोकन करना भारतीय प्रादुर्भाव का एक अनुभव है क्यों कि भारत इस समय तक दाता था—अर्थात् सुखी और रसिक मानवता का स्रोत तथा आध्यात्मिक प्रवृत्ति का जनक था। मुझे आशा है कि हिन्दी के रूपान्तर में यह कठिन संस्कृत ग्रंथ गंभीर प्रकृति के जिज्ञासु को आकृष्ट करेगा तथा उसे प्रेरणा देगा।

एन० सी० महता,
आई० सी० एस०

शिमला
ता० ६ मई, १९४४।

निवेदन

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥

श्रीहर्ष बड़ी उच्च कोटि के कवि थे। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। संस्कृत भाषा पर उनका पूरा अधिकार था। उनकी कल्पनाओं की पहुँच सर्वत्र थी। अतिशयोक्ति कहने में कोई कवि उनसे टक्कर न ले सका। जहाँ तक काव्यों का संबंध है, क्लिष्टता और जटिलता में नैषध-चरित अपना सानी नहीं रखता। उस में कवि ने जानबूझ कर कहीं कहीं ऐसी ग्रंथियाँ लगा दी हैं जो गुरु-कृपा के विना सुलझ नहीं सकतीं।

नैषध-चरित की टीकाएँ

महामहोपाध्याय पण्डित शिवदत्त शास्त्री ने नैषध-चरित की तेईस टीकाओं का उल्लेख किया है। इनमें कुछ उपलब्ध हैं, कुछ नहीं; कुछ मुद्रित हैं, कुछ अमुद्रित। नारायण भट्ट कृत प्रकाश टीका का सबसे अधिक प्रचार है। इसमें बड़ी विशद और विस्तृत व्याख्या दी गई है तथा मूलके प्रायः जितने अर्थ हो सकते हैं उन सबका समावेश किया गया है।

अंग्रेजी में अनुवाद

जाहँट कालेज आसाम के प्रिंसिपल तथा संस्कृत के सीनियर प्रोफेसर श्रीयुत कृष्णकान्त सन्दिकै एम० ए० ने नैषध-चरित का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। अनुवाद के साथ साथ महत्त्व-पूर्ण श्लोकों के संबंध में भिन्न भिन्न टीकाओं के अंश, दार्शनिक विषयों पर गवेषण-पूर्ण नोट तथा शब्दानुक्रमणिका होनेसे पुस्तक का महत्त्व बहुत बढ़ गया है।

हिन्दी में पद्यात्मक अनुवाद

हिन्दी में नैषध-चरित का एक पद्यात्मक अनुवाद भी है। इसके रचयिता

श्रीगुमान मिश्र हैं। इन्होंने पिहानी के अकबर अली खां के आश्रय में सं० १८०१ वि० में अनुवाद किया। अनुवाद बड़ा सरस है।

प्रकृत अनुवाद

मैंने प्रकाश टीका तथा अंग्रेजी अनुवाद की सहायता से नैषध-चरित का अध्ययन करके अनुवाद किया है। इन दोनों से मुझे पूरी पूरी सहायता मिली है अतः मैं इन दोनों के लेखकों का हृदयसे कृतज्ञ हूँ। हिन्दी-काव्य-रसिकों के लिए यह अनुवाद किया गया है और इसको सर्व-जन-सुलभ बनाने का उद्योग किया गया है। टिप्पणियों की संख्या नहीं बढ़ाई गई है। कुछ शृंगारिक वर्णन बड़े ही खुले शब्दों में थे। उनका अनुवाद छोड़ दिया गया है। तथापि ऐसे कठिन ग्रंथ का अनुवाद करना मेरी अनधिकार-चेष्टा है। यदि हिन्दी-जनता को इस अनुवाद से श्रीहर्ष की क्लिष्ट लोकोत्तर कविताका कुछ स्वाद मिल सका तो मेरा श्रम सफल होगा।

कृतज्ञता

अन्तमें मैं उन महानुभावों की उत्तमर्णता स्वीकार करता हूँ कि जिन्होंने कठिन स्थल हल करने में मुझे पूरी पूरी सहायता दी। उनमें लश्कर (गवालियर) वास्तव्य श्री ६ पण्डित सदाशिव शास्त्री मुसलगावकर, धर्मशास्त्राचार्य, तथा आगरा कालेज में संस्कृत-हिन्दी विभाग के अध्यापक श्री पण्डित कैलाशचन्द्र मिश्र, एम० ए०, साहित्य-शास्त्री, मुख्य हैं, जिनकी विद्वत्ता से मैंने पूरा पूरा लाभ उठाया है। इनके अतिरिक्त आगरा बलवन्त राजपूत कालेज के अध्यापक मित्रवर श्री गजानन शास्त्री से अनेक प्रकार की सहायता बराबर मिलती रही। अतः मैं इन सबका ऋणी हूँ।

पाठकों से प्रार्थना

पुस्तक काशी में छपी है और वहीं प्रूफ देखे गये हैं। अतः जो खटकने वाली अशुद्धियाँ दृष्टि-गोचर हुईं उनको शुद्धिपत्र में दे दिया है। पाठक-गण अशुद्धियों को शुद्ध करके पढ़ने की कृपा करें।

ऋषीश्वर नाथ भट्ट

आगरा

१७—९—४९

भूमिका

श्रीहर्ष-कृत नैषध-चरित की गणना संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों में है। साहित्यदर्पण में महाकाव्य के जो लक्षण बताये हैं उन सबका नैषध-चरित में समावेश है। नायक हैं निषिध देश के अधिपति राजा नल, जो धीर उदात्त गुणों से युक्त कुलीन क्षत्रिय हैं। शृंगार रस इसका अङ्गी है और दूसरे रस अङ्ग हैं। कथानक इतिहास-प्रसिद्ध महाभारत में वर्णित नलोपाख्यान है। इसमें बाईस सर्ग हैं और नियमानुसार वृत्त को रक्षा की गई है। प्राकृत दृश्यों का वर्णन बड़े उत्साह से किया है और उसमें वैचित्र्य भी है। न्याय और धर्म की विजय अंत में होती है और नायक सब विपत्तियों से त्राण पाकर नायिका के पुनर्मिलन से सुख-समृद्धि का भागी होता है। इस प्रकार महाकाव्य की दृष्टि से नैषध-चरित की सर्वाङ्ग-सुन्दर उत्कृष्ट रचना कर कवि कृतकार्य हुआ है, मानों महाकाव्य के सभी लक्षणों को सन्निविष्ट कर उनको चरितार्थ करने की दृष्टि से कवि रचना में प्रवृत्त हुआ हो।

श्रीहर्ष कान्यकुब्ज के राजा जयचन्द के सभा-पंडित थे। बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राजा जयचन्द्र सिंहासनासीन थे। यही काल श्रीहर्ष की कविता का माना जाता है। संभवतः जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र के समय में ही कवि ने ख्याति प्राप्त कर ली थी और राज्य से सम्मानित हो चुके थे। कवि के पिता का नाम हीर और माता का मामल्ल देवी था। राजा विजयचन्द्र की सभा के हीर प्रधान पंडित थे। एक ऐसी किंवदंती है कि मिथिलाके प्रसिद्ध विद्वान् उदयनाचार्य से शास्त्रार्थ में पराजित होकर हीरने अपने प्रिय पुत्र से प्रतिज्ञा कराई थी कि वह उदयनाचार्य को परास्त कर अपने पिताके अपमान का एक दिन बदला ले। इस प्रतिश्रुति को सफल करने को श्रीहर्ष ने गंगा तीर पर "चिंतामणिमंत्र" का अनुष्ठान किया जिससे प्रसन्न होकर भगवती त्रिपुराने

प्रत्यक्ष दर्शन देकर प्रकाण्ड पाण्डित्य का सहर्ष वरदान दिया। इन्होंने उदयनाचार्य को हराकर अपने पिता का वाङ्मय तर्पण किया और पिताकी अंतिम आज्ञापालन कर पितृ-ऋण का मोचन किया।

एक जनश्रुति और भी विचित्र है। 'जब वे नैषध-चरित की रचना कर चुके तब उसे काव्य-प्रकाश के रचियता मम्मटाचार्य को दिखाया। वे भी काव्य-प्रकाश समाप्त कर चुके थे। नैषध-चरित देख कर उन्होंने कहा कि यदि यह रचना पहिले मिली होती तो काव्य-दोष के उदाहरण खोज कर काव्य-प्रकाश में देने में जो परिश्रम करना पड़ा उससे वे बच जाते अर्थात् नैषध-चरित में काव्य के सभी दोष प्रचुरता से विद्यमान हैं। किसी महाकाव्य की ऐसी संक्षिप्त और व्यंग्यपूर्ण अनोखी समालोचना कभी सुनी न गई होगी। परन्तु इससे भी अधिक मनोरंजक एक और जनश्रुति भी है। वर-प्राप्त कवि की उक्ति इतनी जटिल और दुरूह होने लगी कि उसको कोई समझ ही नहीं पाता था। अतएव कवि को पुनः इष्ट की आराधना से उपचार प्राप्त करना पड़ा। उपाय भी बड़ा विचित्र बताया गया। अति तेजस्वी प्रतिभा को सह्य बनाने के लिए रात में सिर को भिगोने की आज्ञा मिली और दही पीने को बताया गया। तब कहीं प्रतिभा की गरमी शान्त हुई और तज्जन्य काव्य पंडितों को बोधगम्य हो सका।

जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि अपने जीवन-काल में ही श्रीहर्ष ने यश प्राप्त किया और यह कहा जा सकता है गत एक सहस्र वर्ष में जितने भी संस्कृत कवि हुए हैं उनमें श्रीहर्षका स्थान अति उच्च है और जैसे-जैसे समय बीतता जाता है उनकी कीर्ति निखरती जाती है।

श्रीहर्ष केवल एक उत्कृष्ट कवि ही नहीं थे वे एक अद्वितीय विद्वान् भी थे। विद्या और कवित्व-शक्ति दोनों के वरदहस्त एक ही व्यक्ति को सौभाग्यशाली बनावें—ऐसा कोई नियम नहीं हैं। संसार में अनेक विद्वान् हो गये हैं जिनकी काव्यरचना में न तो प्रवृत्ति हुई, न वे सफल कवि हो सकते थे। साथ में ऐसा भी देखा गया है कि थोड़ी विद्या से ही कवि की प्रतिभा चमक

उठती है। अधिक विद्वान् न होते हुए भी काव्य-रचना में पूर्ण सफलता मिल जाती है।

प्रायः ऐसा देखा गया है कि गूढ़ विचार-शक्ति और विद्या कविता को पनपने नहीं देती। ऐसे लोग सफल समालोचक होते हैं, ऊँचे कवि नहीं। श्री-हर्ष उन थोड़े से उद्भट विद्वानों में थे जिनकी गणना उत्कृष्ट कवियों में भी होती है।

उनका ज्ञान काव्य और साहित्य में सीमित न था। यह निर्णय करना कठिन है कि उनके यश को स्थायी बनाने का श्रेय उनके काव्य को है अथवा उनके खण्डनखण्ड खाद्य नामक अद्वैत सिद्धान्त प्रतिपादक वेदान्त ग्रंथ को। इसके जोड़ का दूसरा ग्रन्थ नहीं। इस चोटी के ग्रन्थ के पठन-पाठन की योग्यता से पाण्डित्य का यथार्थ परिचय माना जाता है। शास्त्रज्ञान की गम्भीरता और अचूक तर्क-प्रणाली का परिचायक यह अद्भुत ग्रंथ है।

श्रीहर्ष के कई अन्य ग्रंथ भी उपलब्ध हैं और उनसे कवि के सम्बन्ध में कुछ निश्चित बातों का पता भी चलता है। परन्तु यह साहस पूर्वक कहा जा सकता है कि उनकी कीर्ति को अमर बनाने के लिए नैषध-चरित अथवा खण्डन खण्ड खाद्य ही पर्याप्त है। दोनों ने मिलकर तो दो क्षेत्रों में उनको चिर स्मरणीय बना दिया है।

उनको ऐसी प्रतिभा कैसे प्राप्त हुई? विद्या के लिए घोर तपस्या, अथक परिश्रम करना पड़ता है। यह सभी जानते हैं। परन्तु इन से बढ़कर सहायक होती है ईश्वर की आराधना। श्रीहर्ष उच्चकोटि के योगी थे। जो पद परिश्रम-साध्य नहीं होता वह देवता के प्रसाद से ही प्राप्त हो सकता है। पदवी-लोलुप विद्यार्थी-परीक्षा के प्रश्नपत्रों तक अपने उद्देश्य और ज्ञान को सीमित रखने वाले—यह प्रायः भूल जाते हैं कि अविश्रान्त परिश्रम के अतिरिक्त ईश-कृपा बिना न तो असाधारण पाण्डित्य की प्राप्ति होती है न प्रतिभा का प्रकाश होता है। हमारे समकालीन श्रेष्ठ विद्वानों की जीवनी में इसी के प्रमाण मिलते हैं।

विद्योपार्जन के समस्त साधनों के साथ किसी इष्ट देवता का प्रसाद पाये बिना

उद्भट विद्वान् बनना असंभव है। श्रीहर्ष को सौभाग्य से यह प्राप्त था और उसी के फल-स्वरूप आज उनकी कीर्ति जीवित है।

नैषध-चरित की मूल कथा महाभारत से ली गई है। महाभारत के अन्तर्गत नल-दमयन्ती आख्यान जगत् प्रसिद्ध है। यूरोप में संस्कृत के विद्यार्थी उसे पढ़ते हैं और हमारे देश में भी उसकी लोकप्रियता प्रसिद्ध है। मूल कथानक श्रीहर्ष की उपज न होने से कोई हानि नहीं। महाभारत का ऋणी कौन कवि नहीं है ? "व्यासोच्छिष्टं जगत् त्रयम्"। देखना यह है कि श्रीहर्ष ने उस कथानक को कैसे सजाया और उनकी प्रतिभा द्वारा सजकर उसका क्या रूप हो गया। कथा-सरित्सागर में भी नल-दमयन्ती की कथा आती है। उसकी छाप[१] भी नैषध चरित में दिखाई देती है।

महाभारत में वृहदश्व ने युधिष्ठिर से इस आख्यान को कहा है। वन पर्व के ५२ वें अध्याय से आरम्भ होकर नलोपाख्यान ७९ वें अध्याय में समाप्त होता है। बहुत विस्तृत कथा है। घटनाएँ तो मुख्यतः वेही हैं परन्तु काव्य-चातुर्य दिखाने के लिए श्रीहर्ष को कई बात बढ़ाकर कहनी पड़ी हैं।

श्रीहर्ष ने २२ सर्गों में अपने महाकाव्य को समाप्त किया है। सर्ग क्रमानुसार नैषध चरितका कथानक इस प्रकार है—

१—विदर्भ देश के राजा भीम की कन्या दमयन्ती का, राजा नल की प्रशंसा सुनकर, उनमें अनुरक्त होना। इधर दमयन्ती का असामान्य लावण्य

१—दोनों की कथाओं में एक खास भेद पाया जाता है।

नलोपाख्यान में नल दूत बन कर गये तब उन्होंने स्पष्ट कह दिया:—

नलं मां विद्धि कल्याणि देवदूत मिहाऽऽगतम् (बनपर्व-५५-२२)

कथासरित्सागर में संदेश कहने के बाद दमयन्ती का उत्तर सुनकर नल ने अपने को प्रकट किया:—

सा तं श्रुत्वाऽब्रवीत् साध्वी देवास्ते सन्तु तादृशाः।
तथापि मे नलो भर्ता न कार्यं त्रिदशैर्मम ॥२६५॥
इति सम्यग्वचस्तस्याः श्रुत्वात्मानं प्रकाश्य च ॥२६६॥

अलंकारवती लम्बक-तरंग ६

सुनकर राजा नल को भी उसे प्राप्त करने की अभिलाषा होना। दमयन्ती में अनुराग से व्याकुल होकर राजा नल का, आराम के बहाने, राजधानी के बाहर अपने एक उपवन में जाना। वहाँ सरोवर के किनारे एक सुनहरा हंस देखना। राजा के द्वारा हंस का पकड़ा जाना। उसका बड़ी करुणा-पूर्ण बातें कहना। दयार्द्र होकर राजा का उसे छोड़ना।

२—इस उपकार का प्रत्युपकार करने के लिए हंसके द्वारा नल के सन्मुख दमयन्ती का वर्णन। फिर नल की अनुमति से हंस का राजा भीम की राजधानी पहुँचना और सखियों के साथ दमयन्ती को देखना।

३—दमयन्ती जहाँ थी उसके पास ही हंस का उतरना; दमयंती का उसे पकड़ने के लिए उद्योग करना; उसका दमयन्ती को कुछ दूर लेजाना और वहाँ मनुष्य-वाणी से नल का वर्णन करना। दमयन्ती का नल के साथ विवाह करने की इच्छा प्रकट करना तथा हंस से सहायता माँगना। उससे वादा करके हंस का नल की राजधानी को लौटना और वहाँ अशोक वृक्ष के नीचे नल को पाना।

४—कामाग्नि से व्याकुल होकर दमयन्ती के द्वारा चन्द्रमा का तथा कामदेव का उपालंभ। फिर दमयन्ती को मूर्च्छा का आना जिसका वृत्तान्त सुनकर उसके पिता तथा मंत्री का उसे देखने आना।

५—दमयन्ती के स्वयंवर की तैयारी के समय पर्वत ऋषि के साथ नारद मुनि का स्वर्ग जाना। उनका इन्द्र से दमयन्ती के स्वयंवर का समाचार कहना। नारद के चले आने के बाद अग्नि, वरुण और यम के साथ इन्द्र का, दमयन्ती के स्वयंवर में जाने के लिए, प्रस्थान करना। रास्ते में नल से उनकी भेंट होना। दमयन्ती के पास अपना संदेश ले जाने के लिए उनका नल को राजी करना तथा उसे अदृश्य हो जाने की शक्ति देना।

६—नल का कुंडिनपुर में आना और दमयन्ती को देखना। नल के साथ ही साथ देवताओं को अपनी दूतियाँ भेजना। नल के द्वारा अदृश्य होकर उन सबकी बातें सुनना।

७—नल के द्वारा मनमें दमयन्ती के रूप की प्रशंसा तथा दमयन्ती के और उसकी सखियों के सन्मुख नल का अपने को प्रकट करने का निश्चय।

८—रनवास में एक मनुष्य को अचानक आया देख कर सखियों को विस्मय! दमयन्ती के द्वारा शान्ति-पूर्वक नल का स्वागत। दमयन्ती का दिया हुआ आसन ग्रहण करके नल के द्वारा अपने को देवताओं का दूत बतलाया जाना। फिर नल के द्वारा चारों देवताओं के अनुराग का वर्णन और उनमें से किसी को स्वीकार करने की प्रार्थना।

९—दमयन्ती के द्वारा नल के नाम और वंश के प्रश्न पर नल के द्वारा उत्तर की उपेक्षा। दमयन्ती से किसी देवता को स्वीकार करने के लिए नल का बार बार आग्रह। नल के साथ पाणि-ग्रहण के अभाव में दमयन्ती का आत्म-घात करने के लिए कहना। तब देवताओं की अनुमति के विरुद्ध नल के साथ विवाह असम्भव बतला कर नल का समझाना।

यह सुनकर दमयन्ती को नल का मिलना संभव नहीं समझना; दमयन्ती का विलाप और उसका चाहना कि उसकी मृत्यु की खबर नल के पास पहुँच जाय। दमयन्ती के विलाप से नल का हृदय पिघलना और अपना कर्त्तव्य भूलना। इसके बाद नल को अपना नाम बतलाना, तब दमयन्ती की सखी की नल के साथ बातचीत। दमयन्ती का नल से देवताओं के साथ स्वयंवर में आने का इशारा करना। फिर नल का देवताओं के पास लौट आना।

१०—दमयन्ती के स्वयंवर का वर्णन जहाँ पाँच नल थे—एक सच्चा तथा चार नल-रूपधारी देवता। स्वयंबर में उपस्थित नायकों का वर्णन करने के लिए विष्णु भगवान् का सरस्वती को भेजना।

११—सरस्वती के द्वारा वर्णन आरंभ होना। देवताओं के बाद राजाओं का वर्णन। पुष्कर, कुश, प्लक्ष, शाक, क्रौंच, शाल्मल, तथा जम्बू-इन द्वीपों के राजाओं का वर्णन। दमयन्ती के द्वारा उनकी अस्वीकृति। इनके उपरान्त गौड़, मथुरा, तथा काशी के राजाओं का वर्णन। पर दमयन्ती के द्वारा इनमें से किसी को स्वीकार न करना।

१२—सरस्वती के द्वारा अयोध्या, पांड्य, महेन्द्र, कांची, नैपाल, मलय, मिथिला, कामरूप, उत्कल तथा मगध के राजाओं का वर्णन। पर दमयन्ती का उन पर ध्यान न देना।

१३—सब राजाओं को अस्वीकार करने पर दमयन्ती का पाँचों नलों के पास ले जाया जाना। सरस्वती के द्वारा श्लोकों से उनका वर्णन। श्लोकों का एक अर्थ देवताओं में तथा दूसरा नल में लगना। दमयन्ती को उनमें से किसी को नल नहीं समझना। तब सरस्वती के द्वारा नल का वर्णन होना पर उसकी भाषा का अस्पष्ट होना। इससे दमयन्ती की व्याकुलता का बढ़ना।

१४—व्यग्रता से दुखित होकर दमयन्ती के द्वारा स्वयंवर में ही देवताओं का पूजन। तब कुछ चिन्हों से नल के साथ देवताओं का भेद मालूम पड़ जाना। सरस्वती का, दमयन्ती को, देवताओं के सन्मुख ले जाना तथा उनकी कृपा की प्रार्थना करना। तब देवताओं की अनुमति से नल के कंठ में दमयन्ती के द्वारा जय-माला पहिनाना। फिर देवताओं को अपना रूप धारण करना तथा उनके और सरस्वती के द्वारा नल-दमयन्ती को वर दिया जाना। इसके अनन्तर देवताओं का स्वर्ग जाना।

१५—नल और दमयन्ती के श्रृङ्गार का अद्भुत वर्णन। बरात का कुंडिन पुर के लिए प्रस्थान।

१६—बरात का वर्णन। बरात के टेहलों का, भोज का तथा बरातियों के साथ परिहास का वर्णन। पाँच छः दिन बाद बरात का वापस लौटना।

१७—देवताओं को स्वर्ग के रास्ते में एक काला झुंड मिलना जिसमें लोभ, क्रोध, काम और मोह का होना। उनका धर्म की निंदा करना तब देवताओं के द्वारा उनकी भर्त्सना। फिर कलि का, सन्मुख आकर, अपना दमयन्ती के स्वयंवर में जाने का इरादा प्रकट करना। तब देवताओं को स्वयंवर हो चुकना तथा दमयन्ती की नल का पसंद करना बतलाना। इस पर कलि के द्वारा नल के राज्य में जाकर उसे पराभव करने की इच्छा प्रकट करना। देवताओं के द्वारा कलि को इस निकृष्ट इरादे से रोकने का यत्न।

द्वापर के साथ कलि का निषिध-देश में पहुँचना तथा वहाँ धर्म के कार्य देखकर निराश होना। कलि का नल के बाग में विभीतक के वृक्ष में आश्रय लेना।

१८—नल के महल का तथा दमयन्ती के साथ नल की क्रीड़ा का वर्णन।

१९—प्रभात-वर्णन।

२०—दमयन्ती और उसकी सखी कला के साथ नल के परिहास का वर्णन।

२१—कर-दाता नृपतियों से मिलकर नल का स्नान तथा देवार्चन करना। दोपहर का भोजन करके नल का दमयन्ती के साथ बैठना तब एक सखी का कोयल को लेकर वहाँ आना और उनकी प्रशंसा में कोयल का गाना। तोते के द्वारा उन गानों की नकल।

२२—नल-दमयन्ती के द्वारा चन्द्र-बिंब का वर्णन।

नैषध-चरित की लोकप्रियता इसी बात से स्पष्ट है कि उसपर कम से कम आठ टीकाएँ उपलब्ध हैं। उनमें नारायण कृत प्रकाश टीका सबसे अधिक प्रसिद्ध है। टीकाओं से पाठ भेद का भी पता चलता है। अधिक पाठ भेदों का होना भी एक प्रकार से इस बात को प्रमाणित करता है कि यह काव्य काफी लोकप्रिय रहा है। कवि ने कथानक ऐसा लिया है जिससे साधारण लोग भी परिचित हैं। नल-दमयन्ती की कथा लोक-प्रसिद्ध है परन्तु उसको जो रूप कवि ने दिया है उसका रसास्वादन तो अच्छे संस्कृतज्ञ और काव्य पारखी के लिए ही संभव है।

भाषा सरल और सुबोध नहीं कही जा सकतीं परन्तु लोकोक्तियाँ और सूक्तियाँ प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। भाव गम्भीर हैं। एक बार पढ़ जाने से पूरे अर्थ की उपलब्धि नहीं होती। कवि ने सर्वत्र पाठक की विचार शक्ति का उद्बोधन किया है। यदि पाठक अपनी कल्पना और भावग्राहकता का परिचय न दे तो कवि की गहराई को पहुँचना संभव नहीं।

श्रीहर्ष के समक्ष काव्य की दो धारायें थीं। एक रस-प्रधान और दूसरी अलंकार-प्रधान। कवि की विशेषता यह है कि नैषध-चरित में दोनों धाराओं

का अपूर्व समन्वय देखने को मिलता है। समन्वय-पद्धति में कविने ध्वनि का विशेष रूप से आश्रय लिया है। वाच्यार्थ को लाँघ कर जब व्यञ्जना से अर्थ की प्रतीति होती है तब उसे ध्वनि कहते हैं और यही उत्तम काव्य का लक्षण माना गया है। यदि भावों को शब्दों के साधारण और ऊपरी अर्थ ने सीमित कर दिया तो फिर वाक्यों में चमत्कार ही क्या रहा? श्री हर्ष ने ध्वनि का आश्रय लेकर काव्य को जैसा सजाया है उसमें कोई उनसे बढ़कर नहीं माना जाता।

दूसरा कारण विशेष चमत्कार का है अलंकारों का उपयोग। इसमें भी कवि सिद्ध-हस्त है। अलंकार-शास्त्र के नियमों को बड़ी सुन्दरता से निभाया है और कई ऐसे अलंकारों का भी उपयोग किया है जिनका उल्लेख शास्त्रों में मिलता नहीं। अलंकारों के समीचीन उदाहरण नैषधचरित में प्रचुरता से प्राप्त हैं।

अलंकारों पर ऐसा विलक्षण अधिकार प्राप्त होने से तो यह शंका हो सकती है कि वाग्विलास में ही कवि फँस कर न रह गया हो परन्तु श्रीहर्ष में यह बात नहीं है। भाव और कल्पना को अलंकार दबा नहीं सके। आभूषणों ने नैसर्गिक शोभा को ढँक नहीं दिया अपितु सौन्दर्य को चमका दिया है। भाषा पर तो कवि को असाधारण अधिकार है। अनुप्रास और यमक तो सहज स्वाभाविक रूप से वाणी द्वारा प्रवाहित होते हैं। कविको शब्द-योजना के लिए थोड़ा भी परिश्रम नहीं करना पड़ा। अनुप्रासों की छटा तो वास्तव में निराली है। फिर केवल यही नहीं कि उनमें कृत्रिमता नहीं है। अर्थ और शब्द परस्पर एक दूसरे के पोषक हैं। उनकी मैत्री विलक्षण चमत्कार दिखाती है।

श्लेष की अद्भुत छटा देखनी हो तो स्वयंवर का वर्णन देखना चाहिए। 'पंचनली' उपाख्यान संस्कृत-साहित्य की एक अनमोल वस्तु है। अनूठी उक्तियाँ, उदात्त कल्पनायें, अलंकारों से विभूषित मँजी हुई पदावली और गंभीर भावनाओं के साथ अलंकारों की शोभा—इन सबने मिलकर श्रीहर्ष को महा-कवि का वरदान दिया है।

महाकाव्यों का प्राकृतिक वर्णन भी एक आवश्यक अंग है। कवि ने नियमानुसार उसको पूरा स्थान दिया है। एक बात स्पष्ट जान पड़ती है कि कवि ने प्रकृति का वर्णन पुस्तकों के अथवा परिपाटी के आधार पर नहीं किया। प्रकृति के रङ्गरूप और छटा का भलीभाँति निरीक्षण कर स्वानुभव के द्वारा उसका दिग्दर्शन कराया है। यही उसकी सजीवता का कारण है। मूर्ताभिधान की प्रवृत्ति तो संस्कृत साहित्य में प्राचीन काल से चली आती थी किन्तु श्रीहर्ष की यह विशेषता है कि भावों को मूर्तरूप देने में उन्होंने तज्जनित अनुभावों का वर्णन भी किया है।

नल और दमयन्ती के चरित्र-चित्रण में प्रेम की एक-निष्ठता और धर्म-मर्यादा की रक्षा—दोनों का साथ साथ दिग्दर्शन होता है। सनातन धर्म के दाम्पत्य आदर्श का सजीव चित्र यहाँ मिलता है।

श्रीहर्ष का पाण्डित्य और दर्शनों का ज्ञान नैषध-चरित में पूर्ण रूपेण झलकता है। भाषा एवं भाव सरल नहीं हैं। फिर भी प्रसाद गुण की रक्षा हो गई है। यह ध्यान में रखने की बात है कि कवि को महाकाव्य के नियमों से बँधकर अपनी रचना में प्रवृत्त होना पड़ा है। उन नियमों के निभाने में यदि कृत्रिमता का दोष किसी को दिखाई दे तो उसका भागी केवल कवि को ही न समझना चाहिए। कुछ समालोचकों की ऐसी धारणा है कि पाण्डित्य-प्रदर्शन के कारण इस काव्य में नैसर्गिक सौष्ठव वा वर्णन का स्वारस्य नहीं है। महाकाव्य के लक्षणों और उसके उद्देश्यों का ध्यान रखा जाय तो यह कटाक्ष बहुत-अंशों में निर्मूल जँचेगा। किसी भी काव्य को निर्दोष बताना अति साहस होगा और श्रीहर्ष की कविता भी इसका अपवाद नहीं है।

उनकी निरंकुशता के नमूने अनेकों सहज में मिल सकते हैं। अतिशयोक्ति में तो कवि सबसे बाजी मार ले जाते हैं। उनकी कल्पना की उड़ान किसी सीमा को स्वीकार नहीं करती। काल-गणना में प्रमाद की इयत्ता नहीं है। नल को त्रेता युग से निकाल कर सत्ययुग में वर्तमान बता दिया। बुद्ध का अवतार कलियुग में हुआ था तो भी उनका वर्णन कर दिया। श्री कृष्ण

अवतार तो द्वापर में हुआ था, उसमें भी काल की भयंकर गड़बड़ी कर दी गई है। समुद्र पर सेतु श्री राम की आज्ञा से बाँधे जाने का भविष्य में होना कहा गया है जो वास्तव में कहीं पहिले हो चुका था। चंपा के फूल पर भ्रमर का बैठना भी असंगत बात है जैसा कि चन्द्रमा के साथ कमलों का योग बताना।

काव्य के प्रवाह में वर्णन करते कवि बह जाय तो कुछ अंश में वह क्षम्य कहा जा सकता है किन्तु बिना किसी विशेष कारण के इतिहास को लौट-पौट कर देना, प्रकृति के नियमों के प्रति अकारण उपेक्षा करना तो अनुचित है। ऐसी भूलों को कवि न करते तो काव्य में व्यर्थ के दोष न आने पाते। परन्तु काव्यमर्मज्ञ को इतना ध्यान अवश्य रखना होता है कि कवि की दृष्टि में वस्तु-स्थिति का मूल्य इतना नहीं होता जितना ऐतिहासिक को वास्तविक घटनाओं का।

इन दोषों को परिहार्य मानते हुए भी यह उक्ति बिल्कुल निर्मूल नहीं कही जा सकती—"उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः?"

इस कठिन ग्रंथ का मूल-सहित सरल हिन्दी अनुवाद कर पण्डित ऋषीश्वर नाथ भट्ट ने पाठकों और विशेष कर विद्यार्थियों को बड़ी सुविधा कर दी। अनुवाद की विशेषता यह है कि उसकी भाषा सरल एवं सुपाठ्य है। मूल के भावों की रक्षा करने में अनुवाद को सुपाठ्य बना रखना कठिन होता है। अनुवादक महोदय का प्रयास निश्चय ही सफल हुआ है। केवल विद्यार्थी समाज में नहीं, हिन्दी जगत् में भी इसका समुचित आदर होगा, ऐसी आशा है।

डी. [illegible],
एम्, वेदा[illegible]
"[illegible]" को अर्पण,
जीवन शङ्कर याज्ञिक

काशी हिन्दूविश्व-विद्यालय,
ज्येष्ठ शु० १० संवत् २००६ वि०
गंगादशहरा







नैषध-चरितम्



हिन्दीटीकासहितम्



प्रथमः सर्गः ।



निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि ।
नलः सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः ॥ १ ॥

वारण-वदनं नत्वा नैषध-चरितानुवादसारचये ।
प्रीणीयात्तेन हरिर्न यस्य कान्तेर्लवोऽपि मारचये ॥

नल बड़ा प्रतापी राजा था। उसके यहाँ निरन्तर उत्सव हुआ करते थे। कीर्तिमण्डल को ही उसने अपना श्वेत छत्र बना लिया था। उसकी कथा का पान करके बुध अमृत का भी वैसा आदर नहीं करते हैं ॥ १ ॥

रसैः कथा यस्य सुधावधीरिणी नलः स भूजानिरभूद्गुणाद्भुतः ।
सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः ॥ २ ॥

राजा नल में अद्भुत गुण थे। उज्ज्वल प्रताप ही उसका सुवर्ण-दण्ड था और कीर्तिमण्डल ही एक श्वेत छत्र था। रसों की विचित्रता के कारण उसकी कथा अमृत का भी तिरस्कार करती है ॥ २ ॥

पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा ।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति ॥ ३ ॥

स्मरण करने से उसकी कथा कलियुग में संसार को इस तरह पवित्र कर देती है मानो वह जल से धुल गया हो। फिर वह मेरी वाणी को भी पवित्र क्यों न करेगी जो दोष-पूर्ण होने पर भी उसमें अनुरक्त है ! ॥ ३ ॥

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः ।
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतः स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम् ॥ ४ ॥

नल ने स्वयं चतुर्दश[1] विद्याओं की–अध्ययन, ज्ञान, आचरण तथा शिक्षा–इन चार उपाधियों से चार दशाएँ नियत करके उनका चतुर्दशत्व[2] क्यों कायम रक्खा–यह नहीं मालूम ॥ ४ ॥

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम् ।
अगाहताऽष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् ॥ ५ ॥

जैसे तीनों वेद छः वेदाङ्गों से गुणा होने पर अठारह हो जाते हैं उसी तरह नल की जिह्वा के अग्रभाग पर नाचने वाली विद्या, अठारह द्वीपों की जुदी-जुदी जय-सूचक लक्ष्मियों को मानों जीतने की इच्छा से ही, अठारह[3]गुनी हो गई ॥ ५ ॥

दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसरावरोधिनीम् ।
बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम् ॥ ६ ॥

दिशाओं का शासक नल आठों लोकपालों[4] के अंशों की विभूतियों से युक्त था। उसके शास्त्ररूपी तीसरा नेत्र था जो काम की प्रबलता को रोकता था और यह सूचित करता था कि वह शिव का अवतार है ॥ ६ ॥

पदैश्चतुर्भिः सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना के न तपः प्रपेदिरे ।
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन् दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम् ॥ ७ ॥

---

१ · चार वेद, छः वेदाङ्ग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण।

२—चतुर्दश विद्याओं की चार चार दशाएँ हो जाने से उनको छप्पन हो जाना चाहिये था पर वे चतुर्दश ही बनी रहीं। यहाँ चतुर्दशत्व का अर्थ है चार दशाओं से युक्त होना।

३—चतुर्दश विद्याएं और आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व तथा अर्थ-शास्त्र।

४—जैसा मनु ने लिखा है: —

इन्द्राऽनिल-यमाऽर्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्र-वित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः। तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ ७।४-५

भावार्थ—इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर—इन आठ दिक्पालों की मात्राओं से राजा का निर्माण होता है इस कारण वह सब प्राणियों से अधिक तेजस्वी होता है।

५—शिव ने तीसरे नेत्र से प्रकट हुई अग्नि से कामदेव को भस्म कर दिया था।

नल ने सतयुग में चारों चरणों से धर्म को स्थिर कर दिया तब किसने तप नहीं किया ? अधर्म ने भी एक चरण की कनिष्ठिका से भूमि का स्पर्श करके कृश होकर तप किया ॥ ७ ॥

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम ।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ ॥ ८ ॥

दिग्विजय में नल की सेना से उठाई गई रज प्रताप की जलती हुई अग्नि के धूम के समान मालूम हुई। वह जाकर क्षीर समुद्र में पड़ी और कीचड़ होकर चन्द्रमा का चिह्न हो गई ॥ ८ ॥

स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्धनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे ।
निजस्य तेजःशिखिनः परश्शता वितेनुरङ्गारमिवायशः परे ॥ ९ ॥

उसके अनन्त शत्रुओं ने संग्राम में मेघरूप नल के घने बाणों की असह्य बृष्टि से बुझाई गई अपनी प्रतापाग्नि के—कोयलों के समान—अयश का विस्तार किया। मेघ में गर्जना होती है तथा इन्द्र-धनुष होता है, नल के धनुष में से टङ्कार सुनाई देती थी ॥ ९ ॥

अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैर्निजप्रतापैर्वलयं ज्वलद्भुवः ।
प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया रराज नीराजनया स राजघः ॥१०॥

राजाओं का हन्ता नल, जय के लिए शत्रुओं के नगरों को खूब जलाने वाली अग्नि से उज्ज्वल हुए प्रताप से देदीप्यमान भू-मण्डल की प्रदक्षिणा करके प्रजा से किये गये नीराजन से शोभायमान हुआ ॥ १० ॥

निवारितास्तेन महीतलेऽखिले निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टयः ।
न तत्यजुर्नूनमनन्यसंश्रयाः प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः ॥११॥

नल के द्वारा ईति-रहित किये गये सम्पूर्ण पृथिवी-तल से निकाली गई अतिवृष्टि ने शत्रु राजाओं की नायिकाओं के नेत्रों को प्रायः नहीं छोड़ा क्योंकि उसको अन्यत्र कहीं आश्रय नहीं मिला ॥ ११ ॥

१—सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), शम और दम।
२—इससे प्रकट हुआ कि वहाँ अधर्म का बिलकुल अभाव था।
३—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक, शलभ, शुक तथा राजाओं का आक्रमण।

सिताम्शुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणैर्महासिवेम्नः सहकृत्वरी बहुम् ।
दिगङ्गनाङ्गावरणं रणाङ्गणे यशः पटं तद्भटचातुरी तुरी ॥१२॥

युद्ध के मैदान में राजा नल के चन्द्र-सदृश गुणों[1] से कृपाणरूपी वेमा[2] के स... सुभटों की चातुरीरूप तुरी[3] ने दिशारूप अङ्गनाओं के पहनने के लिये बहुत ल... यशोरूपी वस्त्र[4] बुना ॥ १२ ॥

प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता ।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद्विचारदृक्चारदृगप्यवर्तत ॥१३॥

जिस तरह प्रतिकूल राजाओं ने आपस का भेद मिटा दिया था उसी त... विरुद्ध स्वभावों ने भी क्या उसके डर से विरुद्धता छोड़ दी थी ? कारण यह... कि वह पराक्रम से अमित्रजित्[5] होकर भी मित्रजित् था तथा चार-चक्षु[6] ह... पर भी विचारचक्षु था ॥ १३ ॥

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा ।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि ॥१४॥

जब जब ब्रह्मा के मनमें यह बात आती है कि नल के प्रताप तथा यश... सामने सूर्य तथा चन्द्रमा वृथा हैं तभी वह परिवेष के बहाने उनके चारों ओ... घेरा[7] खींच देता है ॥ १४ ॥

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम् ।
मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नृपः ॥१५॥

१—दया दाक्षिण्यादि गुणः, सूत्र ।

२—वस्त्र बुनने का दण्ड ।

३—ताँती ।

४—आशय यह है कि राजा नल का यश दिशाओं के अन्त तक फैल गया ।

५—राजा नल अमित्रजित्, अर्थात् वैरियों का जीतने वाला, होकर भी मित्रजित् अ... मित्रों का जीतने वाला था । यहां मित्रजित् का अर्थमित्र (= सूर्य) से बढ़कर देदीप्य... करने से इसका परिहार हो जाता है ।

६—नल चार-चक्षु अर्थात् चारों (दूतों) के द्वारा देखने वाला होकर भी विचार-... अर्थात् चार-चक्षुविहीन था । यहां विचार-चक्षु का अर्थविचार से देखने वाला करने... परिहार हो जाता है ।

७—चारों ओर ... खींचने से प्रकट होता है कि सूर्य-चन्द्र का बनाना वृथा हुआ ।

याचकों के माथे में लिखी—यह दरिद्र होगा—इस ब्रह्मा की लिपि को नल ने मिथ्या नहीं किया पर दरिद्र की ही दरिद्रता (=हीनता) कर दी क्योंकि नल कल्पवृक्ष से भी बढ़कर दानी था—कल्पवृक्ष उनको हो देता था जो माँगते थे; पर नल जो नहीं माँगते थे उनको भी देता था ॥ १५ ॥

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः ।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरःस्थितम् ॥१६॥

राजा नल ने न तो सुमेरु पर्वत को काटकाट कर याचकों को दिया, न संकल्प के लिए समुद्र से जल ले लेकर उसे मरुस्थल बनाया । इन दोनों अपयशों को उसने अपने शिर पर दो भागों में विभक्त केश-कलाप समझा ॥ १६ ॥

अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च ।
दधौ पटीयान्समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने ॥१७॥

वह चतुर तथा सूर्य के समान कान्तियुक्त राजा निरन्तर अभ्यास करनेवाले कवियों तथा पण्डितों की संगति में प्रसन्नता-पूर्वक समय व्यतीत करता था । उनके साथ उसकी प्रति दिन अधिकाधिक उन्नति होती थी जैसे निरन्तर साथ रहनेवाले चन्द्र तथा शुक्र के साथ सूर्य का प्रतिदिन उदय होता है ॥ १७ ॥

अधोविधानात्कमलप्रवालयोः शिरःसु दानादखिलक्षमाभुजाम् ।
पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया ॥१८॥

यह भविष्य में ऊँचा रहेगा—यह समझ कर ही क्या ब्रह्मा ने नल के चरण को ऊर्ध्वरेखा से अंकित किया था—क्योंकि वह चरण कमल और विद्रुम को नीचा दिखाता था तथा पृथ्वी के सब राजाओं के शिरों पर रहता था ? ॥ १८ ॥

जगज्जयं तेन च कोशमक्षयं प्रणीतवाञ्शैशवशेषवानयम् ।
सखा रतीशस्य ऋतुर्यथा वनं वपुस्तथालिङ्गदथास्य यौवनम् ॥१९॥

नल ने सोलह वर्ष की आयु में सब भू-मण्डल का विजय करके अपना कोश परिपूर्ण कर लिया । फिर यौवन ने उसके शरीर का इस तरह आलिङ्गन किया जैसे कामदेव का सखा वसन्त वन का आलिङ्गन करता है ॥ १९ ॥

अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे ।
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः ॥२०॥

उसके चरण ने कमलों से घृणा की, पल्लव (=पद् + लव) में क्या उस हाथ की छाया का लव भी था ? शरद् ऋतु की पूर्णिमा का चन्द्र तो उसके मु का दास होने के योग्य भी नहीं था ॥ २० ॥

किमस्य लोम्नां कपटेन कोटिभिर्विधिर्न लेखाभिरजीगणद्गुणान् ।
न रोमकूपौघमिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दवः ॥२१

ब्रह्मा ने रोमों के बहाने करोड़ों रेखाओं से क्या नल के गुणों की गणना न की ? बहुत से रोम-कूपों के बहाने क्या उसने दूषणों की शून्यता की बिन्दु नहीं करीं ? ॥ २१ ॥

अमुष्य दोर्भ्यामरिदुर्गलुण्ठने ध्रुवं गृहीतार्गलदीर्घपीनता ।
उरःश्रिया तत्र च गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता ॥२२॥

शत्रुओं के किलों पर हठ-पूर्वक अधिकार करने में नल की बाहुओं ने अर्गलाओं की लम्बाई और मुटाई ग्रहण नहीं की ? उसी क्रिया में इसके वक्ष स्थल की शोभा ने क्या फाटक पर शोभायमान कपाट की कठिनता तथा विशा नहीं ली ? ॥ २२ ॥

स्वकेलिलेशस्मितनिन्दितेन्दुनो निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः ।
अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे ॥२

नल का मुख अपनी क्रीड़ा के लेश—मुसकराहट—से चन्द्रमा का तिरस्कार क था और अपने ज़रा से भाग—नेत्रों—से कमलों की शोभा को नीचा दिखलाता था उसका उपमान चराचर जगत् में कहीं नहीं था क्योंकि चन्द्रमा तथा कमल बढ़ कर अन्य कुछ संसार में है ही नहीं ॥ २३ ॥

सरोरुहं तस्य दृशैव निर्जितं जिताः स्मितेनैव विधोरपि श्रियः ।
कुतः परं भव्यमहो महीयसी तदाननस्योपमितौ दरिद्रता ॥२

उसकी दृष्टि ने ही कमलों को जीत लिया ; मुसकुराहट ने ही चन्द्रमा की शो को जीत लिया ; चन्द्रमा और कमल की अपेक्षा और कुछ सुन्दर है कहाँ ? उ मुख की उपमा दिखाने में बड़ी दरिद्रता है । यह आश्चर्य की बात है ! ॥ २४

स्ववालभारस्य तदुत्तमाङ्गजैः समं चमर्येव तुलाभिलाषिणः ।
अनागसे शंसति बालचापलं पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात् ॥२

चमरी मृग भी बार-बार पूंछ हिलाने के बहाने यह बतलाता है कि उसके बाल नल के बालों के साथ में जो समता चाहते हैं उसका कारण उनका बाल-चापल्य है ; इसमें उनका कोई अपराध नहीं ॥ २५ ॥

महीभृतस्तस्य च मन्मथश्रिया निजस्य चित्तस्य च तं प्रतीच्छया ।
द्विधा नृपे तत्र जगत्त्रयीभुवां नतभ्रुवां मन्मथविभ्रमोऽभवत् ॥२६॥

राजा नल में कामदेव की भ्रांति होने से तथा अपने अन्तः करण में नल की ओर अत्यन्त अभिलाषा होने से तीनों लोकों में उत्पन्न हुई सुन्दरियों को नल में दुहरा कामजनित विभ्रम हुआ ॥ २६ ॥

निमीलनभ्रंशजुषा दृशा भृशं निपीय तं यस्त्रिदशीभिरर्जितः ।
अमूस्तमभ्यासभरं विवृण्वते निमेषनिःस्वैरधुनापि लोचनैः ॥२७॥

देवांगनाओं ने निर्निमेष दृष्टि से उसका पान करके जो अभ्यास दृढ़ किया था उसे ही वे निमेषहीन[1] लोचनों से आज तक प्रकट कर रही हैं ॥ २७ ॥

अदस्तदाकर्णि फलाढ्यजीवितं दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाफलम् ।
इति स्म चक्षुःश्रवसां प्रिया नले स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदात्मनः ॥२८॥

सर्पों की स्त्रियाँ अपने नेत्रों[2] की मनसे स्तुति और निन्दा करती हैं क्योंकि नल के विषय की बातचीत सुनने से उनका जीवन सफल है तथा उसके न[3] देखने से निष्फल है ॥ २८ ॥

विलोकयन्तीभिरजस्रभावनाबलादमुं नेत्रनिमीलनेष्वपि ।
अलम्भि मर्त्याभिरमुष्य दर्शने न विघ्नलेशोऽपि निमेषनिर्मितः ॥२९॥

पृथिवी की स्त्रियों को नलके दर्शन में निमेष के कारण जरासा भी विघ्न नहीं हुआ क्योंकि निरन्तर चिन्तन के कारण नेत्र बन्द हुए तब भी उन्होंने उसे देखा ॥ २९ ॥

न का निशि स्वप्नगतं ददर्श तं जगाद गोत्रस्खलिते च का न तम् ।
तदात्मताध्यातधवा रते च का चकार वा न स्वमनोभवोद्भवम् ॥३०॥

१—देवांगनाओं के लोचन निमेष-हीन होते हैं ।
२—सर्प नेत्रों से ही देखते और सुनते हैं ।
३—पाताल में रहने के कारण वे उसे देख नहीं सकती थीं ।

किस स्त्री ने रात को स्वप्न में उसे नहीं देखा ? नामकी भ्रान्ति में किस के मुख से उसका नाम नहीं निकला ? सुरत में नल के स्वरूप में अपने पति का ध्यान करके किसने अपने काम को जाग्रत नहीं किया ? ॥ ३० ॥

श्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपया धृतः ।
विहाय भैमीमपदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः ॥३१॥

दमयन्ती को छोड़कर किस दर्पहीन रूपवती ने नल को चित्र में देखकर क्या मैं सौंदर्य में नल के योग्य हूँ ?—यह जानने के लिये अपना रूप देखने को दर्पण हाथ में लेकर उसे श्वास से मलिन नहीं किया ? ॥ ३१ ॥

यथोह्यमानः खलु भोगभोजिना प्रसह्य वैरोचनिजस्य पत्तनम् ।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनो नलावरुद्धं वयसैव वेशितः ॥३२॥

जैसे गरुड़ पर बैठकर प्रद्युम्न ने हठ-पूर्वक अग्नि से व्याप्तशोणितपुर में प्रवेश किया था उसी तरह कामदेव ने सुख-भोग के उत्सुक यौवन पर आरूढ़ होकर हठपूर्वक दमयन्ती के—नल से आक्रान्त—मनमें प्रवेश किया ॥ ३२ ॥

नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां दिदेश तस्मिन्बहुशः श्रुतिं गते ।
विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः ॥३३॥

दमयन्ती ने अपनी रूप-सम्पत्ति के योग्य तथा अनेक बार सुने हुए नल में विशेष करके अपना कामदेव का आज्ञाकारी मन लगाया ॥ ३३ ॥

उपासनामेत्य पितुः स्म रज्यते दिने दिने सावसरेषु बन्दिनाम् ।
पठत्सु तेषु प्रतिभूपतीनलं विनिद्ररोमाजनि शृण्वती नलम् ॥३४॥

पिता की सेवा के लिये आये हुए बन्दी जो वर्णन करते थे उसे दमयन्ती प्रति दिन सुनकर प्रसन्न होती थी पर जब वे राजाओं की स्तुति करने में नल का वर्णन करते थे तब उसे सुनकर तो वह अत्यन्त रोमांचित हो जाती थी ॥ ३४ ॥

कथाप्रसङ्गेषु मिथः सखीमुखात्तृणेऽपि तन्व्या नलनामनि श्रुते ।
द्रुतं विधूयान्यदभूयतानया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया ॥३५॥

आपस की बातचीत में सखी के मुख से तृण के विषय में भी नल का नाम सुनकर दमयन्ती झट अन्य काम छोड़ देती थी तथा नल का हाल सुनने के लिये कान तैयार कर लेती थी ॥ ३५ ॥

स्मरात्परासोरनिमेषलोचनाद्बिभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा ।
जनेन यूनः स्तुवता तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यषेचयत् ॥३६॥

जब लोग कामदेव की उपमा देकर तरुणों की प्रशंसा करते थे तब दमयन्ती कहती थी "मैं मरे हुए तथा निमेष-हीन कामदेव से डरती हूँ; इस कारण कोई अन्य दृष्टान्त बतलाओ"—यों कहकर वह कामदेव के स्थान में नल का दृष्टान्त स्थापित कराती थी ॥ ३६ ॥

नलस्य पृष्टा निषधागता गुणान्मिषेण दूत-द्विज-वन्दि-चारणाः ।
निपीय तत्कीर्तिकथामथानया चिराय तस्थे विमनायमानया ॥३७॥

निषध देश से आये हुए दूतों, ब्राह्मणों, बन्दियों तथा चारणों से बहाना करके वह नल के गुण पूछती थी तथा नल के यश का वर्णन सुनकर बहुत देर तक अनमनी रहती थी ॥ ३७ ॥

प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्ति कावपि ।
इति स्म सा कारुवरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते ॥३८॥

"चित्रकार, तुम क्रीड़ा-गृह की दीवार पर तीनों लोकों में सुन्दर नायक और नायिका बनाओ"—यों कहकर वह चित्रकार से बनाये गये चित्रों में अपने और नल के रूप की समता देखती थी ॥ ३८ ॥

मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क सा न स्वपती स्म पश्यति ।
अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम् ॥३९॥

दमयन्ती इच्छा से पति बनाये हुए नल को निद्रा में किस रात में नहीं देखती थी ! स्वप्न अदृष्ट वस्तु को भी भाग्य से दृष्टि-गोचर कर देता है ॥ ३९ ॥

निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् ।
अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्याः स महन्महीपतिः ॥४०॥

बन्द हुए नेत्रों से तथा बाहर की इन्द्रियो के विषय ग्रहण न करने के कारण अशक्त हुए मन से भी छिपाकर कभी न देखे गये नल को निद्रा ने बड़े रहस्य की तरह उसे दिखाया ॥ ४० ॥

अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यभिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम् ।
तपर्तुपूर्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्बिभरांबभूविरे ॥४१॥

काम से सताई हुई दमयन्ती को शीतकाल में दिन बड़े हो गये और भरपूर गरमी में भी रात्रियाँ लम्बी हो गईं। आश्चर्य ! ॥ ४१ ॥

स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम् ।
कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिनं नलोऽपि लोकादशृणोद्गुणोत्करम् ॥४२॥

एक समय आया जब नल ने भी लोगों के मुख से दमयन्ती के—युवकों के धैर्य का लोप करने वाले—गुण सुनें। वे दमयन्ती के सौन्दर्य की कीर्ति की मौक्तिक माला पोहने के लिए सुन्दर डोरे की शोभा धारण करते थे ॥ ४२ ॥

तमेव लब्ध्वावसरं ततः स्मरः शरीरशोभाजयजातमत्सरः ।
अमोघशक्त्या निजयेव मूर्तया तया विनिर्जेतुमियेष नैषधम् ॥४३॥

तब अवसर पाकर नल के द्वारा अपने शरीर की शोभा जीती जाने से मत्सर के कारण कामदेव ने अपनी शरीर-धारिणी अमोघ शक्ति के समान दमयन्ती के द्वारा नल को जीतना चाहा ॥ ४३ ॥

अकारि तेन श्रवणातिथिर्गुणः क्षमाभुजा भीमनृपात्मजालयः ।
तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः ॥४४॥

राजा नल ने दमयन्ती के गुणों को अपने कानों का अतिथि बनाया तथा नल के अपूर्व धैर्य के नष्ट करने के लिए धनुष पर बाण चढ़ाकर कामदेव ने भी धनुष की डोरी को कान का अतिथि बनाया अर्थात् तीर चलाने के लिए धनुष की डोरी को कान तक खींचा ॥ ४४ ॥

अमुष्य धीरस्य जयाय साहसी तदा खलु ज्यां विशिखैः सनाथयन् ।
निमज्जयामास यशांसि संशये स्मरस्त्रिलोकीविजयार्जितान्यपि ॥४५॥

तब धैर्यशील नलके जीतने को धनुष की डोरी पर बाण लगाकर साहसी कामदेव ने तीनों लोकों के विजय से प्राप्त हुए यश को भी सन्देह में डाला ॥४५॥

अनेन भैमीं घटयिष्यतस्तथा विधेरवन्ध्येच्छतया व्यलासि तत् ।
अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम् ॥४६॥

१—कामदेव ने तीनों लोकों का विजय करके यश प्राप्त किया था। लेकिन जब उसने नल को जीतने के लिए बाण चढ़ाया तब उसका यश सन्देह में पड़ गया क्योंकि नलके जीतने में सन्देह था।

यह विधाता की—दमयन्ती और नल का सङ्गम करने की—सफल इच्छा का विलास था कि कामदेव के पुष्पों के बाणों ने भी नलके—प्रसिद्ध तथा दुर्भेद्य—धैर्य रूपी कवच को तोड़ डाला ॥ ४६ ॥

किमन्यदद्यापि यदस्त्रतापितः पितामहो वारिजमाश्रयत्यहो ।
स्मरं तनुच्छायतया तमात्मनः शशाक शङ्के स न लंघितुं नलः ॥४७॥

इससे अधिक और क्या होगा कि कामदेव के बाणों से पीड़ित हुआ ब्रह्मा अपना ताप मिटाने के लिए अब तक कमल पर पड़ा है ? उस कामदेव का लङ्घन करने में नल भी समर्थ नहीं हुआ । आश्चर्य है ! पर मालूम होता है कि काम नलके शरीर की छाया मात्र था और कोई भी अपनी छाया का लङ्घन नहीं कर सकता है ॥ ४७ ॥

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं नवोपहारेण वयस्कृतेन किम् ।
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश तत् ॥४८॥

दमयन्ती के वक्षःस्थल पर शोभायमान दोनों कुच क्या यौवन के नवीन उपहार के समान थे ? उनकी सहायता से वह कृशाङ्गी लज्जा रूपी दुर्गम नदी को भी पार करके नलके हृदय में प्रविष्ट हो गई ॥ ४८ ॥

अपह्नुवानस्य जयाय यन्निजामधीरतामस्य कृतं मनोभुवा ।
अबोधि तज्जागरदुःखसाक्षिणी निशा च शय्या च शशाङ्ककोमला ॥४९॥

लोगों से अपनी अधीरता छिपाने वाले नलके साथ कामदेव ने जो कुछ किया उसे चन्द्र से मनोहर रात्रि ने तथा शय्या ने जान लिया क्योंकि वे दोनों उसके निद्रा न आने का दुःख देखती थीं ॥ ४९ ॥

स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत ।
त्यजन्त्यसूञ्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥५०॥

नलने अत्यन्त कामार्त होने पर भी भीम से दमयन्ती को नहीं माँगा । मनस्वी पुरुष सुख तथा प्राण तक छोड़ देते हैं पर अपना नहीं माँगने का व्रत नहीं छोड़ते ॥ ५० ॥

मृषाविषादाभिनयादयं कचिज्जुगोप निःश्वासततिं वियोगजाम् ।
विलेपनस्याधिकचन्द्रभागताविभावनाच्चापललाप पाण्डुताम् ॥५१॥

१—अर्थात् नल काम की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर था।

नलने किसी वस्तु के विषय में खेद का बहाना करके विरह से उत्पन्न हुई निःश्वासों की परम्परा छिपाई तथा शरीर पर लगे हुए चन्दन में कपूर की मात्रा अधिक बतलाकर अपने फीकेपन का निषेध किया ॥ ५१ ॥

शशाक निह्नोतुमयेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम् ।
समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चममूर्च्छनासु च ॥५२॥

प्रत्यक्ष भ्रम के कारण देखी गई प्रिया से जो कुछ कहा उसे नल भाग्य से छिपाने में समर्थ हुआ । साथही वीणा बजाने वालों ने पञ्चम राग की मूर्छना बार-बार गाई, तब समाज में ही वह मूर्च्छित होगया पर उसे भी नलने छिपाया ॥५२॥

अवाप सापत्रपतां स भूपतिर्जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः ।
असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुषि ॥५३॥

जितेन्द्रियों के मध्य में जिसकी मर्यादा की पहली गणना होती थी वह नल जब समाज में कामदेव का पराक्रम छुप न सका और धीरे धीरे प्रकट हो गया तब लज्जित हुआ ॥ ५३ ॥

अलं नलं रोद्धुममी किलाभवन्गुणा विवेकप्रमुखा न चापलम् ।
स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत्सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः ॥५४॥

विवेक आदि गुण नल की चपलता रोकने में समर्थ नहीं हुए क्योंकि अनुराग होने पर कामदेव ऐसी चपलता पैदा कर देता है जो रुक नहीं सकती । यही सृष्टि की नियम है ॥ ५४ ॥

अनङ्गचिह्नं स विना शशाक नो यदासितुं संसदि यत्नवानपि ।
क्षणं तदारामविहारकैतवान्निषेवितुं देशमियेष निर्जनम् ॥५५॥

जब नल यत्न करने पर भी काम के चिह्न प्रकट किये बिना सभा में क्षण भर बैठने में भी समर्थ न हुआ तब उसने उपवन में विहार के बहाने निर्जन देश में जाना चाहा ॥ ५५ ॥

अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यलाञ्छनः समं वयस्यैः स्वरहस्यवेदिभिः ।
पुरोपकण्ठोपवनं किलेक्षिता दिदेश यानाय निदेशकारिणः ॥५६॥

१—यत्र स्वरो मूर्च्छित एव रागतां प्राप्तश्च तामाहुरतश्च मूर्च्छनाम् ।
अर्थात् स्वर मूर्च्छित होकर राग-भाव को प्राप्त होते हैं इसीलिए इनका नाम मूर्च्छना है ।

इसके बाद अपनी कान्ति से कामदेव का तिरस्कार करनेवाले नल ने अपना रहस्य जानने वाले मित्रों के साथ नगर के पास का उद्यान देखने की इच्छा से सवारी लाने के लिए नौकरों को आज्ञा दी ॥ ५६ ॥

अमी ततस्तस्य विभूषितं सितं जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाधिकम् ।
उपाहरन्नश्वमजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरम् ॥५७॥

तब नौकर उसका सफेद, गहनों से लदा, क़द में पुरुष-प्रमाण से अधिक तथा वेग में बड़ा बली घोड़ा लाये जिसने अपने निरन्तर चञ्चल खुरों से अस्तबल का फर्श खोद डाला था ॥ ५७ ॥

अथान्तरेणावटुगामिनाध्वना निशीथिनीनाथमहःसहोदरैः ।
निगालगाद्देवमणेरिवोत्थितैर्विराजितं केसरकेशरश्मिभिः ॥५८॥

वह घोड़ा केशर के बालों की चमक से शोभायमान था जो चन्द्रमा की किरणों के समान थे और गले में वर्तमान देवमणि में से कण्ठ के मध्यवर्ती मार्ग के द्वारा बाहर निकले मालूम होते थे ॥ ५८ ॥

अजस्रभूमीतटकुट्टनोत्थितैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः ।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः ॥५९॥

निरन्तर फर्श खोदने से उठी हुई रज के कण उसके चरणों की सेवा करते थे और ऐसा मालूम होता था कि वे बहुत छोटे रूप में, उसके अत्यन्त वेग को जानने के लिए आये हुए लोगों के चित्त हैं ॥ ५९ ॥

चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पानिव वक्तुमुत्सुकम् ।
अलं गिरा वेद किलायमाशयं स्वयं हयस्येति च मौनमास्थितम् ॥६०॥

ऐसा मालूम होता था कि वह अपने नथनों को अत्यन्त चञ्चल करके नल से अपने वेग के विषय में दर्प की बातें कहने को उत्कण्ठित था; पर यह सोचकर चुप था कि नल घोड़ों का आशय स्वयं जानता है इस कारण कहना वृथा है ॥

महारथस्याध्वनि चक्रवर्तिनः परानपेक्षोद्वहनाद्यशःसितम् ।
रदावदातांशुमिषादनीदृशां हसन्तमन्तर्बलमर्वतां रवेः ॥६१॥

वह घोड़ा बड़े भारी योधा चक्रवर्ती को मार्ग में बिना किसी अन्य घोड़े के

१—दक्षिणावर्त बाल ।

सहारे ले जाने के यश से श्वेत था तथा दाँतों की निर्मल किरणों के बहाने सूर्य के घोड़ों के बल का मानो उपहास करता था क्योंकि वे उसके बराबर नहीं थे ॥६१॥

सितत्विषश्चञ्चलतामुपेयुषो मिषेण पुच्छस्य च केसरस्य च ।
स्फुटं चलच्चामरयुग्मचिह्नकैरनिह्नुवानं निजवाजिराजताम् ॥६२॥

सफेद कान्तिवाली चञ्चल पूँछ तथा अयाल के बहाने दो चञ्चल चँवरों के चिन्हों से वह अपने को घोड़ों का राजा प्रकट करता था ॥ ६२ ॥

अपि द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया ।
उपेयिवांसं प्रतिमल्लतां रयस्मये जितस्य प्रसभं गरुत्मतः ॥६३॥

वेग के गर्व में बल-पूर्वक जीते गये गरुड़ के सर्पभक्षण करने के पौरुष में भी वह मुँह में लगी हुई सुन्दर तथा लम्बी लगाम से गरुड की बराबरी करता था ॥६३॥

स सिन्धुजं शीतमहःसहोदरं हरन्तमुच्चैःश्रवसः श्रियं हयम् ।
जिताखिलक्ष्माभृदनल्पलोचनस्तमारुरोह क्षितिपाकशासनः ॥६४॥

सिन्धु देश में उत्पन्न हुए, चन्द्रमा के तुल्य सफेद तथा इन्द्र के अश्व की शोभा हरने वाले घोड़े पर नल चढ़ा। वह नल पृथ्वी का इन्द्र था, सब राजाओं को उसने जीत लिया था तथा उसके बड़े बड़े नेत्र थे ॥ ६४ ॥

निजा मयूखा इव तीक्ष्णदीधितिं स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम् ।
तमश्ववारा जवनाश्वयायिनं प्रकाशरूपा मनुजेशमन्वयुः ॥६५॥

नलके कर—कमल में कमल की रेखाएँ स्पष्ट दीखती थीं। वह वेगवान् घोड़े पर चढ़कर चला तब उसके पीछे सवार इस तरह चले जैसे सूर्य की किरणें सूर्य के पीछे जाती हैं ॥ ६५ ॥

चलन्नलंकृत्य महारयं हयं स्ववाहवाहोचितवेषपेशलः ।
प्रमोदनिःस्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिर्व्यलोकि लोकैर्नगरालयैर्नलः ॥६६॥

नगर निवासियों ने बड़े वेगवान् घोड़े पर चढ़कर मार्ग में जाते तथा घुड़सवार के वेश से मनोहर नल को हर्ष के कारण एकटक होकर देखा ॥ ६६ ॥

क्षणादथैष क्षणदापतिप्रभः प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना ।
सहैव ताभिर्जनदृष्टिवृष्टिभिर्बहिः पुरोऽभूत्पुरुहूतपौरुषः ॥६७॥

फिर चन्द्र के समान कान्ति वाला तथा इन्द्र के समान पौरुष वाला नल

घोड़े पर बैठा बैठा लोगों की दृष्टि के साथ ही नगर से बाहर निकल गया। वह घोड़ा इतनी तेज़ चाल से जाता था कि वायु भी उससे तेज़ी सीख सकती थी ॥६७॥

ततः प्रतीच्छ प्रहरेति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे ।
मृषामृधं सादिबले कुतूहलान्नलस्य नासीरगते वितेनतुः ॥६८॥

नगर से बाहर निकल कर सेना के आगे आगे चलती नलके संवारों की सेना की दो टुकड़ियां ने कुतूहल से युद्ध की नकल की जिसमें एक ने दूसरी पर आपस में भालों की नोकें घुमाईं तथा "मेरा शस्त्र अपने शरीर पर लो; मुझ पर प्रहार करो" यों कहा ॥ ६८ ॥

प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदं धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम् ।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः पयोधिरोधक्षममुद्धृतं रजः ॥६९॥

"इस पृथ्वी को पार कर जाना तो हमारे लिए कोई बात ही नहीं, इस कारण समुद्र को भी स्थल बना लिया जाय" यह सोच अपने बल के वेग से दर्पित हुए घोड़ों ने समुद्र को भरने के लिये ही धूल उड़ाई ॥ ६९ ॥

हरेर्यदक्रामि पदैककेन खं पदैश्चतुर्भिः क्रमणेऽपि तस्य नः ।
त्रपा हरीणामिति नम्रिताननैर्न्यवर्ति तैरर्धनभःकृतक्रमैः ॥७०॥

विष्णु ने वामन अवतार लेकर एक चरण से जिसे आक्रान्त कर लिया था उस आकाश को चार चरणों से आक्रान्त करने में हमें लज्जा होगी—यों विचार कर ही मानों घोड़े नीचा मुख करके तथा आकाश में आधे चल कर रुक गये ॥ ७० ॥

चमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव सैन्धवाः ।
विहारदेशं तमवाप्य मण्डलीमकारयन् भूरि तुरङ्गमानपि ॥७१॥

उस राजा के सवार—सेनापतियों ने विहार—प्रदेश में आकर बहुत से घोड़ों को घेरा बाँध कर खड़ा किया जैसे बौद्धों के वचनों में श्रद्धा से सिन्धु देश के जैनी सुगत के मन्दिर में जाकर मण्डलाकार होकर गाते बजाते हैं ॥ ७१ ॥

द्विषद्भिरेवास्य विलङ्घिता दिशो यशोभिरेवाब्धिरकारि गोष्पदम् ।
इतीव धारामवधीर्य मण्डलीक्रियाश्रियामण्डि तुरङ्गमैः स्थली ॥७२॥

"इसके शत्रुओं ने भाग भाग कर दिशाओं को घेर लिया है और इसके यश ने ही समुद्र को गोष्पद के समान अनायास ही लङ्घनीय बना दिया है" यह सोचकर ही घोड़ों ने गति बाँधकर खड़े होने की शोभा से स्थली को भूषित किया ॥ ७२ ॥

अचीकरच्चारु हयेन या भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः ।
मरुत्किमद्यापि न तासु शिक्षते वितत्य वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् ॥७३॥

नल ने अपने छत्र के नीचे की पृथ्वी में घोड़ों से जो गोल भ्रमण कराये उनसे वायु अब भी आँधी के रूप में गोल गोल भ्रमण करके क्या शिक्षा नहीं लेती है ? ॥७३॥

विवेश गत्वा स विलासकाननं ततः क्षणात्क्षोणिपतिर्धृतीच्छया ।
प्रवालरागच्छुरितं सुषुप्सया हरिर्घनच्छायमिवार्णसां निधिम् ॥७४॥

जैसे विष्णु, शयन के इरादे से, मूँगे के रङ्ग से व्याप्त तथा मेघ के समान कान्ति वाले समुद्र में जाते हैं उसी तरह राजा शीघ्रही चला और नई कोंपलों से विचित्र तथा घनी छाया वाले क्रीडावन में अपना सन्ताप दूर करने की अभिलाषा से पहुँच गया ॥ ७४ ॥

वनान्तपर्यन्तमुपेत्य सस्पृहं क्रमेण तस्मिन्नवतीर्णदृक्पथे ।
न्यवर्ति दृष्टिप्रकरैः पुरौकसामनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः ॥७५॥

जब नल धीरे धीरे दृष्टि से बाहर निकल गया तब नगर-निवासियों के नेत्र अभिलाषा से वन की सीमा तक जाकर, पहुँचाने जानेवाले बन्धुओं के समाज के समान, फिरे ॥ ७५ ॥

ततः प्रसूने च फले च मञ्जुले स सम्मुखस्थाङ्गुलिना जनाधिपः ।
निवेद्यमानं वनपालपाणिना व्यलोकयत्काननकामनीयकम् ॥७६॥

फिर नल ने सुन्दर फलों और फूलों से युक्त क्रीडावन की रमणीयता देखी जिसे माली ने सामने उँगली करके हाथ से दिखाया ॥ ७६ ॥

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोतिपातोद्गतवातवेपिते ।
स्थितैः समादाय महर्षिवार्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः ॥७७॥

पक्षियों के उड़ने से उत्पन्न हुई हवाके कारण हिले हुए पल्लव रूपी हाथों में फूल तथा फल लेकर खड़े वन-वृक्षों ने वन में रहनेवाले वृद्ध-महर्षियों से—जिनके हाथ तारुण्य चले जानेसे वात-व्याधि के कारण काँपते थे—नल का आतिथ्य सीखा ॥ ७७ ॥

विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवान्मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम् ।
दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः स कौतुकी तत्र ददर्श केतकम् ॥७८॥

वनमें अपूर्व पुष्प आदि देखने के कौतूहल से नल ने केतकी का फूल देखा जो निकले हुए पत्तों की कतार पर बैठे हुए भ्रमरों के बहाने दिशाओं में फैलते अपने अपयश[1] को धारण करता था—जो शिव के द्वारा वर्जन किये जाने से मिला था॥ ७८॥

वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुर्निधीयसे कर्णिशरः स्मरेण यत्।
ततो दुराकर्षतया तदन्तकृद्विगीयसे मन्मथदेहदाहिना ॥७९॥

नल ने इस तरह क्रोध से केतकी की निन्दा की—तुम काँटों से क्रूर हो; कामदेव तुम्हें नुकीले बाण की तरह वियोगियों के हृदय में चुभो देता है और वहाँ से न निकल सकने के कारण तुम वियोगियों के प्राण ले लेते हो। इसी कारण महादेव तुम्हारी निन्दा करते हैं॥ ७९॥

त्वदग्रसूचीसचिवेन कामिनोर्मनोभवः सीव्यति दुर्यशःपटौ।
स्फुटं स पत्रैः करपत्रमूर्तिभिर्वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते ॥८०॥

कामदेव तुम्हारी नोंक रूपी सुई के सहारे स्त्री-पुरुषों के परस्पर धैर्यभङ्ग करने वाले दुर्यश रूपी दो वस्त्रों[2] को जोड़ता है और वियोगियों के हृदयरूपी काठ पर तुम्हारे आरे के समान पत्रों से बड़ा निर्दय आचरण करता है॥ ८०॥

धनुर्मधुस्विन्नकरोऽपि भीमजापरं परागैस्तव धूलिहस्तयन्।
प्रसूनधन्वा शरसात्करोति मामिति क्रुधाक्रुश्यत तेन केतकम् ॥८१॥

पुष्पमय धनुष में से रिसते हुए रस से गीले हाथवाला कामदेव तुम्हारे धूलि के समान पराग से हाथ मलकर, दमयन्ती में अनुरक्त हुए मुझे अपने बाण का निशाना बनाता है। अगर तुम्हारा पराग न होता तो कामदेव गीले हाथ से बाण कैसे छोड़ता?॥ ८१॥

विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये घटानिवापश्यदलं तपस्यतः।
फलानि धूमस्य धयानधोमुखान् स दाडिमे दोहदधूपिनि द्रुमे ॥८२॥

जिसमें फल अधिक आने के लिए धूप दी जाती थी ऐसे अनार के वृक्ष में

१—केतकी के फूल शिव पर चढ़ाने का निषेध है।

२—केतक की नोंक देखने से कामियों का धैर्य भङ्ग हो जाता है तथा पत्ते देखने से वियोगियों का हृदय विदीर्ण हो जाता है।

उसने फल लगे देखे जो ऐसे मालूम होते थे मानों दमयन्ती के कुचों की उच्चता प्राप्त करने के लिए धूम का पान करके तथा नीचा मुख करके घट तप कर रहे हों ॥ ८२ ॥

वियोगिनीमैक्षत दाडिमीमसौ प्रियस्मृतेः स्पष्टमुदीतकण्टकाम् ।
फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगाम् ॥८३॥

उसने अनार का वृक्ष देखा जिस पर पक्षी बैठे थे और काँटे स्पष्ट दीख पड़ते थे, जैसे वियोगिनी नायिका प्रियतम का स्मरण करके रोमाञ्चित हो जाती है। नायिका के स्तनों के बीच में स्थित–अनुराग-युक्त तथा विदीर्ण–हृदय में कामदेव के पलाश पुष्प के बाण प्रवेश करते हैं। दाड़िमी के फलों के फटे हुए लाल लाल भीतर के हिस्से में तोतों की चोंचें प्रवेश करती थीं ॥ ८३ ॥

स्मरार्धचन्द्रेषुनिभे क्रशीयसां स्फुटं पलाशेऽध्वजुषां पलाशनात् ।
स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम् ॥८४॥

कामदेव के अर्द्ध-चन्द्राकार बाण के समान तथा विरहियों का हृदय विदीर्ण करनेवाले पलाश[1] में नाल ऐसा देखा मानों जिगर चुपट रहा हो क्योंकि इसकी आदत विरही कृश पथिकों का मांस भक्षण करने की है ॥८४॥

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः ।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दराऽऽदराभ्यां दरकम्पिनी पपे ॥८५॥

भय[2] तथा आदर[3]-पूर्वक नल ने वायु से चुम्बित, तथा ज़रा ज़रा हिलती नई कोपलवाली तरुणलता का नेत्रों से सादर पान किया। वह लता मकरन्द के कणों से व्याप्त थी और उसमें कलियाँ खिल रहीं थीं ॥८५॥

विचिन्वतीः पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात् ।
व्यलोकयच्चम्पककोरकावलीः स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव ॥८६॥

उसने चम्पे की कलियों की कतार को इस तरह देखा मानों वह कामदेव को बलि देने की दीपिकाएँ हों। दीपिकाएँ पतङ्गों को मारने के कारण काजल के

१—पल+आश अर्थात् मांस का भक्षण करनेवाला।
२—फूली लता का दर्शन वियोगियों को असह्य होता है, इससे भय हुआ।
३—रमणीय होने से आदर हुआ।

इन्होंने पाप उपार्जन करती हैं ; चम्पे की कलियाँ पथिकों को मारने के कारण भ्रमर रूपी पाप उपार्जन कर रही थीं ॥८६॥

अमन्यताऽसौ कुसुमेषु गर्भगं परागमन्धङ्करणं वियोगिनाम् ।
स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुरारये तदङ्गभस्मेव शरेषु सङ्गतम् ॥८७॥

नल ने फूलों के भीतर पराग को इस तरह वियोगियों को अन्धा कर देनेवाला समझा जैसे पहले जमाने में कामदेव के द्वारा शिव पर चलाये गये पुष्परूपी बाण में लगी शिव के अंग की भस्म हो ॥८७॥

पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणे वियोगिनाम् ।
अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं ददर्श दूनः स्थलपद्मिनीं नलः ॥८८॥

जिसमें जंबीर वृक्ष खिल रहे थे ऐसा वन कोयलों से वियोगियों की दशा तथा भ्रमरों की भिनभिनाहट सुन रहा था तब सन्तप्त नल ने एक स्थल-कमलिनी को देखा जो उदासीनता से कर-कमल पसार रही थी अर्थात् हाथ पसार कर यों कह रही थी कि वियोगियों की दशा सुनने से क्या लाभ ? ॥८८॥

रसालसालः समदृश्यताऽमुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः ।
समीरलोलैर्मुकुलैर्वियोगिने जनाय दित्सन्निव तर्जनाभियम् ॥८९॥

नलने आम का वृक्ष देखा जो भ्रमण करते हुए भ्रमरों के गुंजार से क्रोध पूर्वक हुंकार कर रहा था और ऐसा मालूम होता था मानों वायु से हिलाई गई कलियों से विरहियों को फटकारने का भय दिखाता हो ॥८९॥

दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिकं पुनः पुनर्मूर्च्छ च तापमृच्छ च ।
इतीव पान्थान् शपतः पिकान् द्विजान् स-खेदमैक्षिष्ट स लोहितेक्षणान् ॥९०॥

नल ने लाल नेत्रवाली कोयलों को उद्वेग के साथ देखा जो पथिकों को मानो इस प्रकार शाप दे रही थीं—"हे पथिको ! तुम प्रति दिन अधिक कृश होओ, बार बार मूर्छित होओ तथा तुमको ज्वर हो" ॥९०॥

अलिस्रजा कुड्मलमुच्चशेखरं निपीय चाम्पेयमधीरया धिया ।
स धूमकेतुं विपदे वियोगिनामुदीतमातङ्कितवानशङ्कत ॥९१॥

भ्रमरों की पंक्ति से उच्चशेखरवाली चंपा की कली को अधीरता से देख कर तथा चकित होकर उसने तर्क किया कि यह वियोगियों के विनाश के लिए उदय हुआ कोई धूमकेतु है ॥९१॥

गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत्प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरम् ।
स मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणमिव व्यलोकयत् ॥९२॥

नागकेसर के फूल में से पराग बाहर निकल रहा था तथा घूम घूम कर वृक्षों से आती हुई भ्रमरों की पंक्ति उस पर बैठी हुई थी। उसे नल ने इस प्रकार देखा मानो सान रखने का पत्थर हो जिस पर कामदेव के बाणों पर घा घरने से जलते हुए पतङ्गे निकल रहे हों ॥९२॥

तदङ्गमुद्दिश्य सुगन्धि पातुकाः शिलीमुखालीः कुसुमाद् गुणस्पृशः ।
स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात्स्मरः स्वनन्तीरवलोक्य लज्जितः ॥९३॥

अपने धनुष से अच्छी तरह न फेंके गये बाणों के भ्रम से नल के—कुसुम से भी अधिक सुगन्धित—अङ्ग के पास आने वाले तथा गुञ्जार करते भ्रमरों की पंक्ति देखकर कामदेव मानों लज्जित हुआ ॥९३॥

मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्छलच्चन्दनसारसौरभम् ।
स वारनारीकुचसञ्चितोपमं ददर्श मालूरफलं पचेलिमम् ॥९४॥

नल ने हवा से हिलाये गये पत्तों की नोंक से क्षत किया गया, चन्दन के समान सुन्दर गन्ध फैलाता तथा वाराङ्गनाओं के कुचों के तुल्य, पका बिल्व फल देखा ॥९४॥

युवद्वयीचित्त-निमज्जनोचित-प्रसूनशून्येतरगर्भ-गह्वरम् ।
स्मरेषुधीकृत्य धिया भयान्धया स पाटलायाः स्तवकं प्रकम्पितः ॥९५॥

भय के कारण भ्रान्त हुई बुद्धि से पाटल के फूलों के गुच्छे को कामदेव का तूणीर समझकर नल चकित हुआ। उसका बीच का हिस्सा तरुण स्त्री-पुरुषों के हृदय में समाने लायक पुष्परूपी काम-शरों से पूर्ण था ॥९५॥

मुनिद्रुमः कोरकितः शितिद्युतिर्वनेऽमुनामन्यत सिंहिकासुतः ।
तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं कलाकलापं किल वैधवं वमन् ॥९६॥

वन में फूले हुए काले रङ्ग के अगस्त्य वृक्ष को नल ने राहु समझा जो मानो कृष्णपक्ष में क्षीण हुए चन्द्रमा के—निगले हुए—कला-कलाप को उगल रहा हो ॥९६॥

पुरा हठाक्षिप्ततुषारपाण्डुरच्छदा वृतेर्वीरुधि बद्धविभ्रमाः ।
मिलन्निमीलं ससृजुर्विलोकिता नभस्वतस्तं कुसुमेषु केलयः ॥९७॥

पुष्पों में क्रीड़ा करती हुई वायु ने पहले हठ-पूर्वक बरफ से सफेद हुए पत्तों को चलायमान किया, फिर झाड़ी की लताओं में खूब भ्रमण किया। उसकी क्रीड़ा देखकर नल ने नेत्र बन्द कर लिये ॥९७॥

गता यदुत्सङ्गतले विशालतां द्रुमाः शिरोभिः फलगौरवेण ताम्।
कथं न धात्रीमतिमात्रनामितैः स वन्दमानानभिनन्दति स्म तान्॥९८॥

पृथिवी वृक्षों की धात्री है क्योंकि उस पर ही वृक्ष वृद्धि को प्राप्त होते हैं। वे वृक्ष फलों की समृद्धि के कारण नीचे झुके शिरों से पृथिवी को प्रणाम कर रहे थे। नल उनकी स्तुति प्रीति-पूर्वक कैसे नहीं करता ?।९८॥

नृपाय तस्मै हिमितं वनानिलैः सुधीकृतं पुष्परसैरहर्महः।
विनिर्मितं केतकरेणुभिः सितं वियोगिनेऽदत्त न कौमुदीमुदः॥९९॥

दिन की—उद्यान की वायु से ठण्डी, मकरन्द से सुधामय तथा केतकी के फूलों के पराग से सफेद—चमक से विरही नल को वैसा सन्तोष नहीं हुआ जैसा चाँदनी से होता है॥९९॥

अयोगभाजोऽपि नृपस्य पश्यता तदेव साक्षादमृतांशुमाननम्।
पिकेन रोषारुणचक्षुषा मुहुः कुहूरुताहूयत चन्द्रवैरिणी॥१००॥

विरही नल का मुख साक्षात् चन्द्रमा था। कोकिल को उसे देखकर क्रोध आया कि यह अब तक म्लान क्यों न हुआ ?। तब लाल नेत्रवाली कोयल ने बार-बार कुहू कुहू शब्द करके चन्द्रमा की वैरिन अमावस्या को बुलाया॥१००॥

अशोकमर्थान्वितनामताशयागतान्शरण्यं गृहशोचिनोऽध्वगान्।
अमन्यतावन्तमिवैष पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम्॥१०१॥

नल ने पल्लवों के रूप में काम का जलता हुआ अस्त्र-जाल ग्रहण करने वाले तथा शरण देने वाले अशोक (= अ + शोक) को उसका नाम सार्थक होने की अभिलाषा से आये हुए, घर की चिन्तावाले पथिकों का मारने वाला समझा॥१०१॥

विलासवापीतटवीचिवादनात्पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाघवात्।
वनेऽपि तौर्यत्रिकमारराध तं क भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः॥१०२॥

विलास करने की बावड़ी के तट पर तरङ्गों के शब्द से, कोयलों के गान से

१ - कुहू शब्द का अर्थ अमावस्या भी है।

तथा मयूरों के नृत्य के चातुर्य से सङ्गीत ने वन में भी नल की आराधना की
भाग्यशाली नर कहाँ सुख प्राप्त नहीं करते हैं ॥१०२॥

तदर्थमध्याप्य जनेन तद्वने शुका विमुक्ताः पटवस्तमस्तुवन् ।
स्वरामृतेनोपजगुश्च सारिकास्तथैव तत्पौरुषगायनीकृताः ॥१०३

लोगों के द्वारा नल के उद्देश्य से सिखा पढ़ाकर वन में छोड़े गये च
तोते नल की स्तुति करने लगे। उसी तरह वहाँ छोड़ी गईं सारिकाएँ भी उस
पराक्रम का गान करके अपने अमृत स्वर से उनकी स्तुति करने लगीं ॥१०३॥

इतीष्टगन्धाढ्यमटन्नसौ वनं पिकोपगीतोऽपि शुकस्तुतोऽपि च ।
अविन्दतामोदभरं बहिश्चरं विदर्भसुभ्रूविरहेण नान्तरम् ॥१०४

इस तरह अभीष्ट गन्ध से व्याप्त वन में भ्रमण करते हुए, कोयलों से गाये
तथा तोतों से स्तुति किये गये नल ने बाहरी आमोद तो प्राप्त किया पर दमयन्ती
वियोग के कारण आन्तरिक आमोद उसे नहीं मिला ॥१०४॥

करेण मीनं निजकेतनं दधद्द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया ।
व्यतर्कि सर्वर्तुघने वने मधुं स मित्रमत्रानुसरन्निव स्मरः ॥१०५

वह अपने चिह्न मत्स्य को इस डर से हाथ में धारण करता था कि कहीं
वृक्षों के थाँवलों में न घुस जाय। इस कारण लोगों ने उसे मत्स्य-चिह्न-धारी काम
देव समझा जो सब ऋतुओं से पूर्ण वन में अपने मित्र वसन्त को ढूँढ रहा हो॥

लतावलालास्यकलागुरुस्तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः ।
असेवताऽमुं मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनानिलः ॥१०६॥

लता रूप स्त्रियों को नृत्य-विद्या सिखानेवाली वृक्षों के फूलों की गंध
खजाने का खुले मैदान चोरी करनेवाली तथा मकरन्द रूपी सुगन्धित जल में क्री
करनेवाली वनकी वायु ने नल की सेवा की ॥१०६॥

अथ स्वमादाय भयेन मन्थनाच्चिरत्नरत्नाधिकमुच्चितं चिरात् ।
निलीय तस्मिन्निव सन्नपांनिधिर्वने तडाको ददृशेऽवनीभुजा ॥१०७

इसके बाद नल ने तालाब देखा जो ऐसा मालूम होता था मानो बहुत काल

१ — नल के हाथ में मत्स्य की रेखाएँ थीं ।

२ — कामदेव का चिह्न मत्स्य है ।

जमा हुए पुराने रत्नों से युक्त सम्पत्ति को मन्थन के भय से साथ लेकर समुद्र छिप कर उस बन में रहता हो ॥१०७॥

पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदाननन्तोरगपुच्छसुच्छवीन् ।
जलार्धरुद्धस्य तटान्तभूभिदो मृणालजालस्य मिषाद्बभार यः ॥१०८॥

वह तालाब जल से आधे ढके तथा तट के पास की जगह तोड़ कर निकले मृणाल-जाल के बहाने जल में डूबे ऐरावतों के झुण्ड के दाँतो को धारण करता था जो शेष नाग की पूँछ के समान शोभायमान थे ॥१०८॥

तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन यः ।
बभौ चलद्वीचिकशान्तशातनैः सहस्रमुच्चैःश्रवसामिवाश्रयन् ॥१०९॥

वह तालाब ऐसा मालूम हुआ मानो उसने तट पर ठहरे हुए नलके घोड़ों के यूथ के साफ दीखते प्रतिबिम्ब के बहाने लहररूप चाबुक के छोर से ताड़ना होने पर चंचल होते हजारों उच्चैःश्रवाओं को आश्रय दिया हो ॥१०९॥

सिताम्बुजानां निवहस्य यश्छलाद्बभावलिश्यामलितोदरश्रियाम् ।
तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलं कुलं सुधांशोर्बहुलं वहन्बहु ॥११०॥

वह तालाब भ्रमरों से काली मध्य शोभावाले सफेद कमलों के समूह के छल से चन्द्रमा के अन्धकार के समान कलङ्क से व्याप्त-घने वृन्द को धारण करता अत्यन्त शोभायमान हुआ ॥११०॥

रथाङ्गभाजा कमलानुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन शार्ङ्गिणा ।
सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवान् मृणालशेषाहिभुवान्वयायि यः ॥१११॥

वह तालाब ऐसा मालूम होता था मानो कमल की झाड़ियों के समूह के बहाने उस पर विष्णु शयन कर रहे हों। विष्णु के हाथ में सुदर्शन चक्र है, सरोवर में चक्रवाक थे। विष्णु के साथ लक्ष्मी है, उसमें कमल हैं। विष्णु भ्रमरों के समान कृष्ण हैं, उसके समीप भ्रमर बने रहते हैं। विष्णु मृणाल के सदृश सर्प पर शयन करते हैं, उसमें मृणालरूपी शेषनाग से कमल की झाड़ी उत्पन्न हुई है ॥१११॥

तरङ्गिणीरङ्कजुषः स्ववल्लभास्तरङ्गरेखा विभरांबभूव यः ।
दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैर्धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च यः ॥११२॥

जैसे समुद्र अपनी प्राणेश्वरी नदियों को उत्संग में धारण करता है तथा उसमें

विद्रुमों के अङ्कुर होते हैं, उसी तरह तालाब के बीच में उसकी प्रिया तरङ्ग-माला थी तथा थोड़ी थोड़ी खिली हुई लाल कमलों की कलियाँ थी ॥११२॥

महीयसः पङ्कजमण्डलस्य यच्छलेन गौरस्य च मेचकस्य च ।
नलेन मेने सलिले निलीनयोस्त्विषं विमुञ्चन् विधु-कालकूटयोः ॥११३॥

नल ने तालाब को बहुत से सफेद तथा नीले कमलों के बहाने जल में डूबे हुए चन्द्रमा तथा विष की दीप्ति फैलाता हुआ जाना ॥११३॥

चलीकृता यत्र तरङ्गरिङ्गणैरबालशैवाललतापरम्पराः ।
ध्रुवं दधुर्वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम् ॥११४॥

उस तालाब में तरङ्गों के विलास से चलायमान किये गये बड़ी बड़ी शैवाल-लताओं के समूह ऐसे मालूम होते थे मानो वड़वानल से निकला धूम खूब इकठ्ठा हो रहा हो ॥११४॥

प्रकाममादित्यमवाप्य कण्टकैः करम्बितामोदभरं विवृण्वती ।
धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा दिवा सरोजिनी यत्प्रभवाप्सरायिता ॥११५॥

उस तालाब में उत्पन्न हुई कमलिनी सूर्य के संसर्ग से रोमाञ्चित हो गई तथा बहुत सी सुगन्ध प्रकट करने लगी । अपने विकसित-कमलरूप-शरीर से वह दिन में अप्सरा के समान मालूम हुई ॥११५॥

यदम्बुपूर-प्रतिबिम्बितायतिर्मरुत्तरङ्गैस्तरलस्तटद्रुमः ।
निमज्ज्य मैनाकमहीभृतः सतस्ततान पक्षान् धुवतः सपक्षताम् ॥११६॥

उस तालाब के प्रवाह में प्रतिबिम्बित-तीर का लम्बा वृक्ष ऐसा मालूम हुआ मानों हवा से चलायमान की गई लहरों से चञ्चल तथा पक्षों को कँपाता मैनाक पर्वत भीतर घुस गया हो ॥११६॥

पयोधिलक्ष्मीमुषि केलिपल्वले रिरंसुहंसीकलनादसादरम् ।
स तत्र चित्रं विचरन्तमन्तिके हिरण्मयं हंसमबोधि नैषधः ॥११७॥
प्रियासु बालासु रतक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवितं च बिभ्रतम् ।
स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं मिषेण चञ्च्वोश्चरणद्वयस्य च ॥११८॥

नल ने समुद्र की शोभा चुरानेवाले अपने उस क्रीडा-सरोवर के पास विचरते हुए-क्रीडाभिलाषिणी हंसिनी के अव्यक्त मधुर स्वर के प्रति उत्सुक-एक विचित्र सुनहरी हंस को देखा । वह बाला तथा प्रौढ़ा हंसिनियों के लिये अपनी लाल चोंच

तथा लाल चरणों के व्याज से क्रमशः कामदेव से उत्पन्न अनुरागरूपी वृक्ष की दो नव अङ्कुरित शाखाएँ तथा दो नवअङ्कुरित पल्लव धारण करता था ॥११७-११८

महीमहेन्द्रस्तमवेक्ष्य स क्षणं शकुन्तमेकान्तमनोविनोदिनम् ।
प्रियावियोगाद्विधुरोऽपि निर्भरं कुतूहलाक्रान्तमना मनागभूत् ॥११९॥

दमयन्ती के वियोग से अत्यन्त विह्वल होने पर भी मन में अत्यन्त विनोद पैदा करनेवाले हंस को क्षणभर देखकर नलके मनमें कुछ कुतूहल पैदा हुआ ॥११९॥

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा ।
तृणेन वात्येव तयानुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना ॥१२०॥

जो अवश्य होनेवाला है उसके पीछे बिना बाधा के जानेवाली विधाता की इच्छा जिस दिशा में जाती है उसी दिशा में लोगों के अत्यन्त पराधीन चित्त इस तरह जाते हैं जैसे आँधी जाती है उसी तरफ तिनका उड़कर जाता है ॥१२०॥

अथाऽवलम्ब्य क्षणमेकपादिकां तदा निदद्रावुपपल्वलं खगः ।
स तिर्यगावर्जितकन्धरः शिरः पिधाय पक्षेण रतिक्लमालसः ॥१२१॥

उस समय हंस सुरत-खेद के कारण आलस्य-युक्त हो पङ्खों से शिर ढककर, गरदन टेढ़ी झुकाकर तथा एक पङ्ख का सहारा लेकर क्षणभर सो रहा था ॥१२१॥

सनालमात्माननिर्जितप्रभं ह्रिया नतं काञ्चनमम्बुजन्म किम् ? ।
अबुद्ध तं विद्रुमदण्डमण्डितं स पीतमम्भःप्रभुचामरं तु किम् ? ॥१२२॥

एक पङ्ख के सहारे होने से अपने मुख से प्रभानिर्जित होने के कारण लज्जा से झुका हुआ डण्ठल सहित सोने का कमल है क्या ? पङ्खा लाल होने से मूँगे के दण्ड से अलंकृत पीला वरुण का चमर है क्या ? इस प्रकार हंस के विषय में नलने तर्कना की ॥१२२॥

कृतावरोहस्य हयादुपानहौ ततः पदे रेजतुरस्य बिभ्रती ।
तयोः प्रवालैर्वनयोस्तथाम्बुजैर्नियोद्धुकामे किमु बद्धवर्मणी ॥१२३॥

फिर नल घोड़े पर से उतरा तब उसके चरण, जिनमें वह जूते पहन रहा था, ऐसे मालूम होते थे मानों वनके पल्लवों तथा जलके कमलों के साथ युद्ध करने की इच्छा से उन्होंने कवच धारण कर लिया हो ॥१२३॥

विधाय मूर्तिं कपटेन वामनीं स्वयं बलिध्वंसिविडम्बिनीमयम् ।
उपेतपार्श्वश्चरणेन मौनिना नृपः पतङ्गं समधत्त पाणिना ॥१२४॥

राजा ने कपट से नारायण की वामन मूर्ति के समान छोटा रूप धरकर, जिस शब्द न हो ऐसी चाल से, पास जाकर हंस को अपने हाथ से पकड़ लिया ॥१२४

तदात्तमात्मानमवेत्य सम्भ्रमात् पुनः पुनः प्रायसदुत्सवाय सः।
गतो विरुन्योड्डयने निराशतां करौ निरोद्धुर्दशति स्म केवलम् ॥१२

जब हंस ने जाना कि नल ने उसे पकड़ लिया है तब भय से उसने बार बार उड़जाने का प्रयत्न किया लेकिन जब उसे मालूम हुआ कि मैं उड़ नहीं सकता हूँ तब वह दीन शब्द करके केवल राजा के हाथों में काटने लगा ॥१२५॥

ससम्भ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलं सरः प्रपद्योत्कतयानुकम्प्रताम्।
तमूर्मिलोलैः पतगग्रहान्नृपं न्यवारयद्वारिरुहैः करैरिव ॥१२६॥

ऐसा मालूम हुआ मानों भय से उठते हुए पक्षियों के समूह से अस्थिर हुए सरोवर ने हंस पर दयालु होकर तरंगों से चञ्चल हुए कमलरूप हाथों से राजा को हंस के पकड़ने से रोका ॥१२६॥

पतत्रिणा तद्रुचिरेण वञ्चितं श्रियः प्रयान्त्याः प्रविहाय पल्वलम्।
चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा चुकूज कूले कलहंसमण्डली ॥१२७॥

उस—सुन्दर हंस से विहीन—पल्वल को छोड़ कर जाती हुई राजहंस-मण्डली ने तीर पर ऐसा शब्द किया मानो प्रस्थान करती हुई सौन्दर्य लक्ष्मी के चञ्चल चरणकमलों के नूपुरों का शब्द हो ॥१२७॥

न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग ! यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः।
इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभः खगास्तमाचुक्रुशुरारवैः खलु ॥१२८॥

पृथ्वी को छोड़कर आकाश में प्राप्त हुए पक्षी अपने शब्द से नल की इस प्रकार निन्दा करने लगे—"तुम-मर्यादा का त्याग करनेवाले—जिस पृथ्वी के स्वामी हो वह रहने के योग्य नहीं है।" ॥१२८॥

न जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य दृष्टेयमिति स्तुवन्मुहुः।
अवादि तेनाथ स मानसौकसा जनाधिनाथः करपञ्जरस्पृशा ॥१२९॥

फिर बार बार नल ने इस प्रकार स्तुति की—"सोने के पङ्खों से उत्पन्न सौन्दर्य पक्षी में कहीं नहीं देखा!"। तब कर रूपी पिंजर में स्थित हंस ने नल से कहा—॥

धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मनः समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः।
तवार्णवस्येव तुषारसीकरैर्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान्? ॥१३०॥

"हे राजन्, मेरे—सोने के बने हुए—पङ्खों को देखकर तृष्णा से चञ्चल हुए तुम्हारे मन को धिक्कार है। इनसे तुम्हारी लक्ष्मी की कितनी वृद्धि होगी? क्या हिम की बूँदों से समुद्र की वृद्धि हो सकती है? ॥१३०॥

न केवलं प्राणिवधो वधो मम त्वदीक्षणाद्विश्वसितान्तरात्मनः।
विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि ॥१३१॥

"तुम्हारे दर्शन से मेरे मनमें विश्वास उत्पन्न हो गया था"। इस कारण मेरा वध केवल जन्तु की हिंसा ही नहीं है। धर्मरूपी धनवाले मनुआदि ने विश्वसित शत्रुओं के मारने की भी बड़ी निन्दा की है ॥१३१॥

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते।
धिगीदृशं ते नृपते! कुविक्रमं कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि ॥१३२॥

"पद पद पर रणोन्मत्त योद्धा भरे पड़े हैं।" क्या उनसे तुम्हारे हिंसा रस की पूर्ति नहीं होती? मुझ सरीखे दीन तथा कृपापात्र पक्षियों पर तुम अपना पराक्रम प्रकट करते हो! तुम्हारे इस कुविक्रम को धिक्कार है ॥१३२॥

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः।
त्वयाऽद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा कथं न पत्या धरणी ह्रणीयते ॥१३३॥

"जल में तथा भूमि पर उगनेवाले पौदों के फल-मूल से मुनियों के सदृश मैं अपना जीवन-निर्वाह करता हूँ। मुझ पर भी तुमने दण्ड उठाया! क्या ऐसे पति से पृथ्वी को लज्जा नहीं आती? ॥१३३॥"

इतीदृशैस्तं विरचय्य वाङ्मयैः सचित्रवैलक्ष्यकृपं नृपं खगः।
दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथीचकार कारुण्यरसापगा गिरः ॥१३४॥

राजा नल, इस भाँति, पक्षी के द्वारा मनुष्य की वाणी सुनने से आश्चर्य-चकित तथा अपनी निन्दा सुनने से लज्जित हुआ। फिर हंस ने दीन वचनों से उसे कृपालु बनाकर अपनी कारुण्य-पूर्ण वाणी को उसके दया-पूर्ण हृदय का इस प्रकार अतिथि बनाया, जैसे—नदियाँ समुद्र की अतिथि होती हैं ॥१३४॥

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो विधे! त्वां करुणा रुणद्धि न ॥१३५॥

"मैं अपनी वृद्ध माता का अकेलाही पुत्र हूँ। मेरी स्त्री अभी प्रसूता हुई है

और उसकी दशा अच्छी नहीं है। केवल मैं ही उन दोनों का सहारा हूँ। मुझे इस प्रकार पीड़ा पहुँचाते हे विधाता, क्या तुझे करुणा नहीं आती ? ॥१३५॥

मुहूर्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः सखायः स्रवदश्रवो मम ।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तरस्त्वयैव मातः ! सुतशोकसागरः ॥१३६॥

"मेरे दयालु मित्र क्षणभर संसार की निन्दा करके तथा आँसू गिराकर दुःख भूल जायंगे पर हे माता, पुत्र-शोक का समुद्र केवल तुझसे ही नहीं तरा जायगा॥

मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते ।
विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये ! स कीदृग्भविता तव क्षणः ॥१३७॥

"प्रिये, जब तू पक्षियों से पूछेगी कि मेरा पति कितनी दूर है ! मेरे लिये सन्देश तथा मृणाल भेजने में उसने बड़ी देर कर दी ? तब पक्षियों को रोता देखकर तेरा क्षण कैसे कटेगा ? ॥१३७॥

कथं विधातर्मयि पाणिपङ्कजात्तव प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः ।
वियोक्ष्यसे वल्लभयेति निर्गता लिपिर्ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा ॥१३८॥

"हे विधाता, तेरा प्रिया से वियोग होगा"—यह शिर में दर्द पैदा करनेवाली निष्ठुर उक्ति मेरे माथे में तेरे—प्रिया को शीतल तथा मृदु बनानेवाले—कर-कमलों से कैसे लिखी गई ? ॥१३८॥

अयि स्वयूथ्यैरशनिक्षतोपमं ममाऽद्य वृत्तान्तमिमं बतोदिता ।
मुखानि लोलाक्षि ! दिशामसंशयं दशापि शून्यानि विलोकयिष्यसि॥

"हे चञ्चलनेत्रवाली, जब अपने यूथ के पक्षी मेरे विषय में यह—वज्र की चोट के समान—समाचार देंगे तब आज तुझे निःसन्देह दशों दिशाएँ शून्य मिलेंगी॥१३९॥

ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वया विचित्राङ्गि ! विपद्यते यदि ।
तदास्मि दैवेन हतोऽपि हा हतः स्फुटं यतस्ते शिशवः परासवः ॥१४०॥

"हे विचित्र अङ्गवाली, अगर मेरे कारण हृदय विदीर्ण होने से तेरी मृत्यु हो जायगी तब तो हाय ! मैं मरा हुआ भी भाग्य से फिर मारा जाऊँगा क्योंकि तब हमारे बच्चे भी जरूर मारे जायँगे" ॥१४०॥

तवापि हा हा विरहात् क्षुधाकुलाः कुलायकूलेषु विलुठ्य तेषु ते ।
चिरेण लब्धा बहुभिर्मनोरथैर्गताः क्षणेनास्फुटितेक्षणा मम ॥१४१॥

"हाय हाय ! प्रिये, मेरे बालक—जिनके नेत्र भी अभी नहीं खुले हैं और जो

बहुत से मनोरथों से चिरकाल में प्राप्त हुए हैं—तेरे विरह से क्षुधातुर होकर तथा अपने कोटर में लोट लोट कर क्षणभर में मृतप्राय हो जायँगे ॥१४१॥

सुताः ! कमाहूय चिराय चुङ्कृतैर्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति ।
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य सः स्रुतस्य सेकाद्बुबुधे नृपाश्रुणः ॥१४२॥

"बच्चो, बहुत देर तक चूँ चूँ करके तुम किसे बुलाओगे ? किसकी ओर चोंच हिला-हिलाकर तुम बोलना सीखोगे ? अब तो तुम्हारी कहानी ही रह जायगी ।" इन वचनों को कहकर मूर्च्छित हुआ हंस राजा के गिरे हुए आँसूओं से भीगकर फिर चेतन हुआ ॥१४२॥

इत्थममुं विलपन्तममुञ्चद्दीनदयालुतयावनिपालः ।
रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय ॥१४३॥

राजा ने दीन-दयालुता के कारण पूर्वोक्त प्रकार से विलाप करते हंस को यों कह कर छोड़ दिया कि हे हंस, तुम्हारा रूप देखने के लिए तुम्हें पकड़ा था सो देख लिया, अब तुम जहाँ चाहो तहाँ जाओ ॥१४३॥

आनन्दजाश्रुभिरनुस्रियमाणमार्गान् प्राक्शोकनिर्गमितनेत्रपयःप्रवाहान् ।
चक्रे स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजनां जनयतां निजबान्धवानाम् ॥

जब गोल चक्कर काट-काट कर भ्रमण करने के बहाने उसके मित्र मानो आरती कर रहे थे तब हंस ने अपने पकड़े जाने के समय शोक से निकली आँसुओं की धाराओं के पीछे अपने छुटकारे के समय आनन्द के आँसू बहाये ॥१४४॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः ॥१४५॥

कविराजों की पंक्ति के मुकुटों के अलङ्कार रूप हीरे श्रीहीर नामक पिता तथा मामल्लदेवी नामक माता ने जिस जितेन्द्रिय श्रीहर्ष नामक पुत्र को उत्पन्न किया उसके चिन्तामणि मन्त्र के जप के फल तथा शृङ्गार की रचना से मनोहर नैषध-चरित में यह प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥१४५॥

——❀——

द्वितीयः सर्गः ।

अधिगत्य जगत्यधीश्वरादथ मुक्तिं पुरुषोत्तमात्ततः ।
वचसामपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विजः ॥ १ ॥

फिर उस पृथिवी के अधीश्वर—पुरुष-श्रेष्ठ—नल से छुटकारा पाकर हंसको ऐसा हर्ष हुआ जिसका वर्णन नहीं हो सकता ॥ १ ॥

अधुनीत खगः स नैकधा तनुमुत्फुल्लतनूरुहीकृताम् ।
करयन्त्रणदन्तुरान्तरे व्यलिखच्चञ्चुपुटेन पक्षती ॥ २ ॥

हंस ने अपने रोमांचित शरीर को अनेक प्रकार से फड़फड़ाया तथा चोंच से पखों की जड़ को कुरेदा कि जिसका मध्यभाग नल के हाथ में रहने से ऊँचा नीचा हो गया था ॥ २ ॥

अयमेकतमेन पक्षतेरधिमध्योर्ध्वगजङ्घमङ्घ्रिणा ।
स्खलनक्षण एव शिश्रिये द्रुतकण्डूयितमौलिरालयम् ॥ ३ ॥

छुटकारा पाते ही एक पञ्जे से शीघ्र शिर को खुजाकर तथा एक पख की जड़ के बीच में ऊँची जंघा करके हंस अपने कोटर में चला गया ॥ ३ ॥

स गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् कटु कीटान् दशतः सतः क्वचित् ।
नुनुदे तनुकण्डु पण्डितः पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनैः ॥ ४ ॥

अपनी मजबूत चोंच की नोंक के प्रहार से धीरे धीरे खुजाकर जो कीड़े इसके शरीर के किसी किसी भाग में तीव्रता से कुछ काट रहे थे उनको चतुर पक्षी ने दूर कर दिया । वे इसके—दुर्ग के समान—पंखों के समुदाय में नहीं घुस सकते थे ॥४॥

अयमेत्य तडागनीडजैर्लघु पर्यव्रियताथ शङ्कितैः ।
उदडीयत वैकृतात् करग्रहजादस्य विकस्वरस्वरैः ॥ ५ ॥

उस तालाब के पक्षियों ने शीघ्र आकर हंस को घेर लिया पर बाद में नल के हाथ में जाने से अस्त-व्यस्त हुए पंखों से भय-भीत होकर वे उच्चस्वर करके उड़ गये॥

वहतो बहुशैवलक्ष्मतां धृतरुद्राक्षमधुव्रतं खगः ।
स नलस्य ययौ करं पुनः सरसः कोकनदभ्रमादिव ॥ ६ ॥

वह हंस, मानों लाल कमल की भ्रान्ति से, सरोवर से नल के हाथ में फिर चला गया । नल बहुत से शैव चिह्न धारण करता था तथा उसके हाथ में रुद्राक्ष

रूपी भ्रमर थे। सरोवर में बहुत-सी पृथिवी सिवार से व्याप्त थी तथा कमलों पर भ्रमर मड़राया करते थे ॥ ६ ॥

पतगश्चिरकाललालनादतिविश्रम्भमवापितो नु सः ।
अतुलं विदधे कुतूहलं भुजमेतस्य भजन् महीभुजः ॥ ७ ॥

बहुत समय तक लालन करने के कारण ऐसा मालूम होता था कि हंस को नल में बड़ा विश्वास पैदा हो गया है। उसने राजा की भुजा पर आश्रित होकर अनुपम कुतूहल पैदा किया ॥ ७ ॥

नृपमानसमिष्टमानसः स निमज्जत्कुतुकामृतोर्मिषु ।
अवलम्बितकर्णशष्कुलीकलशीकं रचयन्नवोचत ॥ ८ ॥

मानसरोवर को पसन्द करनेवाला हंस कुतूहल रूप अमृत तरङ्गों में डूबते हुए राजा के मन को कानों के छेद रूपी दो कलसों[१] का सहारा देकर बोला ॥ ८ ॥

मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्मागममर्मपारगैः ।
स्मरसुन्दर ! मां यदत्यजस्तव धर्मः स दयोदयोज्ज्वलः ॥ ९ ॥

"धर्मशास्त्र के पारगामी राजा भी शिकार की निन्दा नहीं करते हैं तो भी हे कामदेव के समान सुन्दर भूपाल, तुमने जो मुझे छोड़ दिया इसका कारण तुम्हारा धर्म है जो दया के पुट से उज्ज्वल है ॥ ९ ॥"

अबलस्वकुलाशिनो झषान्निजनीडद्रुमपीडिनः खगान् ।
अनवद्यतृणार्दिनो मृगान् मृगयाऽघाय न भूभुजां घ्नताम् ॥ १० ॥

"अपने बलहीन कुल के खाने वाले मत्स्यों के, अपने कोटर के वृक्षों को हानि पहुँचानेवाले पक्षियों के तथा निरपराध तृण को पीड़ा-दायक मृगों के मारनेवाले राजाओं को शिकार से पाप नहीं होता ॥ १० ॥

यदवादिषमप्रियं तव प्रियमाधाय नुनुत्सुरस्मि तत् ।
कृतमातपसंज्वरं तरोरभिवृष्यामृतमंशुमानिव ॥ ११ ॥

"राजन्, मैंने तुमसे जो अप्रिय वचन कहे हैं उनका प्रभाव तुम्हारा प्रिय

१—डूबता हुआ मनुष्य खाली घड़ा पकड़ने का उद्योग करता है। उसी तरह नल के मन ने, जो कुतूहल के प्रवाह में डूबनेवाला था, इस तरह कानों के छेदों का सहारा लिया मानो वे दो खाली घड़े हों आशय यह है कि हंस ने नल को कुतूहल के इस दरजे पहुँचा दिया कि वह, जो हंस को कहना था उसे सुनकर अपने कुतूहल को पूरा करे।

करके मैं दूर किया चाहता हूँ। जैसे, सूर्य आतप से की गई वृक्ष की पीड़ा को पानी बरसा कर दूर कर देता है ॥११॥

उपनम्रमयाचितं हितं परिहर्तुं न तवापि साम्प्रतम् ।
करकल्पजनान्तराद्विधेः शुचितः प्रापि स हि प्रतिग्रहः ॥१२॥

"यद्यपि तुम चक्रवर्ती हो पर तुमको भी बिना प्रार्थना सामने आये हुए हित की उपेक्षा करना उचित नहीं है क्योंकि यह उपहार तुम्हें अच्छे भाग्य से प्राप्त हुआ है। मुझ जैसे जन तो केवल निमित्त मात्र हैं ॥१२॥

पतगेन मया जगत्पतेरुपकृत्यै तव किं प्रभूयते ।
इति वेद्मि न तु त्यजन्ति मां तदपि प्रत्युपकर्तुमर्तयः ॥१३॥

"तुम जगत् के पति हो ! मैं पक्षी होकर तुम्हारा उपकार कैसे कर सकता हूँ! यह जानकर भी प्रत्युपकार करने की उत्कण्ठा मेरा पीछा नहीं छोड़ती है ॥१३॥

अचिरादुपकर्तुराचरेदथ वात्मौपयिकीमुपक्रियाम् ।
पृथुरित्थमथाणुरस्तु सा न विशेषे विदुषामिह ग्रहः ॥१४॥

"अथवा पुरुष को अपने उपकारी का उपकार अपने उपाय से यथासम्भव बिना विलम्ब करना चाहिए। उपकार बड़ा हो या छोटा—इस विषय में पण्डित लोग भेद नहीं मानते ॥१४॥

भविता न विचारचारु चेत्तदपि श्रव्यमिदं मदीरितम् ।
खगवागियमित्यतोऽपि किं न मुदं धास्यति कीरगीरिव ॥१५॥

"भले ही मेरे वचन विचार के योग्य न हों, तो भी तुम्हें सुनने चाहिए। पक्षी की वाणी होने से, तोते की बोली की तरह, क्या ये सन्तोष पैदा नहीं करेंगे?॥

स जयत्यरिसार्थसार्थकीकृतनामा किल भीमभूपतिः ।
यमवाप्य विदर्भभूः प्रभुं हसति द्यामपि शक्रभर्तृकाम् ॥१६॥

"राजा भीम की जय हो ! उसके नाम को शत्रुओं के समूह ने सार्थक कर दिया है तथा उसे पति पाकर विदर्भ की भूमि स्वर्ग पर भी हँसती है जिसका पति इन्द्र है ॥१६॥

दमनादमनाक्प्रसेदुषस्तनयां तथ्यगिरस्तपोधनात् ।
वरमाप स दिष्टविष्टपत्रितयाऽनन्यसदृग्गुणोदयाम् ॥१७॥

१—भीम = भय देनेवाला। शत्रुओं को भीम के नाम से भय होता था।

"सत्यवादी दमन ऋषि राजा भीम से अत्यन्त प्रसन्न थे । उनके वर से उसने एक कन्या प्राप्त की जिसकी गुणावली की समानता तीनों कालों और तीनों लोकों में नहीं है ॥१७॥

भुवनत्रयसुभ्रुवामसौ दमयन्ती कमनीयतामदम् ।
उदियाय यतस्तनुश्रिया दमयन्तीति ततोऽभिधां दधौ ॥१८॥

"उसका "दमयन्ती" यह नाम सार्थक पड़ा क्योंकि वह अपने शरीर की कान्ति से तीनों लोकों की सुन्दरियों के सौन्दर्य के गर्व का दमन करती हुई उत्पन्न हुई थी ॥१८॥

श्रियमेव परं धराधिपाद्गुणसिन्धोरुदितामवेहि ताम् ।
व्यवधावपि वा विधोः कलां मृडचूडानिलयां न वेद कः ? ॥१९॥

"राजन्, जिस प्रकार लक्ष्मी समुद्र से निकली थी उसी प्रकार तुम उसे गुण-सिन्धु भूपाल से उत्पन्न हुई लक्ष्मी ही जानो। शिव के अप्रत्यक्ष होने पर भी यह कौन नहीं जानता कि उनके शिर पर चन्द्र-कला रहती है ? ॥१९॥

चिकुरप्रकरा जयन्ति ते विदुषी मूर्धनि साबिभर्ति यान् ।
पशुनाऽप्यपुरस्कृतेन तत्तुलनामिच्छतु चामरेण कः ? ॥२०॥

"वह विदुषी जिस केश-कलाप को शिर पर धारण करती है उसकी जय हो। चमर-मृग के द्वारा पीछे धारण किए हुए चामर के साथ उसकी तुलना कौन करेगा ? ॥२०॥

स्वदृशोर्जनयन्ति सान्त्वनां खुरकण्डूयनकैतवान् मृगाः ।
जितयोरुदयत्प्रमीलयोस्तदखर्वेक्षणशोभया भयात् ॥२१॥

"राजन्, खुर से खुजाने के बहाने हरिण अपने नेत्रों को सान्त्वना देते हैं क्योंकि दमयन्ती के विशाल नेत्रों की शोभा से पराभूत हो जाने के कारण ही वे भय से बन्द हो जाते हैं ॥२१॥

अपि लोकयुगं दृशावपि श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि ।
श्रुतिगामितया दमस्वसुर्व्यतिभाते सुतरां धरापते ! ॥२२॥

"राजन्, दमयन्ती के माता-पिता के कुल, उसके नेत्र तथा गुण—जो सुने जाते हैं और उसमें प्रत्यक्ष देखे जाते हैं—परस्पर विभूति से अत्यन्त शोभायमान

लगते हैं—कुल इस कारण कि वे प्रख्यात हैं, नेत्र इस कारण कि वे कानों तक फैले हुए हैं, गुण इस कारण कि वे शास्त्र का अनुसरण करते हैं ॥२२॥

नलिनं मलिनं विवृण्वती पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे।
अपि खञ्जनमञ्जनाञ्चिते विदधाते रुचिगर्वदुर्विधम ॥२३॥

"उसके विशाल नेत्र जब सुरमे की सलाई का स्पर्श नहीं करते हैं तब कमल को मलिन करते हैं पर जब उनमें अञ्जन लग जाता है तब खञ्जन में अपनी कान्ति का मद नहीं रहता ॥२३॥

अधरं किल बिम्बनामकं फलमस्मादिति भव्यमन्वयम्।
लभतेऽधरबिम्बमित्यदःपदमस्या रदनच्छदं वदत् ॥२४॥

"राजन्, "अधर-बिम्ब" पद दमयन्ती के होठ को प्रकट करता है पर उससे यह ठीक २ अर्थ निकलता है कि बिम्ब नामक फल होठ से अधर अर्थात् हीन है।

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥२५॥

"ब्रह्मा ने दमयन्ती का मुख बनाने के लिए चन्द्र-बिम्ब का मानो सार निकाल लिया है इस कारण उसके बीच में छेद हो गया है। उसी छेद की गहराई से आकाश की नीलिमा दिखाई देती है ॥२५॥

धृतलाञ्छनगोमयाञ्चनं विधुमालेपनपाण्डुरं विधिः।
भ्रमयत्युचितं विदर्भजाननीराजनवर्धमानकम् ॥२६॥

"जिसके कलङ्करूप गोबर का लेप धरा है तथा जो ऐंपन से सफेद-सा हो रहा है ऐसे चन्द्रमा को ब्रह्मा दमयन्ती के योग्य मुख के उतारे के लिए सरवे के समान भ्रमण कराता है ॥२६॥

सुषमाविषये परीक्षणे निखिलं पद्ममभाजि तन्मुखात्।
अधुनापि न भङ्गलक्षणं सलिलोन्मज्जनमुज्झति स्फुटम् ॥२७॥

"परम शोभा की परीक्षा के समय सब कमल दमयन्ती के मुख से पराजय को प्राप्त हो गये और वे पराजय का चिह्न अब तक नहीं छोड़ते हैं तथा जल के ऊपर स्थित हैं ॥२७॥

१—प्राचीनकाल में जल के द्वारा परीक्षा होती थी जिससे किसी मनुष्य का अपराधी या निरपराध होना सिद्ध होता था। इस परीक्षा को दिव्य कहते थे। जल-परीक्षा में अभियुक्त को

धनुषी रतिपञ्चबाणयोरुदिते विश्वजयाय तद्भ्रुवौ।
नलिके न तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयोः ॥२८॥

"क्या दमयन्ती की दोनों भौंहें सम्पूर्ण विश्वविजय करने के लिए कामदेव तथा रति के दो धनुष नहीं हैं? क्या उसकी समुन्नत नासिका के दोनों छिद्र तुम्हारे ऊपर छोड़े जाने वाले दो सूक्ष्म बाणों की नलिकाएँ नहीं हैं? ॥२८॥

सदृशी तव शूर ! सा परं जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा।
अपि मित्रजुषां सरोरुहां गृहयालुः करलीलया श्रियः ॥२९॥

"हे शूर, दमयन्ती केवल तुम्हारे ही योग्य है। उसकी भुजा जल रूपी दुर्ग में रहने वाले मृणालों की जीतनेवाली है तथा हाथ के विलास से वह सूर्य में अनुरक्त कमलों की शोभा धारण करने की इच्छुक है ॥२९॥

वयसी शिशुतातदुत्तरे सुदृशि स्वाभिविधिं विधित्सुनी।
विधिनापि न रोमरेखया कृतसीम्नी प्रविभज्य रज्यतः ॥३०॥

"राजन्, उस सुलोचना रमणी पर अपना आधिपत्य जमाने की इच्छा से बाल्य तथा यौवन दोनों ब्रह्मा के द्वारा उदर स्थित रोम-राजि का विभाग करके मर्यादा बँध जाने पर भी क्या उसमें सन्तुष्ट होकर नहीं रहते हैं?[1] ॥३०॥

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोर्गमिते कान्तिझरैरगाधताम्।
स्मरयौवनयोः खलु द्वयोः प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ ॥३१॥

"दोनों कुच उसके—कान्ति के प्रवाह से अगाध हुए—शरीर पर क्रीडा करते हुए कामदेव और तारुण्य के तैरने के घड़े हैं ॥३१॥

जल में गोता लगाना पड़ता था। गोता लगाने के समय तीन बाण छोड़े जाते थे। तीसरा बाण ठीक उसी समय छूटता था जब अभियुक्त जल में डूबता था। बाण छूटतेही एक आदमी वेगसे उस स्थान पर दौड़ जाता था जहा बाण गिरता था और एक दूसरा आदमी उस बाण को लेकर तुरन्त उस स्थान पर दौड़कर आता था जहा से बाण छूटा था। यदि इसके वहा पहुँचने तक अभियुक्त जल ही में रहता था तो वह निर्दोष समझा जाता था। पानी के ऊपर रहना हार की निशानी है।

१—वयः—संधि का वर्णन है। आशय यह है कि उसका बाल्य तो है ही, रोम रेखाओं के उत्पन्न होने से तारुण्य भी आ गया। इस प्रकार बाल्य और तारुण्य दोनों साथ साथ रहते हैं और प्रत्येक कहता है कि यह मेरी है।

कलसे निजहेतुदण्डजः किमु चक्रभ्रमकारितागुणः।
स तदुच्चकुचौ भवन्प्रभाझरचक्रभ्रममातनोति यत् ॥३२॥

"राजन्, घट में जो चाक को फिराने का गुण दीखता है वह क्या उसे कुम्हार के डण्डे से प्राप्त हुआ है ? क्योंकि घट दमयन्ती के उच्च स्तन का रूप धारण कर दीप्ति के समूह से दर्शकों की दृष्टि को चाक की तरह फिराता है अर्थात् दर्शकों की दृष्टि स्तनों को देख आश्चर्य से ऊपर नीचे इधर उधर भ्रमण करने लगती है ॥३२॥

भजते खलु षण्मुखं शिखी चिकुरैर्निर्मितबर्हगर्हणः।
अपि जम्भरिपुं दमस्वसुर्जितकुम्भः कुचशोभयेभराट् ॥३३॥

"दमयन्ती के केश-कलाप से तिरस्कृत पूँछ वाला मयूर कार्तिकेय की सेवा करता है तथा उसके कुचों की शोभा से जीते गये कुम्भवाला ऐरावत इन्द्र की सेवा करता है ॥३३॥

उदरं नतमध्यपृष्ठतास्फुटदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना।
चतुरङ्गुलमध्यनिर्गतत्रिवलिभ्राजि कृतं दमस्वसुः ॥३४॥

"राजन्, दमयन्ती का उदर ब्रह्मा ने मुट्ठी में लेकर बनाया है क्यों कि पीठ का मध्य भाग पिचका होने से वहाँ अँगूठा लगा मालूम होता है तथा उदर चारों उँगलियों के बीच में से निकली तीन सिलवटों से शोभायमान है ॥३४॥

उदरं परिमाति मुष्टिना कुतुकी कोऽपि दमस्वसुः किमु।
धृततच्चतुरङ्गुलीव यद्वलिभिर्भाति सहेमकाञ्चिभिः ॥३५॥

"क्या कोई शौकीन दमयन्ती के उदर को मुट्ठी से नापता है ? उस पर सोने की करधनी के साथ तीन सिलवटों से हाथ की चारों उँगलियाँ धरी मालूम होती हैं॥

पृथुवर्तुलतन्नितम्बकृन्मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया।
विधिरेकचक्रचारिणं किमु निर्मित्सति मान्मथं रथम् ॥३६॥

"क्या सूर्य का रथ बनाने का अभ्यास करके दमयन्ती के नितम्ब को विशाल तथा गोल बनाने वाला ब्रह्मा कामदेव के लिए एक पहिए से चलने वाला रथ बनाया चाहता है ? ॥३६॥

तरुमूरुयुगेन सुन्दरी किमु रम्भां परिणाहिना परम्।
तरुणीमपि जिष्णुरेव तां धनदापत्यतपःफलस्तनीम् ॥३७॥

"राजन्, सुन्दरी दमयन्ती विशाल जङ्घाओं से क्या केवल वृक्ष रूप रम्भा

(=कदली) को जीतना चाहती है ? वह तो तरुणी रम्भा अप्सरा को भी जीतना चाहती है जिसके स्तन नल-कूबर को तप के फल से छूने को मिले थे ॥३७॥

जलजे रविसेवयेव ये पदमेतत्पदतामवापतुः ।
ध्रुवमेत्य रुतः सहंसकीकुरुतस्ते विधिपत्रदम्पती ॥३८॥

"दो कमलों ने मानों सूर्य की सेवा के प्रभाव से दमयन्ती के चरण होकर उत्तम स्थान प्राप्त किया । यह निश्चित है कि जैसे कमलों के पास आकर हंस-दम्पती शब्द करते हैं उसी तरह नूपुर शब्द करके चरणों को हंस-सहित बनाते हैं ॥

श्रितपुण्यसरः सरित्कथं न समाधिक्षपिताखिलक्षपम् ।
जलजं गतिमेतु मञ्जुलां दमयन्तीपदनाम्नि जन्मनि ॥३९॥

"पवित्र सरोवरों तथा नदियों में रहने वाले तथा समाधियों में (अर्थात् अपनी पंखडियाँ बन्द करके) सब रात्रि बिताने वाले कमल को दमयन्ती-चरण-रूप जन्मान्तर में अच्छी गति क्यों न मिले ? ॥३९॥

सरसीः परिशीलितुं मया गमिकर्मीकृतनैकनीवृता ।
अतिथित्वमनायि सा दृशोः सदसत्संशयगोचरोदरी ॥४०॥

"सरोवरों में नहाने के उद्देश्य से बहुत से देशों में भ्रमण करके मैंने दमयन्ती को—जिसकी कमर है या नहीं इसमें सन्देह है—दृष्टि गोचर किया ॥४०॥

अवधृत्य दिवोऽपि यौवतैर्नसहाधीतवतीमिमामहम् ।
कतमस्तु विधातुराशये पतिरस्या वसतीत्यचिन्तयत् ॥४१॥

"(सुन्दरी) दयमन्ती ने (सौन्दर्य के अन्तर के कारण असम) सुर-सुन्दरियों के साथ भी अध्ययन नहीं किया । यह निश्चय करके मेरे मन में यह चिन्ता हुई कि ब्रह्मा के मन में इसके लिए कौनसा पति है ? ॥४१॥

अनुरूपमिमं निरूपयन्नथ सर्वेष्वपि पूर्वपक्षताम् ।
युवसु व्यपनेतुमक्षमस्त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम् ॥४२॥

"दमयन्ती के योग्य वर के विचार में सब युवकों में अयोग्य रूप होने को कारण दूर करने में असमर्थ होकर मैंने तुममें उसके रूप के अनुरूप होने की बुद्धि निश्चय-पूर्वक दृढ़ की ॥ ४२ ॥

अनया तव रूपसीमया कृतसंस्कारविबोधनस्य मे ।
चिरमप्यवलोकिताद्य सा स्मृतिमारूढवती शुचिस्मिता ॥४३॥

"बहुत काल हुआ तब देखी हुई—रमणीय हास्यवाली—दमयन्ती की याद, तुम्हा लावण्य देखकर, जाग उठी और आज वह मेरी स्मृति में आ गई ॥ ४३ ॥

त्वयि वीर ! विराजते परं दमयन्तीकिलकिञ्चितं किल ।
तरुणीस्तन एव दीप्यते मणिहारावलिरामणीयकम् ॥४४॥

"हे शूर, दमयन्ती की शृङ्गार-चेष्टा केवल तुममें ही विशेष शोभा को प्रा होगी । मुक्ताहार तरुणी के स्तन पर ही शोभा पाता है ॥ ४४ ॥

तव रूपमिदं तया बिना विफलं पुष्पमिवावकेशिनः ।
इयमृद्धधना वृथावनी स्ववनी संप्रवदत्पिकापि का ॥४५॥

"राजन्, तुम्हारा यह रूप दमयन्ती के बिना इस तरह निरर्थक है जैसे बाँ वृक्ष का फल-हीन पुष्प । यह समृद्ध पृथ्वी भी वृथा है तथा कोकिलों के कूजने शोभायमान विलास-वाटिका भी वृथा है ॥ ४५ ॥

अनया सुरकाम्यमानया सह योगः सुलभस्तु न त्वया ।
घनसंवृतयाम्बुदागमे कुमुदेनेव निशाकरत्विषा ॥४६॥

"देवता भी दमयन्ती को चाहते हैं अतः उसके साथ तुम्हारा सम्बन्ध इ प्रकार कठिन है जिस प्रकार वर्षा काल में मेघ से ढँके हुए चन्द्रमा की दी के साथ समुद्र का ॥ ४६ ॥

तदहं विदधे तथा तथा दमयन्त्याः सविधे तव स्तवम् ।
हृदये निहितस्तया भवानपि नेन्द्रेण यथापनीयते ॥४७॥

"इस कारण मैं दमयन्ती के पास तुम्हारी प्रशंसा इस प्रकार करूँगा जिस उसके हृदय में धारण किये गये तुम्हें इन्द्र भी न हटा सके ॥ ४७ ॥

तव सम्मतिमेव केवलामधिगन्तुं धिगिदं निवेदितम् ।
ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम् ॥४८॥

"यद्यपि मैंने तुम्हारी सम्मति जानने के लिए ही यह निवेदन किया था तथा यह निन्दा के योग्य है । साधु अपनी उपकारिता फल के परिणाम से सूचि करते हैं, वचन से नहीं ॥ ४८ ॥

तदिदं विशदं वचोमृतं परिपीयाभ्युदितं द्विजाधिपात् ।
अतितृप्ततया विनिर्ममे स तदुद्गारमिव स्मितं सितम् ॥४९॥

नल ने श्रेष्ठ पक्षी से निकले पूर्वोक्त विशद वचनरूप अमृत पीकर तथा उन से

अत्यन्त तृप्त होकर अमृत के उद्गार के समान श्वेत मुसकराहट प्रकट की ॥४९॥

परिमृज्य भुजाग्रजन्मना पतगं कोकनदेन नैषधः।
मृदु तस्य मुदेऽकिरद्गिरः प्रियवादामृतकूपकण्ठजाः ॥५०॥

भुजा के अग्रभाग में उत्पन्न हुए लाल-कमल से हंस पर हाथ फेरकर नल ने उसके विनोद के लिए प्रियवचन रूप अमृत के कूप रूपी कंठ से निकले कोमल वचन कहे ॥५०॥

न तुलाविषये तवाकृतिर्न वचोवर्त्मनि ते सुशीलता।
त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रकसारमुद्रणा ॥५१॥

"हंस, तुम्हारे स्वरूप की तुलना किसी के साथ नहीं हो सकती। तुम्हारे सुस्वभाव का वर्णन नहीं हो सकता। सामुद्रिक शास्त्र का रहस्य है कि जहाँ अच्छी आकृति होती है वहीं गुण होते हैं। उसका उदाहरण तुम्हीं हो" ॥५१॥

न सुवर्णमयी तनुः परं ननु किं वागपि तावकी तथा।
न परं पथि पक्षपातितानवलम्बे किमु मादृशेऽपि सा ॥५२॥

"तुम्हारी मूर्ति ही सुवर्णमयी नहीं है, पर वाणी भी सुवर्णमयी (सु + वर्ण + मयी) है। तुम्हारा पक्षपात केवल अन्तरिक्ष के मार्ग में ही नहीं है, पर मुझ जैसे जनमें भी है कि जिसका कोई सहारा नहीं है" ॥५२॥

भृशतापभृता मया भवान् मरुदासादि तुषारसारवान्।
धनिनामितरः सतां पुनर्गुणवत्संनिधिरेव सन्निधिः ॥५३॥

"हंस, काम-ज्वर से अत्यन्त संतप्त हुए मुझे तुम वायु होकर मिले कि जिसमें बरफ का सार मिला हो। धनिकों की दूसरी बात है पर विद्वानों के लिए तो गुणवानों का समागम ही बड़ा भारी खजाना है ॥५३॥

शतशः श्रुतिमागतैव सा त्रिजगन्मोहमहौषधिर्मम।
अमुना तव शंसितेन तु स्वदृशैवाधिगतामवैमि ताम् ॥५४॥

"दमयन्ती तीनों लोक को मोहित करने की महौषधि है। उसके विषय में मैंने सैकड़ों बार सुना है लेकिन तुमने जो सौन्दर्य का वर्णन किया उससे मैं उसे अपने नेत्रों से देख लिया" ॥५४॥

१—पक्षी से उड़ना, अनुकूल बर्ताव।

अखिलं विदुषामनाविलं सुहृदा च स्वहृदा च पश्यताम् ।
सविधेऽपि नसूक्ष्मसाक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्रमक्षिणी ॥५५॥

"मित्र के द्वारा तथा अपने हृदय से सब स्पष्ट देखने वाले बुद्धिमानों को नेत्र मुख के अलंकार मात्र हैं क्योंकि वे पास की सूक्ष्म वस्तु भी नहीं देख सकते हैं॥५५॥

अमितं मधु तत्कथा मम श्रवणप्राघुणकीकृता जनैः ।
मदनानलबोधने भवेत् खग ! धाय्या धिगधैर्यधारिणः ॥५६॥

"हंस, दमयन्ती की—अनुपम मधु के समान—कथा को लोगों ने मेरे कानों का अतिथि बनाया है। वह कथा मेरी कामाग्नि प्रज्वलित करने में धाय्या[१] के समान समर्थ है। अतः मुझ सरीखे अधीर पुरुषों को धिक्कार है ॥५६॥

विषमो मलयाहिमण्डलीविषफूत्कारमयो मयोहितः ।
खग ! काळकलत्रदिग्भवः पवनस्तद्विरहानलैधसा ॥५७॥

"हंस, दक्षिण वायु को उसके विरह की अग्नि का ईंधन होने से मैं दुःसह समझता हूँ क्योंकि वह मलयाचल के सर्पों के विष के फूत्कारों से युक्त है ॥५७॥

प्रतिमासमसौ निशापतिः खग ! संगच्छति यद्दिनाधिपम् ।
किमु तीव्रतरैस्ततः करैर्मम दाहाय स धैर्यतस्करैः ॥५८॥

"हंस, यह चन्द्रमा प्रतिमास[२] सूर्य में प्रवेश करता है, इसी कारण क्या यह सूर्य के संसग से अत्यन्त तीव्र हुई—धैर्य का हरण करनेवाली—किरणों से मुझे जलाता है? ॥५८॥

कुसुमानि यदि स्मरेषवो न तु वज्रं विषवल्लिजानि तत् ।
हृदयं यदमूमुहन्नमूर्मम यच्चातितरामतीतपन् ॥५९॥

"यदि कामदेव के तीर पुष्प हैं, वज्र नहीं हैं, तो वे विष की बेल में अवश्य उत्पन्न होते हैं क्योंकि उन्होंने मेरे हृदय को अत्यन्त मोह में डाल दिया है और खूब संतप्त किया है ॥५९॥

तदिहानवधौ निमज्जतो मम कन्दर्पशराधिनोरधौ ।
भव पोत इवावलम्बनं विधिनाकस्मिकसृष्टसंनिधिः ॥६०॥

१—अग्नि सुलगाने में समर्थ ऋचा।

२—चन्द्रमा की किरणें अमावस्या की रात्रि को सूर्य में प्रवेश करती हैं। उसी की ओर सङ्केत है।

"इस कारण हे हंस, तुम कामदेव के शरों से उत्पन्न की गई इस असीम व्यथा में डूबते हुए मेरे इस तरह सहायक होओ जैसे किसी समुद्र में डूबते हुए के पास भाग्य से अचानक जहाज पहुँच जाय और वह उसका सहायक हो ॥६०॥

अथवा भवतः प्रवर्तना न कथं पिष्टमियं पिनष्टि नः ।
स्वत एव सतां परार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता ॥६१॥

"अथवा इस तरह की मेरी प्रार्थना पिष्ट पेषण नहीं करती है क्या ? क्योंकि सज्जनों की परोपकारिता अपने आप होती हैं, जैसे इन्द्रियाँ अपने विषय अपने आप ग्रहण करती हैं ॥६१॥

तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः ।
अयि ! साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः ! ॥६२॥

"मार्ग में तुम्हारा कल्याण हो। फिर शीघ्र तुम्हारा समागम हो। हे हंस, मेरी अभिलाषा पूरी करो। समय पर मेरा स्मरण करना ॥६२॥"

इति तं स विसृज्य धैर्यवान्नृपतिः सूनृतवाग्बृहस्पतिः ।
अविशद्वनवेश्म विस्मितः स्मृतिलग्नैः कलहंसशंसितैः ॥६३॥

प्रिय तथा सत्य बात कहने में बृहस्पति के समान तथा धैर्यवान् राजा इस प्रकार हंस को विदा करके तथा उसके स्मृति गोचर हुए वचनों से चकित होकर अपने उद्यान के भवन में आया ॥६३॥

अथ भीमसुतावलोकनैः सफलं कर्तुमहस्तदेव सः ।
क्षितिमण्डलमण्डनायितं नगरं कुण्डिनमण्डजो ययौ ॥६४॥

फिर उसी दिन को दमयन्ती के दर्शन से सफल करने की कामना से हंस भूमण्डल के अलंकार के समान कुंडिन पुर को रवाना हुआ ॥६४॥

प्रथमं पथि लोचनातिथिं पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनम् ।
कलसं जलसंभृतं पुरः कलहंसः कलयांबभूव सः ॥६५॥

उस हंसने पहले मार्ग में सामने से आता हुआ जलपूर्ण कलस देखा जो पथिकों से प्रार्थना की गई सिद्धि की सूचना देता था ॥६५॥

अवलम्ब्य दिदृक्षयाम्बरे क्षणमाश्चर्यरसालसं गतम् ।
स विलासवनेऽवनीभृतः फलमैक्षिष्ट रसालसङ्गतम् ॥६६॥

फिर उसने आश्चर्य के कारण मन्दगति का आश्रय लेकर क्षणभर इधर उधर

देखने की इच्छा से नल के क्रीड़ा वन में वृक्ष में लगा हुआ आम देखा ॥६६॥

नभसः कलभैरुपासितं जलदैर्भूरितरक्षुपं नगम् ।
स ददर्श पतङ्गपुङ्गवो विटपच्छन्नतरक्षुपन्नगम् ॥६७॥

हंस ने एक पर्वत देखा जिसकी आकाश के कलभरूप मेघ उपासना करते थे, जो बहुत-सी झाड़ियों से शोभायमान था तथा जिसमें शाखाओं से छिपे हुए मृग भक्षी-पशु तथा सर्प थे ॥६७॥

स ययौ धुतपक्षतिः क्षणं क्षणमूर्ध्वायनदुर्विभावनः ।
विततीकृतनिश्चलच्छदः क्षणमालोककदत्तकौतुकः ॥६८॥

हंस क्षण भर अपने पङ्खों को फड़फड़ाता, क्षण भर दूर होने से अदृश हो जाता, क्षण भर अपने निश्चल पंखों को फैलाता तथा दर्शकों को कौतुक दिखाता चला ॥६८॥

तनुदीधितिधारया रयाद्गतया लोकविलोकनामसौ ।
छदहेम कषन्निवालसत्कषपाषाणनिभे नभस्तले ॥६९॥

हंस वेग के कारण लोगों के दृष्टि-गोचर हुई शरीर की कान्ति की सूक्ष्म किरणें से ऐसा शोभायमान हुआ मानों कसौटी के समान आकाश में सुवर्ण की परीक्षा के लिए पंखों को घिसता हो ॥६९॥

विनमद्भिरधःस्थितैः खगैर्झटिति श्येननिपातशङ्किभिः ।
स निरैक्षि दृशैकयोपगिस्यदझाङ्कारितपत्रपद्धतिः ॥७०॥

हंस के पंख उड़ने में वेग के कारण झंकार करते थे। उसे नीचेवाले पक्षियों ने ऊपर देखा और वे झट पट श्येन के झपटने की शंका से और भी नीचे आ गये ॥७०॥

ददृशे न जनेन यन्नसौ भुवि तच्छायमवेक्ष्य तत्क्षणात् ।
दिवि दिक्षु वितीर्णचक्षुषा पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथः ॥७१॥

धरती पर उसकी छाया देख कर उसी क्षण दिशाओं में दृष्टि फेंकने पर लोगों को उड़ता हुआ हंस नहीं दीखा क्योंकि वह वेग के कारण झट पट दृष्टि-मार्ग से बाहर हो जाता था ॥७१॥

न वनं पथि शिश्रियेऽमुना क्वचिदप्युच्चतरद्रुचारुतम् ।
न सगोत्रजमन्ववादि वा गतिवेगप्रसरद्रुचा रुतम् ॥७२॥

मार्ग में गमन के वेग से कान्ति फैलाता हंस न तो ऊँचे वृक्षों से सुन्दर बनमें ठहरा, न उसने अपनी ज्ञाति के हंसों के शब्दों का उत्तर दिया ॥७२॥

अथ भीमभुजेन पालिता नगरी मञ्जुरसौ धराजिता।
पतगस्य जगाम दृक्पथं हरशैलोपमसौधराजिता ॥७३॥

फिर शत्रुओं में भय उत्पन्न करनेवाली भुजा वाले भीम से पालित सुन्दर कुंडिन नगरी हंस के दृष्टि-गोचर हुई जो—कैलास के समान—सुधा (=सफेदी) से धवल राज-गृहों से शोभायमान थी ॥७३॥

दयितं प्रति यत्र सन्तता रतिहासा इव रेजिरे भुवः।
स्फटिकोपलविग्रहा गृहाः शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः ॥७४॥

उस नगरी में स्फटिक के बने, चन्द्र[१]-शकल के समान निष्कलंक दीवार वाले घर पति के उद्देश से किये गये पृथ्वी के केलि-हास के समान शोभायमान थे ॥७४॥

नृपनीलमणीगृहत्विषामुपधेर्यत्र भयेन भास्वतः।
शरणार्थमुवास वासरेऽप्यसदावृत्त्युदयत्तमं तमः ॥७५॥

वहाँ घना अन्धकार राजा के नील-मणि-निर्मित महलों की कान्ति के बहाने मानों सूर्य के भय से दिन में भी शरण के लिए रहता था और हटाया नहीं हटता था ॥७५॥

सितदीप्रमणिप्रकल्पिते यदगारे हसदङ्करोदसि।
निखिलान्निशि पूर्णिमा तिथीनुपतस्थेऽतिथिरेकिका तिथिः ॥७६॥

उस नगरी के सफेद चमकते रत्नों से निर्मित तथा जिनसे आकाश तथा पृथ्वी के बीच का भाग हँसता मालूम होता था, ऐसे महलों में रात्रि में अकेली पूर्णिमा तिथि सब तिथियों के पास अतिथि होकर आती थी ॥७६॥[२]

सुदतीजनमज्जनार्पितैर्घुसृणैर्यत्र कषायिताशया।
न निशाखिलयापि वापिका प्रससाद ग्रहिलेव मानिनी ॥७७॥

१—पूर्ण चन्द्रमा में कलङ्क होता है पर चन्द्र-शकल में कलङ्क नहीं होता। इसी कारण यहाँ चन्द्र-शकल को उपमा दी गई है।

२—सारांश यह है कि सब रात्रियां में सफेद मणियों के बने घरों के प्रभा-पटल के कारण आकाश और पृथ्वी के बीच के भाग के प्रकाशमान होने से तथा अन्धकार का अभाव होने से पूर्णिमा की भ्रान्ति होती थी।

वहाँ सुन्दरियों की जलक्रीडा में धुले हुए केसर से रँगे हुए मध्यवाली बावड़ी रातभर में भी इस तरह स्वच्छ नहीं होती थी जैसे अन्य सुन्दरी स्त्रियाँ अनुराग होने से पति के शरीर में लगे केसर के कारण आग्रह करनेवाली मानिनी रातभर में भी प्रसन्न नहीं होती ॥७७॥

क्षणनीरवया यया निशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया ।
मणिवेश्ममयं स्म निर्मलं किमपि ज्योतिरबाह्यमिज्यते ॥७८॥

वह प्राकार — पंक्ति रूप योगपट्ट का आश्रय लेनेवाली नगरी रात्रि में क्षणमात्र निःशब्द होकर रत्न-गृह-रूप निर्मल तथा अवर्ण्य तेज को प्राप्त होती थी ॥७८॥

विललास जलाशयोदरे क्वचन द्यौरनुबिम्बितेव या ।
परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बानवलम्बिताम्बुनि ॥७९॥

वह नगरी किसी सरोवर के मध्य में प्रतिबिम्बित होकर स्वर्ग के समान शोभायमान हुई। जहाँ प्रतिबिम्ब नहीं पड़ा था उस स्थान का जल स्वर्ग की खाई के समान मालूम हुआ ॥७९॥

व्रजते दिवि यद्गृहावलीचलचेलाञ्चलदण्डताडनाः ।
व्यतरन्नरुणाय विश्रमं सृजते हेलिहयालिकालनाम् ॥८०॥

वहाँ महलों की पंक्ति के ऊपर पताकाएँ लगी थीं। उनकी चाबुक के समान हिलती हुई नोकों के आघात से—आकाश में जाते तथा सूर्य के घोड़ों को हाँकते—अरुण को आराम मिलता था ॥८०॥

क्षितिगर्भधराम्बरालयैस्तलमध्योपरिपूरिणां पृथक् ।
जगतां किल याखिलाद्भुताजनि सारैर्निजचिह्नधारिभिः ॥८१॥

वह नगरी मानों तीनों लोकों के—पाताल पृथ्वी तथा आकाश के—श्रेष्ठ अंशों से बनाई गई थी और उसमें उनके चिह्न भी मौजूद थे क्योंकि घरों की नीचे की मञ्जिल में पाताल का चिह्न खजाना था, बीच की मञ्जिल में पृथ्वी के चिह्न धान्य थे तथा ऊपर की मञ्जिल में स्वर्ग के चिह्न चन्दन माला आदि थे ॥८१॥

दधदम्बुदनीलकण्ठतां वहदत्यच्छसुधोज्ज्वलं वपुः ।
कथमृच्छतु यत्र नाम न क्षितिभृन्मन्दिरमिन्दुमौलिताम् ॥८२॥

१—योग के समय धारण किया जानेवाला वस्त्र।

उस नगरी में मेघों से श्याम प्रान्त वाला, अत्यन्त उज्वल सफेदी से निर्मल सतह वाला तथा मौलि में चन्द्रमा धारण करने वाला राज-महल विष से श्याम कण्ठवाले, उज्वल-शरीर तथा शिर पर चन्द्रमा धारण करने वाले चन्द्रशेखर के साथ समानता क्यों न प्राप्त करता ? ॥८२॥

बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः ।
यदनेककसौधकन्धरा हरिभिः कुक्षिगतीकृता इव ॥८३॥

खम्भों में बनी अनेक प्रकार की आकृति की पुतलियों के मुख-चन्द्रों में लाञ्छन-मृगों के अभाव से यह मालूम होता था कि उस नगरी के असंख्य महलों पर बनाये गये सिंहों ने मानो लाञ्छन-मृगों को खा लिया है ॥८३॥

बलिसद्मदिवं स तथ्यवागुपरि स्माह दिवोऽपि नारदः ।
अधराथ कृता ययेव सा विपरीताजनि भूविभूषया ॥८४॥

सत्यवादी नारद ने कहा था कि पाताल रूपी स्वर्ग रमणीयता में स्वर्ग से भी ऊपर है पर पृथ्वी की भूषण इस नगरी ने अपने सौन्दर्य से पाताल को अधर (=नीचा) कर दिया इस कारण यह पाताल और स्वर्ग दोनों से ऊपर हो गई ॥८४॥

प्रतिहट्टपथे घरट्टजात् पथिकाह्वानदसक्तुसौरभैः ।
कलहान्न घनान्यदुत्थितादधुनाप्युज्झति घर्घरस्वरः ॥८५॥

वहाँ सब बाजारों में चक्कियों से निकला, सत्तू की सुगन्ध से युक्त घर्घर शब्द पथिकों का आकर्षण करता था तथा बादल उन्हें घर जाने की प्रेरणा करते थे। इस तरह चक्की और मेघ का कलह होता था तथा घर्घर शब्द अब तक मेघ को नहीं छोड़ता था ॥८५॥

वरणः कनकस्य मानिनीं दिवमङ्कादमराद्रिरागताम् ।
घनरत्नकपाटपक्षतिः परिरभ्यानुनयन्नुवास याम् ॥८६॥

रत्न-कपाट-रूप पङ्खों वाला सुवर्ण-प्राकार रूप सुमेरु, अत्यन्त मानिनी होने से अपनी गोदी छोड़कर पृथ्वी पर आई हुई उस स्वर्ग रूप नगरी का आलिङ्गन कर उसे प्रसन्न करके रहता था ॥८६॥

अनलैः परिवेषमेत्य या ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः ।
उदयं लयमन्तरा रवेरवहद्द्वाणपुरीपरार्ध्यताम् ॥८७॥

वह नगरी देदीप्यमान सूर्यकान्त मणियों से बनाये गये परकोटे से उत्पन्न

हुई अग्नि से घिर जाने के कारण सूर्य के उदय से अस्त तक त्राणपुरी के समा चमकती मालूम होती थी ॥८७॥

बहुकम्बुमणिर्वराटिकागणनाटत्करकर्कटोत्कर: ।
हिमवालुकयाच्छवालुक: पटु दध्वान यदापणार्णव: ॥८८॥

उसके बाज़ार रूपी समुद्र में बड़ा शब्द होता था। उसमें बहुत से शङ्ख त रत्न थे, कौड़ियाँ गिनने में केंकड़ों की तरह हाथ इधर उधर घूमते थे तथा सफे रेत के स्थान में कपूर का चूरा था ॥८८॥

यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया ।
मुमुचे न पतिव्रतौचिती प्रतिचन्द्रोदयमभ्रगङ्गया ॥८९॥

उसके घरों की ऊँची अटारियों के फर्श में लगे हुए चन्द्रकान्त मणियों से बहुत-सा जल रिसने के कारण वृद्धि को प्राप्त हुई आकाश-गङ्गा चन्द्रोदय हो के समय पतिव्रता धर्म नहीं छोड़ती थी। चन्द्रोदय से समुद्र का जल बढ़ता है प समुद्र की पत्नी गङ्गा-का-जल चन्द्रकान्त मणियों के जल से बढ़ता था ॥८९॥

रुचयोऽस्तमितस्य भास्वत: स्खलिता यत्र निरालया: किल ।
अनुसायमभुर्विलेपनापणकश्मीरजपण्यवीथय: ॥९०॥

उस नगरी के प्रत्येक सन्ध्या के समय सुगन्धित द्रव्य बिकने के बाज़ार में केशर की दूकानें अस्त हुए रवि से गिरी हुई आश्रयहीन कान्तियों के समान मालूम होती थी ॥९०॥

विततं वणिजापणेऽखिलं पणितुं यत्र जनेन वीक्ष्यते ।
मुनिनेव मृकण्डुसूनुना जगतीवस्तु पुरोदरे हरे: ॥९१॥

उस नगरी में बनियों के द्वारा बाज़ार में बेचने के लिए फैलाई गईं सब पृथ्वी की वस्तुएँ इस तरह देख पड़ती थीं जैसे मार्कण्डेय ने विष्णु के उदर में तीनों लोकों की वस्तुएँ देखी हों ॥९१॥

सममेणमदैर्यदापणे तुलयन्सौरभलोभनिश्चलम् ।
पणिता न जनारवैरवैदपि गुञ्जन्तमलिं मलीमसम् ॥९२॥

उस नगरी के बाज़ार में दूकानदार सुगन्ध के लोभ से कस्तूरी पर बैठे तथा

१—वहाँ के महल आकाश-गङ्गा की अपेक्षा अधिक ऊँचे थे।

गुञ्जार करते काले भ्रमर को भी लोगों के कोलाहल के कारण नहीं देख पाता था। वह उसे कस्तूरी ही समझता था ॥९२॥

रविकान्तमयेन सेतुना सकलाहं ज्वलनाहितोष्मणा।
शिशिरे निशि गच्छतां पुरा चरणौ यत्र दुनोति नो हिमम् ॥९३॥

उस नगरी में सूर्यकान्त मणि से बने हुए तथा दिनभर जलने से गरम हुए मार्ग से शिशिर ऋतु की रात्रि में जाते हुए स्त्री पुरुषों के चरणों को शीत कष्ट नहीं पहुँचाता था ॥९३॥

विधुदीधितिजेन यत्पथं पयसा नैषधशीलशीतलम्।
शशिकान्तमयं तपागमे कलितीव्रस्तपति स्म नातपः ॥९४॥

गरमी की ऋतु में कलियुग के समान दारुण धूप उस नगरी के—नल के स्वभाव के समान—शीतल मार्ग को नहीं तपाती थी क्योंकि चन्द्रमा की किरणों के कारण चन्द्रकान्त मणियों में से पानी रिसता रहता था ॥९४॥

परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरः।
फणिभाषितभाष्यफक्किकाविषमा कुण्डलनामवापिता ॥९५॥

वह गोल खाई के बहाने रेखा-वलय से घिरी हुई नगरी शत्रुओं की पहुँच के बाहर थी जैसे शेषजी से कही गई भाष्य की फक्किका समझ से परे है ॥९५॥

मुखपाणिपदाक्ष्णि पङ्कजै रचिताङ्गेष्वपरेषु चम्पकैः।
स्वयमादित यत्र भीमजा स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियम् ॥९६॥

उस नगरी में—जिसके मुख, हाथ, चरण तथा नेत्र कमलों के तथा अन्य अङ्ग चम्पा के बने थे ऐसी—दमयन्ती ने कामदेव की पूजा की फूल-माला की शोभा स्वयं स्वीकार की थी ॥९६॥

जघनस्तनभारगौरवाद्वियदालम्ब्य विहर्तुमक्षमाः।
ध्रुवमप्सरसोऽवतीर्य यां शतमध्यासत तत्सखीजनः ॥९७॥

सैकड़ों अप्सराएँ नितम्बों तथा कुचों के भार से गुरु होने के कारण आकाश में विहार करने में समर्थ होने से पृथ्वी पर आकर दमयन्ती की सखियाँ होकर उस नगरी में रहती थीं ॥९७॥

स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुखारवा न वा ॥९८॥

वह नगरी चित्रमयी होने से सब पक्के रङ्गों को धारण करती थी तथा वा
से मुखों से शब्द होने के कारण स्वरों की विचित्रता धारण करती थी ॥९८॥

स्वरुचारुणया पताकया दिनमर्केण समीयुषोत्तृषः।
लिलिहुर्बहुधा सुधाकरं निशि माणिक्यमया यदालयाः ॥९९॥

उसके दिनभर सामने हुए सूर्य के कारण बहुत प्यासे—मानकों से बने—अ
अपनी कान्ति से ही लाल हुई पताकाओं से रात्रि में अमृत भरे हुए चन्द्रमा को
अनेक प्रकार से स्पर्श करते थे ॥९९॥

लिलिहे स्वरुचा पताकया निशि जिह्वानिभया सुधाकरम्।
श्रितमर्ककरैः पिपासु यन्नृपसद्मामलपद्मरागजम् ॥१००॥

रात्रि में उस नगरी में शुद्ध माणिक्य के बने—सूर्य की किरणों के संसर्ग के
कारण प्यासे—महल सुधाकर चन्द्र को अपने ही से रङ्ग की जिह्वा के समान पताका
से स्पर्श करते थे ॥१००॥

अमृतद्युतिलक्ष्म पीतया मिलितं यद्वलभीपताकया।
वलयायितशेषशायिनः सखितामादित पीतवाससः ॥१०१॥

उस नगरी की पीली छत पर लगी पताका चन्द्र के कलङ्क से मिलकर मण्डली
भूत शेष पर सोने वाले पीत-वस्त्र-धारी विष्णु की समानता करती थी ॥१०१॥

अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाविर्भूतभूरिस्तवा-
जिह्मब्रह्ममुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकेलिना।
पूर्वं गाधिसुतेन सामिघटिता मुक्ता नु मन्दाकिनी
यत्प्रासाददुकूलवल्लिरनिलान्दोलैरखेलद्दिवि ॥१०२॥

उस नगरी के महल पर फहराती सफेद रेशमी पताका आकाश में वायु के
झोकों के साथ साथ मन्दाकिनी के समान क्रीडा करती थी जिसे पहले विश्वामित्र ने
आधा बना लिया था पर उनकी नया स्वर्ग निर्माण करने की क्रीडा में ब्रह्मा के—
निरन्तर वेद-पाठ से पवित्र हुई जिह्वाओं से निकले बहुत से स्तोत्र पढने में व्यस्त
हुए—चारों मुखों से विघ्न डाला गया था ॥१०२॥

यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभाः शुचिसौधवस्त्रवल्लिः।
अलभत शमनस्वसुः शिशुत्वं दिवसकराङ्कतले चला लुठन्ति ॥१०३॥

उस नगरी के अत्यन्त निर्मल नीलम के बने घरों की किरणों से नीली प्रभा

वाली सफेद पताकाओं की पंक्ति सूर्य की गोद में चञ्चल होकर खेलती बालिका यमुना के समान शोभायमान थी ॥१०३॥

स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकातिथ्यग्रहायोत्सुकं
पाथोदं निजकेलिसौधशिखरादारुह्य यत्कामिनी।
साक्षादप्सरसो विमानकलितव्योमान एवाऽभव-
न्नन्न प्राप निमेषमभ्रतरसा यान्ती रसादध्वनि ॥१०४॥

उस नगरी में—अपने प्राणेश्वरों के क्रीड़ा-गृहों के मध्य-प्रदेश का आतिथ्य ग्रहण करने के उत्सुक—मेघों पर अपने क्रीड़ा-गृहों की चोटियों से चढ़ती स्त्रियाँ विमान में बैठकर आकाश में घूमतीं साक्षात् अप्सराएँ थीं क्योंकि मेघ के वेग से मार्ग में जाने में रसिकता के कारण उनके नेत्र निमेष-हीन थे ॥१०४॥

वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरंशुदर्भै-
र्ब्रह्माण्डाघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीधृतावाङ्मुखत्वैः।
कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्यदेशं गताग्रै-
र्यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तमुज्जृम्भते स्म ॥१०५॥

उस नगरी में गो-ग्रास के प्रदानरूपी व्रत का पुण्य किरणरूपी कुशाओं से निरन्तर बढ़ता था। ये किरणें दमयन्ती के क्रीड़ा-पर्वत में मरकत के बने शिखर से ऊपर जातीं पर ब्रह्माण्ड के साथ टकराने से वेग का गर्व टूट जाने के कारण लज्जा से नीचा मुख करके लौटतीं तथा स्वर्ग में मुँह ऊँचा करके जाती हुई देव-गौओं के मुखों में कुशाओं की भाँति प्राप्त होती थीं ॥१०५॥

विधुकरपरिरम्भादात्मनिष्यन्दपूर्णैः
शशिदृषदुपक्लृप्तैरालवालैस्तरूणाम्।
विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण
व्यरचि स हृतचित्तस्तत्र भैमीवनेन ॥१०६॥

उस नगरी में दमयन्ती के वन ने रमणीयता के कारण हंस का चित्त आकृष्ट कर लिया। वहाँ वृक्षों के थाँवलों ने जल की सिंचाई व्यर्थ कर दी थी क्योंकि वे चन्द्रकान्त मणियों से बने हुए थे तथा चन्द्र-किरणों के सम्पर्क से अपने ही रिसते हुए जल से पूर्ण थे ॥१०६॥

१—इससे प्रतीत हुआ कि वहाँ के क्रीड़ा-गृह बहुत ऊँचे थे।

अथ कनकपतत्रस्तत्र तां राजपुत्रीं
सदसि सदृशभासां विस्फुरन्तीं सखीनाम् ।
उडुपरिषदि मध्यस्थायिशीतांशुलेखा-
नुकरणपटुलक्ष्मीमक्षिलक्ष्मीचकार ॥१०७॥

फिर हंस ने उस वन में समान सौन्दर्य वाली सखियों के बीच में वि-
दीप्यमान, नक्षत्रों की सभा के बीच में स्थित चन्द्र लेखा का अनुकरण करते
समर्थ शोभावाली दमयन्ती को देखा ॥१०७॥

भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा खगेन
क्वचन पतनयोग्यं देशमन्विष्यताधः ।
मुखविधुमदसीयं सेवितुं लम्बमानः
शशिपरिधिरिवोर्ध्वं मण्डलस्तेन तेने ॥१०८॥

परिभ्रमण के वेग से सुनहरी कान्ति फैलाते तथा नीचे की तरफ उतरने
योग्य जगह ढूँढ़ते हंस ने ऊपर की ओर दमयन्ती के मुखचन्द्र की सेवा करने
मानों नीचे लटकते चन्द्र के परिवेष के समान चक्कर लगाया ॥१०८॥

अनुभवति शचीत्थं सा घृताचीमुखाभि-
र्न सह सहचरीभिर्नन्दनानन्दमुच्चैः ।
इति मतिरुदयासीत् पक्षिणः प्रेक्ष्य भैमीं
विपिनभुविसखीभिः सार्धमाबद्धकेलिम् ॥१०९॥

उपवन में सखियों के साथ क्रीड़ा करती दमयन्ती को देखकर हंस ने वि-
किया कि इन्द्राणी भी घृताची आदि सखियों के साथ इस तरह नंदन-वन
क्रीड़ा नहीं करती है ॥१०९॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
द्वैतीयीकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥११०॥

कविराजों की पंक्ति के मुकुटों के अलंकाररूप हीरे श्री हीर नामक पि-
तथा मामल्ल देवी नामक माता ने जिस जितेन्द्रिय श्री हर्ष नामक पुत्र को उ-

किया उसके प्रबन्ध-महाकाव्य सुन्दर नैषधीय-चरित—में स्वभाव से सुन्दर दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥११०॥

तृतीयः सर्गः ।

आकुञ्चिताभ्यामथ पक्षतिभ्यां नभोविभागात्तरसावतीर्य ।
निवेशदेशाततधूतपक्षः पपात भूमावुपभैमि हंसः ॥१॥

उपवन में आने के बाद सिकुड़े हुए पङ्खों से आकाश में से वेग-पूर्वक उतर कर हंस दमयन्ती के पास ज़मीन पर जा गिरा तथा गिरने की जगह पङ्ख फैला कर फड़ फड़ा दिये ॥ १ ॥

आकस्मिकः पक्षपुटाहतायाः क्षितेस्तदा यः स्वन उच्चचार ।
द्रागन्यविन्यस्तदृशः स तस्याः सम्भ्रान्तमन्तःकरणं चकार ॥२॥

दोनों पखों के पृथ्वी में टकराने से जो शब्द अचानक हुआ उसने अन्यत्र फेंकी हुई दृष्टिवाली दमयन्ती के अन्तःकरण में एक साथ संभ्रम पैदा कर दिया ॥२॥

नेत्राणि वैदर्भसुतासखीनां विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि ।
प्रापुस्तमेकं निरुपाख्यरूपं ब्रह्मेव चेतांसि यतव्रतानाम् ॥३॥

दमयन्ती की सखियों के नेत्र अन्य विषयों का ग्रहण छोड़कर अवर्णनीय सौन्दर्य वाले हंस पर जा पड़े जैसे योगियों के चित्त सांसारिक विषयों को छोड़ अवर्णनीय तथा अद्वितीय परमात्मा पर जाते हैं ॥ ३ ॥

हंसं तनौ सन्निहितं चरन्तं मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम् ।
ग्रहीतुकामादरिणा शयेन यत्नादसौ निश्चलतां जगाहे ॥४॥

दमयन्ती पास ही चलते हंस को भय-युक्त हाथ से पकड़ने की इच्छा से अपने शरीर को यत्न-पूर्वक निश्चल करके खड़ी रही जैसे अपने शरीर में स्थित तथा मनु आदि से निरन्तर ध्यान किये गये परमात्मा को आदर-पूर्वक ग्रहण करने के लिए योगी की मनोवृत्ति निश्चल हो जाती है ॥ ४ ॥

तामिङ्गितैरप्यनुमाय मायामयं न भैम्या वियदुत्पपात ।
तत्पाणिमात्मोपरिपातुकं तु मोघं वितेने प्लुतिलाघवेन ॥५॥

दमयन्ती की माया का चेष्टाओं से अनुमान करके भी हंस आकाश में नहीं

उधर पर उसने अपने ऊपर गिरने वाले हाथ को, पास ही उड़ान भरने की र
से, निष्फल कर दिया ॥ ५ ॥

व्यर्थीकृतं पत्त्ररथेन तेन तथाऽवसाय व्यवसायमस्याः ।
परस्परामर्पितहस्तताल तत्कालमालीभिरहस्यताल्म् ॥६॥

दमयन्ती के उद्योग को हंस ने निष्फल कर दिया—यह जानकर सखियाँ
समय तालियाँ बजा बजा कर खूब हँसीं ॥ ६ ॥

उच्चाटनीयः करतालिकानां दानादिदानीं भवतीभिरेषः ।
यान्वेति मां द्रुह्यति मह्यमेव सात्रेत्युपालम्भि तयालिवर्गः ॥७॥

तब दमयन्ती ने अपनी सखियों को इस तरह फटकारा—"अब तुम इस
को तालियाँ बजा बजा कर उड़ा दोगी क्या ? तुम में से जो मेरे पीछे आवेगी
मैं द्रोहिणी समझूँगी" ॥ ७ ॥

धृताल्पकोपा हसिते सखीनां छायेव भास्वन्तमभिप्रयातुः ।
श्यामाथ हंसस्य करानवाप्तेर्मन्दाक्षलक्ष्या लगति स्म पश्चात् ॥८॥

फिर सखियों के हँसने पर क्रोध करती तथा हंस को हाथ से न पकड़
कारण कुछ लज्जित हुई दमयन्ती हंस के पीछे पीछे गई जैसे सूर्य के सन्मुख
वाले के पीछे छाया जाती है ॥ ८ ॥

शस्ता न हंसाभिमुखी पुनस्ते यात्रेति ताभिश्छलहस्यमाना ।
साह स्म नैवाशकुनीभवेन्मे भाविप्रियावेदक एष हंसः ॥९॥

जब सखियों ने इस प्रकार शब्दों के छल से हास्य किया कि—"दम
तेरे लिये हंस[1] के सन्मुख जाना अच्छा नहीं है"—तब उसने सखियों से क
"सखियो, इस हंस से मेरा, अशकुन नहीं होगा क्योंकि यह भविष्य में होने
अच्छी बात की सूचना देने वाला है" ॥ ९ ॥

१ – सखियों ने "हंस" शब्द का प्रयोग "सूर्य" के लिए किया था । दमयन्ती ने
सरल अर्थ लगा कर तथा "हंस" शब्द का प्रयोग "हंसपक्षी" के लिए ही करके प्रत्युत्तर
सूर्य की ओर अग्रसर होना अशुभ है—इसी कारण सखियों ने हंस की ओर अग्रसर ह
निषेध किया परन्तु हंस पक्षी शुभ है इसलिए दमयन्ती ने दूसरा अर्थ लगाकर उ
तर्क को काट दिया

हंसोऽप्यसौ हंसगतेः सुदत्याः पुरः पुरश्चारु चलन् बभासे ।
वैलक्ष्यहेतोर्गतिमेतदीयामग्रेऽनुकृत्योपहसन्निवोच्चैः ॥१०॥

हंस भी हंस के समान गति वाली दमयन्ती के आगे आगे जाता हुआ ऐसा शोभायमान हुआ मानों वह उसकी गति की उसके सामने ही नकल करके उसे आश्चर्य चकित करने के लिए बराबर हँस रहा हो ॥ १० ॥

पदे पदे भाविनि भाविनी तं यथा करप्राप्यमवैति नूनम् ।
तथा सखेलं चलता लतासु प्रतार्य तेना चकृषे कृशाङ्गी ॥११॥

हंस के पकड़ने की कामनावाली दमयन्ती पद पद पर उसे हाथ में आया जानती थी तब क्रीड़ा-पूर्वक चलता हुआ हंस धोखे से उसे बेलों के बीच में ले गया॥११॥

रुषा निषिद्धालिजनां यदैनां छायाद्वितीयां कलयांचकार ।
तदा श्रमाम्भःकणभूषिताङ्गीं स कीरवन्मानुषवागवादीत् ॥१२॥

जिसने क्रुद्ध होकर सखियों को आने से रोक दिया था, छाया के अतिरिक्त अन्य कोई जिसके साथ नहीं था तथा श्रम से जिसके अंगपर स्वेद-कण शोभा दे रहे थे ऐसी दमयन्ती को देखकर हंस, तोते के समान, मनुष्य की बाणी बोला ॥१२॥

अये ! कियद्यावदुपैषि दूरं व्यर्थं परिश्राम्यसि वा किमित्थम् ।
उदेति ते भीरपि किं नु बाले ! विलोकयन्त्या न घना वनालीः ॥१३॥

"अरे, तुम कितनी दूर तक जाओगी ? वृथा क्यों परिश्रम करती हो ? बाले, इस घने वन को देखकर भी क्या तुमको डर नहीं लगता ? ॥१३॥

वृथार्पयन्तीमपथे पदं त्वां मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः ।
आलीव पश्य प्रतिषेधतीयं कपोतहुङ्कारगिरा वनाली ॥१४॥

"तुमको वृथा कुपथ में पैर रखते देख यह वन-राजि वायु से चंचल हुए पल्लव रूपी हाथ हिला कर तथा कपोतों की हुंकार रूप वाणी से, देखो, सखी के समान रोकती है ॥१४॥

धार्यः कथङ्कारमहं भवत्या वियद्विहारी वसुधैकगत्या ।
अहो ! शिशुत्वं तव खण्डितं न स्मरस्य सख्या वयसाप्यनेन ॥१५॥

"मैं आकाश में विहार करने वाला हूँ और तुम्हारी गति अकेली पृथ्वी पर ही है । फिर तुम मुझे कैसे पकड़ोगी ? यद्यपि तुम्हारा वय कामदेव का मित्र है तो भी इससे तुम्हारा शैशव खंडित नहीं हुआ ! आश्चर्य है ! ॥१५॥

सहस्रपत्रासनपत्रहंसवंशस्य पत्राणि पतत्रिणः स्मः ।
अस्मादृशां चाटुरसामृतानि स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि ॥१६॥

"हम पक्षी हैं और ब्रह्मा के वाहन होने वाले हंसों के वंश में हमारी उत्प
है । हमारे प्रिय वचनों के रस का अमृत स्वर्ग लोक के अलावा अन्य लोकों
दुर्लभ है ॥१६॥

स्वर्गापगाहेममृणालिनीनां नालामृणालाग्रभुजो भजामः ।
अन्नानुरूपां तनुरूपऋद्धिं कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते ॥१७॥

"हमे अन्न के अनुकूल शरीर की कान्ति की समृद्धि मिली है क्योंकि स्व
नदी की सुनहरी कमलिनियों के नाल तथा मृणाल के अग्रभाग हमें खाने को मिल
हैं । कारण से ही कार्य गुण प्राप्त करता है ॥१७॥

धातुर्नियोगादिह नैषधीयं लीलासरः सेवितुमागतेषु ।
हैमेषु हंसेष्वहमेक एव भ्रमामि भूलोकविलोकनोत्कः ॥१८॥

"ब्रह्मा की आज्ञा से यहाँ नल के लीला-सरोवर में क्रीड़ा करने को आये सु
हरी हंसों में से केवल मैं ही भूलोक देखने की उत्कण्ठा से विचरण करता हूँ ॥

विधेः कदाचिद्भ्रमणीविलासे श्रमातुरेभ्यः स्वमहत्तरेभ्यः ।
स्कन्धस्य विश्रान्तिमदां तदादि श्राम्यामि नाविश्रमविश्वगोऽपि ॥१९॥

"एक बार मैंने ब्रह्मा के भ्रमण के विलास में थके हुए अपने पूर्वजों के क
को विश्राम दिया था । तब से मैं कहीं विश्राम न करके सब लोकों में भी जा
थकता नहीं हूँ ॥१९॥

बन्धाय दिव्ये न तिरश्चि कश्चित्पाशादिरासादितपौरुषः स्यात् ।
एकं विना मादृशि तन्नरस्य स्वर्भोगभाग्यं विरलोदयस्य ॥२०

पृथिवी पर विरले ही जन्म लेने वाले किसी मनुष्य के—स्वर्ग लोक के यो
असाधारण शुभ कर्म के विना मुझ सरीखे दिव्यपक्षी के पकड़ने के लिए
पाश आदि की सामर्थ्य नहीं है ॥२०॥

इष्टेन पूर्तेन नलस्य वश्याः स्वर्भोगमत्रापि सृजन्त्यमर्त्याः ।
महीरुहा दोहदसेकशक्तेराकालिकं कोरकमुद्गिरन्ति ॥२१॥

"यज्ञ तथा पूर्त आदि के कारण वशीभूत हुए देवता भूलोक में भी नल

१—कुप आदि बनवाना ।

लिए स्वर्ग के भोग उत्पन्न करते हैं और शीघ्र फल उत्पन्न करने की विधि के तथा सिंचाई के सामर्थ्य से अचेतन वृक्ष भी अपने समय के पहले ही फूलने लगते हैं॥२१॥

सुवर्णशैलादवतीर्य तूर्णं स्वर्वाहिनीवारिकणावकीर्णैः ।
तं वीजयामः स्मरकेलिकाले पक्षैर्नृपं चामरबद्धसख्यैः ॥२२॥

"मेरु से झट उतर कर हम सुरत-क्रीड़ा के समय मन्दाकिनी के जल-कणों से व्याप्त चामरों के समान पंखों से नल की हवा करते हैं ॥२२॥

क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया ।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमानामपदं बहु स्यात् ॥२३॥

"यदि सज्जनों के वर्गीकरण का विचार किया जाय तो नल की व्यक्ति ही पहली गिनी जायगी जो अपने तेज के वैभव से असंख्य शत्रु-राजाओं के स्थान पूर्णतौर पर स्वाधीन करने में समर्थ है ॥२३॥

राजा स यज्वा विबुधव्रजत्रा कृत्वाध्वराज्योपमयैव राज्यम् ।
भुङ्क्ते श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्रीः पूर्वं त्वहो शेषमशेषमन्त्यम् ॥२४॥

"राजा नल बड़ा यज्ञ-कर्ता है और उसने अपना धन अपने आश्रित वेदज्ञों के अधीन कर दिया है। जैसे वह देवताओं के अधीन करने के बाद यज्ञ का आज्य ग्रहण करता है उसी तरह पण्डितों के अधीन करके राज्य का उपभोग करता है। पर आश्चर्य है कि वह पहले का शेष तथा पिछले का अशेष उपयोग करता है ॥ २४ ॥

दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैरमोघमेघव्रतमर्थिसार्थे ।
सन्तुष्टमिष्टानि तमिष्टदेवं नाथन्ति के नाम न लोकनाथम् ॥२५॥

"कौन उस सन्तुष्ट तथा देवताओं के प्रिय राजा से अपने इष्ट की प्रार्थना नहीं करते हैं? वह याचकों पर दारिद्र्य-नाशक धन-समूह की वर्षा इस प्रकार करता है, जैसे मेघ पानी बरसाता है ॥ २५ ॥

अस्मत्किल श्रोत्रसुधां विधाय रम्भा चिरं भामतुलां नलस्य ।
तत्राऽनुरक्ता तमनाप्य भेजे तन्नामगन्धान्नलकूबरं सा ॥२६॥

"नल की अतुल शोभा को हमसे बहुत काल तक सादर सुनकर रम्भा नल में

१—भावार्थ—वह आज्य का शेष अर्थात् यज्ञ से बचा हुआ भाग ग्रहण करता है और राज्य का अशेष अर्थात् पूरा उपभोग करता है। दोनों का एक-सा उपभोग नहीं करता।

अनुरक्त हो गई पर उसे न पाकर उसके नाम के लेश से नलकूबर को प्राप्त हुई

स्वर्लोकमस्माभिरितः प्रयातैः केलीषु तद्गानगुणान्निपीय ।
हा हेति गायन्यदशोचि तेन नाम्नैव हाहा हरिगायनोऽभूत् ॥२७॥

"क्रीडा में नल के गान के माधुर्यादि गुण सादर सुनकर यहाँ से स्व जाते में हमने गाते हुए इन्द्र-गायक पर हा-हा करके करुणा की इसी कारण उस नाम हा-हा हो गया ॥ २७ ॥

शृण्वन् सदारस्तदुदारभावं हृष्यन् मुहुर्लोम पुलोमजायाः ।
पुण्येन नालोकत लोकपालः प्रमोदबाष्पावृतनेत्रमाङः ॥२८॥

"नल की उदारता सुनकर इन्द्राणी के साथ इन्द्र बार बार रोमांचित हु तथा उसके नेत्र आनन्दाश्रुओं से व्याप्त हो गये । इस कारण इन्द्राणी के मा से उसे इन्द्राणी के रोमांच नहीं दीखे ॥ २८ ॥

सापीश्वरे शृण्वति तद्गुणौघान् प्रसह्य चेतो हरतोऽर्धशम्भुः ।
अभूदपर्णाङ्गुलिरुद्धकर्णा कदा न कण्डूयनकैतवेन ॥२९॥

"जब महादेव ने ज़बरदस्ती चित्त को वशीभूत करनेवाले-नलके-गुण-गण तब पातिव्रत्य के कारण प्रसिद्ध तथा महादेव की अर्धांगिनी पार्वती ने भी खुज के बहाने कब उँगलियों से अपने कान बन्द नहीं किये ? ॥ २९ ॥

अलं सजन्धर्मविधौ विधाता रुणद्धि मौनस्य मिषेण वाणीम् ।
तत्कण्ठमालिङ्गय रसस्य तृप्तां न वेद तां वेदजडः स वक्राम् ॥३०॥

"संध्या करने में आसक्त ब्रह्मा मौन के बहाने वृथा वाणी को रोकने उद्योग करता है । वेद का पाठ करने में व्याकुल होने से वह नहीं जानता है वक्रवाणी नल के कण्ठ का आलिंगन करके नव रसों से तृप्त होकर वहाँ रहती है

श्रियस्तदालिङ्गनभूर्न भूता व्रतक्षतिः काऽपि पतिव्रतायाः ।
समस्तभूतात्मतया न भूतं तद्भर्तुरीर्ष्याकलुषाणुनापि ॥३१॥

"नल का आलिंगन करने से पतिव्रता लक्ष्मी का न तो व्रत भंग हुआ और

१—पतिव्रता लक्ष्मी ने (राज-लक्ष्मी तथा शोभा के छल से) नल का आलिङ्गन कि पर इससे लक्ष्मी के पातिव्रत्य की क्षति नहीं हुई क्योंकि विष्णु सब भूतों के स्वरूप हैं, इ नल भी विष्णु ही हुआ । अतः न तो लक्ष्मी का पातिव्रत्य-भङ्ग हुआ, न विष्णु को ईर्ष्या हुई

उसके भर्ता विष्णु को ईर्ष्या से पाप का लेश भी हुआ क्योंकि विष्णु सब भूतों के आत्मा हैं ॥ ३१ ॥

धिक् तं विधेः पाणिमजातलज्जं निर्माति यः पर्वणि पूर्णमिन्दुम् ।
मन्ये स विज्ञः स्मृततन्मुखश्रीः कृत्वार्धमौज्झद्धरमूर्ध्नि यस्तम् ॥३२॥

"नल के मुख की कान्ति का स्मरण करके ब्रह्मा का हाथ पूर्णिमा को पूरे चन्द्रमा की रचना करता है इस कारण वह निर्लज्ज है। उसे धिक्कार है। मेरी समझ में यह जानकर ही वह चन्द्रमा को आधा बनाकर शिव के मस्तक पर छोड़ देता है ॥ ३२ ॥

निलीयते ह्रीविधुरः स्वजैत्रं श्रुत्वा विधुस्तस्य मुखं मुखान्नः ।
सूरे समुद्रस्य कदापि पूरे कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे ॥३३॥

"हमारे मुख से यह सुन कर कि नल के मुख ने उसको जीत लिया है, चन्द्रमा विकल हो जाता है और कभी सूर्य में, कभी समुद्र के प्रवाह में और कभी आकाश में घूमते हुए मेंघों में विलीन हो जाता है ॥३३॥

संज्ञाप्य नः स्वध्वजभृत्यवर्गान् दैत्यारिरत्यब्जनलास्यनुत्यै ।
तत्सङ्कुचन्नाभिसरोजपीताद्धातुर्विलज्जं रमते रमायाम् ॥३४॥

"हम गरुड़ के भृत्य-वर्गों—से कमल को जीतनेवाले नल के मुख की स्तुति करने का इशारा करके विष्णु, ब्रह्मा के पास ही, लज्जा-रहित होकर लक्ष्मी के साथ क्रीड़ा करते हैं क्योंकि जब हम नल के मुख की प्रशंसा करते हैं तब उनका नाभि-कमल सकुच जाता है और ब्रह्मा उसमें अदृश्य हो जाते हैं ॥३४॥

रेखाभिरास्ये गणनादिवास्य द्वात्रिंशता दन्तमयीभिरन्तः ।
चतुर्दशाष्टादश चाऽत्र विद्या द्वेधापि सन्तीति शशंस वेधाः ॥३५॥

"नल के मुख में बत्तीस दाँत रूप रेखाओं से गिनकर ब्रह्मा मानों यों कहता है कि यहाँ दोनों प्रकार की चतुर्दश तथा अष्टादश विद्याएँ हैं ॥३५॥

श्रियौ नरेन्द्रस्य निरीक्ष्य तस्य स्मरामरेन्द्रावपि न स्मरामः ।
वासेन तस्मिन् क्षमयोश्च सम्यग्बुद्धौ न दध्मः खलु शेषबुद्धौ ॥३६॥

"नल की शोभा तथा समृद्धि देख कर हमें कामदेव तथा इन्द्र भी याद नहीं आते। उसमें भूमि तथा क्षमा का पूरा वास देख कर शेष नाग तथा बुद्ध की याद नहीं आती ॥३६॥

विना पतत्रं बिनतातनूजैः समीरणैरीक्षणलक्षणीयैः ।
मनोभिरासीदनणुप्रमाणैर्न लङ्घिता दिक्कतमा तदश्वैः ॥३७॥

"नल के घोड़े बिना पक्ष के गरुड़, नेत्र-गोचरवायु तथा महापरिमाण वाले मन हैं। उन्होंने किस दिशा का लंघन नहीं किया ? ॥३७॥

संग्रामभूमीषु भवत्यरीणामस्त्रैर्नदीमातृकतां गतासु ।
तद्बाणधारापवनाशनानां राजव्रजीयैरसुभिः सुभिक्षम् ॥३८॥

"जैसे सर्प वायु का भक्षण करते हैं उसी तरह शत्रुओं के रुधिर से भरी हुई नदियों से युक्त संग्राम-भूमि में नल की बाण-परम्परा शत्रु राजाओं के प्राण ले लेती है ॥३८॥

यशो यदस्याजनि संयुगेषु कण्डूलभावं भजता भुजेन ।
हेतोर्गुणादेव दिगापगालीकूलङ्कषत्वव्यसनं तदीयम् ॥३९॥

"लड़ाई की खुजलीवाली भुजा ने युद्ध में जो नल का यश सम्पादन किया उस यश ने दिशा रूपी नदियों के तीर पर अपने को रगड़ना चाहा-इसमें कारण ही गुण है ॥३९॥

यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात्तस्याः समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात् ।
पारेपरार्धं गणितं यदि स्याद्गणेयनिःशेषगुणोऽपि स स्यात् ॥४०॥

"यदि तीनों लोक गिनने में लग जाँय, यदि उनकी आयु की समाप्ति न हो और यदि गणितशास्त्र परार्ध से भी आगे बढ़ जाय तो नल के सब गुणों की गणना हो सकती है ॥४०॥

अवारितद्वारतया तिरश्चामन्तःपुरे तस्य निविश्य राज्ञः ।
गतेषु रम्येष्वधिकं विशेषमध्यापयामः परमाणुमध्याः ॥४१॥

"राजा के रनवास का द्वार पक्षियों के लिए खुला रहता है । उसमें जाकर

१—खुजली तो भुजा में थी पर रगड़ना चाहा यश ने। आशय यह है कि उसका यश सब दिशाओं में व्याप्त हो गया।

२—परार्ध का विवरणः—एक। दश। शत। सहस्र। दश सहस्र वा अयुत। लाख। दश लाख वा प्रयुत। करोड़। दस करोड़ वा अर्बुद। अब्ज। दस अब्ज वा खर्व। निखर्व। दस निखर्व वा महापद्म। शंकु। दश शंकु वा जलधि। अन्त्य। दस अन्त्य वा मध्य। परार्ध।

हम अत्यन्त कृशोदरी रमणियों को—जिनकी चाल स्वयं रमणीय है—विशेष प्रकार से चाल सिखाते हैं ॥४१॥

पीयूषधारानधराभिरन्तस्तासां रसोदन्वति मज्जयामः ।
रम्भादिसौभाग्यरहःकथाभिः काव्येन काव्यं सृजताहृताभिः ॥४२॥

"हम रम्भा आदि अप्सराओं के सौभाग्य के रहस्य की कथाओं से नल की स्त्रियों के हृदय को शृंगार-समुद्र में डुबो देते हैं। ये कथाएँ अमृत-प्रवाह से कम नहीं होती तथा काव्य के सृष्टिकर्ता शुक्राचार्य भी इनका आदर करते हैं ॥४२॥

काभिर्न तत्राभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक् क्रियेऽहम् ।
जिह्रेति यन्नैव कुतोऽपि तिर्यक्कश्चित्तिरश्चस्त्रपते न तेन ॥४३॥

"नल के रनवास में किन सुन्दरियों ने कामदेव की अत्यन्त गोपनीय आज्ञा का रहस्य इस तरह मेरे सुपुर्द नहीं किया जैसे कोई धरोहर महाजन के पास रखदी जाती है क्योंकि पक्षी किसी से लज्जा नहीं करते और कोई प्राणी भी पक्षी से लज्जा नहीं करता! ॥४३॥

वार्तापि नासत्यपि सान्यमेति योगादरन्ध्रे हृदि यां निरुन्धे ।
विरञ्चिनानाननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्णः ॥४४॥

"ब्रह्मा के चार मुखों के वचनों से पवित्र हुआ योग-शास्त्र सुनने को मेरे कान अभ्यस्त हो रहे हैं। मैं मिथ्या परिहास की बात भी छिद्रहीन हृदय में यत्नः से रखता हूँ तथा उसे अन्य किसी से नहीं कहता ॥ ४४ ॥

नलाश्रयेण त्रिदिवोपभोगं तवानवाप्यं लभते बतान्या ।
कुमुद्वतीवेन्दुपरिग्रहेण ज्योत्स्नोत्सवं दुर्लभमम्बुजिन्या ॥४५॥

"(यदि तुम नल के साथ विवाह न करोगी तो) तुमसे दुष्प्राप्य स्वर्गोपभोग नल के आश्रय से अन्य नायिका उसी तरह प्राप्त करेगी जैसे—कमलनी को दुर्लभ—चन्द्रिका के उत्सव को चन्द्र के परिग्रह से कुमुदिनी प्राप्त करती है। यह बड़ा खेद है! ॥ ४५ ॥

तन्नैषधानूढतया दुरापं शर्म त्वयास्मत्कृतचाटुजन्म ।
रसालवन्या मधुपानुविद्धं सौभाग्यमप्राप्तवसन्तयेव ॥४६॥

"नल के साथ विवाह न होने के कारण हमारे द्वारा कहे गये प्रिय वचनों

का सुख तुमको नहीं मिलेगा जैसे वसन्त को प्राप्त न करने वाली आमों की बगीची का भ्रमरों से किया गया सौभाग्य नहीं मिलता है ॥४६॥

तस्यैव वा यास्यसि किं न हस्तं दृष्टं मनः केन विधेः प्रविश्य ।
अजातपाणिग्रहणासि तावद्रूपस्वरूपातिशयाश्रयश्च ॥४७॥

"या तुम नल का हाथ क्यों न ग्रहण करोगी ? ब्रह्मा का मन भीतर घुसकर किसने देखा है ? तुम्हारा विवाह अभी हुआ नहीं है तथा तुम लावण्य की स्वाभाविक समृद्धि का आश्रय हो ॥४७॥

निशा शशाङ्कं शिवया गिरीशं श्रिया हरिं योजयतः प्रतीतः ।
विधेरपि स्वारसिकः प्रयासः परस्परं योग्यसमागमाय ॥४८॥

"निशा के साथ चन्द्र का, पार्वती के साथ शिव का तथा लक्ष्मी के साथ विष्णु का संयोग करने वाले ब्रह्मा का स्वेच्छाचारी प्रयत्न भी आपस में योग्यों को मिलाने का होता है—यह सब जानते हैं ॥४८॥

वेलातिगस्त्रैणगुणाब्धिवेणिर्न योगयोग्यासि नलेतरेण ।
सन्दर्भ्यते दर्भगुणेन मल्लीमाला न मृद्वी भृशकर्कशेन ॥४९॥

"तुम वेला छोड़कर जाने वाली स्त्री-संबन्धी गुणों की वेणी (=प्रवाह) हो। तुम नल को छोड़ अन्य किसी के साथ संयोग के योग्य नहीं हो। कोमल चमेली की माला अत्यन्त कठिन कुशा के बने डोरे में नहीं पोही जाती है ॥४९॥

विधिं वधूसृष्टिमपृच्छमेव तद्यानयुग्यो नलकेलियोग्याम् ।
त्वन्नामवर्णा इव कर्णपीता मयास्य संक्रीडति चक्रिचक्रे ॥५०॥

"मैं ब्रह्मा के विमान का भार-वाहक हूँ। मैंने ब्रह्मा से एक बार पूछा था कि तुमने नल की क्रीड़ा के योग्य कोई स्त्री बनाई है या नहीं। तब उनके रथ के पहिए शब्द कर रहे थे उस समय तुम्हारे नाम के अक्षर ही मेरे कान में पड़े ॥५०॥

अन्येन पत्या त्वयि योजितायां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनो वा ।
जनापवादार्णवमुत्तरीतुं विधा विधातुः कतमा तरीः स्यात् ॥५१॥

"अथवा तुम्हारा नल के अतिरिक्त अन्य पति के साथ संयोग करके जिनका जन्म सर्वज्ञ होने की नामवरी में व्यतीत हुआ है ऐसे ब्रह्मा को लोकापवाद रूपी समुद्र तरने के लिए किस तरह की नौका मिलेगी ? ॥५१॥

आस्तां तदप्रस्तुतचिन्तयालं मयासि तन्वि ! श्रमितातिवेलम् ।
सोऽहं तदागः परिमार्ष्टुकामः किमीप्सितं ते विदधेऽभिधेहि ।।५२।।

"बस, असंगत बात कहना व्यर्थ है । हे तन्वि, मैंने बहुत देर तक तुमको श्रम दिया है । उस अपराध को क्षमा कराने के लिए मैं तुम्हारा क्या मनोरथ पूरा करूँ सो बतलाओ ।।५२।।"

इतीरयित्वा विरराम पत्री स राजपुत्रीहृदयं बुभुत्सुः ।
ह्रदे गभीरे हृदि चावगाढे शंसन्ति कार्यावतरं हि सन्तः ।।५३।।

दमयन्ती के हृदय में नल पर अनुराग है या नहीं—यह जानने का उत्सुक हंस यों कह कर चुप हो गया । गूढ-अभिप्राय-युक्त हृदय के जान लेने पर ही विद्वान् कार्य का प्रस्ताव कहते हैं जैसे गहरे जलाशय की थाह जान लेने पर ही मनुष्य उसमें उतरने का प्रस्ताव करते हैं ।।५३।।

किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिर्विचिन्त्य वाच्यं मनसा मुहूर्तम् ।
पतत्रिणं सा पृथिवीन्द्रपुत्री जगाद वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुः ।।५४।।

कुछ टेढ़ा तथा चलायमान शिर करके मुख से चन्द्रमा का तिरस्कार करनेवाली दमयन्ती क्षणभर मन में वक्तव्य का विचार करके हंस से कहने लगी— ।।५४।।

धिक्चापले वत्सिमवत्सलत्वं यत्प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या ।
समीरसङ्गादिव नीरभङ्ग्या मया तटस्थस्त्वमुपद्रुतोऽसि ।।५५।।

"हंस, चञ्चलता पर मेरा बालोचित स्नेह निन्दा के योग्य है क्योंकि उसकी प्रेरणा से ही अत्यन्त चञ्चल हो कर मैंने तुम—उदासीन—को पीड़ा दी जैसे वायु से चञ्चल हुई तरङ्गें तट पर स्थित मनुष्य को पीड़ा देती हैं ।।५५।।

आदर्शतां स्वच्छतया प्रयासि सतां स तावत् खलु दर्शनीयः ।
आगः पुरस्कुर्वति सागसं मां यस्यात्मनीदं प्रतिबिम्बितं ते ।।५६।।

"हंस, तुम अत्यन्त रमणीय हो । निष्कपट होने के कारण तुम निश्चय-पूर्वक सज्जनों का प्रथम आदर्श बनोगे । मैंने तुम्हारे पीछे पीछे जाकर अपराध किया तो भी मुझ से प्रिय वचन कहकर तुमने अपना अपराध स्वीकार किया ! ।।५६।।

अनार्यमप्याचरितं कुमार्या भवान्मम क्षाम्यतु सौम्य ! तावत् ।
हंसोऽपि देवांशतयासि वन्द्यः श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्तिः ।।५७।।

"सौम्य, तुम मुझ कुमारी का अनुचित आचरण क्षमा कर दो। तुम हंस तो भी देवांश होने से मत्स्य-रूपधारी विष्णु के समान वन्दनीय हो ॥५७॥

मत्प्रीतिमाधित्ससि कां त्वदीक्षामुदं मदक्ष्णोरपि यातिशेताम्।
निजामृतैर्लोचनसेचनाद्वा पृथक्किमिन्दुः सृजति प्रजानाम् ॥५८॥

"मेरे नेत्रों को तुम्हारे दर्शन से जो हर्ष हुआ उससे भी अधिक हर्ष देने के लिये तुम क्या करोगे? अपने अमृत से प्रजा के लोचनों का सेचन करने के अलावा चन्द्रमा और क्या कर सकता? ॥५८॥

मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथः कण्ठपथं कथं सः?।
का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदलज्जा ॥५९॥

"जिस मनोरथ को मन नहीं छोड़ता वह कण्ठरूपी मार्ग में किस प्रकार पहुँच सकता है?। कौन समझदार बाला द्विजराज[1] हाथ से पकड़ने की अभिलाषा कह सकती है ॥५९॥"

वाचं तदीयां परिपीय मृद्वीं मृद्वीकया तुल्यरसां स हंसः।
तत्याज तोषं परपुष्टघुष्टे घृणां च वीणाक्वणिते वितेने ॥६०॥

हंस की अंगूर के समान मीठे रसवाली कोमल वाणी का पान करके कोकिलाओं के कूजन में हर्ष नहीं रहा तथा वीणा के शब्द से घृणा हो गई ॥६०॥

मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रमुक्त्वा तस्यां समाकुञ्चितवाचि हंसः।
तच्छंसिते किञ्चन संशयालुर्गिरा मुखाम्भोजमयं युयोज ॥६१॥

लज्जा के कारण दमयन्ती थोड़े से वचन कह कर चुप हो गई तब उसके वचन में कुछ संशयालु होकर हंस ने अपने मुख-कमल का वाणी के साथ योग किया ॥६१॥

करेण वाञ्छेव विधुं विधर्तुं यमित्थमात्थादरिणी तमर्थम्।
पातुं श्रुतिभ्यामपि नाधिकुर्वे वर्णं श्रुतेर्वर्ण इवान्तिमः किम्? ॥६२॥

"जिसके विषय में तुमने आदर-पूर्वक कहा है कि तुम्हारा प्रयोजन हाथ से चन्द्रमा पकड़ने की इच्छा के समान है उसे क्या मैं कानों से सादर सुनने का अधिकारी नहीं हूँ, जैसे शूद्र वेद के अक्षर सुनने का अधिकारी नहीं होता? ॥६२॥

१—द्विजराज = चन्द्रमा। अर्थान्तर—हे द्विज (पक्षी), कौन बाला राजा (नल) के साथ पाणि-ग्रहण की अभिलाषा कह सकती है।

अवाप्यते वा किमियद्भवत्या चित्तैकपद्यामपि विद्यते यः।
यत्रान्धकारः किल चेतसोऽपि जिह्मेतरैर्ब्रह्म तदप्यवाप्यम् ॥६३॥

"जो मनोरथ तुम्हारे अन्तःकरण के मार्ग में है उसे तुम प्राप्त करोगी। उसको इतना गुप्त क्यों रखती हो ? उद्योगी पुरुष मन के अगोचर ब्रह्म को भी प्राप्त कर लेते हैं ॥६३॥

ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये ! लोकेशलोकेशयलोकमध्ये।
तिर्यञ्चमप्यञ्च मृषानभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञमज्ञम् ॥६४॥

"हे ईश्वर के आठ प्रकार के ऐश्वर्यों में अणिमा के समान मध्यवाली अर्थात् कृशोदरी दमयन्ती, मुझे ब्रह्मा के लोकों के रहने वाले जनों में मूर्ख पक्षी समझो तथापि सत्यवादियों तथा रसज्ञों की मंडली में मेरी प्रथम गणना है ॥६४॥

मध्ये श्रुतीनां प्रतिवेशिनीनां सरस्वती वासवती मुखे नः।
ह्रियेव ताभ्यश्चलतीयमद्धा पथान्न सत्सङ्गगुणेन नद्धा ॥६५॥

"दमयन्ती, हमारे मुख में वर्तमान वाणी वेदों के पड़ौस में रहती है। सत्संग से बँधी होने के कारण मानों पड़ौसियों की लज्जा से ही वह निःसन्देह सचाई के मार्ग से नहीं हटेगी ॥६५॥

पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्कां लङ्कां पुरीमप्यभिलाषि चित्तम्।
कुत्रापि चेद्वस्तुनि ते प्रयाति तदप्यवेहि स्वशये शयालु ॥६६॥

"दमयन्ती, तुम्हारा मन समुद्र के अङ्क को मञ्च बनाने वाली लङ्का की अभिलाषा करे अथवा उससे भी अधिक अप्राप्य वस्तु की इच्छा करे तो इनको तुम अपने हाथ में आया जानो ॥६६॥

इतीरिता पत्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भैमी।
चेतो नलं कामयते मदीयं नाऽन्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम् ॥६७॥

पक्षी ने इस प्रकार कहा तब दमयन्ती लज्जित तथा हर्षित होकर बोली— "मेरा चित्त न लंका को चाहता है न और कुछ चाहता है ॥६७॥"

१—हंस ब्रह्मा के रथ में जुते रहते हैं तथा ब्रह्मा के मुखों से वेद निकले हैं इस कारण वेदों को हंस नें अपना पड़ौसी कहा है

२—'चेतो नलं कामयते' का अर्थान्तर:—मेरा चित्त नल को चाहता है, और कुछ नहीं

विचिन्त्य बालाजनशीलशैलं लज्जानदीगह्वदनङ्गनागम्।
आचष्ट विस्पष्टमभाषमाणामेनां स चक्राङ्गपतङ्गशक्रः ॥६८॥

बालाओं के स्वभाव रूप पर्वत पर लज्जा रूप नदी में कामदेव रूपी हाथी क्रीडा करता विचार कर हंसों का राजा स्पष्ट बात न करनेवाली दमयन्ती कहने लगा— ॥६८॥

नृपेण पाणिग्रहणस्पृहेति नलं मनः कामयते ममेति।
आश्लेषि न श्लेषकवेर्भवत्याः श्लोकद्वयार्थः सुधिया मया किम्? ॥६

"श्लेष कवि की तरह तुम से उच्चारण किये गये "नृप के साथ विवाह की मेरी स्पृहा है" (३।५९) तथा "मेरा मन नल को चाहता है" (३। इन दोनों श्लोकों का अभिप्राय क्या मुझ समझदार ने नहीं समझा? ॥६९॥

त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययं तु सम्भाव्य भाव्यस्मि तमज्ञ एव।
लक्ष्ये हि बालाहृदि लोलशीले दरापराद्धेषुरपि स्मरः स्यात् ॥७०॥

"पर मैं तुम्हारे चित्त की चञ्चलता विचार कर यह समझता हूँ कि तुम् अभिप्राय मैंने नहीं जाना। चञ्चल स्वभाववाली बाला के हृदय को लक्ष्य बना सम्भव है कामदेव भी अपना निशाना चूक जाय ॥७०॥

महीमहेन्द्रः खलु नैषधेन्दुस्तद्बोधनीयः कथमित्थमेव।
प्रयोजनं सांशयिकं प्रतीत्य पृथग्जनेनेव स मद्विधेन ॥७१॥

"यह नल पृथ्वी पर इन्द्र है। इस कारण मुझ जैसा जीव, नीच जन के सम ऐसे संशय-युक्त प्रयोजन का कैसे उसे ज्ञान करावे? ॥७१॥

पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्यं यदि वा वृणीषे।
त्वदर्थमर्थित्वकृति प्रतीतिः कीदृङ्मयि स्यान्निषधेश्वरस्य ॥७२॥

"पिता की आज्ञा अथवा अपनी इच्छा से यदि तुम अन्य तरुण के साथ विवाह कर लोगी तो दमयन्ती से व्याह करने की प्रार्थना करनेवाले मुझ पर नल सम कैसे विश्वास होगा? ॥७२॥

त्वयापि किं शङ्कितविक्रियेऽस्मिन्नधिक्रिये वा विषये निधातुम्।
इतः पृथक् प्रार्थयसे तु यद्यत् कुर्वे तदुर्वीरतिपुत्रि! सर्वम् ॥७३॥

तुमको भी इस शंका-पूर्ण विषय में मेरा नियोग नहीं करना चाहिए। दमयन्ती, इसके अतिरिक्त जो तुम कहोगी वह सब मैं करूँगा ॥७३॥"

श्रवःप्रविष्टा इव तद्गिरस्ता विधूय वैमत्यधुतेन मूर्ध्ना ।
ऊचे ह्रिया विश्लथितानुरोधा पुनर्धरित्रीपुरुहूतपुत्री ॥ ७४ ॥

कान में पहुँचे हुए हंस के शब्दों को असहमत होने के कारण शिर हिलाने से मानो बाहर निकाल कर तथा लज्जा के अनुरोध को ढीला करके दमयन्ती ने फिर कहा— ॥७४॥

मदन्यदानं प्रति कल्पना या वेदस्त्वदीये हृदि तावदेषा ।
निशोऽपि सोमेतरकान्तशङ्कामोङ्कारमग्रेसरमस्य कुर्याः ॥ ७५ ॥

यदि नल के अतिरिक्त अन्य किसी के साथ मेरा विवाह होने की शंका तुम्हारे हृदय में वेद के समान जमी हुई है तो तुम रात्रि का भी चन्द्र के अतिरिक्त कोई अन्य प्रिय होने की शंका को भी इस तरह स्थान दो जैसे वेद के पहले "ओं" होता है ॥७५॥

सरोजिनीमानसरागवृत्तेरनर्कसम्पर्कमतर्कयित्वा ।
मदन्यपाणिग्रहशङ्कितेयमहो महीयस्तव साहसिक्यम् ॥ ७६ ॥

हंस, सूर्य के अतिरिक्त अन्य के साथ सम्बन्ध के विषय में कमलिनी के मन के अनुराग की तर्कना न करके मेरे अन्य के साथ विवाह की शंका करने में तुम्हारा बड़ा साहस है ॥७६॥

साधु त्वया तर्कितमेतदेव स्वेनानलं यत्किल संश्रयिष्ये ।
विनामुना स्वात्मनि तु प्रहर्तुं मृषागिरं त्वां नृपतौ न कर्तुम् ॥ ७७ ॥

"हंस, यह तर्कना तुमने ठीक की है। मैं अपनी इच्छा से नल को छोड़ अन्य किसी का आश्रय अपने को मारने के लिए लूँगी, पर तुमको नल के सम्मुख झूठा करने के लिए नहीं ॥७७॥

मद्विप्रलम्भं पुनराह यस्त्वां तर्कः स किं तत्फलवाचि मूकः ।
अशक्यशङ्काव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु ॥ ७८ ॥

"हंस, जो तर्क तुमसे यह कहता है कि मैं धोखा देती हूँ वह तर्क उस धोखे का फल बताने के विषय में क्यों चुप है ? जिसमें शंका न हो ऐसी वाणी यदि वेद नहीं है तो वेद क्या है ? ॥७८॥

अनैषधायैव जुहोति तातः किं मां कृशानौ न शरीरशेषाम्।
ईष्टे तनूजन्मतनोस्तथापि मत्प्राणनाथस्तु नलः स एव ॥ ७९॥

"पिता यदि शरीरमात्र से अवशिष्ट मुझे नल के अतिरिक्त किसी को दें तो अग्नि में मेरा हवन ही क्यों नहीं कर देते ? यदि अन्य को दूंगे तो मेरे प्राणों का स्वामी नल ही है, पिता तो केवल अपने अपत्य के शरीर स्वामी हैं ॥७९॥

तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुना ते।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणापि सुधाकरेण ? ॥ ८०॥

"नल की अकेली दासी होने के पद से भी बढ़कर मेरी अभिलाषा करने की तुम्हारी इच्छा है तो ठीक है, पर कमलिनी सूर्य के अतिरिक्त के 'आकर' चन्द्रमा से क्या काम रखती है ? ॥८०॥

तदेकलुब्धे हृदि मेऽस्ति लब्धुं चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घम्।
चित्ते ममैकः सकलत्रिलोकीसारो निधिः पद्ममुखः स एव ॥८१॥

"मेरा मन तो केवल उसी में लगा है। मेरे मन को अमूल्य चिन्ता प्राप्त करने की भी चिन्ता नहीं है। मेरे मन में सारी त्रिलोकी में श्रेष्ठ मुख नल ही खजाना है ॥८१॥

श्रुतश्च दृष्टश्च हरित्सु मोहाद्ध्यातश्च नीरन्ध्रितबुद्धिधारम्।
ममाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेकशेषः ॥८२॥

"उस नल के विषय में मैंने सुना भी है। उन्माद के वश दिशाओं में देखा भी है। बुद्धि के प्रवाह में बिना किसी प्रतिबन्ध के उसका ध्यान किया है। या तो आज मैं उसे प्राप्त करूँगी या प्राण जायंगे, दोनों तु हाथ में हैं। इनमें से एक बात रह जायगी ॥८२॥

सञ्चीयतामाश्रुतपालनोत्थं मत्प्राणविश्राणनजं च पुण्यम्।
निवार्यतामार्य ! वृथा विशङ्का भद्रेऽपि मुद्रेयमये ! भृशं का ॥८३॥

"तुमने जो वादा किया है उसे पूरा करने से तथा मेरे प्राणों को करने से जो पुण्य होगा उसे तुम इकट्ठा करो। हे आर्य, वृथा की

मत करो। हे हंस, सन्देहरहित वस्तु के विषय में भी तुम बिलकुल चुप क्यों हो? ॥८३॥

अलं विलङ्घ्य प्रियविज्ञ! याच्ञां कृत्वापि वाम्यं विविधं विधेये।
यशःपथादाश्रवतापदोत्थात् खलु स्खलित्वास्तखलोक्तिखेलात् ॥८४॥

"प्रिय हंस, मेरी प्रार्थना का उल्लङ्घन मत करो। जो कर्तव्य है उसमें अनेक प्रकार की रुकावटें मत डालो। जिसमें दुष्टों के वचनों का विलास नहीं, ऐसे उत्तम स्थान से पैदा हुए यश के मार्ग से पतित मत होओ ॥८४॥

स्वजीवमप्यार्तमुदे ददद्भ्यस्तव त्रपा नेदृशबद्धमुष्टेः।
मह्यं मदीयान्यदसूनदित्सोर्धर्मः कराद् भ्रश्यति कीर्तिधौतः ॥८५॥

"हंस, तुम मेरे प्राणों को मुझे ही देना नहीं चाहते हो। तुम ऐसे कृपणों के शिरोमणि हो। तुम दोनों की भलाई के लिए अपने प्राण देनेवालों का विचार करके भी लज्जित नहीं हो। इससे तुम्हारे हाथ से यश से धवलधर्म निकला जाता है ॥८५॥

दत्वात्मजीवं त्वयि जीवदेऽपि शुध्यामि जीवाधिकदे तु केन?।
विधेहि तन्मां त्वदृणेष्वशोद्धुममुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम् ॥ ८६ ॥

"यदि तुम मेरे प्राण मुझे दोगे तो मैं अपने प्राण देकर भी ऋण चुका दूँगी, पर यदि तुम प्राणों से भी अधिक कुछ दोगे तो मैं कैसे उऋण हूँगी? इससे तुम मुझे ऐसा—अपना ऋण चुकाने के अयोग्य—कर दो कि मैं सीमा-रहित दारिद्र्य-समुद्र में डूब जाऊँ ॥८६॥

क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पण्यमन्यन्न चेदस्तु तदस्तु पुण्यम्।
जीवेशदातर्यदि ते न दातुं यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम् ॥८७॥

"हंस, मेरे जीवनरूप पण्य को (प्रिय दानरूपी मूल्य से) मोल ले लो। इससे और कुछ नहीं तो पुण्य तो होगा ही। हे प्राणनाथ के दाता, यद्यपि मैं तुम्हें कुछ देने में समर्थ नहीं हूँ तथापि तुम्हारे यश का गान तो करूँगी ही ॥८७॥

वराटिकोपक्रियया पि लभ्यान्नेभ्याः कृतज्ञानथवाद्रियन्ते ।
प्राणैः पणैः स्वं निपुणं भणन्तः क्रीणन्ति तानेव तु हन्त सन्तः ॥८८॥

"अथवा धनी कौड़ी देकर भी कृतज्ञ साधुओं का सम्मान नहीं करते पर अपने को चतुर माननेवाले साधु तो प्राणरूपी मूल्य देकर भी उन्हें खरीद लेते हैं ॥८८॥

स भूभृदष्टावपि लोकपालास्तैर्मे तदेकाग्रधियः प्रसेदे ।
न हीतरस्माद्घटते यदेत्य स्वयं तदाप्तिप्रतिभूर्ममाभूः ॥ ८९ ॥

"नल आठो लोकपालों का अंश है—इससे उसमें बुद्धि लगी रहने से लोकपाल मुझ से प्रसन्न हैं क्योंकि तुमने स्वयं आकर नल की प्राप्ति की जमानत की। यह अन्य प्रकार से सम्भव नहीं था ॥८९॥

अकाण्डमेवात्मभुवार्जितस्य भूत्वापि मूलं मयि वीरणस्य ।
भवान् न मे किं नलदत्वमेत्य कर्ता हृदश्चन्दनलेपकृत्यम् ? ॥९०॥

"तुम पक्षी हो। तुम्हारे ही द्वारा मेरे कौमार्य में कामदेव ने मुझ में नल की चिन्ता उत्पन्न की है। तुम्हीं इसके कारण हो। तुम नलद[1] होकर मेरे हृदय में चन्दनलेप नहीं करोगे क्या ? ॥९०॥

अलं विलम्ब्य त्वरितुं हि वेला कार्ये किल स्थैर्यसहे विचारः ।
गुरूपदेशं प्रतिभेव तीक्ष्णा प्रतीक्षते जातु न कालमार्तिः ॥९१॥

"यह समय जल्दी करने का है। विलम्ब मत करो। जो कार्य विलम्ब सहन कर सके उसमें ही विचार किया जाता है। तीक्ष्ण विरह-पीड़ा समय की प्रतीक्षा नहीं करती जैसे शिष्य की कुशाग्र तुल्य बुद्धि गुरूपदेश की प्रतीक्षा नहीं करती ॥९१॥

अभ्यर्थनीयः स गतेन राजा त्वया न शुद्धान्तगतो मदर्थम् ।
प्रियास्यदाक्षिण्यबलात्कृतो हि तदोदयेदन्यवधूनिषेधः ॥९२॥

"तुम यहाँ से जाओ तब यदि नल अन्तःपुर में हो तो मेरी ओर

१ नल के देनेवाले होकर ; अर्थात् – नलद नाम की शीतल घास –

प्रार्थना मत करना क्योंकि उस समय सम्भव है कि प्रियाओं के मुखों के अनुरोध-वश वह अन्य स्त्री का निषेध कर दे ॥९२॥

शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततुष्टे न नैषधे कार्यमिदं निगाद्यम् ।
अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा ॥९३॥

"यदि नल अन्तःपुर की स्त्रियों के साथ सुरत से नितान्त सन्तुष्ट हो तो भी नल से इस काम को मत कहना क्योंकि जो साधारण जल से संतुष्ट है उसे मीठे, सुगन्धित तथा ठण्डे जल की धारा अच्छी नहीं लगती ॥९३॥

विज्ञापनीया न गिरो मदर्थाः क्रुधा कदुष्णे हृदि नैषधस्य ।
पित्तेन दूने रसने सितापि तिक्तायते हंसकुलावतंस ! ॥९४॥

"हंस, यदि नल का हृदय क्रोध के कारण गरमा रहा हो तो भी तुम मेरे विषय में बात मत करना क्योंकि पित्त से दूषित हुई जिह्वा पर शर्करा भी कड़वी लगती है ॥९४॥

धरातुरासाहि मदर्थयाच्ञा कार्या न कार्यान्तरचुम्बिचित्ते ।
तदार्थितस्यानवबोधनिद्रा बिभर्त्यवज्ञाचरणस्य मुद्राम् ॥ ९५ ॥

"हंस, जब किसी अन्य कार्य में नल का मन लगा हो तब भी मेरे लिए प्रार्थना मत करना क्योंकि ऐसे समय प्रार्थना न सुनने की निद्रा अवज्ञा के समान होती है ॥९५॥

विज्ञेन विज्ञाप्यमिदं नरेन्द्रे तस्मात्त्वयास्मिन् समयं समीक्ष्य ।
आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बिसिध्योः कार्यस्य कार्यस्य शुभा विभाति ॥९६॥

"तुम बुद्धिमान हो। अच्छा अवसर देखकर राजा से निवेदन करना। कार्य बिलकुल सिद्ध न होना और विलंब से पूरा होना—इसमें तुम्हारी राय में क्या अच्छा है ? ॥९६॥

इत्युक्तवत्या यदलोपि लज्जा सानौचिती चेतसि नश्चकास्तु ।
स्मरस्तु साक्षी तददोषतायामुन्माद्य यस्तत्तदवीवदत्ताम् ॥९७॥

"हमारे मन में यह शायद अनुचित मालूम हो कि मैंने यों कह कर सब लज्जा छोड़ दी पर कामदेव ही मेरी अदोषता का साक्षी है जिसने मुझसे यह सब कहलाया ॥९७॥

उन्मत्तमासाद्य हरः स्मरश्च द्वावप्यसीमां मुदमुद्वहेते ।
पूर्वः परस्पर्धितया प्रसूनं नूनं द्वितीयो विरहाधिदूनम् ॥९८॥

"शिव और कामदेव दोनों को उन्मत्त वस्तु प्राप्त करके सीमा रहित होता है। शिव को धतूरा रूप उन्मत्त वस्तु पा कर हर्ष होता है क्योंकि आपस में स्पर्धा है तथा कामदेव को वियोग की पीड़ा से सन्तप्त उन्मादी को पाकर हर्ष होता है ॥९८॥"

तथाभिधात्रीमथ राजपुत्रीं निर्णीय तां नैषधबद्धरागाम् ।
अमोचि चञ्चूपुटमौनमुद्रा विहायसा तेन विहस्य भूयः ॥९९॥

तब यह निश्चय करके कि दमयन्ती, जिसने ये वचन कहे, नल में अनु है, हंस ने हँस कर फिर अपनी चोंच पर लगी मौन की मुहर को किया—॥९९॥

इदं यदि क्ष्मापतिपुत्रि ! तत्त्वं पश्यामि तन्न स्वविधेयमस्मिन् ।
त्वामुच्चकैस्तापयता नलं च पञ्चेषुणैवाजनि योजनेयम् ॥१००॥

"दमयन्ती, तुमने जो कुछ कहा वह यदि सत्य है तो मैं इसमें अपना करना नहीं देखता। तुमको तथा नल को अत्यन्त विरह पीड़ा देकर कामदे ही इस घटना को पूरा कर दिया ॥१००॥

त्वद्बद्धबुद्धेर्बहिरिन्द्रियाणां तस्योपवासिव्रतिनां तपोभिः ।
त्वामद्य लब्ध्वामृततृप्तिभाजां स्वं देवभूयं चरितार्थमस्तु ॥ १०१

"दमयन्ती, पुण्य से आज तुम्हें प्राप्त करके तुम में मन लगाने वाले की—अमृत तुल्य प्राप्त करनेवाली—बाहर की इन्द्रियाँ जो अब तक तप के उपवास करती थीं—आज अपने देवत्व को चरितार्थ करें ॥१०१॥

१—शिव का कामदेव से वैर है। उनको धतूरा मिलने से कामदेव साधन—पुष्प—मिल जाता है।

२—नल राजा था इस कारण उसका निर्माण आठों लोकपालों के अंशों हुआ था। अतः उस की इन्द्रियाँ भी देवांश से पूर्ण थीं। अब उनका देवत्व तार्थ होगा क्योंकि दमयन्ती को प्राप्त करके उनकी अमृत से तृप्ति होगी।

तुल्यावयोर्मूर्तिरभून्मदीया दग्धा परं सास्य न ताप्यतेऽपि ।
इत्यभ्यसूयन्निव देहतापं तस्याऽतनुस्त्वद्विरहाद्विधत्ते ॥१०२॥

"दमयन्ती, कामदेव तुम्हारे विरह से नल के हृदय में इस ईर्ष्या से ताप पैदा करता है कि हमारे शरीर पहले एक से थे पर मेरा शरीर तो जल गया और नल के शरीर को भली भाँति ताप भी न दिया गया ॥१०२॥

लिपिं दृशा भित्तिविभूषणं त्वां नृपः पिबन्नादरनिर्निमेषः ।
चक्षुर्जलैरर्जितमात्मचक्षूरागं स धत्ते रचितं त्वया नु ॥ १०३ ॥

"दीवार को अलंकृत करती तुम्हारी मूर्ति का नेत्रों से—जो आदर के कारण पलक नहीं मारते थे—पान करते में आँसुओं के गिरने से नल के नेत्र लाल हो जाते हैं पर मालूम होता है तुम्हारे अनुराग से हो गये हैं ॥१०३॥

पातुर्दृशालेख्यमयीं नृपस्य त्वामादरादस्तनिमीलयास्ते ।
ममेदमित्यश्रुणि नेत्रवृत्तेः प्रीतेर्निमेषच्छिदया विवादः ॥ १०४ ॥

"जब नल आदर पूर्वक निमेष-हीन दृष्टि से तुम्हारे चित्र का पान करता है तब नेत्रों की प्रीति तथा निमेष-हीनता में कलह खड़ा हो जाता है क्योंकि दोनों में से हर एक कहती है कि अश्रु मेरे कारण निकले हैं ॥१०४॥

त्वं हृद्गता भैमि! बहिर्गतापि प्राणायिता नासिकयाऽऽस्यगत्या ।
न चित्तमाक्रामति तत्र चित्रमेतन्मनो यद्भवदेकवृत्ति ॥१०५॥

"दमयन्ती, यद्यपि तुम बाहर हो तथापि नल के हृदय में हो। तुम कैसे नल की प्राणों के समान प्रिय नहीं हो! इसमें आश्चर्य नहीं है कि उसका मन, जो केवल तुममें ही लगा है, तुम्हारे चित्र में व्याप्त है ॥१०५॥

अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां सङ्कल्पसोपानततिं तदीयाम् ।
श्वासान् स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतामवाप्य ॥१०६॥

"तुम बहुत लम्बी नल-सम्बन्धिनी संकल्प-रूप सोपान-परम्परा पर निरन्तर चढ़ रही हो। वह जो अधिक निःश्वास छोड़ता है सो तुम्हारे ध्यान से—तुममें लीन होकर ही—छोड़ता है ॥१०६॥

हृत्तस्य यन्मन्त्रयते रहस्त्वां तद् व्यक्तमामन्त्रयते मुखं यत्।
तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्यौचिती सा खलु तन्मुखस्य ॥१०७॥

"नल का हृदय एकान्त में तुमसे जो गुप्त भाषण करता है उसे नल का मुख प्रकट कर देता है। यह बात नल के वैरी कामदेव के मित्र चन्द्रमा के साथ मित्रता के अनुकूल है ॥ १०७॥

स्थितस्य रात्रावधिशय्य शय्यां मोहे मनस्तस्य निमज्जयन्ती।
आलिङ्ग्य या चुम्बति लोचने सा निद्राधुना न त्वदृतेऽङ्गना वा ॥१०८॥

"तुम्हारे बिना रात्रि में शय्यापर लेटे हुए नल को निद्रा नहीं आती है न कोई अन्य ऐसी स्त्री है जो उसका आलिंगन करे, उसके नेत्रों का चुम्बन करे या उसके मन को मोह के अधीन करे ॥१०८॥

स्मरेण निस्तक्ष्य वृथैव बाणैर्लावण्यशेषां कृशतामनायि।
अनङ्गतामप्ययमाप्यमानः स्पर्धां न सार्धं विजहाति तेन ॥१०९॥

"कामदेव ने नल को बाणों से छेदकर वृथा ऐसा कृश कर दिया है उसमें केवल सौन्दर्य ही बाकी रह गया है। यद्यपि वह अत्यन्त कृश हो गया है तथापि सौन्दर्य में कामदेव के साथ स्पर्धा नहीं छोड़ता ॥१०९॥

त्वत्प्रापकात्त्रस्यति नैनसोऽपि त्वय्येष दास्येऽपि न लज्जते यत्।
स्मरेण बाणैरतितक्ष्य तीक्ष्णैर्लूनः स्वभावोऽपि कियान् किमस्य ॥११०॥

"जिससे तुम मिल सको ऐसे पाप से भी नल नहीं डरता और तुम्हारा दास होने में भी लज्जा नहीं करता। कामदेव ने पैने बाणों से उसके शरीर पर प्रहार करके क्या उसके स्वभाव को भी बदल दिया है? ॥११०॥

१—आशय—नल का मुख म्लान तथा फीका रहता है। उसे देखने से प्रकट होता है कि नल तुम्हारा ही ध्यान कर रहा था। चन्द्रमा के तुल्य होने से नल का मुख चन्द्रमा का मित्र है। नल कामदेव का शत्रु है क्योंकि कामदेव उसे पीड़ा देता है। चन्द्रमा कामदेव का मित्र है क्योंकि वह कामदेव की वृद्धि करता है। नीतिज्ञ, मित्र के द्वारा भी, शत्रु के मन का भेद जान लेते हैं। यहाँ चन्द्रमा का मित्र नल-मुख कामदेव की सहायता करता है।

स्मारं ज्वरं घोरमपत्रपिष्णोः सिद्धागदङ्कारचये चिकित्सौ ।
निदानमौनादविशद्विशाला साङ्क्रामिकी तस्य रुजेव लज्जा ॥१११॥

"लज्जा-शील नल की बड़ी भारी लज्जा, छूत की बीमारी की तरह, सिद्ध-वैद्यों में प्रविष्ट हो गई जिससे वे निदान के विषय में मौन रहे और दारुण काम-ज्वर की चिकित्सा करने लगे ॥१११॥

बिभेति रुष्टासि किलेत्यकस्मात्स त्वां किलोपेत्य हसत्यकाण्डे ।
यान्तीमिव त्वामनुयात्यहेतोरुक्तस्त्वयेव प्रतिवक्ति मोघम् ॥११२॥

"दमयन्ती, तुम्हारे रुष्ट होने की सम्भावना करके नल अचानक भयभीत हो जाता है। तुम्हें मिल गई समझकर वह बिना अवसर के हँस देता है। तुम मानों जा रही हो यह समझकर बिना कारण पीछे पीछे जाता है। तुमने कुछ कहा हो यह समझकर व्यर्थ उत्तर देता है ॥११२॥

भवद्वियोगाभिदुरार्तिधारायमस्वसुर्मज्जति निःशरण्यः ।
मूर्च्छामयद्वीपमहान्ध्यपङ्के हा हा महीभृद्भटकुञ्जरोऽयम् ॥११३॥

"हाय! हाय! तुम्हारे वियोग से उत्पन्न हुई निरन्तर पीड़ा की धारारूप यमुना के मूर्च्छारूप द्वीप के महा अज्ञानरूप पंक में शरणहीन नल हाथी के समान डूबा जा रहा है ॥११३॥

सव्यापसव्यत्यजनाद्द्विरुक्तैः पञ्चेषुबाणैः पृथगर्जितासु ।
दशासु शेषा खलु तद्दशा या तया नभः पुष्यतु कोरकेण ॥११४॥

"वाम तथा दक्षिण दोनों हाथों से छुटने के कारण दुगने काम के बाणों से जुदी जुदी रची गई दश[1] दशाओं में उसकी अन्तिम दशा आकाश-पुष्प के समान हो ॥११४॥

त्वयि स्मराधेः सततास्मितेन प्रस्थापितो भूमिभृतास्मि तेन ।
आगत्य भूतः सफलो भवत्या भावप्रतीत्या गुणलोभवत्याः ॥११५॥

१ चक्षूरागः प्रथमं, चित्तासङ्गस्ततोऽथ सङ्कल्पः ।
निद्राच्छेदस्तनुता, विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः ।
उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः ॥

"काम की पीड़ा से निरन्तर उदास नल ने तुम्हारे पास मुझे भेजा। मैं यहाँ आकर और तुम्हारा प्रेम जानकर सफल हुआ। तुम गुण रागिणी हो ॥११५॥

धन्यासि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥११६॥

"दमयन्ती, तुम धन्य हो कि तुमने अपने उदार गुणों से नल को आ कर लिया। इसके अतिरिक्त चाँदनी की और क्या प्रशंसा है कि वह समुद्र भी चञ्चल कर देती है ॥११६॥

नलेन भायाः शशिना निशेव त्वया स भायान्निशया शशीव।
पुनःपुनस्तद्युगयुग्विधाता स्वभ्यासमास्ते नु युवां युयुक्षुः ॥११७॥

"दमयन्ती, तुम नल के साथ इस प्रकार शोभा मान होओ जैसे चन्द्रमा से रात्रि शोभायमान होती है। नल तुम्हारे साथ इस प्रकार शोभा हो जैसे रात्रि से चन्द्रमा होता है। बार बार निशा का और चन्द्रमा का मिलानेवाला विधाता तुम दोनों को मिलाने के लिये शायद अभ्यास रहा है ॥११७॥

स्तनद्वये तन्वि ! परं तवैव पृथौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्य।
अनल्पवैदग्ध्यविवर्धिनीनां पत्रावलीनां रचना समाप्तिम् ॥ ११८॥

"हे तन्वि, नल के बहुत से कौशल को प्रकाशित करनेवाली पत्रावली रचना यदि समाप्ति प्राप्त करेगी—तो केवल तुम्हारे विशाल स्तनों में ॥११८॥

एकः सुधांशुर्न कथञ्चन स्यात्तृप्तिक्षमस्त्वन्नयनद्वयस्य।
त्वल्लोचनासेचनकस्तदस्तु नलास्यशीतद्युतिसद्वितीयः ॥ ११९॥

"अकेला चन्द्रमा तुम्हारे बड़े बड़े दो नेत्रों को किसी प्रकार भी करने में समर्थ नहीं होगा। इस कारण नल के मुखरूप चन्द्रमा के साथ तुम नेत्रों की बेहद तृप्ति होगी ॥११९॥

अहो तपःकल्पतरुर्नलीयस्त्वत्पाणिजाग्रस्फुरदङ्कुरश्रीः।

त्वद्भ्रूयुगं यस्य खलु द्विपत्री तवाधरा रज्यति यत्फलश्रीः ॥ १२०॥

यस्ते नवः पल्लवितः कराभ्यां स्मितेन यः कोरकितस्तवास्ते।
अङ्गम्रदिम्ना तव पुष्पितो यः स्तनश्रिया यः फलितस्तवैव ॥ १२१ ॥

"नल का तप-सम्बन्धी कल्पवृक्ष आश्चर्यजनक है। तुम्हारी उँगलियों के नखों के किनारों के बहाने इसके अंकुरों की शोभा चमकती है। तुम्हारी भौंहें इसके दो पत्ते हैं। तुम्हारा ओष्ठ इसका लाल लाल नाल है। तुम्हारे हाथ इसके पल्लव हैं। तुम्हारी मुसकराहट इसकी कलियाँ हैं। तुम्हारे अवयवों की मृदुता से यह पुष्पयुक्त है। तुम्हारे स्तनों की शोभा से फलयुक्त है ॥१२०-१२१॥

कंसीकृतासीत्खलु मण्डलीन्दोः संसक्तरश्मिप्रकरा स्मरेण।
तुला च नाराचलता निजैव मिथोऽनुरागस्य समीकृतौ वाम् ॥ १२२॥

"ऐसा मालूम होता है कि दमयन्ती, तुम्हारे तथा नल के परस्पर अनुराग को बराबर करने के लिए कामदेव ने चन्द्रमण्डली को तो पलड़ा बनाया, चन्द्रमा की किरणों को रस्सी बनाया तथा अपनी बाण-लता को तुला-दण्ड बनाया ॥१२२॥

सत्त्वस्रुतस्वेदमधूत्थमान्द्रे तत्पाणिपद्मे मदनोत्सवेषु।
लग्नोत्थितास्त्वत्कुचपत्त्ररेखास्तन्निर्गतास्तं प्रविशन्तु भूयः ॥ १२३ ॥

"दमयन्ती, मदनोत्सवों में सात्त्विक[1] भाव पैदा हुए स्वेदरूप मोम से युक्त नल के करकमलमें लगकर बिगड़ी हुई कुचों की पत्रावली जिसमें से निकली थी उसी करकमल में फिर चली जाय ॥१२३॥

बन्धाढ्यनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितैः केलिवने मरुद्भिः।
प्रसूनवृष्टिं पुनरुक्तमुक्तां प्रतीच्छतं भैमि ! युवां युवानौ ॥ १२४ ॥

"तुम दोनों जवान क्रीड़ावन में अनेक प्रकार के—पद्मासन आदि बन्धों से विस्तृत सुरत रूप मल्ल-युद्ध के कारण अत्यन्त प्रमोदित वायु से बार बार उड़ाई गई फूलों की वृष्टि को ग्रहण करो॥१२४॥

१—स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥

अन्योन्यसङ्गमवशादधुना विभातां
तस्यापि तेऽपि मनसी विकसद्विलासे ।
स्रष्टुं पुनर्मनसिजस्य तनुं प्रवृत्त-
मादाविव द्व्यणुककृत्परमाणुयुग्मम् ॥ १२५ ॥

"तुम दोनों के मन[1] परस्पर संयोग होने के कारण विलास युक्त होकर उ तरह काम का शरीर फिर उत्पन्न होने को प्रवृत्त हो जैसे दो परमाणु द्वयणु उत्पन्न करते हैं ॥१२५॥

कामः कौसुमचापदुर्जयममुं जेतुं नृपं त्वां धनु-
र्वल्लीमव्रणवंशजामधिगुणामासाद्य माद्यत्यसौ ।
ग्रीवालङ्कृतिपट्टसूत्रलतया पृष्ठे कियल्लम्बया
भ्राजिष्णुं कषरेखयेव निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया ॥१२६

"कामदेव पुष्प के धनुष से जीतने के अयोग्य नल को जीतने की इ से तुमको निर्दोष[2] वंश में उत्पन्न हुई अत्यन्त गुणवती धनुर्लता को-प्राप्त सन्तुष्ट है कि मैं अब नल को जीत लूँगा। तुम चमकते रेशमी पट्ट-सूत्र[3] शोभायमान हो, जिसमें सिंदूर का सौन्दर्य विद्यमान है जो तुम्हारी ग्रीवा अलंकृत करता है तथा कुछ पीठ पर लटकता है और ऐसा मालूम होता है म सिंदूर रगड़ने से पड़ा हुआ निशान है। ॥१२६॥

१—कामदेव मन से उत्पन्न हुआ था। उसके शरीर को महादेव ने भस्म दिया। वह अणु रूप मनों से ही फिर उत्पन्न हो सकता है। नल और दमय आपस में अनुराग करते हैं। उनके दो मन कामदेव के पुनर्जीवन की क्रिया प्रारम्भ करने के लिए उपयुक्त व्यवस्था करने के योग्य हैं। आशय—यह है दोनों के परस्पर अनुराग के बाहुल्य से कामदेव शरीरधारी हो जायगा।

२—धनुर्लता के पक्ष में-निर्दोष बाँस की बनी तथा डोरी से युक्त।

३—दमयन्ती धनुष के समान है जिसका कामदेव उपयोग करेगा। दमयन्ती की पीठ पर लटकता पट्ट-सूत्र बांस के पीछे रगड़े गये सिंदूर का निशान मालूम हो होता है। बांस पर सिंदूर यह देखने के लिए रगड़ा जाता है कि बांस ठीक है नहीं। यहाँ कामदेव अपने धनुष की निर्दोषता की परीक्षा कर रहा है।

त्वद्गुच्छावलिमौक्तिकानि गुलिकास्तं राजहंसं विभो-
वेंध्यं विद्धि मनोभुवः स्वमपि तां मञ्जुं धनुर्मञ्जरीम् ।
यन्नित्याङ्कनिवासलालिततमज्याभुज्यमानं लस-
न्नाभीमध्यबिला विलासमखिलं रोमालिरालम्बते ॥ १२७ ॥

"दमयन्ती, अपनी हार-लता के मोतियों को ही तुम बलवान कामदेव की गोलियाँ जानों । नल निशाना है जो उसका लक्ष्य है । अपने को सुन्दर धनु-लता जानों । तुम्हारी रोमावली उस धनुलता की सदा बीच में रहने वाली डोरी की सम्पूर्ण लीला को अंगीकार करती है तथा नाभि ही बीच का छेद है जिसमें गोलियाँ रक्खी जाती हैं ॥१२७॥

पुष्पेषुश्चिकुरेषु ते शरचयं स्वं भालमूले धनू
रौद्रे चक्षुषि यज्जितस्तनुमनुभ्राष्ट्रं च यश्चिक्षिपे ।
निर्विद्याश्रयदाश्रमं स वितनुस्त्वां तज्जयायाधुना
पत्रालिस्त्वदुरोजशैलनिलया तत्पर्णशालायते ॥ १२८ ॥

"नल से सौन्दर्य में जीता गया कामदेव वैराग्य लेकर तुम्हारे केश-पाश में अपने पुष्पमय वाण छोड़ने लगा । तुम्हारे ललाट के मूल में भौंहों के पास अपना धनुष छोड़ा । महादेव के दारुण नेत्र रूपी भट्टी में अपना शरीर झोंक दिया । अब वह शरीर-हीन कामदेव कृश होकर नल को जीतने के लिए तुम्हारी शरण में आया है । तुम्हारे स्तन रूपी पर्वत पर बनी पत्रावली उसकी पर्णशाला है ॥१२८॥"

इत्यालपत्यथ पतत्रिणि तत्र भैमीं
सख्यश्चिरात्तदनुसन्धिपराः परीयुः ।
शर्मास्तु ते विसृज मामिति सोऽप्युदीर्य
वेगाज्जगाम निषधाधिपराजधानीम् ॥ १२९ ॥

हंस यो कह रहा था तब दमयन्ती को बहुत देर से ढूँढ़ने में लगी सखियों ने वहाँ आकर उसे घेर लिया । तब हंस भी—तुम सुखी होओ और मुझे विदा करो—यों कहकर वेगपूर्वक नल नगरी को गया ॥१२९॥

चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिर्व्यामिश्रतामाश्रय-
त्प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनं रसात् ।
स्वादं स्वादमसीममृष्टसुरभि प्रापापि तृप्तिं न सा
तापं प्राप नितान्तमन्तरतुलामानर्छ मूर्च्छामपि ॥१३०॥

दमयन्ती को नल के दूत—हंस—की वाणीरूप अत्यन्त स्वादिष्ट व सुगन्धित मक्खन का प्रीतिपूर्वक बारबार स्वाद लेकर भी उससे तृप्ति न हु क्योंकि उसमें कामदेव के बाणरूपी पुष्पों का मधु मिला था। अन्तःकरण उसे सन्ताप[1] हुआ तथा अतुल मूर्च्छा हुई ॥१३०॥

तस्या दृशो नृपतिबन्धुमनुव्रजन्त्या-
स्तद्बाष्पवारि न चिरादवधिर्बभूव ।
पार्श्वेऽपि विप्रचकृषे तदनेन दृष्टे-
रारादपि व्यवदधे न तु चित्तवृत्तेः ॥ १३१ ॥

आँसू, नल के दूत—हंस—के पीछे जाते नेत्रों के शीघ्र ही अवधि गये इससे हंस, आस-पास चलने पर भी, उसकी दृष्टि से ओझल हो गया पर दूर से भी वह चित्तवृत्ति से ओझल नहीं हुआ ॥१३१॥

अस्तित्वं कार्यसिद्धेः स्फुटमथ कथयन् पक्षयोः कम्प्रभेदै-
राख्यातुं वृत्तमेतन्निषधनरपतौ सर्वमेकः प्रतस्थे ।
कान्तारे निर्गतासि प्रियसखि ! पदवी विस्मृता किं नु मुग्धे !
मा रोदीरेहि यामेत्युपहृतवचसो निन्युरन्यां वयस्याः ॥१३२

हंस तो पंख फड़फड़ा कर कार्यसिद्धि के भाव को स्पष्ट कहने नल के गया और सखियाँ यों कहकर दमयन्ती को घर ले गईं—प्रिय सखि,

१ हंस के शब्दों का, जिन्होंने नल के अनुराग का वर्णन किया था, दमय पर बड़ा असर हुआ और उसका ताप बढ़ गया। उसकी स्थिति उस व्यक्ति समान हो गयी जो मधु में मिलाकर मक्खन खाता है। इन दोनों के बराबर मा में मिलने से विष हो जाता है।

दुर्गम मार्ग में चली गई। तुम्हारे चित्त में भ्रान्ति पैदा हो गई है। क्या तुम रास्ता भूल गई हो ? तुम रोओ मत। आओ हम सब मिलकर घर चलें ॥१३२॥

सरसि नृपसपश्यद्यत्र तत्तीरभाजः
स्मरतरलमशोकानोकहस्योपमूलम् ।
किसलयदलतल्पम्लापिनं प्राप तं स
ज्वलदसमशरेपुस्पुर्धिपुष्पर्धिमौलेः ॥ १३३ ॥

वह हंस, जिस सरोवर पर नल को पहले देखा था उसी के तीर पर चमकते कामदेव के बाणों के साथ स्पृहा करनेवाले पुष्पों की समृद्धि से युक्त अशोक वृक्ष की जड़ के पास काम की पीड़ा से चचल कोपलों के कोमल अंकुरों को शय्या पर भी मुरझाते हुए नल से मिला ॥१३३॥

परवति दमयन्ति ! त्वां न किञ्चिद्वदामि
द्रुतमुपनय किं मामाह सा शंस हंस !
इति वदति नलेऽसौ तच्छशंसोपनम्रः
प्रियमनु सुकृताञ्च स्वस्पृहाया विलम्बः ॥ १३४ ॥

"पराधीन दमयन्ती, मैं तुमसे कुछ नहीं कहता हूँ। हे हंस, 'तुम शीघ्र मेरे पास आओ। उसने मेरे लिये जो कहा हो मुझे बतलाओ !" नल ने उन्माद के कारण यों कहा तब हंस ने पास आकर दमयन्ती का सब हाल कहा क्योंकि इष्ट वस्तु में धार्मिकों की इच्छा का ही विलम्ब होता है ॥१३४॥

कथितमपि नरेन्द्रः शंसयामास हंसं
किमिति किमति पृच्छन् भाषितं स प्रियायाः ।
अधिगतमथ सान्द्रानन्दमाध्वीकमत्तः
स्वयमपि शतकृत्वस्तत्तथान्वाचचक्षे ॥१३५॥

नल ने हंस से दमयन्ती के वचन को "कैसे, कैसे" यों आदरपूर्वक पूछकर बार बार दुहरवाया। फिर अत्यन्त हर्षरूप मधु से मत्त होकर दमयन्ती के वचन को स्वयं भी अनेक बार कहा ॥१३५॥

चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिर्व्यामिश्रतामाश्रय-
त्प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनं रसात् ।
स्वादं स्वादमसीमसृष्टसुरभि प्राप्तापि तृप्तिं न सा
तापं प्राप नितान्तमन्तरतुलामानर्छ मूर्च्छामपि ॥१३०॥

दमयन्ती को नल के दूत—हंस—की वाणीरूप अत्यन्त स्वादिष्ट त
सुगन्धित मक्खन का प्रीतिपूर्वक बारबार स्वाद लेकर भी उससे तृप्ति न हु
क्योंकि उसमें कामदेव के बाणरूपी पुष्पों का मधु मिला था । अन्तःकरण
उसे सन्ताप[1] हुआ तथा अतुल मूर्च्छा हुई ॥१३०॥

तस्या दृशो नृपतिबन्धुमनुव्रजन्त्या-
स्तद्बाष्पवारि न चिरादवधिर्बभूव ।
पार्श्वेऽपि विप्रचकृषे तदनेन दृष्टे-
रारादपि व्यवदधे न तु चित्तवृत्तेः ॥ १३१ ॥

आँसू, नल के दूत—हंस—के पीछे जाते नेत्रों के शीघ्र ही अवधि
गये इससे हंस, आस-पास चलने पर भी, उसकी दृष्टि से ओझल हो गया
पर दूर से भी वह चित्तवृत्ति से ओझल नहीं हुआ ॥१३१॥

अस्तित्वं कार्यसिद्धेः स्फुटमथ कथयन् पक्षयोः कम्प्रभेदै-
राख्यातुं वृत्तमेतन्निषधनरपतौ सर्वमेकः प्रतस्थे ।
कान्तारे निर्गतासि प्रियसखि ! पदवी विस्मृता किं नु मुग्धे !
मा रोदीरेहि यामेत्युपहृतवचसो निन्युरन्यां वयस्याः ॥१३२

हंस तो पंख फड़फड़ा कर कार्यसिद्धि के भाव को स्पष्ट कहने नल के पा
गया और सखियाँ यों कहकर दमयन्ती को घर ले गईं—प्रिय सखि, तु

---

१ हंस के शब्दों का, जिन्होंने नल के अनुराग का वर्णन किया था, दमयन्ती
पर बड़ा असर हुआ और उसका ताप बढ़ गया । उसकी स्थिति उस व्यक्ति
समान हो गयी जो मधु में मिलाकर मक्खन खाता है । इन दोनों के बराबर मात्रा
में मिलने से विष हो जाता है ।

दुर्गम मार्ग में चली गई। तुम्हारे चित्त में भ्रान्ति पैदा हो गई है। क्या तुम रास्ता भूल गई हो ? तुम रोओ मत। आओ हम सब मिलकर घर चलें ॥१३२॥

सरसि नृपमपश्यद्यत्र तत्तीरभाजः
स्मरतरलमशोकानोकहस्योपमूलम् ।
किसलयदलतल्पम्लापिनं प्राप तं स
ज्वलदसमशरेषुस्पुर्धिपुष्पर्धिमौलेः ॥ १३३ ॥

वह हंस, जिस सरोवर पर नल को पहले देखा था उसी के तीर पर चमकते कामदेव के बाणों के साथ स्पृहा करनेवाले पुष्पों की समृद्धि से युक्त अशोक वृक्ष की जड़ के पास काम की पीड़ा से चचल कोपलों के कोमल अंकुरों की शय्या पर भी मुरझाते हुए नल से मिला ॥१३३॥

परवति दमयन्ति ! त्वां न किञ्चिद्वदामि
द्रुतमुपनय किं मामाह सा शंस हंस !
इति वदति नलेऽसौ तच्छशंसोपनम्रः
प्रियमनु सुकृताञ्च स्वस्पृहाया विलम्बः ॥ १३४ ॥

"पराधीन दमयन्ती, मैं तुमसे कुछ नहीं कहता हूँ। हे हंस, 'तुम शीघ्र मेरे पास आओ। उसने मेरे लिये जो कहा हो मुझे बतलाओ!" नल ने उन्माद के कारण यों कहा तब हंस ने पास आकर दमयन्ती का सब हाल कहा क्योंकि इष्ट वस्तु में धार्मिकों की इच्छा का ही विलम्ब होता है ॥१३४॥

कथितमपि नरेन्द्रः शंसयामास हंसं
किमिति किमति पृच्छन् भाषितं स प्रियायाः ।
अधिगतमथ सान्द्रानन्दमाध्वीकमत्तः
स्वयमपि शतकृत्वस्तत्तथान्वाचचक्षे ॥१३५॥

नल ने हंस से दमयन्ती के वचन को "कैसे, कैसे" यों आदरपूर्वक पूछकर बार बार दुहरवाया। फिर अत्यन्त हर्षरूप मधु से मत्त होकर दमयन्ती के वचन को स्वयं भी अनेक बार कहा ॥१३५॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तार्तीयीकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥१३६॥

कविराजों की पंक्ति के मुकुटों के अलङ्कार रूप हीरे श्रीहीर नामक पिता तथा मामल्लदेवी नामक माता ने जिस जितेन्द्रिय श्री हर्ष नामक पुत्र को उत्पन्न किया उसके प्रबन्ध—महाकाव्य सुन्दर नैषधीय चरित—में स्वभाव से सुन्दर तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥१३६॥

चतुर्थः सर्गः

अथ नलस्य गुणं गुणमात्मभूः सुरभि तस्य यशःकुसुमं धनुः।
श्रुतिपथोपगतं सुमनस्तया तमिषुमाशु विधाय जिगाय ताम् ॥१॥

हंस के जाने के बाद कामदेव ने नल के गुणों को डोरी, उसके सुगन्धित यशःकुसुम को कानों तक खींचा हुआ धनुष, तथा बड़े बुद्धिमान नल को बाण बनाकर शीघ्र ही दमयन्ती को जीत लिया ॥१॥

यदतनुज्वरभाक्तनुते स्म सा प्रियकथासरसीरसमज्जनम्।
सपदि तस्य चिरान्तरतापिनी परिणतिर्विषमा समपद्यत ॥२॥

काम से उत्पन्न हुए ज्वर से पीड़ित होकर दमयन्ती ने नल-कथा रूपी तलय्या में प्रीति से स्नान किया, पर स्नान का फल तत्काल ही दुःसह हो गया और उसमें चिरकाल तक मन को सन्ताप हुआ ॥२॥

ध्रुवमधीतवतीयमधीरतां दयितदूतपतद्गतिवेगतः।
स्थितिविरोधकरीं द्व्यणुकोदरी तदुदतः हि यो यदनन्तरः ॥३॥

अत्यन्त कृशोदरी दमयन्ती को नल के दूत के पंखों के उड़ने के वेग से स्त्री-मर्यादा के विरुद्ध अधैर्य शीघ्र हो गया क्योंकि जो जिनके बाद होता है वह उससे ही उत्पन्न हुआ समझा जाता है ॥३॥

अतितमां समपादि जडाशयं स्मितलवस्मरणेऽपि तदाननम् ।
अजनि पङ्गुरपाङ्गनिजाङ्गणभ्रमिकणेऽपि तदीक्षणखञ्जनः ॥ ४ ॥

दमयन्ती का मुख हास्य के लेश का स्मरण करने में भी अत्यन्त जड़ हो गया। उसके नेत्र रूप खञ्जन अपने अपाङ्गरूप आँगन में जाने में भी असमर्थ हो गये ॥४॥

किमु तदन्तरुभौ भिषजौ दिवः स्मरनलौ विशतः स्म विगाहितुम् ।
तदभिकेन चिकित्सितुमाशु तां मखभुजामधिपेन नियोजितौ ॥५॥

कामदेव तथा नल उसके हृदय की परीक्षा करने को भीतर चले गये। क्या वे दमयन्ती के कामुक—इन्द्र—के द्वारा शीघ्र उसकी चिकित्सा करने को भेजे गये स्वर्ग के अश्विनीकुमार थे? ॥५॥

कुसुमचापजतापसमाकुलं कमलकोमलमैक्ष्यत तन्मुखम् ।
अहरहर्वहदभ्यधिकाधिकां रविरुचिग्लपितस्य विधोर्विधाम् ॥६॥

उसका कमल के समान कोमल पर काम के ज्वर से म्लान मुख सूर्य की कान्ति से मलीन हुए चन्द्रमा की दिन प्रतिदिन अधिक समानता को प्राप्त होते देखा गया ॥६॥

तरुणतातपनद्युतिनिर्मितद्रढिम तत्कुचकुम्भयुगं तदा ।
अनलसङ्गतितापमुपैतु नो कुसुमचापकुलालविलासजम् ॥ ७ ॥

दमयन्ती के कुचरूपी दो कुम्भों में—जो यौवनरूपी सूर्य की दीप्ति से कड़े हो गये थे—उस समय कामदेव रूपी कुम्भकार के विलास से उत्पन्न हुई नल के अप्राप्तिरूप अग्नि से ताप लगना जरूरी था ॥७॥

अधृत यद्विरहोष्मणि मज्जितं मनसिजेन तदूरुयुगं तदा ।
स्पृशति तत्कदनं कदलीतरुर्यदि मरुज्वलदूषरदूषितः ॥ ८ ॥

यदि कदली-तरु मरुदेश में वह्नि से दग्ध ऊसर में स्थित हो तो वह उस

१ कुम्भकार भी घड़े बनाकर पहले उनको धूप में सुखाता है और फिर भट्ठी में देता है।

समय कामदेव के द्वारा वियोग के दाह से सन्तप्त हुई दमयन्ती की दोनों अं
की पीड़ा का अनुभव कर सकता है ॥८॥

स्मरशराहतिनिर्मितसंज्वरं करयुगं हसति स्म दमस्वसुः ।
अनपिधानपतत्तपनतपं तपनिपीतसरःसरसीरुहम् ॥ ९॥

कामदेव के बाणों के आघात से सन्तप्त हुए दमयन्ती के हाथ ग्रीष्म
खाये गये सरोवर के कमल की समानता करते थे जिसमें धूप सीधी
पर पड़ती हो ॥९॥

मदनतापभरेण विदीर्य नो यदुदपाति हृदा दमनस्वसुः ।
निविडपीनकुचद्वययन्त्रणा तमपराधमधात्प्रतिबध्नती ॥ १०॥

दमयन्ती का हृदय कामदेव के ताप के भार से टुकड़े टुकड़े होकर
उड़ सका उसका कारण यह है कि निरन्तर तथा पीवर कुचों के बन्ध
बीच में पड़कर उसे फटने और उड़ जाने से रोकने का अपराध
ऊपर लिया ॥१०॥

निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम् ।
मृदुतनोर्वितनोतु कथं न तामवनिभृत्तु निविश्य हृदि स्थितः ? ॥१

अगर पैर में काँटे की नोंक चुभ जाय तो उससे कितनी व्यथा होती
फिर दमयन्ती के अत्यन्त सुकुमार हृदय में घुसकर बैठा पर्वत—पृथ्वी का
करने वाला नल—कितनी व्यथा न पैदा करता ? ॥११॥

मनसि सन्तमिव प्रियमीक्षितुं नयनयोः स्पृहयान्तरुपेतयोः ।
ग्रहणशक्तिरभूदिदमीययोरपि न सम्मुखवास्तुनि वस्तुनि ॥१२

उसके मन में रहते प्रियतम को देखने की इच्छा से मानों भीतर गई
आँखों में सामने रक्खी हुई वस्तुओं के देखने की भी शक्ति नहीं रही ॥१

हृदि दमस्वसुरश्रुझरप्लुते प्रतिफलद्विरहात्तमुखानतेः ।
हृदयभाजमराजत चुम्बितुं नलमुपेत्य किलागमितं मुखम् ॥१३॥

विरह के कारण नीचे झुकाया गया दमयन्ती का मुख अश्रु के प्रवाह
परिपूर्ण हृदय में प्रतिबिम्बित होने से ऐसा चमकता था मानों उसके हृदय
रहनेवाले नल का चुम्बन करने को पास आया हो ॥१३॥

सुहृदमग्निमुदञ्चयितुं स्मरं मनसि गन्धवहेन मृगीदृशः ।
अकलि निःश्वसितेन विनिर्गमानुमितनिह्नुतवेशनमायिता ॥१४॥

मृगलोचनी दमयन्ती के वायु के समान श्वास अपने मित्र अग्नि को—जो कामदेव के रूप में इसके मन में रहता था—उत्तेजित करने के लिए भीतर जाने के जादू का अभ्यास करते थे जिसका उनके बाहर निकलने के समय ही अनुमान[1] होता था ॥१४॥

विरहपाण्डिमरागतमोमषीशितिमतन्निजपीतिमवर्णकैः ।
दश दिशः खलु तद्दृगकल्पयल्लिपिकरी नलरूपकचित्रिताः ॥१५॥

दमयन्ती की दृष्टिरूप चित्र-कारिणी ने विरह से पाण्डु, अनुराग से लाल, मूर्च्छा से काला तथा अपना गोरा—इन रंगों से दशों दिशाओं में नल के रूप चित्रित किये ॥१५॥

स्मरकृतां हृदयस्य मुहुर्दशां बहु वदन्निव निःश्वसितानिलः ।
व्यधित वाससि कम्पमदश्रिते त्रसति कः सति नाश्रयबाधने ? ॥१६॥

निःश्वास की वायु दमयन्ती के हृदय की—कामदेव के द्वारा उत्पन्न की गई—पीड़ा को बारबार सखियों के सन्मुख मानों कहती हुई उसके हृदय पर पड़े हुए वस्त्रको कँपाती थी । आश्रय में पीड़ा हो तब किस आश्रित को पीड़ा नहीं होती ? ॥१६॥

करपदाननलोचननामभिः शतदलैः सुतनोर्विरहज्वरे ।
रविमहो बहु पीतचरं चिरादनिशतापमिषादुदसृज्यत ॥ १७ ॥

दमयन्ती के विरह-ज्वर में हाथ, पैर, मुख तथा लोचनरूप कमल, दिन में

[1] जैसे किसी दुर्ग में स्थित मित्र के बाहर निकालने के लिए कोई मनुष्य गुप्तरूप से भीतर घुस जाता है, पर जब वह बाहर आता है तब उसका गुप्त प्रवेश मालूम होता है । उसी तरह वायु अपने मित्र कामाग्नि के उत्तेजित करने के लिए भीतर गई और निःश्वास रूप से बाहर आई । आशय यह है कि विरह के कारण निःश्वास अधिकता से आने लगे ।

खूब पिये गये सूर्य के तेज का, निरन्तर सन्ताप के बहाने, चिरकाल
उत्सर्ग करते थे ॥१७॥

उदयति स्म तदद्भुतमालिभिर्धरणिभृद्भुवि तत्र विमृश्य यत् ।
अनुमितोऽपि च बाष्पनिरीक्षणाद्व्यभिचचार न तापकरो नलः ॥१८॥

सखियों ने दमयन्ती में केवल आँसू देखने से विचार कर नल के
ताप का अनुमान किया जो झूठा नहीं निकला—यह आश्चर्य है ॥१८॥

हृदि विदर्भभुवः प्रहरन् शरै रतिपतिर्निषधाधिपतेः कृते ।
कृततदन्तरगस्वदृढव्यथः फलदनीतिरमूर्च्छदलं खलु ॥१९॥

कामदेव ने नल के ताड़न के लिए दमयन्ती के हृदय में बाणों से
करके उसमें रहते अपने को ही बड़ा ताड़न किया जिससे उसे स्वयं मूर्च्छा आ
कामदेव ने जो काम अनीति से किया उसने अपनी सफलता दिखाई ॥१९॥

विधुरमानि तया यदि भानुमान् कथमहो स तु तद्धृदयं तदा ।
अपि वियोगभरास्फुटनस्फुटीकृतदृषत्त्वमजिज्वलदंशुभिः ॥२०॥

यदि दमयन्ती ने चन्द्रमा को दाहक होने से सूर्य समझा तब फिर
ने क्यों—वियोग के भार से न फटनेके कारण अपने को पत्थर[1] प्रकट
वाले—उसके हृदय को अपनी किरणों से जलाया, यह आश्चर्य है ॥२०॥

हृदयदत्तसरोरुहया तया क सदृगस्तु वियोगनिमग्नया ।
प्रियधनुः परिरभ्य हृदा रतिः किमनुमर्तुमशेत चितार्चिषि ॥२१॥

जब दमयन्ती ने प्रियतम के वियोग के कारण पीड़ा से सन्तप्त होकर
छाती पर कमल रख लिया था उस समय ऐसी कौन स्त्री थी जो उसकी
नता कर सकती ? क्या वह रति थी जो अपने पति कामदेव के पीछे
(सहमरण) के लिए उसके (कुसुम-) धनुष को छाती पर रखकर
चिता की अग्नि में जा पड़ी थी ? ॥२१॥

१ चन्द्रमा की किरणें वियोगियों को पीड़ा देती हैं। दमयन्ती को वे
दे रही थीं। उसने चन्द्रमा को सूर्य समझा। किन्तु सूर्य ने उसे अपनी कि
से जलाया—मानो उसका हृदय सूर्यकान्त मणि था जो सूर्य की किरणों के
से जलने लगता है।

अनलभावमियं स्वनिवासिनो न विरहस्य रहस्यमबुद्ध्यत ।
प्रशमनाय विधाय तृणान्यसून् ज्वलति तत्र यदुज्झितुमैहत ॥२२॥

दमयन्ती को यह रहस्य नहीं मालूम था कि उसके मन में छिपी हुई विरह की पीड़ा अग्नि थी क्योंकि उसे शमन करने के लिये वह अपने प्राणों को तृण[1] बनाकर उनकी जली हुई अग्नि में गिरना चाहती थी ॥ २२ ॥

प्रकृतिरेतु गुणः स न योषितां कथमिमां हृदयं मृदु नाम यत् ? ।
तदिषुभिः कुसुमैरपि दुन्वता सुविवृतं विबुधेन मनोभुवा ॥२३॥

यह स्त्रियों का स्वाभाविक गुण है कि उनका हृदय कोमल होता है । यह दमयन्ती में क्या नहीं था ? समझदार कामदेव पुष्प रूपी बाणों से ही हृदय को पीड़ा पहुँचा कर मृदुता को स्पष्ट प्रकट करता था ॥ २३ ॥

रिपुतरा भवनादविनिर्यतीं विधुरुचिर्गृहजालबिलैर्नु ताम् ।
इतरथात्मनिवारणशङ्कया ज्वलयितुं बिसवेषधराविशत् ॥२४॥

विरह के कारण बैर करने वाली तथा कमल-नाल का रूप धारण करने वाली चाँदनी घर से बाहर न जाती हुई दमयन्ती को संताप देने के इरादे से झरोखों में होकर भीतर चली गई; नहीं तो उसे भीतर जाने से रोके जाने का भय था ॥ २४ ॥

हृदि विदर्भभुवोऽश्रुभृति स्फुटं विनमदास्यतया प्रतिबिम्बितम् ।
मुखदृगोष्ठमरोपि मनोभुवा तदुपमाकुसुमान्यखिलाः शराः ॥२५॥

अश्रुओं से पूर्ण वक्षःस्थल पर प्रतिबिम्बित हुए दमयन्ती के मुख, नेत्र तथा

---

१ आशय यह है कि दमयन्ती अपने प्राणों को तृण-तुल्य बनाकर यम के सुपुर्द किया चाहती थी ।

२ चाँदनी से वध हो जायगा—यह विचार कर दमयन्ती बाहर नहीं जाती थी । इस कारण चाँदनी उसका बध करने के इरादे से सन्ताप की शान्ति के लिये शरीर पर स्थापित किये गये कमल-नाल के रूप से झरोखे में होकर भीतर चली गई । आशय यह है कि झरोखे के गोल गोल छेदों में से आती हुई चाँदनी कमल के दंड के समान मालूम होती थी ।

ओष्ठ मुख नीचे झुका होने से—ऐसे मालूम होते थे मानों कामदेव ने अपने
फूलों के बने वाण वहाँ धरे जो उन अंगों के साथ समानता कर सकते थे ॥२५

विरहपाण्डुकपोलतले विधुर्व्यधित भीमसुवः प्रतिविम्बितः ।
अनुपलक्ष्यसितांशुतया मुखं निजसखं सुखसङ्कमृगार्पणात् ॥२६॥

दमयन्ती के—विरह से फीके–कपोल पर प्रतिविम्बित हुआ चन्द्रमा उस
मुख को कलङ्क[1]–मृग समर्पण कर सहज में उसका मित्र हो गया । चन्द्रमा
किरणे वहाँ दीख नहीं पड़ती थी क्योंकि दोनों पांडु थे ॥ २६ ॥

विरहतापिनि चन्दनपांसुभिर्वपुषि सार्पितपाण्डिमण्डना ।
विषधराभविसाभरणा दधे रतिपतिं प्रति शम्भुविभीषिकाम् ॥२७॥

दमयन्ती ने कामदेव के प्रति महादेव की तरह भयानकता को धारण कि
क्योंकि उसने विरह से संतप्त शरीर में पीली चन्दन की रज के अलङ्कार त
सर्प तुल्य मृणाल धारण किये ॥ २७ ॥

विनिहितं परितापिनि चन्दनं हृदि तया भृतबुद्बुदमावभौ ।
उपनमन् सुहृदं हृदयेशयं विधुरिवाङ्कगतोडुपरिग्रहः ॥२८॥

अपने विरह-संतप्त हृदय पर जो चन्दन उसने लगाया—जिसमें बुल्बु
उठे थे—वह ऐसा शोभायमान हुआ मानों नक्षत्र रूपी परिग्रह के साथ हृ
में स्थित मित्र कामदेव से मिलने चन्द्रमा आया हो ॥२८॥

स्मरहुताशनदीपितया तया वहु मुहुः सरसं सरसीरुहम् ।
श्रयितुमर्धपथे कृतमन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरमुज्झितम् ॥२९॥

कामरूपी अग्नि में संतप्त दमयन्ती के पास बहुत से गीले कमल ला
गये पर वे आधे मार्ग में ही छोड़ दिये गये क्योंकि उसके श्वास से बीच में
सूख गये ॥२९॥

१ पहले तो दमयन्ती का मुख चन्द्रमा से बढ़ कर था पर विरह में फीक
पड़ जाने से वह चन्द्रमा के समान हो गया । चन्द्रमा ने अपने साथी निर्दोष मुख
भी अपना दोष संक्रान्त करके उसे अपना सा बना लिया । चतुर व्यक्ति कुछ देकर
ही मित्रता संपादन करते हैं ।

प्रियकरग्रहमेवमवाप्स्यति स्तनयुगं तव ताम्यति किं न्विति ।
जगदतुर्निहिते हृदि नीरजे दवथुकुड्मलनेन पृथुस्तनीम् ॥३०॥

हृदय में स्थापित—संताप से संकोच को प्राप्त हुए—दो कमलों ने पृथुस्तनी दमयन्ती से मानो कहा कि हे भैमि, तेरे दोनों स्तन इसी तरह तेरे प्रियतम के हाथ में जाकर हो जायँगे । अभी वे क्यों संकोच करें ! ॥३०॥

त्वदितरो न हृदापि मया धृतः पतिरितीव नलं हृदयेशयम् ।
स्मरहविर्भुजि बोधयति स्म सा विरहपाण्डुतया निजशुद्धताम् ॥३१॥

वियोग से उत्पन्न हुई पांडुता के द्वारा दमयन्ती अपने हृदय के स्वामी नल से कामदेव रूपी अग्नि में अपना पातिव्रत्य मानो कह रही थी कि हे प्रिय, मैं तुम्हारे अतिरिक्त अन्य किसी पति को मन में भी नहीं लाई ॥३१॥

विरहतप्ततदङ्गनिवेशिता कमलिनी निमिषद्दलमुष्टिभिः ।
किमपनेतुमचेष्टत किं पराभवितुमैहत तद्दवथुं पृथुम् ? ॥३२॥

दमयन्ती के—विरह से संतप्त हुए—अंग पर रक्खी गई कमलिनी ने उसके बड़े संताप को मिटाने का—या सकुचे हुए पत्ते रूप मुष्टियों से उसको पराभव करने का उद्योग किया ॥३२॥

इयमनङ्गशरावलिपन्नगक्षतविसारिवियोगविषावशा ।
शशिकलेव खरांशुकरार्दिता करुणनीरनिधौ निदधौ न कम् ॥३३॥

कामदेव के बाण रूप सर्पों से काटे जाने के कारण फैले हुए वियोग रूप विष से विह्वल हुई दमयन्ती ने सूर्य की किरणों से पीड़ित हुई चन्द्र-कला की भाँति किसे करुणा समुद्र में नहीं डाला ? ॥३३॥

ज्वलति मन्मथवेदनया निजे हृदि तयार्द्रमृणाललतार्पिता ।
स्वजयिनोस्त्रपया सविधस्थयोर्मलिनतामभजद्भुजयोर्भृशम् ॥३४॥

दमयन्ती के द्वारा कामदेव की पीड़ा से संतप्त हुए हृदय पर रक्खी गई गीली मृणाल-लता कान्ति से मृणाल को जीतने वाली—हृदय के समीप स्थित—भुजाओं के सन्मुख लज्जा के कारण अत्यन्त मलीन हो गई ॥३४॥

पिकरुतश्रुतिकम्पिनि शैवलं हृदि तया निहितं विचलद्बभौ ।
सततत्द्गतहृच्छयकेतुना हृतमिव स्वतमूषसर्पिषा ॥ ३५ ॥

कोकिल का शब्द सुनने से कंपित हुए हृदय पर संताप की निवृत्ति लिए रक्खा गया हृदय के काँपने से चलायमान हुआ शैवल दमयन्ती में न्तर रहते हुए कामदेव की ध्वजा (=मत्स्य) के अपना शरीर रगड़ने मानो आहत किया गया मालूम हुआ ॥ ३५ ॥

न खलु मोहवशेन तदाननं नलमनः शशिकान्तमबोधि तत् ।
इतरथाभ्युदये शशिनस्ततः कथमसुस्रुवदश्रुमयं पयः ॥३

क्या नल के अन्तःकरण ने दमयन्ती के सुन्दर मुख को अज्ञान से च कान्त मणि के समान नहीं जाना ? नहीं तो चन्द्रमा के उदय होने के उससे अश्रु रूप जल क्यों निकलता ! ॥ ३६ ॥

रतिपतेर्विजयास्त्रमिषुर्यथा जयति भीमसुतापि तथैव सा ।
स्वविशिखानिव पञ्चतया ततो नियतमैहत योजयितुं स ताम् ॥३

कामदेव का धनुष जैसे विजय-साधन का अस्त्र है उसी तरह दम भी है । इसी कारण कामदेव अपने बाणों की तरह पाँच[३] संख्या में दम को भी मिलाना चाहता था ॥ ३७ ॥

शशिमयं दहनास्त्रमुदित्वरं मनसिजस्य विसृज्य वियोगिनी ।
झटिति वारुणमश्रुमिषादसौ तदुचितं प्रतिशस्त्रमुपाददे ॥३८

वियोगिनी दमयन्ती ने कामदेव के चन्द्रमय आग्नेय अस्त्र को उदित हु

---

१ दमयन्ती के हृदय में कामदेव था इस कारण उसका चिह्न—मत्स्य वहीं था । हृदय पर शैवल लगाया गया था जो हृदय काँपता था तब हिलता था वह ऐसा समझा गया मानों हृदय के भीतर का मत्स्य उसे हिलाता है ।

२ चन्द्रमा का उदय होता है तब चन्द्रकान्त मणियों से पानी रिसने लग है । चन्द्रमा का उदय हुआ तब विरह के कारण दमयन्ती अश्रु विसर्जन करने ल इससे उसका मुख चन्द्रकान्ति मणि के समान समझा गया ।

३ कामदेव के वाण पाँच हैं । वह दमयन्ती को भी पाँच संख्या में मिला चाहता था अर्थात् मारना चाहता था । पाँच संख्या में मिलाने का आशय म डालने का है क्योंकि मर कर मनुष्य पाँच तत्त्वों में मिल जाता है ।

विचार कर झट आँसुओं के बहाने उसके योग्य वरुण[1]-देव संबंधी प्रतिशस्त्र को ग्रहण किया ॥ ३८ ॥

अतनुना नवमम्बुदमाम्बुदं सुतनुरस्त्रमुदस्तमवेक्ष्य सा ।
उचितमायतनिःश्वसितच्छलाच्छ्वसनमस्त्रममुञ्चदमुं प्रति ॥ ३९ ॥

दमयन्ती ने नवीन मेघ को कामदेव के द्वारा अपने पर फेंका गया वरुणास्त्र समझ कर लम्बे श्वास के बहाने उसके योग्य वायव्यास्त्र[2] उस पर छोड़ा ॥ ३९ ॥

रतिपतिप्रहितानिलहेतितां प्रतियती सुदती मलयानिले ।
तदुरुतापभयात्तमृणालिकामयमियं भुजगास्त्रमिवादित ॥४०॥

सुंदर दाँत वाली दमयन्ती ने दक्षिण पवन को कामदेव के द्वारा भेजा गया वायव्यास्त्र समझ कर कामदेव के किए हुए बहुत संताप के भय से ताप-शान्ति के लिए स्वीकार की गई मृणालिका के रूप से पन्नगास्त्र[3] ग्रहण किया ॥ ४० ॥

न्यधित तद्धृदि शल्यमिव द्वयं विरहितां च तथापि च जीवितम् ।
किमथ तत्र निहत्य निखातवान्रतिपतिः स्तनबिल्वयुगेन तत् ॥४१॥

कामदेव ने एक तो वियोग तथा दूसरे वियोग के साथ जीवन—ये दो काँटे दमयन्ती के हृदय पर रक्खे । बाद में स्तन रूप दो बिल्व फलों से ठोंक कर क्या उनको भीतर घुसा दिया ॥ ४१ ॥

अतिशरव्ययता मदनेन तां निखिलपुष्पमयस्वशरव्ययात् ।
स्फुटमकारि फलान्यपि मुञ्चता तदुरसि स्तनतालयुगार्पणा ॥४२॥

---

१ जल से अग्नि बुझ जाती है—इस कारण आग्नेयास्त्र के वेकार हो जाने का उपाय किया ।

२ मेघ वियोगियों को पीड़ा देता है । इससे दमयन्ती ने लम्बे लम्बे निःश्वास छोड़े जो उसे उड़ा ले जाँय ।

३ साँप वायु का भक्षण करते हैं । दमयन्ती ने मृणालिका रूप सर्प धारण किये जो वायव्यास्त्र का नाश कर दें ।

दमयन्ती पर बहुत से बाणों से आघात करके सब पुष्पमय बाण समाप्त हो जाने पर फलों का भी उस पर प्रहार करते कामदेव ने दमयन्ती के हृदय में स्तन रूप दो ताल फल अर्पण किये ॥ ४२ ॥

अथ मुहुर्बहुनिन्दितचन्द्रया स्तुतविधुन्तुदया च तया बहु ।
पतितया स्मरतापमये गदे निजगदेऽश्रुविमिश्रमुखी सखी ॥ ४३ ॥

कामदेव के संताप-ज्वर में पतित हुई, बार बार कामदेव के मित्र चन्द्रमा की निन्दा करती तथा राहु की प्रशंसा करती दमयन्ती ने संताप देखने से जिसके मुख पर आँसू टपक रहे थे ऐसी सखी से कहा—॥ ४३ ॥

नरसुराब्जसुवामिव यावता भवति यस्य युगं यदनेहसा ।
विरहिणामपि तद्रतवद्युवक्षणमितं न कथं गणितागमे ? ॥ ४४ ॥

"जिस परिमाण से नर, देवता तथा ब्रह्मा का काल नियत हुआ है उसी के अनुसार सुरत युक्त दंपति के काल के परिमाण से वियोगियों के भी काल गणितशास्त्र में क्यों न नियत हुए ? ॥ ४४ ॥

जनुरधत्त सती स्मरतापिता हिमवतो न तु तन्महिमादृता ।
ज्वलति भालतले लिखितः सतीविरह एव हरस्य न लोचनम् ॥४५॥

"पूर्व जन्म में महादेव के वियोग से अत्यन्त संतप्त होकर ही सती ने हिमालय के यहाँ जन्म लिया, उसकी महिमा[1] का विचार करके नहीं ! महादेव के मस्तक पर जो तीसरा नेत्र है वह नेत्र नहीं है पर उनके भाल में लिखा हुआ सती का विरह है ॥४५॥

दहनजा न पृथुर्दवथुर्व्यथा विरहजैव पृथुर्यदि नेदृशम् ।
दहनमाशु विशन्ति कथं स्त्रियः प्रियमपासुमुपासितुमुद्धुराः ॥४६॥

"अग्नि से उत्पन्न हुई दाह-व्यथा कोई व्यथा नहीं है; विरहाग्नि से उत्पन्न हुई व्यथा ही उत्कट व्यथा है । यदि ऐसा न हो तो स्त्रियाँ मृतक पति की उपासना करने को उत्सुक होकर शीघ्र अग्नि में क्यों प्रवेश करतीं ? ॥४६॥

१ इस आशय से नहीं कि हिम के आलय के यहाँ जन्म लेने से संताप दूर हो जायगा ।

हृदि लुठन्ति कला नितराममूर्विरहिणीवधपङ्ककलङ्किताः ।
कुमुदसख्यकृतस्तु बहिष्कृताः सखि! विलोकय दुर्विनयं विधोः ॥४७॥

"सखि, चन्द्र का दुर्विनय तो देख कि विरहिणी स्त्रियों के वधरूप पातक से कलंकित हुई ये कलाएँ तो इसके हृदय में क्रीडा करतीं हैं पर कुमुदों से मित्रता करने वाली कलाओं का दूर दूर तक पता नहीं है ॥४७॥

अयि! विधुं परिपृच्छ गुरोः कुतः स्फुटमशिक्ष्यत दाहवदान्यता ।
ग्लपितशम्भुगलाद्गरलात्त्वया किमुदधौ जड! वा वडवानलात् ॥४८॥

"अरी सखी, तू चन्द्रमा से पूछ कि तूने किस गुरु से यह दाहिका विद्या सीखी है? हे जड़, महादेव के कण्ठ को दग्ध करने वाले विष से, या समुद्र में बड़वानल से? ॥४८॥

अयमयोगिवधूवधपातकैर्भ्रमिमवाप्य दिवः खलु पात्यते ।
शितिनिशादृषदि स्फुटदुत्पतत्कणगणाधिकतारकिताम्बरः ॥४९॥

"इस चन्द्रमा ने वियोगिनी स्त्रियों के वध का पाप इकट्ठा किया है। इससे यह फिराकर अँधेरी रात्रि रूप पत्थर के ऊपर आकाश से पटका जाता है। पटकने पर टुकड़े-टुकड़े हो जाने से इसके अंग के कण जो ऊपर को उड़ते हैं उन्हीं से आकाश तारकित होता है ॥४९॥

त्वमभिधेहि विधुं सखि! मद्गिरा किमिदमीदृगधिक्रियते त्वया ।
न गणितं यदि जन्म पयोनिधौ हरशिरःस्थितिभूरपि विस्मृता ॥५०॥

"सखि, तू मेरी ओर से इस चन्द्रमा से कह दे कि यह तू क्या कर रहा है? यदि तुझे समुद्र से जन्म होने की परवा नहीं है तो क्या तूने अपना महादेव के शिर पर रहना भी भुला दिया है? ॥५०॥

१ चन्द्रमा विरहणियों को सन्ताप देता है। सज्जनों के करने लायक नहीं। चंद्रमा सज्जन है क्योंकि वह समुद्र में पैदा हुआ है। पर मालूम होता है कि चंद्रमा को इस बात की परवाह नहीं। चन्द्रमा महादेव के शिर पर भी रहता है जिससे इसकी बड़ी प्रतिष्ठा है। क्या चन्द्रमा ने इसको भी भुला दिया?

निपततापि न मन्दरभूभृता त्वमुदधौ शशलाञ्छन ! चूर्णितः ।
अपि मुनेर्जठरार्चिषि जीर्णतां बत गतोऽसि न पीतपयोनिधेः ॥५१॥

"चन्द्र, जिस समय मन्दराचल ने समुद्र का मंथन किया उस समय भी चूर्ण न हो गया ! अथवा समुद्र पीनेवाले अगस्त्य की जठराग्नि में भी तू न गया ! ॥५१॥

किमसुभिर्गलितैर्जड ! मन्यसे मयि निमज्जतु भीमसुतामनः ।
मम किल श्रुतिमाह तदर्थिकां नलमुखेन्दुपरां विबुधस्मरः ॥५२॥

"जड़, क्या तू यह सोचता है कि दमयन्ती का मन उसके मरने पर तुझमें लीन हो जायगा ? बुद्धिमान् कामदेव ने मेरे सम्बन्ध में चन्द्रमा में लीन हो जानेवाली श्रुति का आशय नल मुख-चन्द्रमा में लीन होना कहा है ॥५२॥

मुखरयस्व यशोनवडिण्डिमं जलनिधेः कुलमुज्ज्वलयाधुना ।
अपि गृहाण वधूवधपौरुषं हरिणलाञ्छन ! मुञ्च कदर्थनाम् ॥५३॥

"तू इस समय अपने यश का नया नगाड़ा बजा । समुद्र के वंश को उज्ज्वल कर तथा स्त्रियों के वध करने का पौरुष भी ग्रहण कर । पीड़ा मत दे ॥५३॥

निशि शशिन् ! भज कैतवभानुतामसति भास्वति तापय पाप ! माम्
अहमहन्यवलोकयितास्मि ते पुनरहर्पतिनिर्धुतदर्पताम् ॥ ५४ ॥

"चन्द्र, रात को तू कपट से सूर्य हो जा । पापी, सूर्य की अनुपस्थिति में मुझे जला । मैं प्रातः काल होने पर देखूँगी कि तेरा घमंड सूर्य ने चूर्ण कर दिया है ॥ ५४ ॥

शशकलङ्क ! भयङ्कर ! मादृशां ज्वलसि यन्निशि भूतपतिं श्रितः ।
तदमृतस्य तवेदृशभूतताद्भुतकरी परमूर्धविधूननी ॥५५॥

"चंद्र, तू मुझ सरीखी वियोगिनियों को पीड़ा देने वाला है । तू रात में शिव के भाल पर स्थित हो कर प्रकाशमान होता है । इससे वियोगिनियों के शिर में भ्रम होता है । यह आश्चर्य की बात है क्योंकि तू तो अमृत मय है ॥५५॥

श्रवणपूरतमालदलाङ्कुरं शशिकुरङ्गमुखे सखि ! निक्षिप ।
किमपि तुन्दिलितः स्थगयत्यमुं सपदि येन तदुच्छ्वसिमि क्षणम् ॥५६॥

"सखी, तू कर्ण-फूल के तमाल के पत्ते के अंकुर को चंद्रमा के हिरण के मुख में अर्पण कर। उससे इसका पेट बढ़ जायगा और तब जरा चन्द्रमा के ढँक जाने से मैं क्षण मात्र तो श्वास ले सकूँगी ॥ ५६ ॥

असमये मतिरुन्मिषति ध्रुवं करगतैव गता यदियं कुहूः।
पुनरुपैति निरुध्य निवास्यते सखि! मुखं न विधोः पुनरीक्ष्यते ॥५७॥

"सचमुच समय निकल जाता है तब मेरी बुद्धि को सूझती है क्योंकि अमावास्या हाथ में आकर भी चली गई। यदि वह फिर आवेगी तो उसे जबरदस्ती रोक लूँगी। तब तो फिर सखि, चन्द्रमा का मुख मुझे नहीं दीखेगा ॥५७॥

अयि! ममैष चकोरशिशुर्मुनेर्व्रजति सिन्धुपिबस्य न शिष्यताम्।
अशितुमब्धिमधीतवतोऽस्य वा शशिकराः पिबतः कति शीकराः?॥५८॥

'सखि, मेरा यह चकोर का बच्चा समुद्र पी जाने वाले अगस्त्य का शिष्य क्यों नहीं हो जाता? उनका शिष्य होकर यह समुद्र का पीना सीख लेगा। फिर इसे चन्द्रमा की किरणें पीना कितनी बूँदों के बराबर होगा ॥ ५८ ॥

कुरु करे गुरुमेकमयोघनं बहिरितो मुकुरञ्च कुरुष्व मे।
विशति तत्र यदैव विधुस्तदा सखि! सुखादहितं जहि तं द्रुतम् ॥५९॥

"सखि, एक भारी हथौड़ा हाथ में ले और घर से बाहर दर्पण रख। चन्द्रमा उसमें घुसे त्योंही अनायास इस वैरी को शीघ्र मारदे ॥ ५९ ॥

उदर एव धृतः किमुदन्वता न विषमो वडवानलवद्विधुः।
विषवदुज्झितमप्यमुना न स स्मरहरः किमम्मुं बुभुजे विभुः?॥६०॥

"समुद्र ने इस दुःसह चन्द्रमा को बड़वानल के समान अपने उदर में ही क्यों न रहने दिया? अथवा समुद्र से विष के समान बाहर निकाले गये चन्द्रमा को समर्थ महादेव ने क्यों न खा लिया? ॥ ६० ॥

असितमेकसुराशितमप्यभून्न पुनरेष विधुर्विशदं विषम्।
अपि निपीय सुरैर्जनितक्षयं स्वयमुदेति पुनर्नवमार्णवम् ॥६१॥

"समुद्र के कालकूट नामक काले विष को तो एक देवता ने खा लिया और फिर वह पैदा नहीं हुआ। यह चन्द्रमा समुद्र का सफेद विष है। इसे

वसु आदि देवताओं ने प्रतिपदा आदि तिथियों में बिलकुल पी लिया इसका क्षय हो गया लेकिन यह नया होकर फिर पैदा हो जाता है ॥ ६१ ॥

विरहिवर्गवधव्यसनाकुलं कलय पापमशेषकलं विधुम् ।
सुरनिपीतसुधाकमपापकं ग्रहविदो विपरीतकथाः कथम् ? ॥६२॥

"सखि, विरहियों के समूह के वध रूपी व्यसन की चिन्ता करने वाला पूर्ण चन्द्रमा बड़ा पापी है। जब देवता उसकी सुधा पी लेते हैं तब वह पाप रहित हो जाता है। फिर ज्योतिषी उलटी बात क्यों कहते हैं कि पूर्ण चन्द्र शुभ ग्रह तथा क्षीण पाप ग्रह है ॥ ६२ ॥

विरहिभिर्बहुमानमवापि यः स बहुलः खलु पक्ष इहाजनि ।
तदमितिः सकलैरपि यत्र तैर्व्यरचि सा च तिथिः किममाकृता ॥६३॥

"विरहियों ने जिस कृष्णपक्ष को सम्मान दिया था उसे यहाँ बहुल कहते हैं। उन्होंने बहुल की एक तिथि को सीमा-रहित संमान देना नियत किया था। वह सीमा-रहित सम्मान वाली तिथि क्या अमा[3] बनाई गई है ? ॥६३॥

स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात् किमु विधुं ग्रसते स विधुन्तुदः ।
निपतितं वदने कथमन्यथा वलिकरम्भनिभं निजमुज्झति ? ॥६४॥

"क्या वह राहु अपने वैरी विष्णु के तीक्ष्ण सुदर्शन चक्र के पहिये की भ्रान्ति से चन्द्रमा का ग्रास करता है ? नहीं तो मुख में पहुँचे हुए अपनी पूजा के भात के समान चन्द्रमा को क्यों छोड़ देता है ॥६४॥

---

१ एक वार ही अकेले महादेव के द्वारा भक्षित किया गया काला विष फिर उत्पन्न नहीं हुआ। सफेद विष को वार वार बहुत से देवता पीते हैं फिर भी वह नष्ट नहीं होता। काले विष की अपेक्षा सफेद विष अधिक बली है।

२ बहुल = बहुत सम्मान से युक्त।

३ अमावास्या; दूसरा अर्थ—सीमा-रहित। अमावास्या को सर्वथा चन्द्रमा का अभाव होने से अपरिमित मान दिया गया है। मान के परिमाण से रहित होने के कारण अमा (= अमावास्या) अन्वर्थ हो गई। विरहियों को कृष्णपक्ष सुखद होता है और उसमें भी अमावास्या सब से अधिक !

वदनगर्भगतं न निजेच्छया शशिनमुञ्झति राहुरसंशयम् ।
अशित एव गलत्ययमत्ययं सखि ! विना गलनालविलाध्वना । ६५॥

"सखि, मुख में गये हुए चन्द्रमा को राहु निश्चय ही अपनी इच्छा से नहीं छोड़ता है। लेकिन राहु ने खाया वही यह चन्द्रमा बिना किसी हानि के कण्ठ के मार्ग से निकल जाता है ॥६५॥

ऋजुदृशः कथयन्ति पुराविदो मधुभिदं किल राहुशिरश्छिदम् ।
विरहिमूर्धभिदं निगदन्ति न क नु शशी यदि तज्जठरानलः ॥६६॥

"जैसा देखें उसे वैसा ही समझने वाले ऐतिहासिक विष्णु को राहु का शिर छेदने वाला कहते हैं, वियोगियों का शिर छेदनेवाला नहीं कहते। पर वे यह नहीं सोचते कि यदि राहु के जठराग्नि होती तो चन्द्रमा का पता भी न चलता ॥६६॥

स्मरसखौ रुचिभिः स्मरवैरिणा मखमृगस्य यथा दलितं शिरः ।
सपदि संदधतुर्भिषजौ दिवः सखि ! तथा तमसोऽपि करोतु कः ?॥६७॥

"सखि, सुन्दर होने से कामदेव के मित्र—स्वर्ग के वैद्य—अश्विनी-कुमारों ने महादेव से खण्डित किये गये यज्ञ के मृग के शिर को जैसे जोड़ा था उसी तरह राहु के शिर को कौन जोड़े ? ॥६७॥

नलविमस्तकितस्य रणे रिपोर्मिलति किं न कवन्धगलेन वा ? ।
मृतिभिया भृशमुत्पततस्तमोग्रहशिरस्तदसृग्दृढवन्धनम् ॥६८॥

"अथवा क्या संग्राम में मरण के भय से आकाश में दूर उड़ते हुए तथा नल के द्वारा शिर काटे गये शत्रु के कबन्ध के गले के साथ राहु के शिर का दृढ़ बन्धन नहीं हो सकता है ? ॥६८॥

---

१ राहु के उदराग्नि नहीं है और चन्द्रमा अमृत-रूप है इससे उसका नाश नहीं होता।

२ कामदेव के शत्रु महादेव ने जो काम बिगाड़ा था उसे कामदेव के मित्र अश्विनीकुमारों ने सुधार दिया। लेकिन विरहियों के शत्रु विष्णु के द्वारा काटा गया राहु का शिर कौन जोड़े ? विरहियों का मित्र तो कोई होता नहीं है।

सखि ! जरां परिपृच्छ तमःशिरः सममसौ दधतापि कबन्धताम् ।
मगधराजवपुर्दलयुग्मवत् किमिति न प्रतिसीव्यति केतुना ? ॥६९॥

"सखि, तू यह तो जरा राक्षसी से पूछ कि वह कबन्ध धारण करने [...] केतु के साथ राहु के शिर को जरासंघ के शरीर के दो टुकड़ों के समान [...] नहीं जोड़ सकती ? ॥६९॥

वद विधुन्तुदमालि ! मदीरितैस्त्यजसि किं द्विजराजधिया रिपुम् !
किमु दिवं पुनरेति यदीदृशः पतित एष निषेव्य हि वारुणीम् ॥७०॥

"सखि, तू मेरे कहने से राहु से पूछ—"क्या तू अपने वैरी चन्द्रमा [...] ब्राह्मण होने की वजह से छोड़ता है ? यदि ब्राह्मण है तो वह वारुणी[1] [...] करके पतित[2] होकर फिर आकाश में क्यों आता है ? ॥७०॥

दहति कण्ठमयं खलु तेन किं गरुडवद्द्विजवासनयोज्झितः ।
प्रकृतिरस्य विधुन्तुद ! दाहिका मयि निरागसि का वद विप्रता ॥७१॥

"हे सखि, क्या चन्द्रमा गले में जलन पैदा करता है इससे उसे ब्रा[...] समझ कर गरुड़[3] के समान राहु ने छोड़ दिया है ? हे राहु, इस चन्द्रमा [...] प्रकृति ही दाह पैदा करनेवाली है। नहीं तो मुझ निरपराध को जलाने में [...] ब्राह्मणत्व है ? ॥७१॥

सकलया कलया किल दंष्ट्रया समवधाय यमाय विनिर्मितः ।
विरहिणीगणचर्वणसाधनं विधुरतो द्विराज इति श्रुतः ॥ ७२ ॥

"ब्राह्मण ने सब कलारूप दंष्ट्राओं को मिलाकर यम के लिये चन्द्रमा [...] विरहिणियों के भक्षण का साधन बनाया है। इसी कारण इसे द्विज[4] कहते हैं ॥७२॥

स्मरमुखं हरनेत्रहुताशनाज्ज्वलदिदं चकृशे विधिना विधुः ।
बहुविधेन वियोगिवधैनसा शशमिषादथ कालिकयाङ्कितः ॥७३॥

---

१ पश्चिम दिशा; मदिरा। २—अस्त; आचार-भ्रष्ट।

३ एक बार गरुड़ एक शूद्र को भक्षण कर रहा था। जब उसके गले [...] जलन हुई तब उसे ब्राह्मण समझ कर उसने छोड़ दिया।

४ द्विजराज—दंष्ट्राओं का राजा।

"चन्द्रमा ब्रह्मा के द्वारा शिव के नेत्र में जलते हुए कामदेव का निकाला हुआ मुख है। यह अनेक प्रकार से वियोगियों के मारने के पाप के कारण शशके बहाने कालिमा से अंकित किया गया है ॥७३॥"

इति विधोर्विविधोक्तिविगर्हणं व्यवहितस्य वृथेति विमृश्य सा।
अतितरां दधती विरहज्वरं हृदयभाजमुपालभत स्मरम् ॥७४॥

फिर—दूर रहने वाले चन्द्रमा का अनेक प्रकार की उक्तियों से निन्दा करना वृथा है—यह सोचकर अत्यन्त विरह-ज्वर धारण करती दमयन्ती हृदय में स्थित कामदेव की निन्दा करने लगी ॥७४॥

हृदयमाश्रयसे यदि मामकं ज्वलयसीत्थमनङ्ग! तदेव किम्?।
स्वयमपि क्षणदग्धनिजेन्धनः क भवितासि हताश! हुताशवत्?॥७५॥

"हे काम, यदि तू मेरे हृदय में स्थित है तो उसको फिर जलाता क्यों है? क्षणमात्र में अपने ईंधन (=मेरे हृदय) को जलाकर हे हताश, वह्नि के समान तू कहाँ रहेगा? ॥७५॥

पुरभिदा गमितस्त्वमदृश्यतां त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया।
स्मर! निरैक्ष्यत कस्यचनापि न त्वयि किमक्षिगते नयनैस्त्रिभिः? ॥७६॥

"महादेव ने तीन नेत्रों की अतिव्याप्ति होने की शङ्का से तुझे अदृश्य कर दिया। हे कामदेव, तेरे प्रत्यक्ष होने से कौन त्रिनेत्र[1] नहीं हुआ? ॥७६॥

सहचरोऽसि रतेरिति विश्रुतिस्त्वयि वसत्यपि मे न रतिः कुतः?।
अथ न सम्प्रति सङ्गतिरस्ति वामनुमृता न भवन्तमियं किल ॥७७॥

"तू रति का सहचर है—यह कहावत है फिर तेरे विद्यमान होते भी मुझे रति (=प्रीति) क्यों नहीं मिलती? अथवा आजकल तू उसके साथ नहीं रहता है क्योंकि तेरे मर जाने पर वह तेरे साथ नहीं मरी ॥७७॥

१ यहाँ त्रिनेत्र से कोप-युक्त होने का आशय है। अभी तो महादेव अकेले ही त्रिनेत्र हैं पर कामदेव को देखकर सब त्रिनेत्र (अर्थात् कोप युक्त) हो जायँगे। यह बात महादेव को बुरी लगी और उन्होंने कामदेव को अदृश्य कर दिया।

रतिवियुक्तमनात्मपरज्ञ ! किं स्वमपि मामिव तापितवानसि?।
कथमतापभृतस्तव सङ्गमादितरथा हृदयं मम दह्यते ?॥७८॥

"तुझे अपने और पराये का ज्ञान नहीं है। मुझ रति-वियुक्त की तरह तूने अपनी रति-वियुक्त आत्मा को भी सन्ताप दिया है। नहीं तो जो तू किसी को संताप नहीं देता तो तेरे ताप-रहित संगम से मेरे हृदय को संताप क्यों होता ? ॥७८॥

अनुममार न मार ! कथं नु सा रतिरतिप्रथितापि पतिव्रता।
इयदनाथवधूवधपातकी दयितयापि तयासि किमुज्झितः ?॥७९॥

"हे कामदेव, पतिव्रता तथा अत्यन्त प्रसिद्ध रति तेरे मरने के बाद क्यों न मरी ? तेरी प्रिया ने भी तुझे अनाथ स्त्रियों के वध के पातक के कारण छोड़ दिया ॥७९॥

सुगत एव विजित्य जितेन्द्रियस्त्वदुरुकीर्तितनुं यदनाशयत्।
तव तनूमवशिष्टवतीं ततः समिति भूतमयीमहरद्धरः ॥८०॥

"जितेन्द्रिय बुद्ध ने तो तेरा पराजय करके तेरी बड़ी भारी कीर्ति रूपी देह को नष्ट कर दिया। बाद में महादेव ने बची खुची पंचभूत मयी देह को अग्नि में नष्ट कर दिया ॥८०॥

फलमलभ्यत यत्कुसुमैस्त्वया विषमनेत्रमनङ्ग ! विगृह्णता।
अहह नीतिरवाप्तभया ततो न कुसुमैरपि विग्रहमिच्छति ॥८१॥

"हे कामदेव, हाय ! फूलों से शिव के साथ विरोध करके जो फल पाया उसमें मानों भय पाकर नीति फूलों के द्वारा युद्ध करने का भी निषेध करती है ॥ ८१ ॥

अपि धयन्नितरामरवत् सुधां त्रिनयनात् कथमापिथ तां दशाम्?।
भण रतेरधरस्य रसादरादमृतमात्तघृणः खलु नापिबः ॥८२॥

"अन्य देवताओं के समान सुधा पीकर भी तू महादेव के द्वारा भस्म हुआ ? रति के ओष्ठ के स्वाद में अत्यन्त आदर होने के कारण अमृत से घृणा हो गई थी इससे तूने उसे पिया ही नहीं। क्यों ? कह ॥ ८२ ॥

भुवनमोहनजेन किमेनसा तव परेत ! बभूव पिशाचता ? ।
यदधुना विरहाधिमलीमसामभिभवन् भ्रमसि स्मर ! मद्विधाम् ॥८३॥

"अरे मरे कामदेव, संसार को मोह में डालने के पाप से क्या तू पिशाच हो गया है ? क्योंकि अब वियोग की पीड़ा से मलीन हुई मेरी जैसी स्त्रियों को पीड़ा देकर ही तू भ्रमण करता है ॥ ८३ ॥

बत ददासि न मृत्युमपि स्मर ! स्खलति तेऽकृपया न धनुः करात् ।
अथ मृतोऽसि मृतेन च मुच्यते न किल मुष्टिरुरीकृतबन्धनः ॥८४॥

"यह बड़ा कष्ट है कि न तो तू कोई हित करता है, न मृत्यु देता है। कृपा न होने के कारण तेरा धनुष भी हाथ में से नहीं खिसकता। तू तो मर चुका है। मरा हुआ बाँधी हुई मुट्ठी नहीं खोल सकता है ॥ ८४ ॥

दृगुपहत्यपमृत्युविरूपताः शमयते परनिर्जरसेविता ।
अतिशयान्ध्यवपुःक्षतिपाण्डुताः स्मर ! भवन्ति भवन्तमुपासितुः ॥

"हे कामदेव, तेरे सिवाय अन्य देवताओं के सेवक का अंधत्व अकाल-मरण तथा विरूपता शान्त हो जाती है पर तेरी उपासना करने वाले को अत्यन्त अंधत्व, शरीर की कृशता तथा पाण्डु रोग हो जाते हैं ॥ ८५ ॥

स्मर ! नृशंसतमस्त्वमतो विधिः सुमनसः कृतवान् भवदायुधम् ।
यदि धनुर्दृढमाशुगमायसं तव सृजेत् प्रलयं त्रिजगद्व्रजेत् ॥८६॥

"हे कामदेव, तू बड़ा ही नृशंस है इस कारण ब्रह्मा ने फूलों को तेरा आयुध बनाया है। यदि वह तेरे धनुष को दृढ़ तथा बाणों को लोहे के बनाता तो तीनों लोकों का प्रलय हो गया होता ॥ ८६ ॥

स्मररिपोरिव रोपशिखी पुरां दहतु ते जगतामपि मा त्रयम् ।
इति विधिस्त्वदिषून् कुसुमानि किं मधुभिरन्तरसिञ्चदनिर्वृतः ॥८७॥

"हे कामदेव, जैसे महादेव की बाणाग्नि ने दैत्यों के तीनों नगरों को जलाया था उसी तरह तेरी बाणाग्नि से तीनों लोक नहीं जले इससे ब्रह्मा ने चिन्तित होकर तेरे बाण रूप फूलों के मध्य में मधु भर दिया है ॥ ८७ ॥

त्रिधिरनंशमभेद्यमवेक्ष्य ते जनमनः खलु लक्ष्यमकल्पयत् ।
अपि स वज्रमदास्यत चेत्तदा त्वदिषुभिर्व्यदलिष्यदसावपि ?॥ ८८॥

"ब्रह्मा ने देखा कि मनुष्यों के मन के भीतर कोई घुस नहीं सकता उसके हिस्से नहीं हो सकते। यह देखकर ही उसने उस मन को तेरा बनाया है। अगर ब्रह्मा वज्र को भी तेरा लक्ष्य बनाता तो वह भी तेरे से विदीर्ण हो जाता ॥ ८८ ॥

अपि विधिः कुसुमानि तवाशुगान् स्मर ! विधाय न निर्वृतिमाप्तवान्
अदित पञ्च हि ते स नियम्य तांस्तदपि तैर्बत जर्जरितं जगत्

"हे कामदेव, विधाता फूलों को तेरा बाण बनाकर भी सुखी नहीं हुआ इससे फूलों को गिनकर उसने तुझे पाँच ही फूल दिये। उनसे भी तूने त्रि को खंडित कर दिया ॥ ८९ ॥

उपहरन्ति न कस्य सुपर्वणः सुमनसः कति पञ्च सुरद्रुमाः।
तव तु हीनतया पृथगेकिकां धिगियतापि न तेऽङ्ग ! विगर्हणा॥९

"हे कामदेव, मन्दार आदि पाँचों वृक्ष किस देवता को कितने फूल देते हैं ? देवताओं में भी तू अत्यन्त हीन है इससे तुझे प्रत्येक ने एक एक फूल दिया। इससे भी तुझे लज्जा नहीं आई ? ॥ ९० ॥

कुसुममप्यतिदुर्नयकारि ते किमु वितीर्य धनुर्विधिरग्रहीत्।
किमकृतैष तवैकतदास्पदे द्वयमभूदधुनापि नलभ्रुवोः ॥९१

"विधाता ने कुसुम रूप धनुष तुझे देकर क्या उसे वापिस ले लि लेकिन तेरा धनुष लेकर भी विधाता ने तेरा क्या कर लिया क्योंकि अ एक के स्थान में नल की दो भौहें हैं ॥ ९१ ॥

षडृतवः कृपया स्वकमेककं कुसुममक्रमनन्दितनन्दनाः।
ददति षड् भवते, कुरुते भवान् धनुरिवैकमिषूनिव पञ्च तैः ॥९

साथ साथ नन्दन वन को आनन्द देने वाली छः ऋतुओं ने अपना एक फूल कृपा कर के तुझे दिया। उन छः कुसुमों से तू एक को धनुष पाँच को बाण बनाता है ॥९२॥

यदतनुस्त्वमिदं जगते हितं क्व स मुनिस्तव यः सहते क्षतीः ।
विशिखमाश्रवणं परिपूर्य चेदविचलद्भुजमुज्झितुमीशिषे ॥९३॥

"हे कामदेव, तू शरीर-रहित है इससे संसार का बड़ा हित है। शरीर-धारी होने पर तो तू बाण को कान तक तान कर अपनी भुजा मजबूत करके छोड़ने को समर्थ होता तब ऐसा कौन मुनि है जो तेरे आघात को सहता॥ ९३॥

सह तया स्मर! भस्म झटित्यभूः पशुपतिं प्रति यामिषुमग्रहीः ।
ध्रुवमभूदधुना वितनोः शरस्तव पिकस्वर एव स पञ्चमः ॥९४॥

"हे कामदेव, महादेव के प्रति लक्ष्य करके तूने जिस बाण को ग्रहण किया था उस बाण के साथ ही तू एकाएक भस्म कर दिया गया। शरीर-रहित होने से तेरा कोकिल का पञ्च[१]म स्वर ही (एकमात्र) बाण है॥९४॥

स्मर! स मद्दुरितैरफलीकृतो भगवतोऽपि भवद्दहनश्रमः ।
सुरहिताय हुतात्मतनुः पुनर्ननु जनुर्दिवि तत्क्षणमापिथ ॥९५॥

"हे कामदेव, महादेव ने तेरा दाह करने में जो श्रम किया था उसे भी मेरे पापों ने निष्फल कर दिया क्योंकि देवताओं के हित के लिए अपने शरीर को त्याग कर तूने उनके प्रसाद से स्वर्ग में फिर जन्मधारण कर लिया॥९५॥

विरहिणो विमुखस्य विधूदये शमनदिक्पवनः स न दक्षिणः ।
सुमनसो नमयन्नटनौ धनुस्तव तु बाहुरसौ यदि दक्षिणः ॥९६॥

"चन्द्रमा के उदय के समय दुःखित हुए विरही को मलयानिल (अर्थात् दक्षिण दिशा की पवन) दक्षिण (=सुखकर) नहीं होती। यदि उसे दक्षिण होने का अभिमान है (क्योंकि वह दक्षिण दिशा से आती है) तो पुष्प-मय धनुष के अग्रभाग को झुकाती तेरी बाहु भी दक्षिण है॥९६॥

१—कामदेव के शरीर-रहित होने से उसका बाण भी शरीर-रहित होकर कोकिल के पञ्चम स्वर में परिणत हो गया।

२—आशय यह है कि मलयानिल तथा तेरी बाहु दोनों एक सी हैं विरह में दोनों दुःसह होती हैं।

किमु भवन्तमुमापतिरेककं मदमुदन्धमयोगिजनान्तकम्।
यदजयत्तत एव न गीयते स भगवान् मदनान्धकमृत्युजित्॥

"महादेव ने गर्व के हर्ष से अंधे तथा वियोगियों का अन्त करने वाले तुझ अकेले पर विजय प्राप्त की। उसी से क्या उनको मदन, अन्धक और मृत्यु का जीतने वाला तो नहीं कहते हैं? ॥९७॥

त्वमिव कोऽपि परापकृतौ कृती न ददृशे न च मन्मथ! श्रुतः।
स्वमदहद्दहनाज्ज्वलतात्मना ज्वलयितुं परिरभ्य जगन्ति यः॥

"हे कामदेव, परोपकार में तेरे समान कोई कुशल न तो देखा और सुना क्योंकि तीनों लोकों का आलिङ्गन करके उन्हें जलाने के लिए तूने आप को जला डाला ॥९८॥

त्वमुचितं नयनार्चिषि शम्भुना भुवनशान्तिकहोमहविः कृतः।
तव वयस्यमपास्य मधुं मधुं हतवता हरिणा बत किं कृतम्॥

"तुझे महादेव ने नेत्र की ज्वाला में संसार की पीड़ा की शान्ति के ध्येय से किये गये होम के लिए ठीक ही हव्य बनाया था। विष्णु ने तेरे मित्र मधु को छोड़कर मधु नामक दैत्य को मारकर क्या किया? ॥९९॥"

इति कियद्वचसैव भृशं प्रियाधरपिपासु तदाननमाशु तत्।
अजनि पांसुलमप्रियवाग्ज्वलन्मदनशोषणबाणहतेरिव ॥१००॥

प्रिय के अधर-चुम्बन का अभिलाषी दमयन्ती का मुख पूर्वोक्त वचनों से ही शीघ्र ऐसा शुष्क हो गया मानों अप्रिय वाणी से क्रुद्ध हुए कामदेव के शोषण बाण से हुआ हो ॥१००॥

१—महामारी आदि की पीड़ा की शान्ति के लिए अग्नि में हवि डाल करके होम किया जाता है। तेरी उत्पन्न की हुई पीड़ा की शान्ति के लिए तुझे उचित हवि समझकर महादेव ने नयनाग्नि में डाल दिया। यह उन्होंने बहुत ठीक किया। पर विष्णु ने तेरे मित्र मधु (= वसन्त) को छोड़ मधु नाम दैत्य को मार कर कुछ भी नहीं किया!

प्रियसखीनिवहेन सहाथ सा व्यरचयद्गिरमर्धसमस्यया ।
हृदयमर्मणि मन्मथसायकैः क्षततमा बहु भाषितुमक्षमा ॥१०१॥

इसके अनन्तर दमयन्ती अपनी सहेलियों के साथ सखी के भाषण की आधी समस्या का उत्तरार्ध बोली क्योंकि उसके हृदय-मर्म में कामदेव के बाणों ने प्रहार कर दिया था और वह बहुत बोलने में असमर्थ थी ॥१०१॥

अकरुणादव सूनशरादसून् सहजयाऽऽपदि धीरतयात्मनः ।
असव एव ममाद्य विरोधिनः कथमरीन् सखि ! रक्षितुमात्थ माम् ॥१०२॥

(सखी)—सखि, तू आपत्ति में स्वाभाविक धैर्य का सहारा लेकर निर्दय कामदेव से अपने प्राणों की रक्षा कर ।

(दमयन्ती)—सखि, आज प्राण ही मेरे वैरी हैं । तुम वैरी की रक्षा करने को कैसे कह रही हो ? ॥१०२॥

हितगिरं न शृणोषि किमाश्रवे ! प्रसभमप्यव जीवितमात्मनः ।
सखि ! हिता यदि मे भवसीदृशी मदरिमिच्छसि या मम जीवितम् ॥१०३॥

(सखी)—तू तो सदा हमारा वचन मानती है फिर अब हमारा वचन क्यों नहीं सुनती ? बलात्कार से भी अपने प्राणों की रक्षा कर ।

(दमयन्ती)—सखि, जो तुम मेरे वैरी प्राणों को चाहती हो तो फिर तुम मेरी हित चाहने वाली कैसे हो ? ॥१०३॥

अमृतदीधितिरेष विदर्भजे ! भजसि तापममुष्य किमंशुभिः ? ।
यदि भवन्ति मृताः सखि ! चन्द्रिकाः शशभृतः क तदा परितप्यते ॥१०४॥

(सखी)—दमयन्ती, सामने यह चन्द्रमा है । क्या तुझे इसकी किरणों से दाह होता है ?

(दमयन्ती)—सखि, यदि चन्द्रमा की चाँदनी की मृत्यु हो जाय तो फिर संताप नहीं हो ॥१०४॥

व्रज धृतिं त्यज भीतिमहेतुकामयमचण्डमरीचिरुदञ्चति ।
ज्वलयति स्फुटमातपमुर्मुरैरनुभवं वचसा सखि ! लुम्पसि ॥१०५॥

(सखी)—दमयन्ती, धैर्य धारण कर। बिना कारण मत डर। च
का उदय होता है।

(दमयन्ती)—सखि, यह गरम अग्नि-कणों से मुझे जलाता है।
वचनों से अनुभव का लोप करती हो।।१०५॥

अयि! शपे हृदयाय तवैव तद्यदि विधोर्न रुचेरसि गोचरः।
रुचिफलं सखि! दृश्यत एव यज्ज्वलयति त्वचमुल्ललयत्यसून्॥१०

(सखी)—दमयन्ती, यदि तू चाँदनी का अनुभव नहीं करती है
मैं तेरे हृदय की शपथ खाकर कहती हूँ कि यह चन्द्रमा ही है।

(दमयन्ती)—सखि, इसका फल तो यही है कि खाल जलती है
प्राण चलायमान हो रहे हैं॥१०६॥

विधुविरोधितिथेरभिधायिनीमयि! न किं पुनरिच्छसि कोकिलाम्।
सखि! किमर्थगवेषणया गिरं किरति सेयमनर्थमयीं मयि॥१०

(सखी)—चन्द्र से विरोध करने वाली तिथि का शब्द करने
कोकिल को फिर तू क्यों नहीं चाहती है?

(दमयन्ती)—सखि, अर्थ की खोज करने से क्या होता है। इ
वाणी से तो मेरा अनर्थ होता है॥१०७॥

हृदय एव तवास्ति स वल्लभस्तदपि किं दमयन्ति! विषीदसि?।
हृदि परं न वहिः खलु वर्तते सखि! यतस्तत एव विषद्यते॥१०

(सखी)—दमयन्ती, तेरा प्यारा तो तेरे हृदय में ही है! फिर तू
खेद करती है?

(दमयन्ती)—सखि, वह हृदय में है पर बाहर नहीं है इसी से
खेद होता है॥१०८॥

स्फुटति हारमणौ मदनोष्मणा हृदयमप्यनलङ्कृतमद्य ते।
सखि! हतास्मि तदा यदि हृद्यपि प्रियतमः स मम व्यवधापितः॥१०

१—कोकिल 'कुहू' शब्द करती है जिसका अर्थ अमावस्या है।

(सखी)—कामदेव की पैदा की गई गरमी से तेरे हार का मणि टूट गया है। इससे तेरा हृदय भी अ[1]नलंकृत (= अलंकार–विहीन) हो गया है।

(दमयन्ती)—सखि, यदि मेरा प्रियतम हृदय में भी नहीं है तब तो मैं मर चुकी ॥१०९॥

इदमुदीर्य तदैव मुमूर्च्छ सा मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका।
क सहतामवलम्बलवच्छिदामनुपपत्तिमतीमतिदुःखिता ॥११०॥

यों कहते ही हृदय में काम रूप अग्नि के बढ़ने से उसे मूर्च्छा आ गई। अत्यन्त दुःखित हुई वह झूठी भी आशा के लेश की हानि कैसे सह सकती ? ॥११०॥

अधित कापि मुखे सलिलं सखी प्यधित कापि सरोजदलैः स्तनौ।
व्यधित कापि हृदि व्यजनानिलं न्यधित कापि हिमं सुतनोस्तनौ ॥१११॥

किसी सखी ने अत्यन्त कृश दमयन्ती के मुँह पर पानी डाला। किसी ने कमल के पत्तों से स्तनों को ढँका। किसी ने हृदय पर पंखे से हवा की। किसी ने शरीर पर चंदन लगाया ॥१११॥

उपचचार चिरं मृदुशीतलैर्जलजनालमृणालजलादिभिः।
प्रियसखीनिवहः स तथा क्रमादियमवाप यथा लघु चेतनाम् ॥११२॥

उसकी प्रिय सखियों ने कोमल तथा शीतल कमल के नाल, मृणाल तथा जल आदि से चिरकाल तक ऐसा उपचार किया कि जिससे उसे कुछ चेतना आई ॥११२॥

अथ कले ! कलय श्वसिति स्फुटं चलति पक्ष्म चले ! परिभावय।
अधरकम्पनमुन्नय मेनके ! किमपि जल्पति कल्पलते ! शृणु ॥११३॥
रचय चारुमते ! स्तनयोर्वृतिं कलय केशिनि ! कैश्यमसंयतम्।
अवगृहाण तरङ्गिणि नेत्रयोर्जलझराविति शुश्रुविरे गिरः ॥११४॥

तब ऐसे वचन सुने गये—

१—अर्थान्तर—अनलंकृत = नल से रहित।

कला, देखले यह दमयन्ती साफ साफ साँस लेती है। चला, देख ले इ पलक चलते हैं। मेनका, देख इसके होठ फड़कते हैं। कल्पलता, सुन ले कुछ कहती है। चारुमति, इसके स्तन ढँक दे। केशिनि, इसके केश बाँध दे तरंगिणी, आँखों से निकलते हुए आँसूओं को पोंछ दे ॥११३-११४॥

कलकलः स तदालिजनाननादुदजसद्विपुलस्त्वरितेरितैः।
यमधिगम्य सुतालयमेतवान् धृतदरः विदर्भपुरन्दरः ॥११५

इस तरह के वचनों से सखियों में बड़ा कोलाहल हुआ तब उसे सुन भय से राजा भीम राजकुमारी के भवन में आया ॥११५॥

कन्यान्तःपुरबोधनाय यदधीकारान्न दोषा नृपं
द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तावूचतुः।
देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं
स्यादस्या नलदं विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षमः ॥११६

राजा के प्रधानमंत्री तथा वैद्य—जिनके प्रबन्ध के कारण कन्या अन्तःपुर में निद्रा तथा शरीर में रोग नहीं आ सकते थे—राजा से ए वचन कहने लगे। मन्त्री ने कहा—हे महाराज, सुनिए। दूतों के द्वारा विश्वस्त सूत्र से मुझे सब रहस्य मालूम हो गया है। किसी ऐसे उपाय सिवाय कि जिससे उसे नल की प्राप्ति हो अन्य किसी प्रकार उसका नही मिटेगा। वैद्य ने कहा—महाराज, सुनिये। सुश्रुत तथा चरक के से मैंने सब जान लिया है। नलद औषध के विना अन्य किसी प्रकार उ संताप नहीं मिटेगा ॥११६॥

ताभ्यामभूद्युगपदप्यभिधीयमानं भेदव्ययाकृति मिथःप्रतिघातमेव।
श्रोत्रे तु तस्य पपतुर्नृपतेर्न किञ्चिद्भैम्यामनिष्टशतशङ्कितयाकुलस्य ॥११

उन दोनों के द्वारा एक समय में ही कहे गये एक-से वचन आप

१—नलद = खस; अर्थान्तर—नल को देनेवाला उपाय।

एक दूसरे से भिन्न थे पर दमयन्ती के सैकड़ों अनिष्टों की शंका से व्याकुल हुए राजा के कान में एक का भी वचन नहीं पड़ा ॥११७॥

द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नामपि तनयां नृपतिः पदप्रणम्राम् ।
अकलयदसमाशुगाधिमग्नां झटिति पराशयवेदिनो हि विज्ञाः ॥११८॥

राजा का आगमन सुनकर शीघ्र वियोग के चिन्ह दूर करके दमयन्ती राजा के चरणों में पड़ गई तब राजा ने उसे कामदेव की पीड़ा से संतप्त जाना क्योंकि जाननेवाले झट दूसरों का आशय समझ लेते हैं ॥११८॥

व्यतरदथ पिताशिषं सुतायै नतशिरसे सहसोन्नमय्य मौलिम् ।
दयितमभिमतं स्वयंवरे ! त्वं गुणमयमाप्नुहि वासरैः कियद्भिः ॥११९॥

प्रणाम के बाद नीचे मस्तक वाली दमयन्ती का मस्तक भीम ने शीघ्र हाथों से ऊपर उठाया और आशीर्वाद दिया कि हे कुमारी, तुम थोड़े दिन में ही स्वयंवर में बड़े गुणी अभिमत बल्लभ को प्राप्त करोगी ॥११९॥

तदनु स तनुजासखीरवादीत्तुहिनऋतौ गत एव हीदृशीनाम् ।
कुसुममपि शरायते शरीरे तदुचितमाचरतोपचारमस्याः ॥१२०॥

फिर राजा ने सखियों से कहा कि शिशिर ऋतु के जाते ही ऐसी तरुणाङ्गियों के शरीर में पुष्प भी बाण की तरह पीड़ा पहुँचाता है इससे इसका उचित उपचार करना ॥१२०॥

कतिपयदिवसैर्वयस्यया वः स्वयमभिलष्य वरिष्यते वरीयान् ।
कृशिमशमनयानया तदाप्तुं रुचिरुचिताथ भवद्विधाभिधाभिः ॥१२१॥

दमयन्ती की सखियो, तुम्हारी सखी दमयन्ती अपनी इच्छा के अनुसार अत्यन्त श्रेष्ठ वर दो तीन दिन में अपने आप अङ्गीकार करेगी । इस कारण कृशता दूर होकर तुम जैसी सखियों के उपचार से इसकी पूरी शोभा फिर आ जानी चाहिए ॥१२१॥

एवं यद्वदता नृपेण तनया नापृच्छि लज्जास्पदं
तन्मोहः स्मरभूरकल्पि वपुषः पाण्डुत्वतापादिभिः ।

यच्चाशीः कपटादवादि सदृशी स्यात्तत्र या सान्त्वना
तन्मत्वालिजनो मनोऽब्धिमतनोदानन्दमन्दाक्षयोः॥१२...

इस तरह कहते भीम ने-राजकुमारी को जिससे लज्जा हो ऐसे कारण न... पूछे। उसका पीलापन, ज्वर तथा अन्य कारणों से जान लिया कि कामदेव... द्वारा मूर्च्छा आ गई थी। आशीर्वाद के बहाने समाधान करने के लिए उसने... कुछ कहा उससे सखियों का मन सब समझकर आनन्द तथा लज्जा के समुद्र... डूब गया ॥१२२॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तुर्यः स्थैर्यविचारणप्रकरणभ्रातर्ययं तन्महा-
काव्येऽत्र व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः॥१२३॥

कविराजों की पंक्ति के मुकुटों के अलङ्कार रूप हीरे श्री हीर नामक पि... तथा मामल्ल देवी नामक माता ने जिस जितेन्द्रिय श्री हर्ष नामक पुत्र... उत्पन्न किया उसके—स्थैर्यविचारण प्रकरण के सहोदर—नल-चरित महाका... में चतुर्थ सर्ग समाप्त हुआ ॥१२३॥

पञ्चमः सर्गः।

यावदागमयतेऽथ नरेन्द्रान् स स्वयंवरमहाय महीन्द्रः।
तावदेव ऋषिरिन्द्रदिदृक्षुर्नारदस्त्रिदशधाम जगाम ॥१॥

जब तक राजा भीम ने स्वयंबर के महोत्सव के लिए राजाओं की प्रती... की तब तक इन्द्र से मिलने के अभिप्राय से नारद मुनि स्वर्ग को गये ॥१॥

नात्र चित्रमनु तं प्रययौ यत्पर्वतः स खलु तस्य सपक्षः।
नारदस्तु जगतो गुरुरुच्चैर्विस्मयाय गगनं विललङ्घे ॥२॥

पर्वत नामक ऋषि नारद के पीछे पीछे गये। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं...

क्योंकि वह नारद के मित्र थे पर संसार के गुरु नारद ने आकाश का उल्लंघन किया—इसमें बड़ा[१] आश्चर्य है ॥२॥

गच्छता पथि विनैव विमानं व्योम तेन मुनिना विजगाहे।
साधने हि नियमोऽन्यजनानां योगिनां तु तपसाखिलसिद्धिः ॥३॥

विमान के बिना ही जाते हुए मुनि आकाश में तैरने लगे। अन्य लोगों का ही सवारी में जाने का नियम है। योगियों की सब सिद्धि तो तप से ही हो जाती है। ॥३॥

खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानान् लंघते स्म मुनिरेष विमानान्।
अर्थितोऽप्यतिथितामनुमेने नैव तत्पतिभिरंघ्रिविनम्रैः ॥४॥

नारद मुनि इन्द्र-भवन आदि के अभिमान के खण्डन करनेवाले विमानों का अतिक्रमण करके चले। वैमानिकों ने चरणों में पड़कर विमानों में चढ़ने का आतिथ्य स्वीकार करने की प्रार्थना की तो भी उन्होंने अङ्गीकार नहीं किया ॥४॥

तस्य तापनभिया तपनः स्वयं तावदेव समकोचयदर्चिः।
यावदेष दिवसेन शशीव द्रागतप्यत न तन्महसैव ॥५॥

सूर्य ने, नारद को सन्ताप होने के भय से, अपने उतने तेज का सङ्कोच कर लिया जितने से दिन के तेज से सन्तप्त चन्द्रमा की भाँति, वह भी नारद के तेज से शीघ्र सन्तप्त न हो ॥५॥

पर्यभूद्दिनमणिर्द्विजराजं यत्करैरहह तेन तदा तम्।
पर्यभूत् खलु करैर्द्विजराजः कर्म कः स्वकृतमत्र न भुङ्क्ते ? ॥६॥

जैसे सूर्य द्विजराज[२] को किरणों से जीत लेता है उसी तरह अन्य द्विजराज[३]

१ अचल होने की वजह से पर्वत सरक नहीं सकते। पर यहाँ पर्वत (=ऋषि) नारद के पीछे गये। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं हुआ। आश्चर्य वास्तव में इसमें हुआ कि जगत् के गुरु (=आचार्य तथा जगत् का भार धारण करने वाले) नारद ने आकाश का उल्लंघन किया। भारी होने से उनका आकाश को उल्लंघन करना ही आश्चर्य-जनक था।

२ चन्द्रमा। ३ ब्राह्मणश्रेष्ठ नारद।

ने अपने तेज से उस समय सूर्य को जीत लिया सो ठीक ही किया क्योंकि लोक में अपने किये हुए काम का फल कौन नहीं भोगता ? ॥६॥

विष्टरं तटकुशालिभिरद्भिः पाद्यमर्घ्यमथ कच्छरुहाभिः।
पद्मवृन्दमधुभिर्मधुपर्कं स्वर्गसिन्धुरदितातिथयेऽस्मै ॥७॥

मन्दाकिनी ने अभ्यागत हुए नारद के लिए अपने तट पर पैदा हुई कुशों की पंक्ति से आसन, जल से पाद्य, पुष्पित लताओं से अर्घ की वस्तुएँ और कमलों के समूह के मकरन्द से मधुपर्क दिया ॥७॥

स व्यतीत्य वियदन्तरगाधं नाकनायकनिकेतनमाप।
सम्प्रतीर्य भवसिन्धुमनादिं ब्रह्म शर्मभरचारु यतीव ॥८॥

मध्य में विशाल आकाश का अतिक्रमण करके नारद इन्द्र के भवन में इस भाँति पहुँचे जैसे यति, अनादि संसार-समुद्र का पार करके, आनन्द की राशि से सुन्दर ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥८॥

अर्चनाभिरुचितोच्चतराभिश्चारु तं सदकृतातिथिमिन्द्रः।
यत्त्वदर्हकरणं किल साधोः प्रत्यवायधुतये न गुणाय ॥९॥

इन्द्र ने जैसा होना चाहिये उससे भी अधिक उत्तम उपचार से अतिथि का अच्छी तरह सत्कार किया। अतिथियों का जैसा उचित है केवल वैसा आदर करने से पाप तो मिट जाता है पर उसमें कुछ गुण नहीं है ॥९॥

नामधेयसमतासखमद्रेरद्रिभिन्मुनिमथाद्रियत द्राक्।
पर्वतोऽपि लभतां कथमर्चां न द्विजः स विबुधाधिपलम्भी ?॥१०॥

फिर पर्वतों के काटने वाले इन्द्र ने नाम की समता से पर्वतों के मित्र हुए पर्वत मुनि की शीघ्र ही पूजा की। वह ब्राह्मण-रूप पर्वत भी इन्द्र के यहाँ जाकर पूजा क्यों न प्राप्त करता ? (क्योंकि सज्जन घर आये हुए शत्रु की भी पूजा करते हैं) ॥१०॥

तद्भुजादतिवितीर्णसपर्याद्द्योद्रुमानपि विवेद मुनीन्द्रः।
स्वःसहस्थितिसुशिक्षितया तान् दानपारमितयैव वदान्यान् ॥११॥

मुनीन्द्र को इसका भी ज्ञान था कि कल्पवृक्षों ने अपनी बड़ी

दानशीलता इन्द्र के अत्यन्त दान-शील हाथों से खूब सीखी है क्योंकि वे स्वर्ग में इन्द्र के साथ रहते हैं ॥११॥

मुद्रितान्यजनसङ्कथनः सन्नारदं बलरिपुः समवादीत् ।
आकरः स्वपरभूरिकथानां प्रायशो हि सुहृदोः सहवासः ॥१२॥

अन्य सब के साथ बातचीत रोककर इन्द्र ने नारद के साथ बातचीत की क्योंकि मित्र आपस में मिलते हैं तब प्रायः विस्तृत रूप से अपने तथा पराये विषय में उनकी बातचीत होती है ॥१२॥

तं कथानुकथनप्रसृतायां दूरमालपनकौतुकितायाम् ।
भूभृतां चिरमनागमहेतुं ज्ञातुमिच्छुरवदच्छतमन्युः ॥१३॥

बातचीत करने के शौकीन इन्द्र ने बातचीत के सिलसिले में नारद से पूछा कि पृथ्वी के राजा स्वर्ग में बहुत दिन से क्यों नहीं आये हैं ? ॥१३॥

प्रागिव प्रसुवते नृपवंशाः किंनु सम्प्रति न वीरकरीरान् ।
ये परप्रहरणैः परिणामे विक्षताः क्षितितले निपतन्ति ॥१४॥

हे मुनि, जैसे बाँसों में अंकुर पैदा होते हैं उसी तरह राजा पहले की तरह वीरों को क्या अब पैदा नहीं करते हैं जो पूरी जवानी में वैरियों के हाथ से क्षत होकर भूमि में गिरते हों ॥१४॥

पार्थिवं हि निजमाजिषु वीरा दूरमूर्ध्वगमनस्य विरोधि ।
गौरवाद्वपुरपास्य भजन्ते मत्कृतामतिथिगौरवऋद्धिम् ॥१५॥

पार्थिव शरीरों को संग्राम में छोड़कर वीर मेरे अतिथि-सत्कार की समृद्धि प्राप्त करते हैं । अन्यथा उनके शरीरों को गुरुत्व के कारण ऊपर जाने में बड़ी अड़चन होती है ॥१५॥

साभिशापमिव नातिथयस्ते मां यदद्य भगवन्नुपयान्ति ।
तेन न श्रियमिमां बहुमन्ये स्वोदरैकभृतिकार्यकदर्याम् ॥१६॥

भगवन्, वे अतिथि मुझे अभिशाप के समान छोड़कर अब नहीं आते हैं इससे मैं इस लक्ष्मी को निष्प्रयोजन होने से कुछ नहीं समझता क्योंकि यह अब सिर्फ मेरे पेट भरने के काम आती है इससे यह निन्दित है ॥१६॥

पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धाः श्रीभरा विपद एव विमृष्टाः।
पात्रपाणिकमलार्पणमासां तासु शान्तिकविधिर्विधिदृष्टः ॥१७

मुने, पूर्व जन्म किये हुए पुण्य के माहात्म्य का नाश होने से प्राप्त के विलास, विचार करने से, विपत्ति रूप मालूम होते हैं। इस कारण सुपात्र के कर कमल में अर्पण करना उस विपत्ति की शान्ति करता है- शास्त्र की विधि है ॥१७॥

तद्विमृज्य मम संशयशिल्पि स्फीतमत्र विषये सहसाघम्।
भूयतां भगवतः श्रुतिसारैरद्य वाग्भिरघमर्षणऋग्भिः ॥१८

भगवन्, आपके वचन वेद के सार हैं। वेद की पाप नाशक ऋच समान अब मेरे मन में इस विषय में संदेह उत्पन्न करने वाले इकट्ठे पा उन्हें शीघ्र नष्ट करना चाहिये ॥१८॥

इत्युदीर्य मघवा विनयर्धिं वर्धयन्न वहितत्वभरेण।
चक्षुषां दशशतीमनिमेषां तस्थिवान् मुनिमुखे प्रणिधाय ॥१९

यों कहकर इन्द्र सावधानता की अधिकता से विनय की समृद्धि को ब निमेष-रहित सहस्रनेत्रों को मुनि के मुख की ओर करके चुप हो गये ॥१९

वीक्ष्य तस्य विनये परिपाकं पाकशासनपदं स्पृशतोऽपि।
नारदः प्रमदगद्गदयोक्त्या विस्मितः स्मितपुरःसरमाख्यत् ॥२०

इन्द्र के पद पर अधिष्ठित होकर भी उसके विनय का प्रकर्ष दे विस्मित हो नारद ने हर्ष से गद्गद् हुई वाणी से मुसकराहट के कहा-- ॥२०॥

भिक्षिता शतमखी सुकृतं यत्तत्परिश्रमविदः स्वविभूतौ।
तत्फले तव परं यदि हेला क्लेशलब्धमधिकादरदं तु ॥२१

१ पुण्य का क्षय होता है तब सम्पत्ति प्राप्त होती है और पाप का क्षय हो तब विपत्ति आती है। पात्र में दान के बिना मुझे संतोष नहीं होता क्योंकि दा ही पुण्य-क्षय से प्राप्त हुई संपत्ति रूपी विपत्ति की शांति होती है।

इन्द्र, सौ यज्ञ करके जो पुण्य उपार्जन किया उसके आभास का तुमने अनुभव किया है। अगर कोई है तो तुम अकेले ही हो जो उस आभास के फल से प्राप्त हुए धन की परवाह नहीं करते हो, यद्यपि जो वस्तु दुःख से प्राप्त होती है उससे अधिक अनुराग होता है ॥२१॥

सम्पदस्तव गिरामपि दूरा यन्न नाम विनयं विनयन्ते ।
श्रद्दधाति क इवेह न साक्षादाह चेदनुभवः परमाप्तः ॥२२॥

तुम्हारी-वाणी से अगोचर-संपत्ति भी यथार्थ में तुम्हारे विनय को नहीं घटाती है—इसपर, जो साक्षात् अनुभव कुछ न कहे तो, कौन विश्वास करेगा ? ॥२२॥

श्रीभरानतिथिसात्करवाणि स्वोपभोगपरता न हितेति ।
पश्यतो बहिरिवान्तरपीयं दृष्टिसृष्टिरधिका तव कापि ॥२३॥

इन्द्र, तुम्हारी दृष्टि की शक्ति बहुत अधिक है इससे तुम अन्तःकरण तथा बाहर भी देखते हो। क्योंकि तुम कहते हो कि मैं संपत्ति के समूह को अतिथियों के अधीन कर दूँ तथा अपने ही आप उपभोग करना श्रेयस्कर नहीं होता है ॥२३॥

आः स्वभावमधुरैरनुभावैस्तावकैरतितरां तरलाः स्मः ।
द्यां प्रसाधि गलितावधिकालं साधु साधु विजयस्व विडौजः! ॥२४॥

इन्द्र, हम तुम्हारे—स्वभाव से सुन्दर—अनुभवों से अत्यन्त चकित हुए हैं। तुम असीम काल तक स्वर्ग का भली भाँति पालन करो तथा तुम्हारी खूब उन्नति हो ॥२४॥

सङ्ख्यविक्षततनुस्रवदस्रक्षालिताखिलनिजाघलघूनाम् ।
यत्त्विहानुपगमः शृणु राज्ञां तज्जगद्युवमुदं तमुदन्तम् ॥२५॥

इन्द्र, जिस कारण लड़ाई में शरीर निहत होनेसे गिरे हुए रुधिर के द्वारा अपने सब पाप के धुल जाने से हल्के हुए राजा लोग स्वर्ग में नहीं आते उस प्रसिद्ध समाचार को सुनो, जिससे त्रिलोकी के युवकों को सन्तोष होता है ॥२५॥

सा भुवः किमपि रत्नमनर्घं भूषणं जयति तत्र कुमारी।
भीमभूपतनया दमयन्ती नाम या मदनशस्त्रममोघम् ॥२६॥

भीम राजा की एक कुमारी दमयन्ती है जो अत्यन्त प्रख्यात है। वह पृथ्वी का भूषण, कोई अमूल्य रत्न और अमोघ कामास्त्र है ॥२६॥

सम्प्रति प्रतिमुहूर्तमपूर्वा कापि यौवनजवेन भवन्ती।
आशिखं सुकृतसारभृते सा कापि यूनि भजते किल भावम् ॥२७॥

वह दमयन्ती किसी युवक से आज कल अनुराग करती है—यह सुना जाता है। वह तारुण्य के भार के वेग से प्रतिक्षण अपूर्व सुन्दरी हो रही है। वह युवक भी नख से लेकर चोटी तक पुण्य के सार से पूर्ण है ॥२७॥

कथ्यते न कतमः स इति त्वं मां विवक्षुरसि किं चलदोष्ठः।
अर्धवर्त्मनि रुणत्सि न पृच्छां निर्गमेण न परिश्रमयैनाम् ॥२८॥

इन्द्र, तुम अपने चलायमान ओष्ठ से क्यों मुझसे पूछा चाहते हो कि वह कौन है? तुम आधे रास्ते में ही अपने प्रश्न को रोक लो। तुम इस प्रश्न को मुख से बाहर करने का श्रम मत करो ॥२८॥

यत्पथावधिरणुः परमः सा योगिधीरपि न पश्यति यस्मात्।
बालया निजमनःपरमाणौ ह्रीदरीशयहरीकृतमेनम् ॥२९॥

परमाणु तक योगी की बुद्धि का विषय होता है—उससे परे कुछ नहीं। पर उस युवक को मुझ जैसे योगियों की बुद्धि भी नहीं देख सकती है क्योंकि उसे इस बाला ने अपने मनरूप परमाणु में लज्जारूपी कन्दरा के भीतर सोने वाले सिंह के समान रख छोड़ा है ॥२९॥

सा शरस्य कुसुमस्य शरव्यं सूचिता विरहवार्चिभिरङ्गैः।
तातचित्तमपि धातुरधत्त स्वस्वयंवरमहाय सहायम् ॥३०॥

विरह-पीड़ा की सूचना देनेवाले अङ्गों से वह कामदेव के बाणका निशाना हो गई है। उसने अपने स्वयम्बर के उत्सव के लिए अपने पिता के चित्त को भी विधाता का सहायक बनाया है ॥३०॥

मन्मथाय यदथादित राज्ञां हूतिदूत्यविधये विधिराज्ञाम् ।
तेन तत्परवशाः पृथिवीशाः सङ्गरं गरमिवाकलयन्ति ॥३१॥

विधाता ने राजाओं को बुलाने के लिए दूत का काम करने को कामदेव को आज्ञा दी । इससे काम की आज्ञा के अधीन राजा लोग संग्राम को विष की बराबर मानते हैं ॥३१॥

येषु येषु सरसा दमयन्ती भूषणेषु यदि वापि गुणेषु ।
तत्र तत्र कलयापि विशेषो यः स हि क्षितिभृतां पुरुषार्थः ॥३२॥

दमयन्ती जिन जिन भूषणों अथवा जिन जिन गुणों का आदर करती है उनके लेश में भी विशेषता प्राप्त करना ही राजाओं का पुरुषार्थ है ॥३२॥

शैशवव्ययदिनावधि तस्या यौवनोदयिनि राजसमाजे ।
आदरादहरहः कुसुमेषोरुल्ललास मृगयाभिनिवेशः ॥३३॥

कामदेव का शिकार का आदर युवक राजाओं के समूह में दमयन्ती के यौवन के उदय के आरम्भ से प्रतिदिन प्रकट होता है ॥३३॥

इत्यमी वसुमतीकमितारः सादरास्त्वदतिथीभवितुं न ।
भीमभूसुरभुवोरभिलाषे दूरमन्तरमहो नृपतीनाम् ॥३४॥

ये पृथ्वी के चाहने वाले राजा लोग तुम्हारे अतिथि नहीं होना चाहते । इनकी दमयन्ती के प्राप्त करने की तथा स्वर्ग जाने की इच्छा में बड़ा अन्तर है ॥३४॥

तेन जाग्रदधृतिर्दिवमागां संख्यसौख्यमनुसर्तुमनु त्वाम् ।
यन्मृधं क्षितिभृतां न विलोके तन्निमग्नमनसां भुवि लोके ॥३५॥

इन्द्र, मैं दमयन्ती में आसक्त चित्तवाले राजाओं का पृथ्वी पर संग्राम नहीं देखता हूँ इससे मुझे बड़ा असन्तोष हो गया है और मैं युद्ध के सुख को देखने के लिए तुम्हारे पास स्वर्ग में आया हूँ ॥३५॥

वेद यद्यपि न कोऽपि भवन्तं हन्त हन्त्रकरुणं विरुणद्धि ।
पृच्छ्यसे तदपि येन विवेकप्रोञ्छनाय विषये रससेकः ॥३६॥

तुम घातकों के प्रति अकरुण हो इस कारण कोई भी तुम्हारे साथ विरोध

नहीं करता है यह मैं जानता हूँ तथापि मैं तुमसे पूछता हूँ क्योंकि अभी
वस्तु में अनुराग की अधिकता के कारण ज्ञान का अभाव हो जाता है ॥३६॥

एवमुक्तवति देवऋषीन्द्रे द्रागभेदि मघवाननमुद्रा ।
उत्तरोत्तरशुभो हि विभूनां कोऽपि मञ्जुलतमः क्रमवादः ॥३७॥

नारद ने यों कहा तब इन्द्र के मुख का मौन शीघ्र चला गया। बड़े
आदमियों की अत्यन्त रमणीय बातचीत उत्तरोत्तर अच्छी होती है ॥३७॥

कातुले मम निजे दनुजारौ जाग्रति स्वशरणे रणचर्चा ।
यद्भुजाङ्कमुपधाय जयाङ्कं शर्मणा स्वपिमि वीतविशङ्कः ॥३८॥

जबतक शत्रुओं के नाशक तथा मेरे रक्षक मेरे छोटे भाई विष्णु जागते
तबतक मेरा लड़ाई करने का कोई विचार नहीं है। उनके—विजय से अङ्कि
हाथ के तकिये के सहारे मैं बिना किसी भय के सुख से सोता हूँ ॥३८॥

विश्वरूपकलनादुपपन्नं तस्य जैमिनिमुनित्वमुदीये ।
विग्रहं मखभुजामसहिष्णुर्व्यर्थतां मदशनिं स निनाय ॥३९॥

हे मुने, मेरे अनुज विष्णु ने विश्वरूप धारण किया है अतः उनका जैमि
रूप होना भी उचित ही है। यज्ञभाग भोग करने वाले देवताओं के वि
(=युद्ध तथा शरीर) को न चाहने वाले विष्णु ने (सम्पूर्ण दैत्यों का सुद
चक्र से नाश करके एवं जैमिनिरूप[1] से देवताओं को मन्त्रात्मक सिद्ध करके
मेरा वज्र ही व्यर्थ कर दिया है ॥३९॥

ईदृशानि मुनये विनयाब्धिस्तस्थिवान् स वचनान्युपहृत्य ।
प्रांशुनिःश्वसितपृष्ठचरी वाङ् नारदस्य निरियाय निरोजाः ॥४०॥

अत्यन्त विनीत इन्द्र ऐसे वचन कहकर चुप हो गया। तब नारद
दीर्घ निःश्वास के अनन्तर ये दीन वचन कहे—॥४०॥

स्वारसातलभवाहवशङ्की निर्वृणोमि न वसन् वसुमत्याम् ।
द्यां गतस्य हृदि मे दुरुदर्कः क्ष्मातलद्वयभटाजिवितर्कः ॥४१॥

१—जैमिनिकृत पूर्वमीमांसा के अनुसार मन्त्र ही सब कुछ है, वे ही देवता
अलग देवताओं की कोई सत्ता नहीं।

इन्द्र, भूलोक में रहकर मैं स्वर्ग तथा पाताल में हुए युद्ध की शङ्का से सुखी नहीं रहता हूँ। स्वर्ग में आने पर भी मेरे हृदय में भूमि तथा पाताल के योद्धाओं के संग्राम की सम्भावना रहती है पर वह अन्त में सची नहीं निकलती ॥४१॥

वीक्षितस्त्वमसि मामथ गन्तुं तन्मनुष्यजगतेऽनुमनुष्व ।
किं भुवः परिवृढा न विवोढुं तत्र तामुपगता विवदन्ते ॥४२॥

इन्द्र, मैंने तुमको देख लिया। अब मुझे मनुष्य लोक में जाने की अनुमति दो। वहाँ दमयन्ती को व्याहने के लिए आये हुए राजा लोग क्या लड़ेंगे नहीं ? ॥४२॥

इत्युदीर्य स ययौ मुनिरुर्वीं स्वर्पतिं प्रतिनिवर्त्य बलेन ।
वारितोऽप्यनुजगाम सयत्नं तं कियन्त्यपि पदान्यपराणि ॥४३॥

यों कहकर मुनि इन्द्र को जबरदस्ती लौटा कर पृथ्वी की ओर चले। निषेध करने पर भी इन्द्र यत्न करके दो तीन कदम नारद के पीछे गये ॥४३॥

पर्वतेन परिपीय गभीरं नारदीयमुदितं प्रतिनेदे ।
स्वस्य कश्चिदपि पर्वतपक्षच्छेदिनि स्वयमदर्शि न पक्षः ॥४४॥

पर्वत मुनि ने नारद के कहे हुए गम्भीर वचन को सादर सुनकर उनका अभिनन्दन किया, लेकिन पर्वतों के पक्ष काटनेवाले इन्द्र के विषय में उन्होंने अपना कोई पक्ष प्रदर्शित नहीं किया ॥४४॥

पाणये वलरिपोरथ भैमीशीतकोमलकरग्रहणार्हम् ।
भेषजं चिरधृताशनिवासव्यापदामुपदिदेश रतीशः ॥४५॥

फिर कामदेव ने इन्द्र के हाथ के लिए बहुत काल तक वज्र लेने से पैदा हुए रोग को दूर करने में समर्थ—दमयन्ती के शीतल तथा कोमल हाथ को ग्रहण करने की औषधि का आदेश दिया ॥४५॥

नाकलोजभिषजोः सुषमा या पुष्पचापमपि चुम्बति सैव ।
वेद्मि तादृगभिषज्यदसौ तद्द्वारसंक्रमितवैद्यकविद्यः ॥४६॥

स्वर्ग के वैद्यों में जो शोभा थी वही शोभा कामदेव की थी। अपने

शोभारूपी द्वार से संक्रान्त होकर वैद्यक विद्या के आ जाने से वह कामदेव वैद्य होकर चिकित्सा करने लगा ॥४६॥

मानुषीमनुसरत्यथ पत्यौ खर्वभावमवलम्ब्य मघोनी ।
खण्डितं निजमसूचयदुच्चैर्मानमाननसरोरुहनत्या ॥४७॥

पति को नीचत्व प्राप्त करके मानुषी के पास जाता देखकर इन्द्राणी मुख कमल नीचा करके अपने बड़े अहङ्कार का खण्डित होना सूचित करती थी ॥४७॥

यो मघोनि दिवमुच्चरमाणे रम्भया मलिनिमालमलम्भि ।
वर्ण एव स खलूज्ज्वलदस्याः शान्तमन्तरमभाषत भङ्ग्या ॥४८॥

रम्भा ने इन्द्र को स्वर्ग छोड़कर जाता देख जो अत्यन्त मलिनता प्राप्त की वही निःश्वास पूर्वक रम्भा के हर्षयुक्त हृदय को आकार विशेष से दुःखयुक्त प्रकट करती थी ॥४८॥

जीवितेन कृतमप्सरसां तत्प्राणमुक्तिरिह युक्तिमती नः ।
इत्यनक्षरमवाचि घृताच्या दीर्घनिःश्वसितनिर्गमनेन ॥४९॥

घृताची लम्बे लम्बे निःश्वासों के द्वारा बिना अक्षरों के ही बोली कि इस समय हम अप्सराओं का जीवन वृथा है। अब तो हमारा मरना ही ठीक है ॥४९॥

साधु नः पतनमेवमितः स्यादित्यभण्यत तिलोत्तमयापि ।
चामरस्य पतनेन कराब्जात्तद्विलोलनचलद्भुजनालात् ॥५०॥

चामर के झलने से चञ्चल हुई भुजारूप नालवाले कर-कमल से चामर गिर पड़ने से तिलोत्तमा ने भी कहा कि इस स्वर्ग से हमारा चामर के समान पतन ही ठीक है ॥५०॥

मेनका मनसि तापमुदीतं यत्पिधित्सुरकरोदवहित्थाम् ।
तत्स्फुटं निजहृदः पुटपाके ... ॥५१॥

मेनका ने मन में उत्पन्न हुए विरह-ज्वर को ढँकने की इच्छा से अ

को छिपाने का उद्योग किया जिससे उसके हृदय-पुट में जो पाक था उसपर उसने ऊपर से गीली मट्टी की पुलटिस[1] ही बाँधी ॥५१॥

उर्वशी गुणवशीकृतविश्वा तत्क्षणस्तिमितभावनिभेन ।
शक्रसौहृदसमापनसीम्नि स्तम्भकार्यमपुषद्वपुषैव ॥५२॥

गुणों से संसार को वश में करने वाली उर्वशी ने उसी समय निश्चल होने के बहाने शरीर से ही इन्द्र के स्नेह की समाप्ति की सीमा में स्तम्भ का कार्य प्रकट किया ॥५२॥

कापि कामपि बभाण बुभुत्सुं शृण्वति त्रिदशभर्तरि किञ्चित् ।
एष कश्यपसुतामभिगन्ता पश्य कश्यपसुतः शतयज्ञः ॥५३॥

कोई अप्सरा किसी से जो यह जानने की उत्सुक थी कि क्या बात है— हँसी में कहने लगी, जिसे इन्द्र ने भी कुछ कुछ सुना—देख, यह कश्यप-सुत—सौ यज्ञ करने वाला इन्द्र—कश्यपसुता[2] के पास जायगा ॥५३॥

आलिमात्मसुभगत्वसगर्वा कापि शृण्वति मघोनि बभाषे ।
वीक्षणेऽपि सघृणासि नृणां किं यासि न त्वमपि सार्थगुणेन? ॥५४॥

अपने सौन्दर्य पर गर्व करनेवाली कोई अप्सरा इन्द्र जिसमें सुन सके इस तरह एक सखी से कहने लगी—तू मनुष्यों को देखने से भी क्यों घृणा करती है ? क्या तू भी साथ नहीं जायगी ? ॥५४॥

अन्वयुर्द्युपतयः पितृनाथास्तं मुदाथ हरितां कमितारः ।
वर्त्म कर्षतु पुरः परमेकस्तद्गतानुगतिको न महार्घः ॥५५॥

फिर वह्नि, वरुण और यम दिक्पाल, इन्द्र के साथ हर्ष-पूर्वक गये । केवल एक पहले रास्ता कर दे । उसके पीछे जानेवाले दुर्लभ नहीं हैं ॥५५॥

१—साक्षात् पाक में तो तत्काल विनाश हो जाता है और चिरकाल तक दुःख नहीं सहना पड़ता । पुट-पाक में विनाश का अभाव होने से दुःख सहन करना पड़ता है ।

२—पृथ्वी ; मद्यप-कन्या ।

प्रेषिताः पृथगथो दमयन्त्यै चित्तचौर्यचतुरा निजदूत्यः ।
तद्गुरुं प्रति च तैरुपहाराः संख्यसौख्यकपटेन निगूढाः ॥५६॥

इसके बाद उन्होंने अपनी—चित्त चुराने में चतुर—जुदी जुदी दूतियें दमयन्ती के पास भेजीं । उसके पिता के पास संग्राम जीतने के सन्तोष के बहाने गुप्त रूप से दिव्य उपहार भेजे ॥५६॥

चित्रमत्र विबुधैरपि यत्तैः स्वर्विहाय बत भूरनुसस्रे ।
द्यौर्न काचिदथवास्ति निरूढा सैव सा चरति यत्र हि चित्तम् ॥५७॥

यह आश्चर्य है कि देवता भी स्वर्ग छोड़कर पृथ्वी पर आये, अथवा यह ठीक ही है क्योंकि स्वर्ग का कोई इजारा नहीं है, जहाँ हृदय जाय वहीं स्वर्ग है ॥५७॥

शीघ्रलङ्घितपथैरथ वाहैर्लम्भिता भुवममी सुरसाराः ।
वक्रितोन्नमितकन्धरबन्धाः शुश्रुवुर्ध्वनितमध्वनि दूरम् ॥५८॥

इन देवताओं ने मार्ग में दूर बड़ा शब्द सुना तथा ग्रीवा को पहले टेढ़ी फिर ऊँची उठाकर घोड़ों ने शीघ्र रास्ता तै करके उन्हें पृथ्वी पर पहुँचा दिया ॥५८॥

किं घनस्य जलधेरथवैवं ? नैव संशयितुमप्यलभन्त ।
स्यन्दनं परमदूरमपश्यन्निःस्वनश्रुतिसहोपनतं ते ॥५९॥

यह शब्द मेघ का है या समुद्र का ? —इसका सन्देह करने में भी देवताओं ने समय नहीं लिया पर शब्द सुनने के समय ही केवल एक रथ को पास आते देखा ॥५९॥

सूतविश्रमदकौतुकिभावं भावबोधचतुरं तुरगाणाम् ।
तत्र नेत्रजनुषः फलमेते नैषधं बुबुधिरे विबुधेन्द्राः ॥६०॥

देवताओं ने नेत्रों के जन्म के फल—नल—को उस रथ में जाना । नल को अपने सारथी को विश्राम देने का कुतूहल था तथा वह घोड़ों के हृदय का आशय जानने में चतुर था ॥६०॥

वीक्ष्य तस्य वरुणस्तरुणत्वं यद्बभार निबिडं जडभूयम् ।
नौचिती जलपतेः किमु सास्य प्राज्यविस्मयरसस्तिमितस्य ॥६१॥

उस समय वरुण नल की जवानी देखकर जड़ तथा चिन्ता से स्तब्ध हो गया । नल के सौन्दर्य का अवलोकन करने से अत्यन्त आश्चर्य होने के कारण निश्चल हुए वरुण को क्या यह उचित नहीं था ? ॥६१॥

रूपमस्य विनिरूप्य तथातिम्लानिमाप रविवंशवतंसः ।
कीर्त्यते यदधुनापि स देवः काल एव सकलेन जनेन ॥६२॥

सूर्य-वंश-भूषण यम नल के रूप को देखकर बिलकुल काला पड़ गया जिससे सब लोग अब भी उसको काल (=कृष्ण वर्ण) कहते हैं ॥६२॥

यद्बभार दहनः खलु तापं रूपधेयभरमस्य विमृश्य ।
तत्र भूदनलता जनिकर्त्री मा तदप्यनलतैव तु हेतुः ॥६३॥

नल के सौन्दर्य का बाहुल्य देखकर अग्नि को ताप हुआ । इसका कारण यह नहीं था कि वह अनल (=अग्नि) है पर वह स्वयं नल नहीं है ॥६३॥

कामनीयकमधःकृतकामं काममक्षिभिरवेक्ष्य तदीयम् ।
कौशिकः स्वमखिलं परिपश्यन् मन्यते स्म खलु कौशिकमेव ॥६४॥

कौशिक (=इन्द्र) कामदेव का तिरस्कार करने वाले नल के सौन्दर्य को अपने हजार नेत्रों से खूब देखकर तथा फिर अपने आपको देखकर निश्चय-पूर्वक अपने को कौशिक (=उलूक) मानने लगा ॥६४॥

रामणीयकगुणाद्वयवादं मूर्तमुत्थितममुं परिभाव्य ।
विस्मयाय हृदयानि वितेरुस्तेन तेषु न सुराः प्रबभूवुः ॥६५॥

देवताओं ने नल को उदय हुए मूर्तिमान् सौन्दर्य गुण का एक ही रूप विचार कर अपने हृदयों को आश्चर्य के हवाले कर दिया जिससे उनपर देव-ताओं का अधिकार नहीं रहा ॥६५॥

मैयरूपकविशेषनिवेशैः संवदद्भिरमराः श्रुतपूर्वैः ।
एष एव स नलः किमितीदं मन्दमन्दमितरेतरमूचुः ॥६६॥

देवता पहले सुने गये गुण उसमें पाकर आपस में धीरे-धीरे एक ही कहने लगे—"क्या यह नल है ?" ॥६६॥

तेषु तद्विधवधूवरणार्हं भूषणं स समयः स रथाध्वा।
तस्य कुण्डिनपुरं प्रतिसर्पन् भूपतेर्व्यवसितानि शशंसुः ॥६७॥

इन्द्र आदि ने इन कारणों से नल के उद्योग को जाना कि यह दमयन्ती को वरण करने का इरादा रखता है—दमयन्ती के योग्य भूषण, स्वयंवर का समय तथा कुण्डिनपुर को जाने वाले मार्ग में रथ ॥६७॥

धर्मराजशलिलेशहुताशैः प्राणतां श्रितममुं जगतस्तैः।
प्राप्य हृष्टचलविस्तृततापैश्चेतसा निभृतमेतदचिन्ति ॥६८॥

यम, वरुण तथा अग्नि ने जगत् के प्राण के समान प्रिय नल को पाकर क्रम से हर्षित, चंचल तथा तापयुक्त होकर भीतर ही भीतर चिन्ता की ॥६८॥

नैव नः प्रियतमोभयथासौ यद्यमुं न वृणुते वृणुते वा।
एकतो हि धिगमूमगुणज्ञामन्यतः कथमदःप्रतिलम्भः ॥६९॥

(यम की चिन्ता) दमयन्ती नल का वरण न करेगी अथवा करेगी। दोनों ही तरह से वह मेरी प्रियतमा नहीं होगी क्योंकि अगर वरण न करे तो (नलके) गुण न जाननेवाली दमयन्ती को धिक्कार है और वरण कर लेगी तो मुझे उसकी प्राप्ति हो ही कैसे सकती है ? ॥६९॥

मां वरिष्यति तदा यदि मत्तो वेद नेयमियदस्य महत्त्वम्।
ईदृशी च कथमाकलयित्री मद्विशेषमपरान्नृपपुत्री ॥७०॥

(वरुण की चिन्ता) दमयन्ती मेरे साथ विवाह तब करेगी जब वह मेरी अपेक्षा अधिक महत्त्व नहीं जानेगी। पर वह राजकुमारी उसकी अपेक्षा मेरा अधिक महत्त्व कैसे जानेगी ? ॥७०॥

नैषधे बत वृते दमयन्त्या व्रीडितो हि न बहिर्भवितास्मि।
स्वां गृहेऽपि वनितां कथमास्यं ह्रीनिमीलि खलु दर्शयिताहे ॥७१॥

(अग्नि की चिन्ता) अगर दमयन्ती नल का वरण करती है तो लज्जित

ही केवल मैं लज्जित नहीं हूँगा पर घर में भी अपना लज्जा से संकुचित मुख मैं अपनी पत्नी को कैसे दिखाऊँगा ? ॥७१॥

इत्यवेत्य मनसात्मविधेयं किञ्चन त्रिविबुधी बुबुधे न ।
नाकनायकमपास्य तमेकं सा स्म पश्यति परस्परमास्यम् ॥७२॥

तीनों देवता इस प्रकार मनमें सोचकर यह न निश्चय कर सके कि क्या करना चाहिये; केवल इन्द्र को छोड़कर वे आपस में एक दूसरे का मुँह देखने लगे ॥७२॥

किं विधेयमधुनेति विमुग्धं स्वानुगाननमवेक्ष्य ऋभुक्षाः ।
शंसति स्म कपटे पटुरुच्चैर्वञ्चनं समभिलष्य नलस्य ॥७३॥

अब क्या करना चाहिये ? —यह बात न सूझने से भ्रान्त हुए देवताओं का मुख देखकर—कपट में अत्यन्त कुशल—इन्द्र ने चिल्लाकर इस तरह कहा जिससे नल को धोखा हो ॥७३॥

सर्वतः कुशलभागसि कच्चित्त्वं स नैषध इति प्रतिभा नः ।
स्वासनार्धसुहृदस्त्वयि रेखां वीरसेननृपतेरिव विद्मः ॥७४॥

कहो, क्या तुम्हारे राज्य में सब कुशल है ? हमें अनुमान होता है कि तुम नल हो क्योंकि हम अपने आधे आसन पर स्थित वीरसेन[1] मित्र की शोभा तुममें देखते हैं ॥७४॥

क प्रयास्यसि नलेत्यलमुक्त्वा यात्रयात्र शुभयाजनि यन्नः ।
तत्तयैव फलसत्वरया त्वं नाध्वनोऽर्धमिदमागमितः किम् ? ॥७५॥

नल, तुम किस देश को जाओगे ?—यह प्रश्न ठीक नहीं है क्योंकि तुम्हारे मिलने से हमारी पृथ्वी की यात्रा शुभ हो गई है । जिधर जाना है उसी यात्रा में क्या तुम आधे रास्ते नहीं आ गये हो ? ॥७५॥

एष नैषध ! स दण्डभृदेष ज्वालजालजटिलः स हुताशः ।
यादसां स पतिरेष च शेषं शासितारमवगच्छ सुराणाम् ॥७६॥

१ नल का पिता ।

नल, यह यम है। यह ज्वाला के जालों से जटिल अग्नि है। यह
है। बचे हुए को मुझे तुम इन्द्र जानो ॥७६॥

अर्थिनो वयममी समुपैमस्त्वां नलेति फलितार्थमवेहि।
अध्वनः क्षणमपास्य च खेदं कुर्महे भवति कार्यनिवेदम् ॥७७॥

नल, हम सब तुम्हारे सन्मुख अर्थी होकर आये हैं। हमारे कहने का
यही तात्पर्य है। क्षण भर में मार्ग का खेद दूर करके हम तुम्हारे समीप
अपने कार्य का निवेदन करेंगे ॥७७॥

ईदृशीं गिरमुदीर्य विडौजा जोषमाप न विशिष्य बभाषे।
नात्र चित्रमभिधाकुशलत्वे शैशवावधि गुरुर्गुरुरस्य ॥७८॥

यों कहकर इन्द्र चुप हो गया और उसने कोई खास बात नहीं कही।
इस तरह के वचन-कौशल के विषय में कुछ आश्चर्य नहीं है क्योंकि
पन से ही इन्द्र बृहस्पति का शिष्य रहा है ॥७८॥

अर्थिनामहृषिताखिललोमा स्वं नृपः स्फुटकदम्बकदम्बम्।
अर्चनार्थमिव तच्चरणानां स प्रणामकरणादुपनिन्ये ॥७९॥

"अर्थी" नाम सुनने से नल का रोम रोम हर्षित हो गया और
प्रणाम के प्रयोजन से उनके चरणों की पूजा के लिए रोमाञ्चित होने के
विकसित कदम्ब के समूह के समान अपने को उनके हवाले किया ॥७९॥

दुर्लभं दिगधिपैः किममीभिस्तादृशं कथमहो मदधीनम्।
ईदृशं मनसि कृत्य विरोधं नैषधेन समशायि चिराय ॥८०॥

दिक्पालों को क्या दुर्लभ है? और जो दुर्लभ है वह मेरे अधीन
हो सकता है? यह आश्चर्य है! इस प्रकार मनमें विचार कर नल ने बहुत
तक संशय किया ॥८०॥

जीवितावधि वनीपकमात्रैर्याच्यमानमखिलैः सुलभं यत्।
अर्थिने परिवृढाय सुराणां किं वितीर्य परितुष्यतु चेतः ॥८१॥

जब प्रार्थी मेरा जीवन तक जो चाहें माँग कर सुख से ले सकते हैं

देवताओं के राजा इन्द्र को क्या देकर मेरा चित्त सन्तुष्ट हो? ॥८१॥

भीमजा च हृदि मे परमास्ते जीवितादपि धनादपि गुर्वी ।
न स्वमेव मम सार्हति यस्याः षोडशीमपि कलां किल नोर्वी ॥८२॥

दमयन्ती का महत्त्व मेरे जीवन तथा धन से भी अधिक है और केवल वही मेरे हृदय में है भी । वह मेरी नहीं है तथा पृथ्वी उसके सोलहवें हिस्से के बराबर भी नहीं है ॥८२॥

मीयतां कथमभीप्सितमेषां दीयतां कथमयाचितमेव ।
तं धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः ॥८३॥

देवताओं का अभीप्सित मैं कैसे जान सकता हूँ ? बिना माँगे मैं कैसे दे सकता हूँ ? जो प्रार्थियों की इच्छा जान कर भी उनके कहने के अवसर की प्रतीक्षा करता है वह मनुष्य निन्दा के योग्य है ॥८३॥

प्रापितेन चटुकाकुविडम्बं लम्भितेन बहुयाचनलज्जाम् ।
अर्थिना यदघमर्जति दाता तन्न लुम्पति विलम्ब्य ददानः ॥८४॥

याचकों से विनीत प्रार्थना तथा खुशामद कराकर तथा बार बार याचना होने से लज्जा को प्राप्त दाता को देर से दान देने से जो पातक होता है वह दूर नहीं हो सकता ॥८४॥

यत्प्रदेयमुपनीय वदान्यैर्दीयते सलिलमर्थिजनाय ।
याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कात्रासमूर्च्छदपमृत्युचिकित्सा ॥८५॥

जो वस्तु देनी हो उसे पास लाकर दाताओं के द्वारा याचकों को जो संकल्प का जल दिया जाता है वह याचकों के वचन विफल होने की शङ्का के भय से मूर्च्छा होकर अकाल मृत्यु होने की चिकित्सा है ॥८५॥

अर्थिने न तृणवद्धनमात्रं किन्तु जीवनमपि प्रतिपाद्यम् ।
एवमाह कुशवज्जलदायी द्रव्यदानविधिरुक्तिविदग्धः ॥८६॥

याचक को केवल अपना धन ही नहीं बल्कि अपना जीवन भी तृण समान दे देना चाहिए । यह दान सम्बन्धी विधि का आशय है जिसके अनुसार कुश के साथ जल देने का विधान है ॥८६॥

पङ्कसङ्करविगर्हितमर्हं न श्रियः कमलमाश्रयणाय।
अर्थिपाणिकमलं विमलं तद्वासवेश्म विदधीत सुधीस्तु ॥८७॥

पङ्क से निन्दित कमल लक्ष्मी के योग्य नहीं होता इसलिए पण्डितों को याचकों के निर्मल कर-कमलों को लक्ष्मी के रहने का स्थान बनाना चाहिये ॥८७॥

याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय बत जन्म न यस्य।
तेन भूमिरतिभारवतीयं न द्रुमैर्न गिरिभिर्न समुद्रैः ॥८८॥

जिस मनुष्य का जन्म याचकों के मनोरथ पूर्ण करने में समर्थ नहीं है उससे जितना भार भूमि को होता है उतना न वृक्षों से होता है, न पर्वतों से, न समुद्रों से ॥८८॥

मा धनानि कृपणः खलु जीवन् तृष्णयार्पयतु जातु परस्मै।
तत्र चैष कुरुते मम चित्रं यत्तु नार्पयति तानि मृतोऽपि ॥८९॥

लोभ के कारण, कृपण पुरुष जीते जी भले ही अपना धन किसी को न दे परन्तु हमें तो आश्चर्य इसी बात का है कि वह मर कर भी अपना धन किसी को नहीं देता ॥८९॥

माममीभिरिह याचितवद्भिर्दातृजातमवमत्य जगत्याम्।
यद्यशो मयि निवेशितमेतन्निष्क्रयोऽस्तु कतमस्तु तदीयः ॥९०॥

इस भूलोक में अनेक दानियों को छोड़ कर मुझसे याचना करने वाले ऐसे इन्द्र आदि ने जो मेरी कीर्ति बढ़ाई इसके बदले में क्या दिया जा सकता है? ॥९०॥

लोक एष परलोकमुपैता हा विहाय निधने धनमेकः।
इत्यमुं खलु तदस्य निनीषत्यर्थिबन्धुरुदयद्दयचित्तः ॥९१॥

मनुष्य मरण होने पर धन छोड़कर अकेला ही परलोक जायगा—यह बड़ा कष्ट है। यह सोचकर उसके मित्र—याचकों के मनमें दया का संचार हो जाता है और वे उसके धन को परलोक में ले जाना चाहते हैं ॥९१॥

१ अर्थान्तर:—अपना सारा धन राजा को समर्पण कर देता है।

दानपात्रमधमर्णमिहैकग्राहि कोटिगुणितं दिवि दायि।
साधुरेति सुकृतैर्यदि कर्तुं पारलौकिककुसीदमसीदत् ॥९२॥

जो दान स्वीकार करता है वह अधमर्ण कहाता है। वह इस संसार में एक वस्तु लेता है और स्वर्ग में करोड़ गुना दिया चाहता है। केवल एक भला आदमी ही अपने अच्छे कर्मों के कारण स्वर्ग में यह वृद्धि-जीविका करता है ॥ ९२ ॥

एवमादि स विचिन्त्य मुहूर्तं तानवोचत पतिर्निषधानाम्।
अर्थिदुर्लभमवाप्य सहर्षान् याच्यमानमुखमुल्लसितश्रि ॥९३॥

तब यों क्षणभर विचार कर और यजमान का मुख शोभित देखकर—जिसको देखना याचकों को दुर्लभ होता है—हर्षित हुए इन्द्रादि से नल ने कहा ॥९३॥

नास्ति जन्यजनकव्यतिभेदः सत्यमन्नजनितो जनदेहः।
वीक्ष्य वः खलु तनूममृतादं दृङ्निमज्जनमुपैति सुधायाम् ॥९४॥

कार्य कारण में अत्यन्त भेद नहीं है। जन का शरीर अन्न से पैदा होता है। आपके अमृतभक्षण करने वाले शरीरों को देखकर मेरी दृष्टि अमृत में निमज्जन करती है ॥ ९४ ॥

मत्तपः क नु तनु क फलं वा यूयमीक्षणपथं व्रजथेति।
ईदृशान्यपि दधन्ति पुनर्नः पूर्वपूरुषतपांसि जयन्ति ॥९५॥

कहाँ तो मेरा जरा सा तप और कहाँ आपके दृष्टि गोचर होने का फल! ऐसे फल को देने वाले मेरे पूर्व पुरुषों के तप ही हैं ॥९५॥

प्रत्यतिष्ठिपदिलां खलु देवीं कर्म सर्वसहनव्रतजन्म।
यूयमप्यहह पूजनमस्या यन्निजैः सृजथ पादपयोजैः ॥९६॥

सब भार सहन करने के नियम से उत्पन्न हुए पुण्य से यह भूमि देवी हो गई है। यह बड़ा आश्चर्य है कि आप भी अपने चरण-कमलों से इसका आदर करते हैं ॥ ९६ ॥

जीवितावधि किमप्यधिकं वा यन्मनीषितमितो नरडिम्भात्।
तेन वश्चरणमर्चतु सोऽयं नूनं वस्तु पुनरस्तु किमीदृक्? ॥९७॥

जीवन तक या उससे अधिक भी जो वस्तु मुझ बालक से आपको की इच्छा हो उससे यह आपके चरणों की पूजा करेगा । कहिये, वह वस्तु है ? ॥ ९७ ॥

एवमुक्तवति मुक्तविशङ्के वीरसेनतनये विनयेन ।
वक्रभावविषमामथ शक्रः कार्यकैतवगुरुर्गिरमूचे ॥९८॥

शंकारहित नल ने विनयपूर्वक यों कहा तब अपना काम बनाने कपटियों का गुरु इन्द्र वक्रोक्ति से विषम वाणी बोला— ॥९८॥

पाणिपीडनमहं दमयन्त्याः कामयेमहि महीमिहिकांशो ! ।
दूत्यमत्र कुरु नः स्मरभीतिं निर्जितस्मर ! चिरस्य निरस्य ॥९९॥

हे पृथ्वी में चन्द्र, हम सब दमयन्ती के साथ विवाह का उत्सव चाहते हैं। हे कामदेव के जीतने वाले, चिरकाल तक कामदेव से हमारा भय दूर करके मामले में तुम दूत का काम करो ॥९९॥

आसते शतमधिक्षिति भूपास्तोयराशिरसि ते खलु कूपाः ।
किं ग्रहा दिवि न जाग्रति ते ते भास्वतस्तु कतमस्तुलयास्ते ? ॥१००॥

नल, पृथ्वी में सैकड़ों राजा हैं पर तुम समुद्र हो और वे कूप हैं । स्वर्ग क्या वहुत से ग्रह नहीं हैं पर सूर्य के समान कौनसा ग्रह है ? ॥१००॥

विश्वदृश्वनयना वयमेते त्वद्गुणाम्बुधिमगाधमवेमः ।
त्वामिहैवमनिवेश्य रहस्ये निर्वृतिं न हि लभेमहि सर्वे ॥१०१॥

हमारे नेत्र सब देखते हैं । हम जानते हैं कि तुम्हारे गुणों का समुद्र गम्भीर है । हम सब इस रहस्य में तुम्हें दूत न बना कर सुख को प्राप्त होंगे ॥१०१॥

शुद्धवंशजनितोऽपि गुणस्य स्थानतामनुभवन्नपि शक्रः ।
क्षिप्नुरेनमृजुमाशु सपक्षं सायकं धनुरिवाजनि वक्रः ॥१०२॥

इन्द्र कश्यप कुल में उत्पन्न हुआ था और उसमें अच्छे अच्छे गुण थे भी वह शुद्ध आचार वाले अपने मित्र नल को धोखा देने के लिए कुटिल

गया जैसे अच्छे बाँस का बना तथा डोरी से युक्त धनुष सीधा तथा पंखयुक्त बाण छोड़ने के लिए टेढ़ा हो जाता है ॥१०२॥

तेन तेन वचसैव मघोनः स स वेद कपटं पटुरुच्चैः।
आचरत्तदुचितामथ वाणीमार्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः ॥१०३॥

अत्यन्त चतुर नल ने इन्द्र के वचनों से कपट जान लिया और उसके योग्य हो उत्तर दिया क्योंकि कुटिल पुरुषों के साथ अकपट रहना नीति नहीं है ॥१०३॥

सेयमुच्चतरता दुरितानामन्यजन्मनि मयैव कृतानाम्।
युष्मदीयमपि या महिमानं जेतुमिच्छति कथापथपारम् ।१०४॥

हे देवताओ, जन्मान्तर में मेरे किये हुए पापों का यह फल हैं कि मैं आपके वाणी के अगोचर—माहात्म्य को भी अतिक्रमण करना चाहता हूँ॥१०४॥

वित्थ चित्तमखिलस्य न कुर्यां धुर्यकार्यपरिपन्थि तु मौनम्।
ह्रीगिरास्तु वरमस्तु पुनर्मा स्वीकृतैव परवागपरास्ता ॥१०५॥

यद्यपि आप सबके चित्त को जानते हैं तो भी उसके प्रतिकूल में मौन धारण नहीं करूँगा। चाहे भाषण करने से लज्जा भले ही हो पर चुप रहने से आप यह न समझें कि मैंने इस काम को स्वीकार कर लिया है ॥१०५॥

यन्मतौ विमलदर्पणिकायां सम्मुखस्थमखिलं खलु तत्त्वम्।
तेऽपि किं वितरथेदृशमाज्ञां या न यस्य सदृशी वितरीतुम् ॥१०६॥

निर्मल दर्पण के समान आपकी बुद्धि में सब वस्तुएँ प्रत्यक्ष हो जाती हैं तो भी आप ऐसी आज्ञा मुझे देते हैं जो नहीं देनी चाहिए ॥१०६॥

यामि यामिह वरीतुमहो तद्दूततां तु करवाणि कथं वः ?।
ईदृशां न महतां बत जाता वञ्चने मम तृणस्य घृणापि ॥१०७॥

जिसका वरण करने के लिए मैं स्वयं जा रहा हूँ उसके विषय में आपका दूत मैं कैसे हूँगा ? आश्चर्य है कि आप इतने बड़े दिक्पाल हैं तो भी तृण के समान मुझे धोखा देने में आपको घृणा नहीं हुई ॥१०७॥

उद्भ्रमामि विरहान्मुहुरस्या मोहमेमि च मुहूर्तमहं यः।
ब्रूत वः प्रभवितास्मि रहस्यं रक्षितुं स कथमीदृगवस्थः ? ॥१०८॥

दमयन्ती के विरह से मैं बारबार पागल हो जाता हूँ और बारबार क्षण मात्र को मुझे मूर्च्छा आ जाती है। फिर मैं आपके रहस्य[1] को अन्तःकरण में धारण करने के लिए कैसे समर्थ हूँगा ? यह आपही कहिये ॥१०८॥

यां मनोरथमयीं हृदि कृत्वा यः श्वसिम्यथ कथं स तदग्रे।
भावगुप्तिमवलम्बितुमीशे दुर्जया हि विषया विदुषापि ॥१०९॥

जिस मनोरथमयी दमयन्ती को हृदय में रखकर मैं जीवन धारण करता हूँ उसके सम्मुख अपने भावों को छिपाने में मैं कैसे समर्थ हूंगा क्योंकि बड़े विद्वान् भी विषयों को वश में नहीं कर सकते हैं ॥१०९॥

यामिकाननुपमृद्य च मादृक् तां निरीक्षितुमपि क्षमते कः।
रक्षिलक्षजयचण्डचरित्रे पुंसि विश्वसिति कुत्र कुमारी ? ॥११०॥

इसके अतिरिक्त मेरा-सा कौन चौकीदारों को मार पीट कर रनवास में दमयन्ती को देखने के लिए समर्थ हो सकता है तथा लाखों चौकीदारों का ध्वंस करने से दारुण चरित्र वाले मनुष्य का क्या कुमारी विश्वास कर सकती है ? ॥११०॥

आदधीचि किल दातृकृतार्घं प्राणमात्रपणसीम यशो यत्।
आददे कथमहं प्रियया तत् प्राणतः शतगुणेन पणेन ॥१११॥

दधीचि आदि दानवीरों ने जिस यश के मूल्य की सीमा जीवन तक निर्धारित की है उसे प्राणों से सौ गुना अधिक दमयन्तीरूप मूल्य देकर मैं कैसे स्वीकार करूँगा ? ॥१११॥

अर्थना मयि भवद्भिरिवास्यै कर्तुमर्हति मयापि भवत्सु।
भीमजार्थपरयाचनचाटौ यूममेव गुरवः करणीयाः ॥११२॥

जैसे आपने दमयन्ती के लिए मुझसे प्रार्थना की है उसी तरह मुझे

१—दमयन्ती के कामुक को मुझे दूत बनाना—यही रहस्य है।

आपसे प्रार्थना करना उचित है। दमयन्ती रूप प्रयोजन में तत्पर जो याचना प्रिय वचन हैं उसमें आपको ही मैं गुरु बनाता हूँ ॥११२॥

अर्थिताः प्रथमतो दमयन्तीं यूयमन्वहमुपास्य मया यत्।
ह्रीर्न चेद्व्यतियतामपि तद्वः सा ममापि सुतरां न तदस्तु ॥११३॥

मैंने आपकी प्रतिदिन पूजा करके पहले ही दमयन्ती की प्रार्थना की है। उसका अतिक्रमण करके भी आपको लज्जा नहीं है तो मुझे भी कुछ लज्जा नहीं है ॥११३॥

कुण्डिनेन्द्रसुतया किल पूर्वं मां वरीतुमुररीकृतमास्ते।
व्रीडमेष्यति परं मयि दृष्टे स्वीकरिष्यति न सा खलु युष्मान् ॥११४॥

सुना जाता है कि दमयन्ती ने पहले ही मेरे साथ विवाह करना अंगीकार कर लिया है। वह मुझे दूत की हैसियत से देखकर लज्जित होगी और आपके साथ तो विवाह करेगी ही नहीं ॥११४॥

तत्प्रसीदत विधत्त न खेदं दूत्यमत्यसदृशं हि ममेदम्।
हास्यतैव सुलभा न तु साध्यं तद्विधित्सुभिरनौपयिकेन ॥११५॥

इस कारण दूत बनकर जाना मेरे लिए उचित नहीं है। आप मुझ पर प्रसन्न होकर चित्त में खेद न करें। अनुचित उपाय से मुझे दूत बनाने से आपका उपहास होगा और मनोरथ पूरा नहीं होगा ॥११५॥

ईदृशानि गदितानि तदानीमाकलय्य स नलस्य बलारिः।
शंसति स्म किमपि स्मयमानः स्वानुगाननविलोकनलोलः ॥११६॥

तब इन्द्र इन वचनों पर विचार करके अपने साथियों के मुख देखने में चञ्चल होकर कुछ मुस्कराहट के साथ बोला—॥११६॥

नाभ्यधायि नृपते ! भवतेदं रोहिणीरमणवंशभवेन।
लज्जते न रसना तव वाम्यादर्थिषु स्वयमुरीकृतकाम्या ॥११७॥

नल, चन्द्र के वंश में उत्पन्न हुए तुमने क्या यह सर्व नहीं कहा ?

१—श्लोक १०८ तथा ११५।

याचकों से स्वयं अभिलाषा पूरी करने का वादा[१] करके क्या तुम्हारी जिह्वा लज्जा नहीं आती ॥११७॥

भङ्गुरञ्च वितथं न कथं वा जीवलोकमवलोकयसीमम् ।
येन धर्मयशसी परिहातुं धीरहो चलति धीर ! तवापि ॥११८॥

धीर, क्या तुम इस जीव-लोक को भंगुर तथा मिथ्या नहीं देखते हो ! भी तुम्हारी बुद्धि पुण्य तथा कीर्ति छोड़ना चाहती है । यह आश्चर्य है ! ॥११

कः कुलेऽजनि जगन्मुकुटे वः प्रार्थकेप्सितमपूरि न येन ।
इन्दुरादिरजनिष्ट कलङ्की कष्टमत्र स भवानपि मा भूत् ॥११९॥

जिसने याचकों की अभिलाषा पूरी नहीं की ऐसा कौन सा मनुष्य तु जगत् के अलंकार कुल में उत्पन्न हुआ । इस वंश में सबसे पहला चन्द्रमा कलंकी हुआ । कष्ट है कहीं तुम भी ऐसे ही मत हो जाना ॥११९॥

यापदृष्टिरपि या मुखमुद्रा याचमानमनु या च न तुष्टिः ।
त्वादृशस्य सकलः स कलङ्कः शीतभासि शशकः परमङ्कः ॥१२०॥

याचक के लिए अनादर दिखाना, चुप रहना या असंतोष प्रकट तुम्हारे जैसे दाता के लिए कलंक है । चन्द्रमा में तो केवल खरगोश का है—कलंक नहीं ॥१२०॥

नाक्षराणि पठता किमपाठि प्रस्मृतः किमथवा पठितोऽपि ।
इत्थमर्थिजनसंशयदोलाखेलनं खलु चकार नकारः ॥१२१॥

नल, जब तुम अक्षर पढ़ते थे तब तुमने नकार नहीं पढ़ा था अथवा पढ़कर क्या तुम उसे भूल गये थे ? इस तरह नकार याचक समूहों संशय रूपी झूले में झूलता रहता था ॥१२१॥

अब्रवीत्तमनलः क नलेदं लब्धमुज्झसि यशः शशिकल्पम् ? ।
कल्पवृक्षपतिमर्थिनमित्थं नाप कोऽपि शतमन्युमिहान्यः ॥१२

अग्निने नल से कहा—नल, तुम हाथ में आये हुए चन्द्रमा के समान

१—श्लोक ५।९७ ।

को क्यों छोड़ते हो ? इस लोक में तुम्हारे सिवाय और किसी को कल्पवृक्ष के पति इन्द्र इस तरह याचक होकर प्राप्त नहीं हुए ॥१२२॥

न व्यहन्यत कदापि मुदं यः स्वःसदामुपनयन्नभिलाषः ।
तत्पदे त्वदभिषेककृतां नः स त्यजत्वसमतामदमद्य ॥१२३॥

देवताओं को हर्ष पैदा करने वाली अभिलाषा अपने आप पूर्ण हो जाती थी। उसके स्थान में अभीष्ट साधन के लिए हमने तुम्हारा अभिषेक किया है कि तुम इसे अवश्य पूरा करोगे ! इस कारण हमारी अभिलाषा अब यह गर्व छोड़ दे कि मेरी बराबर काम का पूरा करने वाला अन्य कोई नहीं है ॥१२३॥

अब्रवीदथ यमस्तमहृष्टं वीरसेनकुलदीप ! तमस्त्वाम् ।
यत्किमप्यभिबुभूषति तत्किं चन्द्रवंशवसतेः सदृशं ते ॥१२४॥

फिर यमने दुःखित नलसे कहा—वीरसेनके कुलके प्रकाशक नल, तुमको जो दुःख होता है वह क्या चन्द्रवंश में उत्पन्न हुए तुम्हारे योग्य है ? ॥१२४॥

रोहणः किमपि यः कठिनानां कामधेनुरपि या पशुरेव ।
नैनयोरपि वृथा भवदर्थी हा विधित्सुरसि वत्स ! किमेतत् ॥१२५॥

निष्ठुरोंके बीच अत्यन्त निष्ठुर रोहण[1] पर्वत तथा पशु कामधेनु ने कभी याचक को निष्फल नहीं किया। बालक, तुम जो किया चाहते हो वह है क्या ? ॥१२५॥

याचितश्चिरयति क्व नु धीरः प्राणने क्षणमपि प्रतिभूः कः ? ।
शंशति द्विनयनी दृढनिद्रां द्राङ्निमेषमिषघूर्णनपूर्णा ॥१२६॥

जब कोई याचक प्रार्थना करता है तब क्या समझदार आदमी विलम्ब करता है ? क्षणभर के लिए भी जीवनकी जमानत कौन कर सकता है ? झटपट निमेष के बहाने मिचती हुई दोनों आँखें मरण प्रकट करती हैं ॥१२६॥

अभ्रपुष्पमपि दित्सति शीतं सार्थिना विमुखता यदभाजि ।
स्तोककस्य खलु चञ्चुपुटेन म्लानिरुल्लसति तद्घनसङ्घे ॥१२७॥

१—इसी को रत्नाचल कहते हैं।

यद्यपि मेघ शीतल जल दिया चाहते हैं तो भी जरा से चातक की चों को पानी देने की विमुखता के कारण उनके समूह म्लान हो जाते हैं ॥१२७॥

ऊचिवानुचितमक्षरमेनं पाशपाणिरपि पाणिमुदस्य ।
कीर्तिरेव भवतां प्रियदारा दाननीरझरमौक्तिकहारा ॥१२८॥

वरुण ने भी हाथ उठाकर नलसे उचित वचन कहे—नल, तुम सरी राजाओं के दान के जल-प्रवाह रूप मौक्तिक-हार वाली कीर्त्ति ही तुम्हारी प्रि स्त्री है ॥१२८॥

चर्म वर्म किल यस्य नभेद्यं यस्य वज्रमयमस्थि च तौ चेत्।
स्थायिनाविह न कर्णदधीची तन्न धर्ममवधीरय धीर ! ॥१२९॥

जिस कर्ण की त्वचा अभेद्य थी और जिस दधीचिकी अस्थि वज्रमय ऐसे दाता भी पृथ्वी पर स्थायी न रहे। इस कारण हे धीर, तुम धर्म अवज्ञा न करो ॥१२९॥

अद्य यावदपि येन निबद्धौ न प्रभू विचलितुं बलि-विन्ध्यौ ।
आश्रुतावितथतागुणपाशस्त्वादृशेन विदुषा दुरपासः ॥१३०॥

जिस पाशसे बँधे हुए बलि[1] और विन्ध्य[2] अबतक प्रतिज्ञा तोड़ने के समर्थ न हुए वह वादा पूरा करने के सूत्र रूप पाश तुम सरीखे पण्डित तोड़ने योग्य नहीं हैं ॥१३०॥

प्रेयसी जितसुधांशुमुखश्रीर्या न मुञ्चति दिगन्तगतापि ।
भङ्गिसङ्गमकुरङ्गदृगर्थे कः कदर्थयति तामपि कीर्तिम् ? ॥१३१॥

चन्द्रमा के मुख की शोभा जीतनेवाली प्रिय कीर्ति दिगन्तमें जानेपर अपने प्रियतम को नहीं छोड़ती है। उसे थोड़े दिन के सङ्गमवाली मृगन के लिए कौन छोड़ देगा ? ॥१३१॥

यान्वरं प्रति परेऽर्थयितारस्तेऽपि यं वयमहो स पुनस्त्वाम् ।
नैव नः खलु मनोरथमात्रं शूर ! पूरय दिशोऽपि यशोभिः ॥१३२॥

१—बलि पाताल में रहता है। २—विन्ध्य बढ़ता नहीं।

अन्य पुरुष हमसे वर माँगते हैं और हम तुमसे प्रार्थना करते हैं। यह आश्चर्य है! इस कारण हे दान-शूर नल, तुम केवल हमारा मनोरथ ही पूरा न करो वल्कि अपने यश से दिशाओं को भर दो ॥१३२॥

अर्थितां त्वयि गतेषु सुरेषु म्लानदानजनिजोरुयशःश्रीः।
अद्य पाण्डु गगनं सुरशाखी केवलेन कुसुमेन विधत्ताम् ॥१३३॥

देवता तुम्हारे याचक हुए इस कारण कल्पतरु अपनी बड़ी भारी कीर्ति खो बैठेगा और अब केवल अपने पुष्पों से आकाश को श्वेत करेगा ॥१३३॥

प्रवसते भरतार्जुनवैन्यवत्स्मृतिधृतोऽपि नल ! त्वमभीष्टदः।
स्वगमनाफलतां यदि शङ्कसे तदफलं निखिलं खलु मङ्गलम् ॥१३४॥

हे नल, भरत, अर्जुन तथा पृथु के समान तुम्हारा नाम देशान्तर जानेवाले को अभीष्ट देता है। यदि तुम अपने जाने की निष्फलता में शङ्का करते हो तो सब शकुन आदि मङ्गल निष्फल हैं ॥१३४॥

इष्टं नः प्रति ते प्रतिश्रुतिरभूद्याद्य स्वराह्लादिनी
धर्मार्था सृज तां श्रुतिप्रतिभटीकृत्यान्विताख्यापदाम्।
त्वत्कीर्तिः पुनती पुनस्त्रिभुवनं शुभ्राद्वयादेशना-
द्द्रव्याणां शितिपीतलोहितहरिन्नामान्वयं लुम्पतु ॥१३५॥

हे नल, हमारी आकांक्षाओं के प्रति अङ्गीकार-सूचक स्वर से आनन्द देनेवाली तुम्हारी धार्मिक प्रतिज्ञा आज वेद के सदृश सत्य हो। तीनों लोकों को पवित्र करने वाली तुम्हारी कीर्ति पृथ्वीपर सबको केवल श्वेत करके वस्तुओं के काले, पीले, लाल और हरे वर्णों के सम्बन्ध को मिटा दे ॥१३५॥

यं प्रासूत सहस्रपादुदभवत्पादेन खञ्जः कथं
स च्छायातनयः सुतः किल पितुः सादृश्यमन्विष्यति।
एतस्योत्तरमद्य नः समजनि त्वत्तेजसां लंघने
साहस्रैरपि पङ्गुरंघ्रिभिरभिव्यक्तीभवन्भानुमान् ॥१३६॥

सहस्र-किरण सूर्य ने जिसे जन्म दिया था वह शनि चरण से पंगु कैसे हुआ क्योंकि पुत्र पिता के समान होता है। किन्तु सूर्य ने ही आज इसका

उत्तर दिया है कि वह तुम्हारे तेज का अतिक्रमण करने में सहस्रों किरणें हैं पर भी पंगु है ॥१३६॥

इत्याकर्ण्य क्षितीशस्त्रिदशपरिषदस्ता गिरश्चाटुगर्भा
वैदर्भीकामुकोऽपि प्रसभविनिहितं दूत्यभारं बभार।
अङ्गीकारं गतेऽस्मिन्नमरपरिवृढः सम्भृतानन्दमूचे।
भूयादन्तर्धिसिद्धेरनुविहितभवच्चित्तता यत्र तत्र ॥१३७॥

देवताओं की ऐसी खुशामद सुनकर राजा नल ने, यद्यपि वह दमयन्ती को चाहता था तो भी, हठ से आरोपित दूत का भार अपने ऊपर ले लिया। जब उसने अपनी स्वीकृति प्रकट कर दी तब इन्द्र ने अत्यन्त हृष्ट होकर कहा—जहाँ तुम चाहोगे वहीं तुम अन्तर्ध्यान हो सकोगे ॥१३७॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य नव्ये महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्पञ्चमः ॥१३८॥

कविराजों की पंक्ति के मुकुटों के अलंकार रूप हीरे श्रीहीर नामक पिता तथा मामल्ल देवी नामक माता ने जिस जितेन्द्रिय श्रीहर्ष—नामक पुत्र को उत्पन्न किया उस—विजय-प्रशस्ति रचना के जनक—के नये महाकाव्य सुन्दर नैषध-चरित में पञ्चम सर्ग समाप्त हुआ ॥१३८॥

षष्ठः सर्गः।

दूत्याय दैत्यारिपतेः प्रवृत्तो द्विषां निषेद्धा निषधप्रधानः।
स भीमभूमीपतिराजधानीं लक्ष्यीचकाराथ रथस्यदस्य ॥१॥

फिर इन्द्र के दूत-कर्म में प्रवृत्त-शत्रुनाशक नल ने राजा भीमकी राजधानी को अपने रथ का लक्ष्य बनाया ॥१॥

भैम्या समं नाजगणद्वियोगं स दूतधर्मे स्थिरधीरधीशः ।
पयोधिपाने मुनिरन्तरायं दुर्वारमप्यौर्वमिवौर्वशेयः ॥२॥

दृढ़ बुद्धिवाले नल ने दूत-धर्म में विघ्न करनेवाले दमयन्तीके वियोग की कुछ परवाह नहीं की जैसे अगस्त्य ने समुद्र का पान करने में विघ्न हुए बड़वा-नल की परवाह नहीं की थी ॥२॥

नलप्रणालीमिलदम्बुजाक्षीसंवादपीयूषपिपासवस्ते ।
तदध्ववीक्षार्थमिवानिमेषा देशस्य तस्याभरणीबभूवुः ॥३॥

नल रूप साधन के द्वारा आई हुई दमयन्ती की रहस्य कथारूप सुधा के सुनने के उत्सुक तथा नल के जाने का रास्ता देखने के लिए मानों निमेष रहित हुए देवता जहाँ नल के साथ उनकी बातचीत हुई थी उसी देश के आभरण हो गये ॥३॥

तां कुण्डिनाख्यापदमात्रगुप्तामिन्द्रस्य भूमेरमरावतीं सः ।
मनोरथः सिद्धिमिव क्षणेन रथस्तदीयः पुरमाससाद ॥४॥

नल का रथ भूमि के इन्द्र राजा भीम की कुण्डिन नाम से छिपाई गई अमरावती को शीघ्र पहुँच गया जैसे मनोरथ सिद्धि को प्राप्त होता है ॥४॥

भैमीपदस्पर्शकृतार्थरथ्या सेयं पुरीत्युत्कलिकाकुलस्ताम् ।
नृपो निपीय क्षणमीक्षणाभ्यां भृशं निशश्वास सुरैः क्षताशः ॥५॥

"दमयन्ती के चरणों के स्पर्श से जिसके मार्ग कृतार्थ हुए हैं वही यह नगरी है" इस प्रकार अत्यन्त उत्कंठा-पूर्वक नेत्रों से क्षणमात्र नगरी का पान करके वह बहुत निःश्वास लेने लगा क्योंकि देवताओं ने उसकी आशा को खण्डित कर दिया था ॥५॥

स्विद्यत्प्रमोदाश्रुलवेन वामं रोमाञ्चभृत्पक्ष्मभिरस्य चक्षुः ।
अन्यत्पुनः कम्प्रमपि स्फुरन्तं तस्याः पुरः प्राप नवोपभोगम् ॥६॥

आनन्द से पैदा हुए अश्रुओं के लेश से स्वेद युक्त और पलकों में रोमाञ्च युक्त नल का वामनेत्र और फड़कने से कम्पन शील दक्षिण नेत्र उस नगरी के प्रथम दर्शन से नई काम-केलि को प्राप्त हुए ॥६॥

रथादसौ सारथिना सनाथाद्राजावतीर्याथ पुरं विवेश।
निर्गत्य विम्बादिव भानवीयात्सौधाकरं मण्डलमंशुसङ्घः ॥७॥

फिर राजा नल सारथी से युक्त रथ से उतर कर इस प्रकार कुंडिन[illegible] गया जैसे किरण समूह सूर्य मंडल से निकलकर चन्द्र-मंडल में जाता है।

चित्रं तदा कुण्डिनवेशिनः सा नलस्य मूर्तिर्ववृते न दृश्या।
बभूव तच्चित्रतरं तथापि विश्वैकदृश्यैव यदस्य मूर्तिः ॥८॥

उस समय कुंडिनपुर में जाते हुए नल का शरीर दृश्य नहीं हुआ[illegible] आश्चर्य है! यद्यपि वह दीखा नहीं तथापि उसका शरीर सब लोगों का [illegible] दृश्य है—इसमें पहले से भी अधिक आश्चर्य है! ॥८॥

जनैर्विदग्धैर्भवनैश्च मुग्धैः पदे पदे विस्मयकल्पवल्लीम्।
विगाहमाना पुरमस्य दृष्टिरथाददे राजकुलातिथित्वम्॥९॥

उस नगर को देखती हुई नल की दृष्टि राजाओं के महल की [illegible] हुई। वहाँ चतुर मनुष्यों तथा सुन्दर भवनों के कारण पद-पदपर अत्यन्त [illegible] होता था ॥९॥

लीनश्चरामीति हृदा ललज्जे हेलां दधौ रक्षिजनेऽस्त्रसज्जे।
द्रक्ष्यामि भैमीमिति संतुतोष दूत्यं विचिन्त्य स्वमसौ शुशोच॥[illegible]

नल ने शस्त्रधारी सन्तरियों की अवज्ञा की पर अपने अदृश्य होकर [illegible] का विचार कर वह मन में लज्जित हुआ। आज मैं दमयन्ती को देखूं[illegible] इससे हृदय में संतोष हुआ पर फिर अपने को दूत विचार कर दुःख हुआ ॥[illegible]

अथोपकार्याममरेन्द्रकार्यात्कक्ष्यासु रक्षाधिकृतैरदृष्टः।
भैमीं दिदृक्षुर्बहु दिक्षु चक्षुर्दिशन्नसौ तामविशद्विशङ्कः ॥११॥

फिर इन्द्र के वरदान के कारण ड्योढ़ियों में नियत हुए सन्तरियों [illegible] देखा जाने के कारण शंकारहित होकर तथा दमयन्ती को देखने की [illegible] बार बार नेत्रों को दिशाओं में फेंक कर वह महल में गया ॥११॥

अयं क इत्यन्यनिवारकाणां गिरा विमुद्रारि विमुज्य कण्ठम्।
[illegible] दधौ विस्मयनिस्तरङ्गां विलंधितायामपि राजसिंहः ॥

राजाओं में सिंह रूप नल ने महल के द्वार के भीतर आकर आश्चर्य से निश्चल दृष्टि कर ली और गर्दन टेढ़ी कर के—यह कौन है—यों कह कर आते हुए मनुष्यों को रोकनेवाले सन्तरियों की वाणी सुनायी देने पर इधर-उधर देखा ॥१२॥

अन्तःपुरान्तः स विलोक्य बालां काञ्चित्समालब्धुमसंवृतोरुम् ।
निमीलिताक्षः परया भ्रमन्त्या संघट्टमासाद्य चमच्चकार ॥१३॥

नल ने रनवास के भीतर अंगलेप करने के लिए जंघा खोलने वाली एक स्त्री को देख आखें वन्द कर लीं तथा उस ओर जाती हुई एक अन्य स्त्री के साथ टक्कर लगने से वह चौंक पड़ा ॥१३॥

अनादिसर्गस्रजि वानुभूता चित्रेषु वा भीमसुता नलेन ।
जातैव यद्वा जितशम्वरस्य सा शाम्बरीशिल्पमलक्षि दिक्षु ॥१४॥

या तो नल ने दमयन्ती का अनादि सृष्टि की परम्परा में या चित्र में अनुभव किया, या यह कामदेव का जादू था जो उसने दमयन्ती को सब दिशाओं में देखा ॥१४॥

अलीकभैमीसहदर्शनान्न तस्यान्यकन्याप्सरसो रसाय ।
भैमीभ्रमस्यैव ततः प्रसादाद्भैमीभ्रमस्तेन न तास्वलम्भि ॥१५॥

मोह से देखी गई मिथ्या दमयन्ती के साथ रनवास में अप्सराओं के तुल्य स्त्रियों को देखने से नल को उनमें रसिकता नहीं आई। उसे दमयन्ती की भ्रान्ति के सामर्थ्य से अन्य कन्याओं में दमयन्ती का भ्रम नहीं हुआ। क्योंकि भ्रान्ति में देखी गई दमयन्ती की अपेक्षा वे बहुत हीन थीं ॥१५॥

भैमीनिराशे हृदि मन्मथेन दत्तस्वहस्ताद्विरहाद्विहस्तः ।
स तामलीकामवलोक्य तत्र क्षणादपश्यन्व्यषदद्विबुद्धः ॥१६॥

यद्यपि नल का हृदय दमयन्ती से निराश था तो भी उसके हृदय में विरह को कामदेव ने सहारा दिया इस कारण वह व्याकुल हुआ और वहाँ असत्य दमयन्ती को देखकर और उसी क्षण भ्रान्ति-रहित होने से उसे न देखकर उसको दुःख हुआ ॥१६॥

प्रियां विकल्पोपहृतां स यावद्दिगीशसन्देशमजल्पदल्पम्।
अदृश्यवाग्भाषितभूरिभीरुभवो रवस्तावदचेतयत्तम् ॥१७॥

नल ने भ्रम से प्राप्त हुई दमयन्ती के प्रति देवताओं का थोड़ा सा सं... हा तभी अदृश्य व्यक्ति की वाणी से भयभीत होकर बहुत सी डरपोक ... बन्द करने लगीं जिससे नल सावधान हो गया ॥ १७॥

पश्यन् स तस्मिन्मरुतापि तन्व्याः स्तनौ परिस्प्रष्टुमिवात्तवस्त्रौ।
अक्षान्तपक्षान्तमृगाङ्कमास्यं दधार तिर्यग्वलितं विलक्षः ॥१८॥

रनवास में अचेतन वायु के द्वारा मानों स्पर्श के लिए जिनका वस्त्र ह... या था ऐसे—किसी स्त्री के—स्तनों को अकस्मात् देखकर तथा अन... होकर नल ने कलङ्क के कारण पूर्णिमा के चन्द्र को भी सहन न करनेवाला ... ढ़ा कर लिया ॥१८।

अन्तःपुरे विस्तृतवागुरोऽपि बालावलीनां वलितैर्गुणौघैः।
न कालसारं हरिणं तदक्षिद्वन्द्वं प्रभुर्बद्धुमभून्मनोभूः ॥१९॥

यद्यपि कामदेव ने बालाओं के विलासों तथा गुणों से अन्तःपुर में ... ला दिया था तथापि वह नल के कृष्णनेत्र रूप काले हिरन को फँसाने ... समर्थ नहीं हुआ ॥१९॥

दोर्मूलमालोक्य कचं रुरुत्सोस्ततः कुचौ तावनुलेपयन्त्याः।
नाभीमथैष श्लथवाससोऽनु मिमील दिक्षु क्रमकृष्टचक्षुः ॥२०॥

नल ने केश-पाश बाँधती हुई किसी स्त्री के बाहुमूल को, फिर अंग... लगाने लगी तब उसके अत्यन्त सुन्दर स्तनों को, फिर विलेपन के लिए ... ढीला करने लगी तब उसकी नाभि को देखकर तथा धीरे धीरे सब दिशाओं... देखभाल कर अन्त में आँखें मींच लीं ॥२०॥

मीलन्न शेकेऽभिमुखागताभ्यां धर्तुं निपीड्य स्तनसान्तराभ्याम्।
स्वाङ्गान्यपेतो विजगौ स पश्चात्पुमङ्गसङ्गोत्पुलके पुनस्ते ॥२१॥

आँख बन्द करके खड़े हुए नल को एक दूसरे के सामने आती हुई ... स्त्रियों ने अपने बीच में नहीं पकड़ा क्योंकि वे स्तनों के कारण आपस में ...

नहीं। बाद में नल ने पर-स्त्री-संसर्ग के कारण अपने अवयवों की निन्दा की और उन स्त्रियों को पुरुष के अङ्ग के सङ्ग से रोमाञ्च हो आया ॥२१॥

निमीलनस्पष्टविलोकनाभ्यां कदर्थितस्ताः कलयन् कटाक्षैः।
स रागदर्शीव भृशं ललज्जे स्वतः सतां ह्रीः परतोऽतिगुर्वी ॥२२॥

नेत्र बन्द करने और स्पष्ट देखने से पीड़ित हुए नल ने उन दोनों स्त्रियों को कटाक्षों से देखकर मानों अनुराग से देखने के समान लज्जा प्राप्त की क्योंकि साधुओं को औरों की अपेक्षा अपने से ही अधिक लज्जा होती है ॥२२॥

रोमाञ्चिताङ्गीमनु तत्कटाक्षैर्भ्रान्तेन कान्तेन रतेर्निसृष्टः।
मोघः शरौघः कुसुमानि नाभूत्तद्धैर्यपूजां प्रति पर्यवस्यन् ॥२३॥

नल के अङ्ग के सङ्ग से रोमाञ्चित शरीरवाली स्त्री की ओर नल ने अपने कटाक्ष फेंके। उन्हें देखकर कामदेव को भ्रान्ति हुई कि ये दोनों परस्पर अनुरक्त हैं। तब उसने उन पर पुष्परूपी बाण चढ़ाये जो निष्फल नहीं हुए क्योंकि वे नल के धैर्य[1] की पूजा के काम में आये ॥२३॥

हित्वैव वर्त्मैकमिहः भ्रमन्त्याः स्पर्शः स्त्रियाः सुत्यज इत्यवेत्य।
चतुष्पथस्याभरणं बभूव लोकावलोकाय सतां स दीपः ॥२४॥

यहाँ रनिवास में भ्रमण करनेवाली स्त्रियों का स्पर्श सुगमता से छोड़ा जा सकता है—यह सोचकर साधुओं में दीपक रूप नल एक पगडण्डी को छोड़कर लोगों को देखने की इच्छा से एक चौराहे का आभूषण हो गया ॥२४॥

उद्वर्तयन्त्या हृदये निपत्य नृपस्य दृष्टिर्न्यवृतद्द्रुतैव।
वियोगिवैरात् कुचयोर्नखाङ्कैरर्धेन्दुलीलैर्गलहस्तितेव ॥२५॥

नल की दृष्टि शृङ्गार करती हुई किसी स्त्री की छाती पर पड़कर शीघ्र इस तरह फिर गई मानों स्तनों पर विद्यमान अर्ध-चन्द्राकार नख—क्षतों से वियोगी जनों के वैर के कारण बाहर निकाल दी गई हो ॥२५॥

१ नल के समान कोई धैर्य-शील नहीं था। इससे उसके धैर्य की पूजा की गई।

तन्वीमुखं द्रागधिगत्य चन्द्रं वियोगिनस्तस्य निमीलिताभ्याम्।
द्रुयं द्रढीयः कृतमीक्षणाभ्यां तदिन्दुता च स्वसरोजता च ॥

एकतन्वी के मुख को चन्द्रमा जानकर वियोगी नल के दोनों नेत्र पट संकुचित हो गये और उन्होंने यह प्रमाण दिया कि उसका मुख च[…] और दोनों नेत्र कमल हैं ॥२६॥

चतुष्पथे तं विनिमीलिताक्षं चतुर्दिगेताः सुखमग्रहीष्यन्।
संघट्य तस्मिन् भृशभीनिवृत्तास्ता एव तद्वर्त्म न चेद्दास्यन् ॥

आँख बन्द करके चौराहे पर खड़े हुए नल को चारों दिशाओं से […] हुई स्त्रियाँ अनायास ही पकड़ लेतीं पर उसके अदृश्य शरीर के साथ […] खाने से डरी हुईं स्त्रियाँ लौटकर उसे अपने आप रास्ता दे गईं ॥२७॥

संघट्टयन्त्यास्तरसात्मभूपाहीराङ्कुरप्रोतदुकूलहारी ।
दिशा नितम्बं परिधाप्य तन्व्यास्तत्पापसन्तापमवाप भूपः ॥२[…]

नल ने अपने से टक्कर खाती हुई किसी स्त्री के नितम्ब को अङ्ग[…] लगे हीरों के नोंक से वस्त्र हटने के कारण नग्न करके उससे उत्पन्न हु[…] से सन्ताप किया ॥२८॥

हतः कयाचित्पथि कन्दुकेन संघट्ट्य भिन्नः करजैः कयापि।
कयाचनाक्तः कुचकुङ्कुमेन सम्भुक्तकल्पः स बभूव ताभिः ॥[…]

किसी स्त्री ने नल पर गेंद मारी; किसी ने टक्कर खाकर उस पर न[…] निशान कर दिये; किसी ने स्तनों पर लगा हुआ कुंकुम उसके शरीर प[…] दिया; इस तरह रनिवास की सुन्दरियों ने उसके साथ उपभोग किया ॥२[…]

छायामयः प्रैक्षि कयापि हारे निजे स गच्छन्नथ नेक्ष्यमाणः।
तच्चित्तयान्तर्निरचायि चारु स्वस्यैव तन्व्या हृदयं प्रविष्टः ॥[…]

किसी स्त्री ने अपने हार में प्रतिबिम्ब रूप नल को देखा पर फिर[…] चलकर वह नहीं दीखा तब चिन्ता-पूर्वक उसने मनमें विचारा कि नल […] में चला गया ॥३०॥

तच्छायसौन्दर्यनिपीतधैर्याः प्रत्येकमालिङ्गदमू रतीशः ।
रतिप्रतिद्वन्द्वितमासु नूनं नामूषु निर्णीतरतिः कथञ्चित् ॥३१॥

नल के प्रतिबिम्ब के सौन्दर्य से जिनका धैर्य हर लिया गया था उनमें से प्रत्येक का कामदेव ने जुदा जुदा आलिंगन किया । रति के साथ स्पर्धा करने वाली इन स्त्रियों के बीच में कामदेव रति को न पहचान सका ॥३१॥

तस्मादृदृश्यादपि नातिबिभ्युस्तच्छायरूपाहितमोहलोलाः ।
मन्यन्त एवादृतमन्मथाज्ञाः प्राणानपि स्वान् सुदृशस्तृणानि ॥३२॥

उन तरुण स्त्रियों ने उसके अदृश्य शरीर से बहुत भय न पाया क्योंकि उसके प्रतिविम्ब के सौन्दर्य से मोह उत्पन्न होने के कारण वे चञ्चल हो गईं थी और कामदेव की आज्ञा मानने के कारण वे अपने प्राणों को भी तृण के समान समझती थीं ॥३२॥

जागर्ति तच्छायदृशां पुरा यः स्पृष्टे च तस्मिन्विससर्प कम्पः ।
द्रुतं गते तत्पदशब्दभीत्या स्वहस्तितश्चारुदृशां परं सः ॥३३॥

नल का प्रतिबिम्ब देखने वाली स्त्रियों को जो कम्प पहले हुआ था और जो उसका स्पर्श करने से सब शरीर में व्याप्त हो गया था वह उसके शीघ्र भागने के कारण चरणों के शब्द से उत्पन्न हुए भय में भी बराबर कायम रहा ॥३३॥

उल्लास्यतां स्पृष्टनलाङ्गमङ्गं तासां नलच्छायपिबाऽपि दृष्टिः ।
अश्मैव रत्यास्तदनर्ति पत्या छेदेऽप्यबोधं यदहर्षि लोम ॥३४॥

कामदेव ने उन सुन्दरियों के जिन अङ्गों ने नल के अङ्ग का स्पर्श कर लिया था उनको और नल के प्रतिबिम्ब को पीने वाली दृष्टि को उल्लास दिया । इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है पर जब उसने काटने पर भी अचेतन हुए रोमों को हर्ष प्राप्त कराया तब तो उसने पत्थर को ही नचाया ॥३४॥

यस्मिन्नलस्पृष्टकमेत्य हृष्टा भूयोऽपि तं देशमगान्मृगाक्षी ।
निपत्य तत्रास्य धरारजःस्थे पादे प्रसीदेति शनैरवादीत् ॥३५॥

१ अर्थान्तर:—उनके हृदय को अपने वश में कर लिया ।

मृगनयनी स्त्री जिस जगह नल के शरीर के साथ आलिंगन प्राप्त रोमाञ्चित हुई उसी जगह फिर आ गईं और वहाँ पृथ्वी की रज में पड़े नल के चरणों को नमस्कार कर के—अनुग्रह करो—यों धीरे धीरे कहने लगी ॥

भ्रमन्नमुष्यामुपकारिकायामायस्य भैमीविरहात्कृशीयान् ।
असौ मुहुः सौधपरम्पराणां व्यधत्त विश्रान्तिमुपत्यकासु ॥३६

दमयन्ती न मिलने के कारण नल अत्यन्त कृश था और ड्योढ़ी घूमने से उसे बड़ा श्रम हुआ था। तब उसने महलों की कतार में बनी भूमियों में बार बार विश्राम किया ॥३६॥

उल्लिख्य हंसेन दले नलिन्यास्तस्मै यथादर्शि तथैव भैमी ।
तेनाभिलिख्योपहृतस्वहारा कस्या न दृष्टाजनि विस्मयाय ॥३

हंस ने कमल के पत्ते पर दमयन्ती का चित्र बनाकर जैसे नल को दि था उसी तरह वहाँ विश्राम करने वाले नल ने कंठ में अपना हार पहनाकर यन्ती का चित्र बनाया जिसे देखकर रनिवास की किस सुन्दरी को विस्मय हुआ ॥३७॥

कौमारगन्धीनि निवारयन्ती वृत्तानि रोमावलिवेत्रचिह्ना ।
सालिख्य तेनैक्ष्यत यौवनीयद्वाःस्थामवस्थां परिचेतुकामा ॥३८

शैशव का जिनमें लेश भी हो ऐसे खेल आदि का निषेध करती, रोम रूप बेंत की छड़ी का चिन्ह वाली तथा यौवन के द्वार पर खड़ी हुई स्त्रि अवस्था को अंगीकार करने की उत्सुक दमयन्ती का चित्र बनाकर नल ने देखा ॥३८॥

पश्याः पुरन्ध्रीः प्रति सान्द्रचन्द्ररजःकृतक्रीडकुमारचक्रे ।
चित्राणि चक्रेऽध्वनि चक्रवर्तिचिह्नं तदङ्घ्रिप्रतिमासु चक्रम् ॥३९

कपूर के बहुत से चूरे से जहाँ बालक खेल रहे थे वहाँ मार्ग में नल चरण में वर्तमान चक्रवर्ती के चिन्ह से दर्शक स्त्रियों को बड़ा आश्चर्य हुआ ॥

तारुण्यपुण्यामवलोकयन्त्योरन्योन्यमेणेक्षणयोरभिख्याम् ।
मध्ये मुहूर्तं स बभूव गच्छन्नाकस्मिकाच्छादनविस्मयाय ॥४०

तारुण्य से सुन्दर—अपनी अपनी शोभा देखती हुई—हरिण-नयनी दो स्त्रियों के बीच में जाकर और उनके मुख को ढँककर नल ने उनमें अकस्मात् आश्चर्य पैदा किया ॥४०॥

पुरःस्थितस्य क्वचिदस्य भूषारत्नेषु नार्यः प्रतिबिम्बितानि ।
व्योमन्यदृश्येषु निजान्यपश्यन् विस्मित्य विस्मित्य सहस्रकृत्वः ॥४१॥

एक जगह अपने आगे खड़े हुए नल के अदृश्य भूषण-रत्नों में अपने प्रतिबिम्ब बार बार देखकर तथा बार बार विस्मित होकर स्त्रियाँ हजारों बार आकाश में देखने लगीं ॥४१॥

तस्मिन् विपर्याधपथात्तपातं तदङ्गरागच्छुरितं निरीक्ष्य ।
विस्मेरतामापुरनुस्मरन्त्यः क्षिप्तं मिथः कन्दुकमिन्दुमुख्यः ॥४२॥

कई चन्द्रमुखी स्त्रियों ने देखा कि गेंद नल से टकराकर आधे रास्ते में ही गिर पड़ी तथा नल के अंग में लगे हुए चन्दन से भूषित हो गई। उन्होंने गेंद को आपस में एक दूसरे पर फेंका था पर वह जिसके पास फेंकी गई थी उसके पास न गई। इससे स्त्रियों को आश्चर्य हुआ ॥४२॥

पुंसि स्वभर्तृव्यतिरिक्तभूते भूत्वाप्यवीक्षानियमव्रतिन्यः ।
छायासु रूपं भुवि तस्य वीक्ष्य फलं दृशोरानशिरे महिष्यः ॥४३॥

यद्यपि अपने स्वामी के अतिरिक्त अन्य मनुष्य को नहीं देखने का उनका नियम था तथापि मणियों के फर्शों से युक्त भूमियों पर नल का प्रतिबिम्ब देखकर रानियों ने नेत्रों का फल पाया ॥४३॥

विलोक्य तच्छायमतर्कि ताभिः पतिं प्रति स्वं वसुधापि धत्ते ।
यथा वयं किं मदनं तथैनं त्रिनेत्रनेत्रानलकीलनीलम् ॥४४॥

उन रानियों ने भूमि में नल का प्रतिबिम्ब देखकर यह तर्कना की—जैसे हम अपने पति के होने पर भी कामदेव को धारण करती हैं उसी तरह पृथ्वी भी महादेव के नेत्र की ज्वाला से नीले कामदेव को अपने पति के साथ धारण करती है ॥४४॥

रूपं प्रतिच्छायिकयोपनीतमालोकि ताभिर्यदि नाम कामम्।
तथापि नालोकि तदस्य रूपं हारिद्रभङ्गाय वितीर्णभङ्गम् ॥४५॥

उन रानियों ने प्रतिबिम्ब के रूप से प्राप्त हुए नल के सौन्दर्य को तो देखा पर उसके उस प्रत्यक्ष रूप को नहीं देखा जिसने सुवर्ण को भी पराजित कर दिया था ॥४५॥

भवन्नदृश्यः प्रतिबिम्बदेहव्यूहं वितन्वन् मणिकुट्टिमेषु।
पुरं परस्य प्रविशन् वियोगी योगीव चित्रं स रराज राजा ॥४६॥

यह बड़ा आश्चर्य है कि वियोगी नल अदृश्य होकर मणि के फर्श की भूमि पर प्रतिबिम्ब के रूपों में शरीर का विस्तार कर के तथा दूसरे के नगर में प्रवेश करके योगी के समान शोभायमान हुआ जो चाहें तब अदृश्य हो जाता है, बहुत से शरीर धारण करता है तथा दूसरे के शरीर में प्रवेश कर लेता है ॥४६॥

पुमानिवास्पर्शि मया भ्रमन्त्या छाया मया पुंस इव व्यलोकि।
ब्रुवन्निवातर्कि मयापि कश्चिदिति स्म स स्त्रैणगिरः शृणोति ॥४७॥

नल ने स्त्रियों की ऐसी वाणियाँ सुनी—मैंने चलते में आदमी की तरह किसी का स्पर्श किया; मैंने आदमी की छाया के समान कुछ देखा ?, मैंने तर्क की कि कोई बातें कर रहा है ॥४७॥

अम्बां प्रणम्योपनता नताङ्गी नलेन भैमी पथि योगमाप।
स भ्रान्तभैमीषु न तां विवेद सा तं च नादृश्यतया ददर्श ॥४८॥

सुन्दर दमयन्ती माता को प्रणाम करके आ रही थी तब रास्ते में उसे नल मिल गया। नल ने भ्रान्ति से देखी गईं दमयन्तियों के बीच में सच्ची दमयन्ती को नहीं पहचाना और दमयन्ती ने तो उसे देखा ही नहीं क्योंकि वह अदृश्य था ॥४८॥

प्रसूप्रसादाधिगता प्रसूनमाला नलस्य भ्रमवीक्षितस्य।
क्षिप्तापि कण्ठाय तयोपकण्ठे स्थितं तमालम्बत सत्यमेव ॥४९॥

दमयन्ती ने माता के प्रसाद से प्राप्त हुई फूलों की माला भ्रान्ति से देखे

हुए नल के कंठ में गेरी पर वह पास ही खड़े हुए सच्चे नल के कंठ में पहुँच गई ॥४९॥

स्रग्वासनादृष्टजनप्रसादः सत्येयमित्यद्भुतमाप भूपः ।
क्षिप्तामदृश्यत्वमितां च मालामालोक्य तां विस्मयते स्म बाला ॥५०॥

नल को बड़ा आश्चर्य हुआ कि वासना में देखी गई दमयन्ती के प्रसाद की यह माला सच्ची है। दमयन्ती को भी भ्रान्ति से देखे गये नल के कण्ठ में फेंकी गई माला को अदृश्य हुआ देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ ॥५०॥

अन्योन्यमन्यत्रवदीक्षमाणौ परस्परेणाध्युषितेऽपि देशे ।
आलिङ्गितालीकपरस्परान्तस्तथ्यं मिथस्तौ परिषस्वजाते ॥५१॥

जहाँ वे आपस में एक दूसरे के सामने खड़े थे उस जगह अन्य स्थान में खड़े होने के समान दोनों एक दूसरे को देखकर झूँठे आलिङ्गनों के बीच में यथार्थ में परस्पर आलिङ्गन करने लगे ॥५१॥

स्पर्शं तमस्याधिगतापि भैमी मेने पुनर्भ्रान्तिमदर्शनेन ।
नृपस्तु पश्यन्नपि तामुदीतस्तम्भो न धर्तुं सहसा शशाक ॥५२॥

दमयन्ती ने नल का स्पर्श करके भी उसके अदर्शन से भ्रान्ति समझी। नल ने दमयन्ती को देख लिया। तो भी अकस्मात् स्तम्भ होने के कारण वह उसे पकड़ न सका ॥५२॥

स्पर्शातिहर्षाहृतसत्यमत्या प्रवृत्य मिथ्याप्रतिलब्धबोधौ ।
पुनर्मिथस्तथ्यमपि स्पृशन्तौ न श्रद्दधाते पथि तौ विमुग्धौ ॥५३॥

स्पर्श से पैदा हुए हर्ष के कारण उसे सच्चा समझकर वे फिर स्पर्श करने लगे लेकिन फिर झूँठे स्पर्शों से उनकी बुद्धि में बाधा हो गई और इसके बाद उन्होंने मार्ग में सच्चा स्पर्श किया तब भ्रान्ति से उस पर विश्वास नहीं किया ॥५३॥

सर्वत्र सम्पाद्यमबोधमानौ रूपश्रियातिथ्यकरं परं तौ ।
न शेकतुः केलिरसाद्विरन्तुमलीकमालोक्य परस्परं तु ॥५४॥

बहुत से स्थलों में स्पर्शादि से अपने रूपों को सत्य मानकर आपस के

सौन्दर्य की शोभा से परस्पर अत्यन्त सुखदायक वे दोनों एक दूसरे को अ
मानकर भी क्रीड़ा की प्रीति से विश्राम लेनेको समर्थ नहीं सुए ॥५४॥

परस्परस्पर्शरसोर्मिसेकात्तयोः क्षणं चेतसि विप्रलम्भः।
स्नेहातिदानादिव दीपिकार्चिर्निमिष्य किञ्चिद्द्विगुणं दिदीपे ॥५५॥

आपस के स्पर्श से उत्पन्न हुए अनुराग की अधिकता के कारण वि
क्षणभर तक कुछ कम होकर पहले की अपेक्षा दूना हो गया जैसे बहुत ते
डालने से दीपक की बत्ती कुछ मन्दी होकर बाद में दूना प्रकाश क
है ॥५५॥

वेश्माप सा धैर्यवियोगयोगाद्बोधञ्च मोहञ्च मुहुर्दधाना।
पुनःपुनस्तत्र पुरः स पश्यन् बभ्राम तां सुभ्रुवमुद्भ्रमेण ॥५६॥

धैर्य तथा वियोग के योग से क्रम-पूर्वक—नल की सम्भावना यहाँ
है ?—इस बोध को तथा—यह नल ही है—इस मोह को बार बार धा
करती दमयन्ती अपने महल में आई और नल, भ्रान्तिवश, उस सुन्दरी
बार बार अपने आगे देखता हुआ वहीं घूमता रहा ॥५६॥

पद्भ्यां नृपः सञ्चरमाण एष चिरं परिभ्रम्य कथं कथञ्चित्।
विदर्भराजप्रभवाभिरामं प्रासादमभ्रङ्कषमाससाद ॥५७॥

पैदल टहलता हुआ नल जैसे तैसे बहुत काल तक भ्रमण से थक
आकाश तक ऊँचे सुन्दर महल में प्राप्त हुआ जहाँ दमयन्ती उ
थी ॥५७॥

सखीशतानां सरसैर्विलासैः स्मरावरोधभ्रममावहन्तीम्।
विलोकयामास सभां स भैम्यास्तस्य प्रतोलीमणिवेदिकायाम् ॥५८॥

नल ने उस महल की ड्योढ़ी की मणि-बद्ध भूमि पर दमयन्ती की
देखी जो सैकड़ों सखियों के सरस विलासों से कामदेव के रनिवास की
पैदा करती थी ॥५८॥

कण्ठः किमस्याः पिकवेणुवीणास्तिस्रो जिताः सूचयति त्रिरेखः।
इत्यन्तरालूयत कापि यत्र नलेन बाला कलमालपन्ती ॥

वहाँ नल ने मधुर आलाप करती हुई एक स्त्री की मन में प्रशंसा की—क्या यह सूचित होता है कि इस सुन्दरी की तीन रेखा वाले कण्ठ ने कोकिल, वेणु और वीणा को जीत लिया है ? ॥५९॥

एतं नलं तं दमयन्ति ! पश्य त्यजार्तिमित्यालिकुलप्रबोधात् ।
श्रुत्वा स नारीकरवर्तिशारीमुखात् स्वमाशङ्कत यत्र दृष्टम् ॥६०॥

"हे दमयन्ती, तुम इस नल को देखो और वियोग की पीड़ा से पीछा छुड़ाओ"—ये वहाँ एक सुन्दरी के हाथ पर बैठी हुई मैना के मुख से—सखियों के द्वारा सिखाये गये—वाक्य सुनकर नल को शंका हुई कि मैं देख लिया गया ॥६०॥

यत्रैकयालीकनलीकृतालीकण्ठे मृषाभीमभवीभवन्त्या ।
तद्दृक्पथे दौहलिकोपनीता शालीनमाधायि मधूकमाला ॥६१॥

वहाँ दमयन्ती का मिथ्या वेष धारण करने वाली एक सखी ने झूठा नल का वेष धारण करने वाली सखी के कण्ठ में माली से लाई गई मधुप माला अदृश्य नल के सामने ही लज्जित होकर पहनाई ॥६१॥

चन्द्राभमाभ्रं तिलकं दधाना तद्वन्निजास्येन्दुकृतानुबिम्बम् ।
सखीमुखे चन्द्रसमे ससर्ज चन्द्रानवस्थामिव कापि यत्र ॥६२॥

वहाँ एक सखी ने अपने मस्तक पर अभ्रक का—चन्द्रमा के समान—तिलक लगाया । फिर उसने अपनी सखी के चन्द्र-तुल्य मुख पर वैसा ही तिलक लगाया जिस पर उसके चन्द्र-मुख का प्रतिबिम्ब पड़ा । इस तरह उसने अन्योन्य प्रतिबिम्ब से चन्द्रमा की दशा डाँवाडोल कर दी ॥६२॥

दलोदरे काञ्चनकेतकस्य क्षणान्मषीभावुकवर्णरेखम् ।
तस्यैव यत्र स्वमनङ्गलेखं लिलेख भैमी नखलेखिनीभिः ॥६३॥

उस सभा में केतकी के सुनहरे फूल की पंखड़ी के भीतर दमयन्ती ने नख की लेखनी से नल के लिए अपना प्रेम-पत्र लिखा जिसके अक्षरों ने क्षणभर में ही स्याही का रङ्ग धारण कर लिया ॥६३॥

विलेखितुं भीमभुवो लिपीपु सख्याऽतिविख्यातिभृतापि यत्र।
अशाकि लीलाकमलं न पाणिसपारि कर्णोत्पलमक्षि नैव ॥६४॥

उस सभा में चित्रकर्म में अत्यन्त कुशल दमयन्ती की सखी ने दमयन्ती का लीला-कमल चित्र-पट में बनाया परन्तु हाथ नहीं बनाया और कर्णोत्पल बनाया पर नेत्र नहीं बनाया क्योंकि लीला-कमल और कर्णोत्पल की अपेक्षा हाथ और नेत्र अधिक सुन्दर थे ॥६४॥

भैमीमुपावीणयदेत्य यत्र कलिप्रियस्य प्रियशिष्यवर्गः।
गन्धर्ववध्वः स्वरमध्वरीणतत्कण्ठनालैकधुरीणवीणः ॥६५॥

उस सभा में नारद की शिष्य गन्धर्ववधू आकर दमयन्ती के पास वीणा बजाकर गाती थी। उनकी वीणा दमयन्ती के स्वरामृत-पूर्ण कण्ठ–नाल के तुल्य थी ॥६५॥

नावा स्मरः क हरभीतिगुप्ते पयोधरे खेलति कुम्भ एव।
इत्यर्धचन्द्राभनखाङ्कचुम्बिकुचा सखी यत्र सखीभिरूचे ॥६६॥

उस सभा में सखियों ने, जिसके स्तनों पर अर्धचन्द्राकार नख-क्षत हुए थे उस सखी से कहा—हे सखी, तुम्हारे स्तनरूप कुम्भ में महादेव के डर से अपने को छिपाता हुआ कामदेव क्या नौका[1] पर क्रीडा करता है ? ॥६६॥

स्मराशुगीभूय विदर्भसुभ्रूवक्षो यदक्षोभि खलु प्रसूनैः।
स्रजं सृजन्त्या तदशोधि तेषु यत्रैकया सूचिशिखां निखाय ॥६७॥

पुष्पों ने काम के बाण होकर दमयन्ती के हृदय को जो पीड़ा पहुँचाई उस वैर का एक सखी ने माला बनाते में उनमें सुई चुभाकर उनसे बदला लिया ॥६७॥

यत्रावदत्तामतिभीय भैमी त्यज त्यजेदं सखि ! साहसिक्यम्।
त्वमेव कृत्वा मदनाय दत्से बाणान् प्रसूनानि गुणेन सज्जान् ॥६८॥

दमयन्ती ने उससे भयभीत होकर कहा—सखी, इस साहस को त्याग दे क्योंकि फूलों के बाणों को डोरे में सजाकर तूही कामदेव को देती है ॥६८॥

1—यहाँ नख-क्षत की समानता नौका से की गई है।

आलिख्य सख्याः कुचपत्रभङ्गीमध्ये सुमध्या मकरीं करेण।
यत्रावदत्तामियमालि ! यानं मन्ये त्वदेकावलिनाकनद्याः ॥६९॥

उस सभा में कोई सुन्दरी सखी के स्तनों पर बेलबूटे खींचने में हाथ से मछली लिखकर सखी से कहने लगी—सखी, तेरी एक लड़की माला स्वर्गगंगा है और यह उसकी वाहन है—यह मैं समझती हूँ ॥६९॥

तामेव सा यत्र जगाद भूयः पयोधियादः कुचकुम्भयोस्ते।
सेयं स्थिता तावकहृच्छयाङ्कप्रियास्तु विस्तारयशःप्रशस्तिः ॥७०॥

उस सुन्दरी ने उसी सखी से फिर कहा—सखी, तेरे हृदय में स्थित कामदेव का चिह्न मत्स्य है। उसकी प्रिया मछली तेरे कुच कुम्भ में स्थित होकर तेरे कुचों के विस्तार की प्रशंसा करेगी ॥७०॥

शारीं चरन्तीं सखि ! मारयैनामित्यक्षदाये कथिते कयापि।
यत्र स्वघातभ्रमभीरुशारीकाकूत्थसाकूतहसः स जज्ञे ॥७१॥

(चौसर में) एक घर से दूसरे घर में जाती हुई इस शारी को मारो—यों एक सखी ने गोट रखते में एक अन्य सखी से कहा तब दूसरा अर्थ समझ कर अपने घात की भ्रान्ति से भयभीत हुई पालतू चिड़िया के स्वर से नल को बड़ी हँसी आई ॥७१॥

भैमीसमीपे स निरीक्ष्य यत्र ताम्बूलजाम्बूनदहंसलक्ष्मीम्।
कृतप्रियादूत्यमहोपकारमरालमोहद्रढिमानमूहे ॥७२॥

वहाँ दमयन्ती के पास सोने के पानदान में हंस की मूर्ति देखकर नल को भ्रम हुआ कि यह वही हंस है जिसने प्रिया का दूत बनकर मेरा बड़ा उपकार किया था ॥७२॥

तस्मिन्नियं सेति सखीसमाजे नलस्य सन्देहमथ व्युदस्यन्।
अपृष्ट एव स्फुटमाचचक्षे स कोऽपि रूपातिशयः स्वयं ताम् ॥७३॥

नल को सन्देह था कि इतनी सखियों के बीच में दमयन्ती कौन सी है। उसका सन्देह दूर कर के एक लोकोत्तर रूप ने स्वयं दमयन्ती को प्रकट कर दिया ॥७३॥

भैमीविनोदाय मुदा सखीभिस्तदाकृतीनां भुवि कल्पितानाम्।
नातर्कि मध्ये स्फुटमप्युदीतं तस्यानुबिम्बं मणिवेदिकायाम्॥

सखियों ने दमयन्ती के मनोरञ्जन के लिए हर्षपूर्वक पृथ्वी पर बनाई नल की तसवीरों में मणियों के फर्श में साफ दीखते हुए भी नल के प्रतिबिम्ब तर्कना नहीं की ॥७४॥

हुताशकीनाशजलेशदूतीर्निराकरिष्णोः कृतकाकुयाञ्चाः।
भैम्या वचोभिः स निजां तदाशां न्यवर्तयद्दूरमपि प्रयाताम्॥

नल ने अग्नि, यम तथा वरुण की—बड़ी दीनता से याचना करने वाली दूती को मना करनेवाली दमयन्ती के वचनों से बहुत दूर गई हुई भी आशा को लौटाया ॥७५॥

विज्ञप्तिमन्तःसभयः स भैम्यां मध्येसभं वासवशम्भलीयाम्।
सम्भावयामास भृशं कृशाशस्तदालिवृन्दैरभिनन्द्यमानाम्॥

इन्द्र की दूती ने दमयन्ती को जो सन्देशा दिया उसका सखियों ने अभिनन्दन किया। उसको सुनकर नल के मन में भय हुआ और आशा बहुत रह गई ॥७६॥

लिपिर्न दैवी सुपठा भुवीति तुभ्यं मयि प्रेषितवाचिकस्य।
इन्द्रस्य दूत्यां रचय प्रसादं विज्ञापयन्त्यामवधानदानम्॥

दमयन्ती, मैं इन्द्र का सन्देश लाई हूँ। मुझ पर एकाग्र चित्त प्रसाद करो। पृथ्वी के लोग देवताओं की लिपि सुगमता से नहीं पढ़ सकते यह समझकर उन्होंने पत्रिका नहीं दी है ॥७७॥

सलीलमालिङ्गनयोपपीडमनामयं पृच्छति वासवस्त्वाम्।
शेषस्त्वदाश्लेषकथाविनिद्रैस्तद्रोमभिः सन्दिदिशे भवत्यै॥

इन्द्र गाढ आलिंगन देकर तुम्हारे आरोग्य के विषय में पूछते हैं। आलिंगन की कथा के समय पुलकायमान हुए उनके शरीर के रोमों ने का आशय तुम्हारी समझ में आ गया होगा ॥७८॥

यः प्रेर्यमाणोऽपि हृदा मघोनस्त्वदर्थनायां ह्रियमापदागः।
स्वयंवरस्थानजुषस्त्वमस्य बधान कण्ठं वरणस्रजाशु ॥७९॥

दमयन्ती, तुम्हारा हाथ माँगने में मन से प्रेरित किये हुए भी जिस कंठ ने लज्जा रूपी अपराध किया उसे तुम, इन्द्र स्वयंवर में उपस्थित हों तब, माला से शीघ्र बाँधना ॥७९॥

नैनं त्यज क्षीरधिमन्थनाद्यैरस्यानुजायोद्धयितामरैः श्रीः।
अस्मै विमथ्येक्षुरसोदमन्यां श्राम्यन्तु नोत्थापयितुं श्रियं ते ॥८०॥

दमयन्ती, तुम इन्द्र को छोड़ना मत। जिन देवताओं ने क्षीर समुद्र मथ कर और उसमें से लक्ष्मी निकाल कर इन्द्र के छोटे भाई को दी, वे ही देवता ज्येष्ठ होने से उस के भी पूज्य इन्द्र को इक्षुरस के समुद्र के मंथन से लक्ष्मी निकाल कर देंगे। यह प्रयास तुम देवताओं को मत करने देना ॥८०॥

लोकस्रजि द्यौर्दिवि चादितेया अप्यादितेयेषु महान् महेन्द्रः।
किंकर्तुमर्थी यदि सोऽपि रागाज्जागर्ति कक्ष्या किमतः परापि ॥८१॥

दमयन्ती, चतुर्दश भुवनों में स्वर्ग अधिक है। स्वर्ग में देवता और देवताओं में इन्द्र। ऐसा इन्द्र भी यदि अनुराग से तुम्हारा किंकर होने की प्रार्थना करता है तो इससे बढ़कर क्या बात होगी? ॥८१॥

पदं शतेनाप मखैर्यदिन्द्रस्तस्मैः स ते याचनचाटुकारः।
कुरु प्रसादं तदलं कुरुष्व स्वीकारकृद्भ्रूनटनश्रमेण ॥८२॥

इन्द्र ने सौ यज्ञ करके जो पद प्राप्त किया उस पर खुशामद कर के वह तुमको बुलाता है। तुम प्रसन्न होओ तथा इन्द्र के पद को भ्रू-चालन के श्रम से अंगीकार करो ॥८२॥

मन्दाकिनीनन्दनयोर्विहारे देवे धवे देवरि माधवे च।
श्रेयः श्रियां यातरि यच्च सख्यां तच्चेतसा भाविनि! भावय त्वम् ॥८३॥

मन्दाकिनी और नन्दन वन में विहार करने से, इन्द्र के भर्ता होने से, विष्णु के देवर होने से और लक्ष्मी की जेठानी होने से जो भलाई है उसे तुम मन में विचारो ॥८३॥

रज्यस्व राज्ये जगतामितीन्द्राद्याच्ञाप्रतिष्ठां लभसे त्वमेव।
लघूकृतस्त्वं बलियाचनेन तत्प्राप्तये वामनमामनन्ति ॥८

तीनों लोकों के राज्य में तुम सुखी होओ। केवल तुमने ही यह प्र
प्राप्त की है कि इन्द्र ने तुमको माँगा है। इस त्रिलोकी के राज्य को प्राप्त
के लिए विष्णु ने अपने को छोटा करके बलि से प्रार्थना की थी और वह
तक वामन कहाते हैं ॥८४॥

यानेव देवान्नमसि त्रिकालं न तत्कृतघ्नीकृतिरौचिती ते।
प्रसीद तानप्यनृणान् विधातुं पतिष्यतस्त्वत्पदयोस्त्रिसन्ध्यम् ॥८

तुम जिन देवताओं को तीनों काल नमस्कार करती हो उन्हें कृतघ्न क
तुम्हें उचित नहीं। तीनों काल तुम्हारे चरणों पर पड़े हुए देवताओं को ऋ
रहित करने के लिए तुम प्रसन्न होओ ॥८५॥

इत्युक्तवत्या निहितादरेण भैम्या गृहीता मघवत्प्रसादः।
स्रक्पारिजातस्य ऋते नलाशां वासैरशेषामपुपूरदाशाम् ॥८

यों कह कर इन्द्र की दूती से दी गई पारिजात की माला, जो इन्द्र
प्रसाद थी, दमयन्ती ने बड़े आदर से ली। उसकी परिमल से नल की आ
(=तृष्णा) को छोड़ और सब आशाएँ (=दिशाएँ) पूर्ण हो गईं ॥८६॥

आर्ये! विचार्यालमिहेति कापि योग्यं सखि! स्यादिति काचनापि।
ओंकार एवोत्तरमस्तु वस्तु मङ्गल्यमत्रेति च काप्यवोचत् ॥८

किसी ने कहा कि सखी, इस विषय में विचार करना वृथा है। किसी ने
कहा—इन्द्र के साथ वरण करना उचित है। किसी ने कहा—इस विषय में
हाँ कहना ही मङ्गलदायक है ॥८७॥

अनाश्रवा वः किमहं कदापि वक्तुं विशेषः परमस्ति शेषः।
इतीरिते भीमजया न दूतीमालिङ्गदालीश्च मुदामियत्ता ॥८

"सखियो, क्या मैंने कभी तुम्हारे वचन नहीं माने हैं पर इस मामले
मुझे एक विशेष बात कहनी है"। दमयन्ती ने यों कहा तब सखियों को
दूती को अतीव हर्ष हुआ ॥८८॥

भैमी च दूत्यं च न किञ्चिदापमिति स्वयं भावयतो नलस्य।
आलोकमात्राद्यदि तन्मुखेन्दोरभून्न भिन्नं हृदयारविन्दम् ॥८९॥

न तो मुझे दमयन्ती मिली और न मैंने अपना कर्तव्य पूरा किया—यह चिन्ता करते हुए नल का हृदय-कमल जो विदीर्ण नहीं हुआ इसका कारण दमयन्ती के मुख-चन्द्र का दर्शन था ॥८९॥

ईषत्स्मितक्षालितसृक्किभागा दृक्संज्ञया वारिततत्तदालिः।
स्रजा नमस्कृत्य तयैव शक्रं तां भीमभूरुत्तरयांचकार ॥९०॥

दमयन्ती ने उसी माला से इन्द्र को नमस्कार करके इन्द्र की दूती को उत्तर दिया। दमयन्ती के ओष्ठ-प्रान्त कुछ मुसकराहट से चमकने लगे थे और कटाक्ष से अपनी सखियों को बोलने से बन्द कर दिया था ॥९०॥

स्तुतौ मघोनस्त्यज साहसिक्यं वक्तुं कियत्तं यदि वेद वेदः।
वृथोत्तरं साक्षिणि हृत्सु नृणामज्ञातृविज्ञापि ममापि तस्मिन् ॥९१॥

हे दूती, इन्द्र की स्तुति का साहस मत करो। इन्द्र का वर्णन अगर कुछ कर सकते हैं तो वेद ही कर सकते हैं। मनुष्यों के हृदय को जानने वाले उस इन्द्र को अज्ञात का ज्ञान कराने वाला मेरा उत्तर व्यर्थ होगा ॥९१॥

आज्ञां तदीयामनु कस्य नाम नकारपारुष्यमुपैतु जिह्वा।
प्रह्वा तु तां मूर्ध्नि निधाय मालां बालापराध्यामि विशेषवाग्भिः ॥९२॥

किसकी जिह्वा इन्द्र की आज्ञा के सामने "न" करने की अवज्ञा प्रकट करेगी? मैं बाला हूँ और नम्र होकर उनकी आज्ञा रूप माला को सिर से स्वीकार करके अपने वचन कहकर उनका अपराध करती हूँ ॥९२॥

तपःफलत्वेन हरेः कृपेयमिमं तपस्येव जनं नियुङ्क्ते।
भवत्युपायं प्रति हि प्रवृत्तावुपेयमाधुर्यमधैर्यसज्जि ॥९३॥

१—नल का हृदय कमल था और दमयन्ती का मुख चन्द्रमा था। चन्द्रमा के सम्मुख कमल खिलता नहीं है। यहाँ नल का हृदय विदीर्ण नहीं हुआ क्योंकि दमयन्ती का मुख देखने से उसे कुछ तसल्ली हुई।

इन्द्र की इतनी कृपा मुझे बड़े तप के परिपाक से मिली है और य
मुझे तप करने में नियुक्त करती है क्योंकि तप के फल की श्रेष्ठता के क
और भी तप करना चाहती हूँ कि जिससे इसकी अपेक्षा भी अच्छ
मिले ॥९३॥

शुश्रूषिताहे तदहं तमेव पतिं मुदेऽपि व्रतसम्पदेऽपि ।
विशेषलेशोऽयमदेवदेहमंशागतं तु क्षितिभृत्तयेह ॥९४॥

इन्द्र की कृपा मुझे तप में नियुक्त करती है इस कारण सुख के लि
व्रत की सिद्धि के लिए इन्द्र को ही पति बनाकर उनकी सेवा करूँगी।
अन्तर केवल यही होगा कि मैं पृथ्वी पर राजत्व के अंश से आये हुए
शरीर-धारी इन्द्र को पति बनाऊँगी ॥९४॥

अश्रौषमिन्द्रादरिणी गिरस्ते सतीव्रतातिप्रतिलोमतीव्राः।
स्वं प्रागहं प्रादिषि नामराय किं नाम तस्मै मनसा नराय॥

हे दूती, मैंने तुम्हारी इन्द्र के पक्ष की—पातिव्रत्य के अत्यन्त प्रतिकू
से दुःसह—वाणी सुनी । मैंने अपनी आत्मा को अन्तःकरण से देवता
नहीं दिया लेकिन पृथ्वी के इन्द्र-मनुष्य-को दिया है ॥९५॥

तस्मिन् विमृश्यैव वृते हृदैषा नैन्द्री दया मामनुतापिकाभूत्।
निर्वातुकामं भवसम्भवानां धीरं सुखानामवधीरणेव।

नल को विचार-पूर्वक ही मन से वरण करने पर मुझे पश्चात्ताप
जैसे हृदय में विचार कर ब्रह्म को अङ्गीकार कर लेने वाले मुमुक्षु को
उत्पन्न हुए सुखों को अवज्ञा सन्ताप नहीं देती है ॥९६॥

वर्षेषु यद्भारतमार्यधुर्याः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाश्रमेषु।
तत्रास्मि पत्युर्वरिवस्ययाहं शर्मोर्मिकिर्मीरितधर्मलिप्सुः।

साधुओं में श्रेष्ठ मनु आदि वर्षों में भारतवर्ष की तथा आश्रमों
की प्रशंसा करते हैं। उसमें पति की सेवा करके मैं सुख से मिश्रित
प्राप्त करना चाहती हूँ ॥९७॥

स्वर्गे सतां शर्म परं न धर्मा भवन्ति भूमाविह तच्च ते च ।
इष्ट्यापि तुष्टिः सुकरा सुराणां कथं विहाय त्रयमेकमीहे ? ॥९८॥

स्वर्ग में रहनेवालों को केवल सुख मिलता है, धर्म नहीं; लेकिन भारत में रहनेवालों को सुख भी मिलता है और धर्म भी। देवताओं को प्रसन्न करना यज्ञों से हो सकता है। इस कारण यहाँ सुख, धर्म और देवताओं को प्रसन्न करना—इन तीनों को छोड़कर मैं केवल सुख को क्यों चाहूँगी ? ॥९८॥

साधोरपि स्वः खलु गामिताधो गमी स तु स्वर्गमितः प्रयाणे।
इत्यायतिं चिन्तयतो हृदि द्वे द्वयोरुदर्कः किमु शर्करे न ॥९९॥

धार्मिक को भी स्वर्ग से प्रयाण करने पर नीचे आना पड़ता है लेकिन यहाँ मरण होने पर साधु स्वर्ग को जाते हैं। इस भाँति इन दोनों को हृदय में विचारने वाले पुरुष का उत्तर-फल दो प्रकार का है—पहला पत्थर और दूसरा शर्करा ॥९९॥

प्रक्षीण एवायुषि कर्मकृष्टे नरान्न तिष्ठत्युपतिष्ठते यः।
बुभुक्षते नाकमपथ्यकल्पं धीरस्तमापातसुखोन्मुखं कः ॥१००॥

जो स्वर्ग कर्म से अर्जित हुई आयु के क्षीण होने पर मनुष्यों को प्राप्त होता है तथा आयु रहने पर नहीं प्राप्त होता है उस अपथ्य स्वर्ग को कौन भोगना चाहेगा ? ॥१००॥

इतीन्द्रदूत्याः प्रतिवाचमर्धे प्रत्युह्य सैषाभिदधे वयस्याः।
किञ्चिद्विवक्षोल्लसदोष्ठलक्ष्मीजितातपनिद्रदलपङ्कजास्याः ॥१०१॥

इस तरह इन्द्र की दूती को दिये हुए उत्तर को बीच में ही समाप्त करके दमयन्ती ने कुछ कहने की इच्छा से चलायमान हुए होठों की शोभा से खिले हुए कमल को जीतनेवाली सखियों से कहा—॥१०१॥

अनादिधाविस्वपरम्पराया हेतुस्रजः स्रोतसि वेश्वरे वा।
आयत्तधीरेष जनस्तदार्याः ! किमीदृशः पर्यनुयोगयोग्यः ॥१०२॥

हे बुद्धिमती सखियो, मनुष्य का मन या तो ईश्वर के अधीन होता है या जीवात्मा के बार बार आवर्तन होनेवाले शुभाशुभ कर्मों के अनादि प्रवाह के

अधीन होता है। ऐसे पराधीन मनुष्य पर आक्षेप करना उचित नहीं ॥१०

नित्यं नियत्या परवत्यशेष कः संविदानोऽप्यनुयोगयोग्यः।
अचेतना सा च न वाकमर्हद्वक्ता तु वक्त्रश्रमकर्म भुङ्क्ते ॥१०

सब लोग सर्वदा भाग्य के अधीन हैं इस कारण जो जानता है वह निन्दा के योग्य नहीं है। भाग्य अचेतन है। इस कारण भाग्य की निन्दा करना भी उचित नहीं है। इससे निन्दक के मुख को केवल श्रम होता है॥१०

क्रमेलकं निन्दति कोमलेच्छुः क्रमेलकः कण्टकलम्पटस्तम्।
प्रीतौ तयोरिष्टभुजोः समायां मध्यस्थता नैकतरोपहासः ॥१०

कोमल वस्तु का अभिलाषी जन्तु कठिन वस्तु खाने के कारण ऊँट की निन्दा करता है और काँटे खानेवाला ऊँट कोमल खानेवाले की निन्दा करता है। दोनों अपनी इच्छानुसार खाते हैं और दोनों को एक-सा सन्तोष होता है इस कारण किसी का उपहास न करके उदासीन रहना ठीक है ॥१०४॥

गुणा हरन्तोऽपि हरेर्नरं मे न रोचमानं परिहारयन्ति।
न लोकमालोकयथापवर्गात् त्रिवर्गमर्वाञ्चममुञ्चमानम् ॥१०

इन्द्र के मनोरम गुण भी मेरे प्रीति के लक्ष्य नल को मुझसे नहीं छुड़ा सकते। हे सखियो, क्या तुम देखती नहीं हो कि धर्म, अर्थ और काम ये मोक्ष से नीचे हैं फिर भी संसार इन्हें छोड़ने के लिए तैयार नहीं है ॥१०५॥

आकीटमाकैटभवैरि तुल्यः स्वाभीष्टलाभात् कृतकृत्यभावः।
भिन्नस्पृहाणां प्रति चार्थमर्थं द्विष्टत्वमिष्टत्वमपव्यवस्थम् ॥१०

हे सखियो, कीड़े से लेकर विष्णु तक सब अपने अभीष्ट की प्राप्ति होने से कृतार्थ होते हैं। जिनकी स्पृहा जुदी जुदी है उनको किसी विषय से द्वेष और किसी से सहानुभूति करने की कोई व्यवस्था नहीं है ॥१०६॥

अध्वाग्रजाग्रन्निभृतापदन्धुर्बन्धुर्यदि स्यात् प्रतिबन्धुमर्हः।
जोषं जनः कार्यविदस्तु वस्तु पृच्छ्या निजेच्छा पदवीं मुदस्तु ॥१०

हे सखियो, अपने मित्र के मार्ग में यदि आपत्तिरूप कूप हो तो उसे रोकना उचित है लेकिन जो स्थिति को जानने कि कुछ भय नहीं है उसे

रहना चाहिये। सब को अपनी इच्छा के अनुसार सुख का रास्ता ढूँढ़ना चाहिये ॥१०७॥

इत्थं प्रतीपोक्तिमतिं सखीनां विलुप्य पाण्डित्यबलेन बाला।
अपि श्रुतस्वर्पतिमन्त्रिसूक्तिं दूतीं बभाषेऽद्भुतलोलमौलिम् ॥१०८॥

सखियों की प्रतिकूल वचन कहने की बुद्धि को पाण्डित्य के बल से इस प्रकार दूर करके दमयन्ती ने बृहस्पति की उक्तियाँ सुनने वाली तथा दमयन्ती की उक्ति सुनकर आश्चर्य के कारण मस्तक चंचल करने वाली इन्द्र की दूती से कहा— ॥१०८॥

परेतभर्तुर्मनसैव दूतीं नभस्वतैवानिलसख्यभाजः।
त्रिस्रोतसैवाम्बुपतेस्तदाशु स्थिरास्थमायातवतीं निरास्थम् ॥१०९॥

हे इन्द्र की दूती, मैं नल को अपने मन में वर रूप से स्वीकार कर चुकी हूँ अतः मुझे वश में करने का दृढ़ निश्चय कर के मेरे पास शीघ्रता से आई हुई यमराज की दूती का प्रस्ताव[1] मानो मन के द्वारा, अनिल-सखा अग्नि की दूती का प्रस्ताव मानो पवन के द्वारा तथा जलाधिपति वरुण की दूती का प्रस्ताव मानो मंदाकिनी के द्वारा मैं स्वयं ही पहले ठुकरा चुकी हूँ ॥१०९॥

भूयोऽर्थमेनं यदि मां त्वमात्थ तदा पदावालभसे मघोनः।
सतीव्रतैस्तीव्रमिमं तु मन्तुमन्तः परं वज्रिणि मार्जितास्मि ॥११०॥

हे दूती, यदि तुम इस बात को फिर मुझसे कहोगी तो तुम्हें इन्द्र की शपथ है। सती के व्रतों द्वारा इन्द्र से अपने दुःसह अपराध को क्षमा कराऊँगी ॥११०॥

इत्थं पुनर्वागवकाशनाशान्महेन्द्रदूत्यामपयातवत्याम्।
विवेश लोलं हृदयं नलस्य जीवः पुनः क्षीबमिव प्रबोधः ॥१११॥

इस प्रकार फिर वचन का अवकाश न होने से इन्द्र की दूती चली गई

१—यम मरे हुओं का स्वामी है। मरे हुओं के प्राण उसके अधीन हैं तथा मन प्राण के अधीन है इस कारण मन के द्वारा मानों यम की दूती का, अग्नि पवन का मित्र है इस कारण पवन के द्वारा मानों अग्नि की दूती का, वरुण जलपति है इस कारण मन्दाकिनी के द्वारा मानों वरुण की दूती का निराकरण किया।

तब नल के प्राणों ने चिन्ता से चंचल हृदय में फिर इस तरह से प्रवेश किया जैसे मत्त आदमी में चेतनता आती है ॥१११॥

श्रवणपुटयुगेन स्वेन साधूपनीतं
दिगधिपकृपयाप्तादीदृशः संविधानात्।
अलभत मधुवालारागवागुत्थमित्थं
निषधजनपदेन्द्रः पातुमानन्दसान्द्रम् ॥११२॥

इस प्रकार नल से दमयन्ती के अनुराग वचन से उत्पन्न हुए मधु पीने से अत्यन्त आनन्द प्राप्त किया। यह मधु उसे इन्द्र की कृपा से प्राप्त हुए अदृश्य रूप के कारण कर्णयुग रूपी दो पात्रों से प्राप्त हुआ था ॥११२॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
षष्ठः खण्डनखण्डतोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे तन्महा-
काव्येऽयं व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥११३॥

कविराजों की पंक्तियों के अलंकार रूप हीरे श्री हीर नामक पिता ने और मामल्ल देवी नामक माता ने जिस जितेन्द्रिय श्री हर्ष नामक पुत्र को उत्पन्न किया उसके अपने सहोदर खण्डन-खण्ड से भी अधिक परीक्षा के योग्य महा-काव्य-नल-चरित-में स्वभाव से सुन्दर छठा सर्ग समाप्त हुआ ॥११३॥

सप्तमः सर्गः।

अथ प्रियासादनशीलनादौ मनोरथः पल्लवितश्चिरं यः।
विलोकनेनैव स राजपुत्र्याः पत्या भुवः पूर्णवदभ्यमानि ॥१॥

फिर जो दमयन्ती के प्राप्त करने तथा उसके साथ रहने आदि का मनोरथ पहले पल्लवित हुआ था उसे नल ने दमयन्ती के देखने मात्र से पूर्ण मान लिया ॥१॥

प्रतिप्रतीकं प्रथमं प्रियायामथान्तरानन्दसुधासमुद्रे ।
ततः प्रमोदाश्रुपरम्परायां ममज्जतुस्तस्य दृशौ नृपस्य ॥२॥

नल के नेत्र पहले दमयन्ती के प्रत्येक अवयव में निमग्न हो गये, फिर आन्तरिक आनन्दरूपी अमृत के समुद्र में और फिर आनन्दाश्रुओं के प्रवाह में डूब गये ॥२॥

ब्रह्माद्वयस्यान्वभवत् प्रमोदं रोमाग्र एवाग्रनिरीक्षितेऽस्याः ।
यथौचितीत्थं तदशेषदृष्टावथ स्मराद्वैतमुदं तथासौ ॥३॥

नल ने दमयन्ती का एक रोम देखा-तभी वह ब्रह्म के साथ एक होने का आनन्द का भोग करने लगा और जब उसने इस प्रकार पूरी दमयन्ती के दर्शन किये तब तो यह उचित ही हुआ कि उसे कामदेव के साथ एकता प्राप्त करने का आनन्द मिला ॥३॥

वेलामतिक्रम्य पृथुं मुखेन्दोरालोकपीयूषरसेन तस्याः ।
नलस्य रागाम्बुनिधौ विवृद्धे तुङ्गौ कुचावाश्रयतः स्म दृष्टी ॥४॥

दमयन्ती के मुख-चन्द्र के दर्शनरूप अमृत-रस के कारण अपनी वेला को छोड़कर अनुराग-समुद्र के बढ़ने पर नल के नेत्रों ने दमयन्ती के ऊँचे[1] कुचों का सहारा लिया ॥४॥

मग्ना सुधायां किमु तन्मुखेन्दोर्लग्ना स्थिता तत्कुचयोः किमन्तः ।
चिरेण तन्मध्यममुञ्चतास्य दृष्टिः कृशीयः स्खलनाद्भिया नु ॥५॥

क्या नल की दृष्टि ने दमयन्ती की अत्यन्त कृश कमर को गिर पड़ने के डर से बहुत काल में छोड़ा ? क्या उसकी दृष्टि दमयन्ती के मुख-चन्द्र की सुधा में निमग्न हो गई थी ? क्या वह स्तनों के बीच में जम गई थी ? ॥५॥

प्रियाङ्गपान्था कुचयोर्निवृत्य निवृत्य लोला नलदृग्भ्रमन्ती ।
बभौ तमां तन्मृगनाभिलेपतमःसमासादितदिग्भ्रमेव ॥६॥

१—नल के नेत्रों की समानता उस मनुष्य से की गई है जो बढ़ते हुए समुद्र से बचने के लिए किसी ऊँची जगह का आश्रय ले ।

दमयन्ती के हर अंग को बार-बार देखनेवाली तथा स्पृहा—पूर्वक बार-बार लौटकर बार-बार भ्रमण करती नल की चञ्चल दृष्टि ने उसके कुचों की कान्ति का सहारा लिया मानों कुचों पर कस्तूरी के लेप के अंधकार के कारण उसे दिङ् मोह हो गया हो ॥६॥

विभ्रम्य तच्चारुनितम्बचक्रे दूतस्य दृक् तस्य खलु स्खलन्ती।
स्थिरा चिरादास्त तदूरुरम्भास्तम्भावुपाश्लिष्य करेण गाढम् ॥७॥

दमयन्ती के सुन्दर नितम्बरूप चक्र पर भ्रमण कर के गिरती हुई नल की दृष्टि उसके जंघारूप केले के खम्भों का किरणरूप हाथ से आलिंगन कर के बहुत कालतक निश्चल हो गई। ॥७॥

वासः परं नेत्रमहं न नेत्रं किमु त्वमालिङ्गय तन्मयापि।
उरोनितम्बोरु कुरु प्रसादमितीव सा तत्पदयोः पपात ॥८॥

नल की दृष्टि ने मानों यों कहकर दमयन्ती के चरणों में प्रणाम किया—"दमयन्ती, क्या रेशमी वस्त्र ही केवल नेत्र हैं, मैं नेत्र नहीं हूँ ? इस कारण मुझे भी अपने स्तनों, जंघाओं तथा नितम्ब का आलिंगन करने का प्रसाद दो" ॥८॥

दृशोर्यथाकाममथोपहृत्य स प्रेयसीमालिकुलं च तस्याः।
इदं प्रमोदाद्भुतसम्भृतेन महीमहेन्द्रो मनसा जगाद ॥९॥

फिर नल आनन्द तथा आश्चर्य-पूर्ण मन से दमयन्ती तथा उसकी सखियों को अपने नयनों का उपहार बनाकर मन में इस प्रकार वर्णन करने लगा ॥९॥

पदे विधातुर्यदि मन्मथो वा ममाभिषिच्येत मनोरथो वा।
तदा घटेतापि न वा तदेतत् प्रतिप्रतीकाद्भुतरूपशिल्पम् ॥१०॥

"अगर संसार को बनानेवाले विधाता के अधिकार पर कामदेव का या मेरे मनोरथ का अभिषेक हो जाय तो भी इसमें सन्देह है कि प्रत्येक अवयव में ऐसे आश्चर्य-जनक लावण्य का निर्माण हो सकेगा या नहीं ? ॥१०॥

१—नल के नेत्र दमयन्ती के अंग देखने के लिए रेशमी वस्त्र की तरह दृष्टि की तरह के नेत्र हुआ चाहते थे।

तरङ्गिणी भूमिभृतः प्रभूता जानामि शृङ्गाररसस्य सेयम् ।
लावण्यपूरोऽजनि यौवनेन यस्यां तथोच्चैस्तनताघनेन ॥११॥

"पूर्ण यौवन ने जिसमें लावण्य का प्रवाह उत्पन्न किया है तथा स्तन ऊँचे बनाये हैं वह शृंगार-रस की मूर्तिमती तरंगिणी राजा भीम से उत्पन्न हुई है जैसे जल की नदी पर्वत से निकलती है जिसमें अत्यन्त गर्जना करनेवाले मेघ के द्वारा जल प्रवाह पैदा किया जाता है ॥११॥

अस्यां वपुर्व्यूहविधानविद्यां किं द्योतयामास नवां स कामः ।
प्रत्यङ्गसङ्गस्फुटलब्धभूमा लावण्यसीमा यदिमामुपास्ते ॥१२॥

"हर अङ्ग में अपने ही सम्बन्ध से प्रचुरता को प्राप्त हुई लावण्य-सीमा दमयन्ती की सेवा करती है इस कारण कामदेव ने क्या इसी में शरीर के समूह के निर्माण में अपना कौशल दिखाया है ? ॥१२॥

जम्बालजालात् किमकर्षि जम्बूनद्या न हारिद्रनिभप्रभेयम् ।
अप्यङ्गयुग्मस्य न सङ्गचिह्नमुन्नीयते दन्तुरता यदत्र ॥१३॥

"सुवर्ण के समान कान्ति होने से क्या यह दमयन्ती जंबू नदी के पङ्क-जाल से नहीं निकाली गई है क्योंकि इसके शरीर में दो अवयवों की परस्पर सन्धि की ऊँचाई-निचाई नहीं दीखती ? ॥१३॥

सत्येव साम्ये सदृशादशेषाद् गुणान्तरेणोच्चकृषे यदङ्गैः ।
अस्यास्ततः स्यात् तुलनापि नाम वस्तु त्वमीषामुपमापमानः ॥१४॥

"दमयन्ती के अवयव, कुछ समानता होने पर भी, अन्य उपमा के योग्य वस्तुओं से विशेष गुणों के कारण उत्कृष्ट हैं । इस कारण क्या उसके साथ समानता होना सम्भव है ? उन अवयवों की किसी के साथ समानता करने से केवल उनका तिरस्कार होगा ॥१४॥

पुराकृतिस्त्रैणमिमां विधातुमभूद्विधातुः खलु हस्तलेखः ।
येयं भवद्भाविपुरन्ध्रिसृष्टिः सास्यै यशस्तज्जयजं प्रदातुम् ॥१५॥

"पहले जमाने में बनाई गई स्त्रियाँ दमयन्ती के निर्माण के उद्देश्य से विधाता के हाथ का केवल शुरू का अभ्यास था । अब वर्तमान तथा भविष्य में

जो स्त्रियाँ होंगी वे दमयन्ती को अपने से सौन्दर्य में बढ़ने का यश देंगी ॥१५॥

भव्यानि हानीरगुरेतदङ्गाद्यथा यथानर्तिं तथा तथा तैः ।
अस्त्राधिकस्योपमयोपमाता दाता प्रतिष्ठां खलु तेभ्य एव ॥१६॥

"सुन्दर वस्तुएँ दमयन्ती से जिस प्रकार नीची हुईं उसी तरह उनको प्रसन्नता हुई क्योंकि उसके अधिक उत्कृष्ट अङ्ग के साथ उपमा देने से कवि के द्वारा उनकी भी प्रतिष्ठा बढ़ेगी ॥१६॥

नास्पर्शि दृष्टापि विमोहिकेयं दोषैरशेषैः स्वभियेति मन्ये ।
अन्येषु तैराकुलितस्तदस्यां वसत्यसापत्न्यसुखी गुणौघः ॥१७॥

'दमयन्ती को देखने से ही दर्शक को मदन-विकार हो जाता है। इस भय से मेरी समझ में सब दोषों ने उसका स्पर्श नहीं किया। इस कारण दोष से स्पर्श न किये गये गुण शत्रु-रहित होकर उसमें रहते हैं ॥१७॥

औज्झि प्रियाङ्गैर्घृणयैव रूक्षा न वारिदुर्गात्तु वराटकस्य ।
न कण्टकैरावरणाच्च कान्तिर्धूलीभृता काञ्चनकेतकस्य ॥१८॥

"दमयन्ती के अवयवों ने बीज-कोष की रूक्ष कान्ति को जुगुप्सा के कारण छोड़ दिया। इस वजह से नहीं कि वह जल-दुर्ग में रहता था। सुन हरी केतकी-कुसुम की धूलियुक्त कान्ति को भी उन्होंने जुगुप्सा के कारण छोड़ दिया। इस वजह से नहीं कि वह काँटों से व्याप्त था ॥१८॥

प्रत्यङ्गमस्यामभिकेन रक्षा कर्तुं मघोनेव निजास्त्रमस्ति ।
वज्रञ्च भूषामणिमूर्तिधारि नियोजितं तद्द्युतिकार्मुकं च ॥१९॥

"दमयन्ती के कामुक इन्द्र ने प्रत्येक अवयव की रक्षा करने के लिए अलङ्कारों के मणियों में अपने वज्र को तथा उनकी द्युति में धनुष को दमयन्ती में नियुक्त कर दिया ॥१९॥

१—जो दर्शन-मात्र से मोह उत्पन्न करती है उस दमयन्ती का स्पर्श करते तो न जाने क्या विकार पैदा हो जाय—यह सोचकर दोषों ने उसका स्पर्श नहीं किया। इस कारण, बिना किसी दोष रूपी शत्रु के, गुण उसमें सुखी न होकर रहे हैं। अन्यत्र तो दोष गुणों को व्याकुल कर देते हैं।

अस्याः सपक्षैकविधोः कचौघः स्थाने मुखस्योपरि वासमाप ।
पक्षस्थतावद्बहुचन्द्रकोऽपि कलापिनां येन जितः कलापः ॥२०॥

"जिसका केवल चन्द्रमा मित्र है उस मुख के ऊपर केश-कलाप ने स्थान पाया—यह बहुत ठीक हुआ क्योंकि उसने पङ्खों में स्थित बहुत से चन्द्र वाले मोर पङ्खों को जीत लिया था ॥२०॥

अस्या यदास्येन पुरस्तिरश्च तिरस्कृतं शीतरुचान्धकारम् ।
स्फुटस्फुरद्भङ्गिकचच्छलेन तदेव पश्चादिदमस्ति बद्धम् ।२१॥

"दमयन्ती के मुख-चन्द्र ने आगे के और तिरछे अन्धकार को हटाया था, वही ऊँचे नीचे केशों के बहाने पीछे बाँधा गया है ॥२१॥

अस्याः कचानां शिखिनश्च किंतु विधिं कलापौ विमतेरगाताम् ।
तेनायमेभिः किमपूजि पुष्पैरभर्त्सि दत्वा स किमर्धचन्द्रम् ॥२२॥

"क्या दमयन्ती के केश और मोरपङ्ख आपस में बहस होने के कारण ब्रह्मा के पास गये थे ? क्या ब्रह्मा ने केश पाश की पुष्पों से पूजा की तथा मोरपङ्ख को अर्धचन्द्र[1] देकर ताड़ना की ? ॥२२॥

केशान्धकारादथ दृश्यभालस्थलार्धचन्द्रा स्फुटमष्टमीयम् ।
एनां यदासाद्य जगज्जयाय मनोभुवा सिद्धिरसाधि साधु ॥२३॥

"केशरूपी अंधकार तथा भालरूपी अर्ध-चन्द्रवाली दमयन्ती अष्टमी की रात्रि है । इस कारण इसे प्राप्त कर के संसार के जीतने के लिए कामदेव ने जो सिद्धि[2] प्राप्त की है वह ठीक ही है ॥२३॥

पौष्पं धनुः किं मदनस्य दाहे श्यामीभवत् केसरशेषमासीत् ।
व्यधाद्द्विधेशस्तदपि क्रुधा किं भैमीभ्रुवौ येन विधिर्व्यधत्त ॥२४॥

"क्या कामदेव के पुष्पमय धनुष के, जो उसके दाह के समय काला पड़ गया था, केवल केसर ही बाकी बचे थे ? क्या शिव ने क्रोध में उसके भी दो

1—अर्थात् उसे गरदन पकड़कर बाहर निकाल दिया । अर्धचन्द्र के आकार के चाँद मोरपंख में बने रहते हैं इसी से यहाँ उत्प्रेक्षा की गई है ।

2—इस्लाम की अष्टमी की रात्रि में सिद्धि का प्रयोग किया जाता है ।

भाग कर दिये थे जिनसे विधाता ने दमयन्ती की भौंहें बनाई हैं ॥२४॥

भ्रूभ्यां प्रियाया भवता मनोभूचापेन चापे घनसारभावः।
निजां यदप्लोषदशामपेक्ष्य सम्प्रत्यनेनाधिकवीर्यतार्जि ॥२५॥

"दमयन्ती की भौंह को प्राप्त हो कर कामदेव का धनुष अत्यन्त दृढ़ हो गया क्योंकि अपनी पहली अवस्था की अपेक्षा दग्ध होने पर उसने अधिक पराक्रम प्राप्त किया ॥२५॥

स्मारं धनुर्यद्द्विनोज्झितास्या यास्येन भूतेन च लक्ष्मरेखा।
एतद्भ्रुवो जन्म तदाप युग्मं लीलाचलत्वोचितबालभावम् ॥२६॥

"कामदेव के धनुष के तथा दमयन्ती का मुख हुए चन्द्रमा के द्वारा त्यागी गई कलंक-रेखा—इन दोनों ने दमयन्ती की भौंहों का जन्म पाया और विलास तथा चेष्टा से उचित बाल[1]-भाव प्राप्त किया ॥२६॥

इषुत्रयेणैव जगत्त्रयस्य विनिर्जयात् पुष्पमयाशुगेन।
शेषा द्विबाणी सफलीकृतेयं प्रियादृगम्भोजपदेऽभिषिच्य ॥२७॥

"पुष्परूपी बाणधारी कामदेव तीन बाणों से तीन लोकों का वशीकरण करने के कारण बचे हुए दो बाणों का दमयन्ती के दो नेत्ररूप कमलों में अभिषेक करके सफल हुआ ॥२७॥

सेयं मृदुः कौसुमचापयष्टिः स्मरस्य मुष्टिग्रहणार्हमध्या।
तनोति नः श्रीमदपाङ्गमुक्तां मोहाय या दृष्टिशरौघवृष्टिम् ॥२८॥

"जो दमयन्ती हममें मोह पैदा करने के लिए सुन्दर नेत्र-प्रान्त से बाण-रूप दृष्टि की वृष्टि करती है तथा जिसकी कमर मुट्ठी में आ जाने लायक है वह कामदेव की पुष्पमयी धनुर्लता है ॥२८॥

आघूर्णितं पक्ष्मलमक्षिपद्मं प्रान्तद्युतिश्वैत्यजितामृतांशु।
अस्या इवास्याश्चलदिन्द्रनीलगोलामलश्यामलतारतारम् ॥२९॥

"दमयन्ती के नेत्र-कमल दमयन्ती के ही नेत्र-कमल हैं जो खुले हुए हैं

1—केश-भाव; शैशव

रोम-सहित हैं, कोयों की कान्ति की सफेदी से चन्द्रमा पर विजय प्राप्त करते हैं तथा चंचल नीलम की गोलियों के समान निर्मल, श्याम तथा चमकती हुई पुतली वाले हैं ॥२९॥

कर्णोत्पलेनापि मुखं सनाथं लभेत नेत्रद्युतिनिर्जितेन ।
यद्येतदीयेन ततः कृतार्था स्वचक्षुषी किं कुरुते कुरङ्गी ॥३०॥

"मृगी यदि दमयन्ती के नेत्रों की कान्ति से जीता गया [1]कर्णोत्पल युक्त मुख प्राप्त करे तो कृतार्थ हो जाय पर फिर वह अपने नेत्रों का क्या करेगी ? ॥३०॥

त्वचः समुत्तार्य दलानि रीत्या मोचात्वचः पञ्चषपाटनायाम् ।
सारैगृहीतैर्विधिरुत्पलौघादस्यामभूदीक्षणरूपशिल्पी ॥३१॥

"केले के बाहर की छाल क्रम से जुदी कर के तथा कमल के बाहर के पत्तों को जुदा करके पाँच छह दलों का सार लेकर विधाता ने दमयन्ती के नेत्रों की रमणीयता बनाई है ॥३१॥

चकोरनेत्रैणदृगुत्पलानां निमेषयन्त्रेण किमेष कृष्टः ? ।
सारः सुधोद्गारमयः प्रयत्नैर्विधातुमेतन्नयने विधातुः ॥३२॥

"दमयन्ती के नेत्र बनाने के लिए ब्रह्मा के प्रयत्न से चकोर के नेत्रों का, हिरनियों के नेत्रों का तथा कमलों का पीयूष-निर्झर रूप सार निमेष-यन्त्र से खींचा गया है क्या ? ॥३२॥

ऋणीकृता किं हरिणीभिरासीदस्याः सकाशान्नयनद्वयश्रीः ।
भूयोगुणेयं सकला बलाद्यत्ताभ्योऽनयालभ्यत बिभ्यतीभ्यः ॥३३॥

"हिरनियों ने क्या दमयन्ती से नेत्रों की शोभा उधार ली थी क्योंकि दमयन्ती ने डरती हुई हिरनियों से अपने नेत्रों की अनेक तरह की तथा पूरी शोभा बलात्कार से प्राप्त की है ॥३३॥

१—यदि दमयन्ती के नेत्रों से जीते गये भी कर्णोत्पल से मृगी का मुख सनाथ हो जाय तो वह अपने नेत्रों का त्याग ही कर दे क्योंकि वे अत्यन्त हीन और निष्प्रयोजन हो जायँगे। अगर दमयन्ती के नेत्र उसे मिल जायँ तब तो फिर कहना ही क्या है ?

दृशौ किमस्याश्चपलस्वभावे न दूरमाक्रम्य मिथो मिलेताम्।
न चेत्कृतः स्यादनयोः प्रयाणे विघ्नः श्रवःकूपनिपातभीत्या ॥३४॥

"क्या दमयन्ती के अत्यन्त चञ्चल नेत्र दूर जाकर आपस में एक दूसरे से मिलते नहीं हैं ? यदि उनके जाने में कर्ण रूपी कूप में गिरने के डर का विघ्न न हो ? ॥३४॥

केदारभाजा शिशिरप्रवेशात् पुण्याय मन्ये मृतमुत्पलिन्या।
जाता यतस्तत्कुसुमेक्षणेयं यतश्च तत्कोरकदृक् चकोरः ॥३५॥

क्यारी में लगी हुई कमलिनी शिशिर ऋतु का प्रवेश होने पर पुण्य प्राप्त करने के लिए मर गई क्योंकि उसके फूल दमयन्ती के नेत्र हो गये और उसकी कलियाँ चकोर के नेत्र हो गये ॥३५॥

नासादसीया तिलपुष्पतूणं जगत्त्रयन्यस्तशरत्रयस्य।
श्वासानिलामोदभरानुमेयां दधद्द्विबाणीं कुसुमायुधस्य ॥३६॥

"इसकी नाक तिल के पुष्पों का बनाया हुआ तरकस है जो तीनों लोकों के विजय के लिए तीन बाण छोड़ने वाले कामदेव के दो बाण धारण करता है उनका श्वास की पवन के परिमल से अनुमान होता है ॥३६॥

बन्धूकबन्धूभवदेतदस्या मुखेन्दुनानेन सहोज्जिहाना।
रागश्रिया शैशवयौवनीयां स्वमाह सन्ध्यामधरोष्ठलेखा ॥३७॥

"इसके मुख-चन्द्र के साथ उत्पन्न हुई अधरोष्ठ की रेखा अपने को शैशव तथा तारुण्य की सन्ध्या बतलाती है और अपने लाल रङ्ग की सुन्दरता से बन्धूक के फूल की समानता धारण करती है ॥३७॥

अस्या मुखेन्दावधरः सुधाभूबिम्बस्य युक्तः प्रतिबिम्ब एषः।
तस्याथ वा श्रीद्रुमभाजि देशे सम्भाव्यमानास्य तु विद्रुमे सा ॥३८॥

"इसके मुख-चन्द्र में विद्यमान अधरोष्ठ अमृत की भूमि में उत्पन्न

१—आशय यह है कि उसके नेत्र बहुत बड़े हैं जो कान तक पहुँच जाते हैं

बिम्ब फल के समान है। उसकी शोभा द्रुम-सहित देश में होती है और इसकी बिना द्रुम के ॥३८॥

जानेऽतिरागादिदमेव बिम्बं बिम्बस्य च व्यक्तिमितोऽधरत्वम्।
द्वयोर्विशेषावगमाक्षमाणां नाम्नि भ्रमोऽभूदनयोर्जनानाम् ॥३९॥

"मेरी समझ में इसका अधरोष्ठ ही बिम्बफल है क्योंकि इसका घना लाल रङ्ग है। बिम्बफल की इससे हीनता तो प्रकट ही है। नाम के कारण लोगों को भ्रम था क्योंकि वे दोनों में भेद नहीं समझ सके ॥३९॥

मध्योपकण्ठावधरोष्ठभागौ भातः किमप्युच्छ्वसितौ यदस्याः।
तत्स्वप्नसम्भोगवितीर्णदन्तदंशेन किं वा न मयापराद्धम्? ॥४०॥

"दमयन्ती के अधरोष्ठ के केन्द्र के पार्श्व के दोनों भाग कुछ उठे हुए से मालूम होते हैं। स्वप्न में दमयन्ती के साथ मेरा जो सम्भोग हुआ था उसमें दन्त-क्षत करके क्या मैंने अपराध नहीं किया? ॥४०॥

विद्या विदर्भेन्द्रसुताधरोष्ठे नृत्यन्ति कत्यन्तरभेदभाजः।
इतीव रेखाभिरपश्रमस्ताः संख्यातवान् कौतुकवान् विधाता ॥४१॥

"अपने अवान्तर भेदों के साथ कितनी विद्याएँ दमयन्ती के नीचे के होठ पर नाचती हैं—यह जानने के लिए कौतुकी विधाता ने श्रम छोड़कर वहाँ बनी हुई रेखाओं से उन विद्याओं की गणना की है ॥४१॥

सम्भुज्यमानाद्य मया निशान्ते स्वप्नेऽनुभूता मधुराधरेयम्।
असीमलावण्यरदच्छदेत्थं कथं मयैव प्रतिपद्यते वा? ॥४२॥

"आज रात्रि को अवसान होने पर स्वप्न में जब मैंने दमयन्ती के साथ सम्भोग किया तब मैंने अनुभव किया कि यह मधुर-अधर वाली है। परन्तु आश्चर्य है कि वही मैं अब उसी दमयन्ती को असीम-लावण्याधरा से (=असीम लावण्ययुक्त-सौन्दर्ययुक्त-एवं नमकीन अधरवाली) कैसे मान रहा हूँ? ॥४२॥

१—बिम्ब की अपेक्षा अधर अधिक लाल है। वही बिम्ब है। बिम्ब को तो अधर कहना चाहिये क्योंकि वह ओठ से अधर अर्थात् घटिया है।

यदि प्रसादीकुरुते सुधांशोरेषा सहस्रांशमपि स्मितस्य।
तत्कौमुदीनां कुरुते तमेव निमिच्छ्य देवः सफलं स जन्म ॥४३॥

"यदि दमयन्ती अपनी मुसकुराहट का सहस्रांश भी चन्द्रमा को दे दे तो चन्द्रमा नीराजन की तरह चाँदनी से उसकी पूजा कर अपनी चाँदनी का जन्म सफल कर लेता ॥४३॥

चन्द्राधिकैतन्मुखचन्द्रिकाणां दरायतं तत्किरणाद्घनानाम्।
पुरःपरिस्रस्तपृषद्द्वितीयं रदावलिद्वन्द्वति त्रिन्दुवृन्दम् ॥४४॥

"इसके चन्द्रमा से अधिक उत्कृष्ट मुख से निकलीं, चन्द्रमा की किरणों की अपेक्षा घनी, जरा बड़ी कान्ति की बूँदे दाँतों की दो पंक्तियाँ मालूम हुईं पहले निकली छोटी छोटी बूँदें नीचे के दाँत हुईं और बाद में निकली बड़ी बूँदें ऊपर के दाँत ॥४४॥

सेयं ममैतद्विरहार्तिमूर्च्छातमीविभातस्य विभाति सन्ध्या।
महेन्द्रकाष्ठागतरागकर्त्री द्विजैरमीभिः समुपास्यमाना ॥४५॥

"वह दमयन्ती, जिसने इन्द्र के अनुराग को सीमा तक पहुँचा दिया तथा इन दाँतों से जिसकी सेवा इसतरह की जाती है जैसे पूर्व में लाली पैदा करने वाली प्रभात संध्या की पूजा ब्राह्मण करते हैं, मेरे वियोग से उत्पन्न हुई पीड़ा के कारण मूर्च्छारूपी निशा के प्रभात की संध्या[1] मालूम होती है ॥४५॥

राजौ द्विजानामिह राजदन्ताः संबिभ्रति श्रोत्रियविभ्रमं यत्।
उद्वेगरागादिमृजावदाताश्चत्वार एते तदवैमि मुक्ताः ॥४६॥

"मेरी समझ में इस दाँतों की पंक्ति में सामने के चार दाँत मोती हैं क्योंकि ये ताम्बूल इत्यादि का रंग धुल जाने से उज्ज्वल हैं तथा श्रोत्रियों का विभ्रम धारण करते हैं जो उद्वेग तथा अभिलाष आदि के त्याग के कारण उज्ज्वल होते हैं ॥४६॥

१ अर्थात् दमयन्ती के दर्शन से मूर्च्छा आती है।

शिरीषकोशादपि कोमलाया वेधा विधायाङ्गमशेषमस्याः ।
प्राप्तप्रकर्षः सुकुमारसर्गे समापयद्वाचि मृदुत्वमुद्राम् ॥४७॥

"विधाता ने दमयन्ती के सब अवयवों को शिरीष के फूलों से भी कोमल बना कर सुकुमार वस्तुओं की सृष्टि में प्रकर्ष प्राप्त करके इसकी वाणी में सुकुमारता की मुहर लगा दी है ॥४७॥

प्रसूनबाणाद्वयवादिनी सा काचिद्द्विजेनोपनिषत्पिकेन ।
अस्याः किमास्यद्विजराजतो वा नाधीयते भैक्षभुजा तरुभ्यः ॥४८॥

"अथवा वृक्षों से भिक्षा लेकर भोजन करने वाली कोकिल ने पक्षी होकर उसके मुख-चन्द्र से कामदेव को अद्वैतवादिनी [1]उपनिषत् क्या नहीं सीखी जैसे भिक्षा-वृत्तिवाला ब्राह्मण श्रेष्ठ ब्राह्मण से एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म आदि उपनिषत् सीखता है ॥४८॥

पद्माङ्कसद्मानमवेत्य लक्ष्मीमेकस्य विष्णोः श्रयणात् सपत्नीम् ।
आस्येन्दुमस्या भजते जिताब्जं सरस्वती तद्विजिगीषया किम् ॥४९॥

"कमल में रहने वाली अपनी सपत्नी लक्ष्मी को जीतने की इच्छा से वाणी सौन्दर्य से कमल को जीतने वाले दमयन्ती के मुख की सेवा करती है क्या ! क्योंकि दोनों विष्णु के पास रहती हैं ॥४९॥

कण्ठे वसन्ती चतुरा यदस्याः सरस्वती वादयते विपञ्चीम् ।
तदेव वाग्भूय मुखे मृगाक्ष्याः श्रोतुः श्रुतौ याति सुधारसत्वम् ॥५०॥

"दमयन्ती के कण्ठ में रहती हुई चतुर सरस्वती जो वीणा बजाती है वह दमयन्ती के मुख में वाणी होकर श्रोता के कान में अमृत बरसाती है ॥५०॥

विलोकितास्या मुखमुन्नमय्य किं वेधसेयं सुषमासमाप्तौ ।
धृत्युद्भवा यच्चिबुके चकास्ति निम्ने मनागङ्गुलियन्त्रणेव ॥५१॥

१—दमयन्ती की वाणी रूप रहस्य जिससे कामदेव के साथ एकता होती है । भावार्थ यह है कि उसे सीख तो लिया पर अभी कोकिल को उस पर पूरा अधिकार नहीं हुआ । अभी तो कोकिल पंचमस्वर में उसका अभ्यास करती है ।

"दमयन्ती के मुख-निर्माण की शोभा समाप्त हो जाने पर क्या वि... ने उसका मुख कुछ ऊँचा उठा कर देखा था क्योंकि इसकी गम्भीर ठोड़ी ... उँगली लगने का निशान है ॥५१॥

प्रियामुखीभूय सुखी सुधांशुर्जयत्ययं राहुभयव्ययेन।
इमां दधाराधरबिम्बलीलां तस्यैव बालं करचक्रवालम् ॥...

"चन्द्रमा दमयन्ती का मुख होकर राहु के भय के अभाव से सुखी ... गया है और वही अपने उदय समय के किरण मण्डल को अधर-बिम्ब ... लीला धारण कराता है ॥५२॥

अस्या मुखस्यास्तु पूर्णिमास्यं पूर्णस्य जित्वा महिमा हिमांशुम्।
भ्रूलक्ष्म खण्डं दधदर्धमिन्दुर्भालस्तृतीयः खलु यस्य भागः ॥...

"पूर्णिमा के मुख-चन्द्रमा को जीतने वाले इसके विशाल मुख ... कीर्ति नहीं मिलेगी ? इसके मुख का तीसरा हिस्सा-ललाट-अर्धचन्द्र है ... भौंहें कलङ्क हैं ॥५३॥

व्यधत्त धाता मुखपद्ममस्याः सम्राजमम्भोजकुलेऽखिलेऽपि।
सरोजराजौ सृजतोऽदसीयां नेत्राभिधेयावत एव सेवाम् ॥...

"विधाता ने सब कमलों के कुल में दमयन्ती के मुख-कमल को ... बनाया। इस कारण दो नेत्र-संज्ञक कमलराट् उसकी सेवा करते हैं ॥५४॥

दिवारजन्यो रविसोमभीते चन्द्राम्बुजे निक्षिपतः स्वलक्ष्मीम्।
आस्ये यदास्या न तदा तयोः श्रीरेकश्रियेदं तु कदा न कान्तम् ॥...

"दिन और रात में सूर्य और चन्द्रमा से डरकर चन्द्र और कमल ... शोभा जब उसके मुख में रख देते हैं तब इनमें सुन्दरता नहीं रहती ... या दूसरे की शोभा के कारण उसका मुख कब सुन्दर नहीं होता ? ॥५५॥

१—दिन में चन्द्रमा नहीं होता तब तो उसका मुख चन्द्रमा की शोभा ... करता है और रात्रि में जब कमल नहीं खिलता तब उसका मुख कमल की ... धारण करता है।

अस्या मुखश्रीप्रतिबिम्बमेव जलाच्च तातान्मुकुराच्च मित्रात् ।
अभ्यर्थ्य धत्तः खलु पद्मचन्द्रौ विभूषणं याचितकं कदाचित् ॥५६॥

"कमल और चन्द्रमा दोनों अपने पिता जल और अपने मित्र दर्पण से याचना करके उसके मुख की शोभा का प्रतिबिम्ब धारण करते हैं ॥५६॥

अर्काय पत्ये खलु तिष्ठमाना भृङ्गैर्मितामक्षिभिरम्बुकेलौ ।
भैमीमुखस्य श्रियमम्बुजिन्यो याचन्ति विस्तारितपद्महस्ताः ॥५७॥

"अपने विकास से सूर्य को अपना भाव जताने की उत्सुक कमलिनियाँ जल-क्रीड़ा के समय भृंग रूप नेत्रों से पहचान कर दमयन्ती के मुख की शोभा कमल रूप हाथ फैलाकर दमयन्ती से माँगती हैं ॥५७॥

अस्या मुखेनैव विजित्य नित्यस्पर्धी मिलत्कुङ्कुमरोषभासा ।
प्रसह्य चन्द्रः खलु नह्यमानः स्यादेव तिष्ठत्परिवेषपाशः ॥५८॥

"दमयन्ती के कुंकुम रूपी क्रोध से लाल मुख ने सदा स्पर्धा करने वाले चन्द्रमा का बलपूर्वक पराभव करके परिवेश रूप पाश से क्या उसे बाँधा नहीं है ! ॥५८॥

विधोर्विधिर्बिम्बशतानि लोपं लोपं कुहूरात्रिषु मासि मासि ।
अभङ्गुरश्रीकममुं किमस्या मुखेन्दुमस्थापयदेकशेषम् ॥५९॥

"विधाता ने प्रत्येक मास में अमावास्या की रात्रियों में चन्द्रमा के बहुत से मण्डल बिगाड़कर केवल स्थायी शोभावाला दमयन्ती का मुख चन्द्र बनाया है ॥५९॥

कपोलपत्रान्मकरात् सकेतुर्भ्रूभ्यां जिगीषुर्धनुषा जगन्ति ।
इहावलम्ब्यास्ति रतिं मनोभूरज्यद्वयस्यौ मधुनाधरेण ॥६०॥

"कपोलों पर लिखी हुई मछली से चिन्ह-सहित, भौंह रूपी धनुष से जगत् को जीतने का इच्छुक, मधुर अधर के रूप में वसन्त से युक्त कामदेव रति का अवलम्बन करके दमयन्ती के मुख में रहता है ॥६०॥

१—प्रीतिं कामदेव की भार्या ।

वियोगबाष्पाञ्चितनेत्रपद्मच्छद्मार्पितोत्सर्गपयःप्रसूनौ ।
कर्णौ किमस्या रतितत्प्रतिभ्यां निवेद्यपूपौ विधिशिल्पमीदृक् ॥६१॥

"इसके दोनों कान रति तथा कामदेव के उपहार के मालपुए हैं क्या—जिन्हें विधाता ने बनाया है ? क्या वियोग से उत्पन्न हुए अश्रुओं से पूर्ण नेत्र-कमल दान के साथ दिये गये जल और पुष्प हैं ? ॥६१॥

इहाविशद्येन पथातिवक्रः शास्त्रौघनिष्यन्दसुधाप्रवाहः ।
सोऽस्याः श्रवःपत्रयुगे प्रणालीरेखेव धावत्यसिकर्णकूपम् ॥६२॥

"इसके कानों के छेद की तरफ दौड़ने वाली कर्णफूलों की रेखा ही वह मार्ग है जिससे अत्यन्त कुटिल शास्त्र-समूह के सार-भाग रूप सुधा-प्रवाह ने इसके कर्ण-कूप में प्रवेश किया था ॥६२॥

अस्या यदष्टादश संविभज्य विद्याः श्रुती दध्रतुरर्धमर्धम् ।
कर्णान्तरुत्कीर्णगभीरलेखः किं तस्य संख्यैव न वा नवाङ्कः ॥६३॥

"इसके दोनों कान अठारह विद्याओं के दो विभाग करके आधा आधा धारण करते हैं । कान के बीच में गहरी रेखा उठने से ९ का अङ्क आकार पैदा नहीं करता है क्या ? ॥६३॥

मन्येऽमुना कर्णलतामयेन पाशद्वयेन च्छिदुरेतरेण ।
एकाकिपाशं वरुणं विजिग्येऽनङ्गीकृताऽऽयासततो रतीशः ॥६४॥

"मेरी समझ में बिना श्रम के ही कामदेव ने इसके कर्ण-लता-मय हद दोनों पाशों से एक पाशवाले वरुण को सुख से जीत लिया ॥६४॥

आत्मैव तातस्य चतुर्भुजस्य जातश्चतुर्दोरुचितः स्मरोऽपि ।
तच्चापयोः कर्णलते भ्रुवोर्ज्ये वंशत्वगंशौ चिपिटे किमस्याः ॥६५॥

"अपने पिता चतुर्भुज स्वरूप होकर कामदेव भी चार भुजा वाला हो गया । क्या दमयन्ती की विस्तृत कर्ण-लताएँ दो भ्रू-रूप धनुषों की—खाल से बनी—प्रत्यंचा नहीं है ? ॥६५॥

१ वरुण दमयन्ती का कामुक था जिसके पास एक ही पाश था

ग्रीवाद्भुतैवावटुशोभितापि प्रसाधिता माणवकेन सेयम् ।
आलिङ्ग्यतामप्यवलम्बमाना सुरूपताभागखिलोर्ध्वकाया ॥६६॥

"दमयन्ती की ग्रीवा आश्चर्य-जनक है। यह अवटु से शोभायमान है तथा अलङ्कृत है। इसका सौन्दर्य आलिङ्गन योग्य है। इससे सब शरीर के ऊपरके भाग को शोभा मिलती है ॥६६॥

कवित्वगानप्रियवादसत्यान्यस्या विधाता व्यधिताधिकण्ठम् ।
रेखात्रयन्यासमिषादीषां वासाय सोऽयं विबभाज सीमाः ॥६७॥

"विधाता ने इसके कण्ठ में कवित्व, गान, प्रियवचन तथा सत्य की रचना की। उसने तीन रेखाओं के बहाने इन चारों के जुदे जुदे निवास के लिए सीमा को चार हिस्सों में बाँट दिया ॥६७॥

बाहू प्रियाया जयतां मृणालं द्वन्द्वे जयो नाम न विस्मयोऽस्मिन् ।
उच्चैस्तु तच्चित्रममुष्य भग्नस्यालोक्यते निर्व्यथनं यदन्तः ॥६८॥

"दमयन्ती की बाहुएँ मृणाल जीत लें तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। युद्ध में एक की जय तो अवश्य ही होगी पर यह बड़े आश्चर्य की बात है कि मृणाल का हृदय निर्व्यथन मिलता है ॥६८॥

अजीयतावर्तशुभंयुनाभ्यां दोर्भ्यां मृणालं किमु कोमलाभ्याम् ।
निःसूत्रमास्ते घनपङ्कमृत्सु मूर्तासु नाकीर्तिषु तन्निमग्नम् ॥६९॥

"क्या दक्षिणावर्त से रमणीय नाभि वाली दमयन्ती दोनों कोमल भुजाओं से मृणाल का पराजय कर दिया? क्या इसी से वह निरुपाय होकर घनी-शरीरधारिणी अकीर्ति के सदृश—कर्दम की मिट्टी में निमग्न हो गया है? ॥६९॥

रज्यन्नखस्याङ्गुलिपञ्चकस्य मिषादसौ हैङ्गुलपद्मतूणे ।
हैमैकपुङ्खास्ति विशुद्धपर्वा प्रियाकरे पञ्चशरी स्मरस्य ॥७०॥

"कामदेव के पाँच वाण रक्त नखों से युक्त पाँच उँगलियों के बहाने दम-

१—ग्रीवा का पुरोभाग।
२—व्यथा रहित, छेद सहित।

यन्ती के हाथ में है जो हिंगुल से रँगा कमल रूप तरकस है। उनके पुङ्ख उज्ज्वल सुवर्ण-मय हैं। उनकी गाठें सीधी हैं ॥७०॥

अस्याः करस्पर्शनगर्धनर्द्धिर्बालत्वमापत् खलु पल्लवो यः।
भूयोऽपि नामाधरसाम्यगर्वं कुर्वन् कथं वाऽस्तु स न प्रवालः ॥७१॥

"जिस पल्लव को इसके पाणि के साथ स्पर्धा करने की अभिलाषा थी वह बालत्व को प्राप्त हुआ। वह फिर होठ के बराबर होने का गर्व करने से प्रवाल क्यों न हुआ? ॥७१॥

अस्यैव सर्गाय भवत्करस्य सरोजसृष्टिर्मम हस्तलेखः।
इत्याह धाता हरिणेक्षणायां किं हस्तलेखीकृतया तया स्याम् ॥७२॥

"दमयन्ती, तुम्हारे हाथ के ही निर्माण के लिए कमलों की सृष्टि करके मैंने अभ्यास किया है"—यह विधाता ने मृगाक्षी दमयन्ती से उसके हाथ में कमल की रेखाएँ बनाकर यों कहा? ॥७२॥

किं नर्मदाया मम सेयमस्या दृश्याऽभितो बाहुलता मृणाली।
कुचौ किमुत्तस्थतुरन्तरीपे स्मरोष्मशुष्यत्तरबाल्यवारः ॥७३॥

"क्या मुझे सुख देने वाली इस नर्मदा नदी (=दमयन्ती) के दोनों ओर

१—बालत्व को प्राप्त होने से आशय नवीन हो जाने का है। क्योंकि नवीन पल्लव ही लाल होने से पाणि की साम्यता करने योग्य होता है। बालत्व का दूसरा अर्थ मूर्खत्व का भी है अर्थात् अपनी अपेक्षा अधिक पाणि के साथ स्पर्धा करके पल्लव मूर्खत्व को प्राप्त हुआ। स्वयं पद् का लव (=पल्लव) अर्थात् चरण का अवयव पाणि के साथ स्पर्धा करे तो वह अवश्य मूर्ख है क्योंकि पाणि उत्कृष्ट और चरण अति निकृष्ट होता है।

२—प्रवाल = अत्यन्त नवीन। जिसने पाणि के साथ भी समता प्राप्त नहीं की वह पाणि की अपेक्षा अधिक लाल अधर की साम्यता चाहने से प्रवाल (=प्रकृष्ट मूर्ख) क्यों नहीं हुआ? आशय यह है कि दमयन्ती के पाणि नये पल्लव से अधिक लाल हैं। अधर वर्णन तो प्रासंगिक है।

दीवर्ती बाहु-लताएँ मृणाली हैं ? तारुण्य के तेज से उसमें शैशव का जल सूख गया तब निकले इसके कुच क्या दो द्वीप नहीं हैं ? ॥७३॥

तालं प्रभुस्यादनुकर्तुमेतावुत्थानसुस्थौ पतितं न तावत् ।
परं च नाश्रित्य तरुं महान्तं कुचौ कृशाङ्ग्याः स्वत एव तुङ्गौ ॥७४॥

"ऊँचे होने से सुखी ताल फल अगर पृथ्वी पर न गिरे हों तो इसके कुचों का अनुकरण करने को समर्थ हों। पर अत्यन्त ऊँचे ताल, वृक्ष पर आश्रित होने से, ऊँचे होकर भी कुच की समानता करने में समर्थ नहीं होंगे क्योंकि कुच बिना किसी सहारे के ऊँचे हैं ॥७४॥

एतत्कुचस्पर्धितया घटस्य ख्यातस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्वम् ।
तस्माच्च शिल्पान्मणिकादिकारी प्रसिद्धनामाजनि कुम्भकारः ॥७५॥

"शास्त्रों में दृष्टान्त दिया गया है कि दमयन्ती के स्तन के साथ स्पर्धा करने में कुम्भ ही प्रसिद्ध है। झारी तथा अन्य वस्तु बनाने वाला अपने शिल्प से—दमयन्ती के कुच से स्पर्धा करने वाले—कुम्भ के निर्माण से ही प्रसिद्ध होकर कुम्भकार हुआ ॥७५॥

गुच्छालयस्वच्छतमोदविन्दुवृन्दाभमुक्ताफलफेनिलाङ्के ।
माणिक्यहारस्य विदर्भसुभ्रूपयोधरे रोहति रोहितश्रीः ॥७६॥

"मानक के हार की लाल कान्ति दमयन्ती के कुचों पर शोभायमान है। उन कुचों का मध्यभाग हार में लगे अत्यन्त निर्मल जल-विन्दु के समान आभा वाले मुक्ता फलों से मानों फेनयुक्त है ॥७६॥

निःशङ्कसङ्कोचितपङ्कजोऽयमस्यामुदीतो मुखमिन्दुविम्बः ।
चित्रं तथापि स्तनकोकयुग्मं न स्तोकमप्यञ्चति विप्रयोगम् ॥७७॥

"दमयन्ती में उसका मुखचन्द्र—विम्ब के समान ही उदित हुआ है जो निःशंक होकर कमलों को मुरझाता है अर्थात् सौन्दर्य के कारण मलिन करता है तथापि स्तन रूपी चक्रवाक का जोड़ा जरा भी वियोग नहीं प्राप्त करता है ॥७७॥

* चन्द्रोदय होने पर चक्रवाक का जोड़ा वियुक्त हो जाता है।

आभ्यां कुचाभ्यामिभकुम्भयोः श्रीरादीयतेऽसावनयोर्न ताभ्याम्।
भयेन गोपायितमौक्तिकौ तौ प्रव्यक्तमुक्ताभरणाविमौ यत् ॥७८॥

"इन कुचों ने हाथी के कुम्भों की शोभा बलपूर्वक ले ली है पर हाथी के कुम्भों ने कुचों की शोभा नहीं ली है क्योंकि हाथी के कुम्भ भय से मोतियों को छिपाते हैं पर ये कुच अपने मुक्ता-भूषणों को प्रकट करते हैं ॥७८॥

कराग्रजाग्रच्छतकोटिरर्थी ययोरिमौ तौ तुलयेत् कुचौ चेत्।
सर्वं तदा श्रीफलमुन्मदिष्णु जातं वटीमप्यधुना न लब्धुम् ॥७९॥

"हाथ में वज्र धारण करने वाला इन्द्र जिन कुचों का याचक है उनके साथ उन्मत्त (=पका) बिल्व फल समानता करे तो उसे एक कौड़ी भी नहीं मिलेगी ॥७९॥

स्तनावटे चन्दनपङ्किलेऽस्या जातस्य यावद्युवमानसानाम्।
हारावलीरत्नमयूखधाराकाराः स्फुरन्ति स्खलनस्य रेखाः ॥८०॥

"दमयन्ती के गीले चन्दन से युक्त गम्भीर स्तनों के बीच में सब युवकों के अन्तःकरणों के गिर पड़ने के निशान हारावली के रत्नों की किरण-धारा की रेखाओं के रूप में शोभायमान हैं ॥८०॥

क्षीणेन मध्येऽपि सबोदरेण यत् प्राप्यते नाक्रमणं वलिभ्यः।
सर्वाङ्गशुद्धौ वदनङ्गराज्यविजृम्भितं भीमभुवीह चित्रम् ॥८१॥

"मध्य में क्षीण उदर पर जो सिलवटों ने आक्रमण नहीं किया यह सर्वांग शुद्धि से युक्त दमयन्ती में कामदेव के आश्चर्यजनक राज्य का विलास है ॥८१॥

मध्यं तनूकृत्य यदीदमीयं वेधा न दध्यात् कमनीयमंशम्।
केन स्तनौ संप्रति यौवनेऽस्याः सृजेदनन्यप्रतिमाङ्गदीप्तः ॥८२॥

"यदि विधाता इसके मध्य को कृश बनाकर उसके कमनीय अंश को कहीं नहीं धरता तो यौवन में अनन्य-तुल्य अनङ्ग-कान्ति वाली दमयन्ती के स्तन किस किस अंश से बनाता ? ॥८२॥

गौरीव पत्या सुभगा कदाचित् कर्तेयमप्यर्धतनूसमस्याम्।
इतीव मध्ये निदधे विधाता रोमावलीमेचकसूत्रमस्याः ॥८३॥

"विधाता ने इसकी कमर के बीच में रोमावली रूप नील सूत्र को क्या इसलिए रक्खा था कि यह सौभाग्यवती भी पति के साथ कभी गौरी की तरह आधा शरीर पूरा करेगी ? ॥ ८३ ॥

रोमावलीरज्जुमुरोजकुम्भौ गम्भीरमासाद्य च नाभिकूपम् ।
मद्दृष्टितृष्णा विरमेद्यदि स्यान्नैषां वतैषा सिचयेन गुप्तिः ॥८४॥

"मेरी—उसके दर्शन की—तृष्णा रोमावली रूप रज्जु, स्तन रूप कुंभ, गम्भीर नाभि रूप कूप को प्राप्त कर तभी तृप्त होगी जब ये वस्त्र से ढके न हों जैसे कूप के पास रस्सी तथा कुंभ ले जानेवाले मनुष्य की प्यास तभी बुझती है जब बहुत सी तलवारों से कूप की रक्षा की गई हो ॥ ८४ ॥

उन्मूलितालानबिलाभनाभिश्छिन्नस्खलच्छृङ्खलरोमराजिः ।
मत्तस्य सेयं मदनद्विपस्य प्रस्वापवप्रोच्चकुचास्तु वास्तु ॥८५॥

"दमयन्ती की नाभि उखड़े हुए—हाथी बाँधने के—खूँटे के छेद के समान गम्भीर है, इसके शरीर के रोम टूटी हुई जंजीर के समान हैं तथा इसके ऊँचे कुच हाथी के सोने की ऊँची जगह के समान हैं। यह मत्त कामदेव रूप हाथी के रहने की जगह है ॥ ८५ ॥

रोमावलिभ्रूकुसुमैः स्वमौर्वीचापेषुभिर्मध्यललाटमूर्ध्नि ।
व्यस्तैरपि स्थास्नुभिरेतदीयैर्जैत्रः स चित्रं रतिजानिवीरः ॥८६॥

"यह आश्चर्य है कि वीर कामदेव इसकी कमर में रोमावली, ललाट में भौंहें तथा शिर पर कुसुमों को क्रम से प्रत्यञ्चा, धनुष तथा बाण बना कर विजेता हो गया है, यद्यपि वे अपने अपने स्थान पर स्थित हैं तथा एक दूसरे से मिले हुए नहीं हैं ॥ ८६ ॥

अस्याः खलु ग्रन्थिनिबद्धकेशमल्लीकदम्बप्रतिबिम्बवेशात् ।
स्मरप्रशस्ती रजताक्षरेयं पृष्ठस्थलीहाटकपट्टिकायाम् ॥८७॥

१—कमर की रोमावली को सूत्र समझा गया है जिससे किसी दिन वह अपने पति से जुड़ जायगी ।

"इसके केश-पाश में बँधे हुए मल्लिका और कदंब के फूलों के प्रति
के बहाने पीठ रूप सोने की पट्टी पर चाँदी के अक्षरों में कामदेव
प्रशंसा है ॥८७॥

चक्रेण विश्वं युधि मत्स्यकेतुः पितुर्जितं वीक्ष्य सुदर्शनेन ।
जगज्जिगीषत्यमुना नितम्बमयेन किं दुर्लभदर्शनेन ॥८८

"कामदेव अपने पिता विष्णु के द्वारा सुदर्शन चक्र से संसार को
हुआ देखकर क्या इस दुर्लभ-दर्शन नितम्ब रूप चक्र से संसार को
चाहता है ? ॥ ८८ ॥

रोमावलीदण्डनितम्बचक्रे गुणञ्च लावण्यजलञ्च बाला ।
तारुण्यमूर्तेः कुचकुम्भकर्तुर्बिभर्ति शङ्के सहकारिचक्रम् ॥८९

"यह दमयन्ती तारुण्य-स्वरूप कुच-कुंभकार के लिये सब
अपने आप रखती है क्योंकि रोमावली रूप दंड, नितंब रूप चक्र, शील
डोरा और लावण्य रूप जल इसके पास हैं ॥ ८९ ॥

अङ्गेन केनापि विजेतुमस्या गवेष्यते किं चलपत्रपत्रम् ।
न चेद्विशेषादितरच्छदेभ्यस्तस्यास्तु कम्पस्तु कुतो भयेन ? ॥९०

"पीपल के पत्ते सदा हिलते रहते हैं । इससे मालूम होता है कि
दमयन्ती अपने किसी अङ्ग (अश्वत्थ पत्र समान योनि) से उसे जीतना च
है और वह उसके भय से सदा काँपा करता है । यदि ऐसी बात न हो
दूसरे पेड़ों की अपेक्षा पीपल के पेड़ में अधिक कम्प क्यों होता ? ॥ ९०

भ्रूश्चित्रलेखा च तिलोत्तमास्या नासा च रम्भा च यदूरुसृष्टिः ।
दृष्टा ततः पूरयतीयमेकाऽनेकाप्सरःप्रेक्षणकौतुकानि ॥९१

"इसकी भौंह में विचित्र विन्यास है इससे यह चित्रलेखा है; इसकी
तिल के फूल से भी उत्तम है इससे यह तिलोत्तमा है; इसकी जंघा स्वयं
है इससे यह रंभा है। यह अकेली ही बहुत-सी अप्सराएँ देखने का कौतु
कर देती है ॥ ९१ ॥

रम्भापि किं चिह्नयति प्रकाण्डं न चात्मनः स्वेन न चैतदूरू ।
स्वस्यैव येनोपरि सा दधाना पत्राणि जागर्त्यनयोर्भ्रमेण ॥९२॥

"क्या कदली अपने आप अपने स्तंभ को और इसकी जंघा को नहीं पहचानती है क्योंकि दोनों के भ्रम से वह पहचान के लिए अपने ऊपर पत्ते रख लेती है ? ॥ ९२ ॥

विधाय मूर्धानमधश्चरं चेन्मुञ्चेत्तपोभिः स्वमसारभावम् ।
जाड्यञ्च नाञ्चेत् कदली बलीयस्तदा यदि स्यादिदमूरुचारुः ॥९३॥

"कदली इसकी जांघ के समान सुन्दर तब हो जब शिर नीचा करके[1] तप करे, अपना निःसार होना छोड़ दे तथा अपनी शीतलता त्याग दे ॥ ९३ ॥

ऊरुप्रकाण्डद्वितयेन तस्याः करः पराजीयत वारणीयः ।
युक्तं ह्रिया कुण्डलनच्छलेन गोपायति स्वं मुखपुष्करं सः ॥९४॥

"दमयन्ती की दोनों जङ्घाओं ने हाथी की सूँड़ को पराजित कर दिया है। इससे हाथी को लज्जा के कारण मण्डली बाँधने के बहाने अपनी सूँड़ नहीं दिखानी चाहिये ॥९४॥

अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे भृगुर्महान् यत्कुचशैलशीली ।
नानारदाह्लादि मुखं श्रितोरुर्व्यासो महाभारतसर्गयोग्यः ॥९५॥

"मैं समझता हूँ कि मुनि भी इससे अनुरक्त हैं क्योंकि अत्यन्त तपस्वी भृगु[2] कुच रूपी पर्वतों की सेवा करता है, मुख से नारद[3] को हर्ष होता है और महाभारत निर्माण करने में समर्थ व्यास[4] इसकी जङ्घा का आश्रय लेता है ॥९५॥

१—कदली का स्तंभ नीचे मोटा और ऊपर पतला होता है। जांघ ऊपर मोटी और नीचे पतली होती है। अगर कदली जंघा के समान होना चाहे तो उसे तप के लिए शिर नीचा करके अपनी स्थिति बदल देनी चाहिए।

२—भृगु=अतट=कुचों का पार्श्वभाग। ३—दूसरा अर्थ—बहुत से दाँतों से युक्त मुख सुख-दायक है। ४—व्यास=चौड़ाई। यहाँ जङ्घाओं की चौड़ाई से आशय है।

क्रमोद्गता पीवरताधिजङ्घं वृक्षाधिरूढं विदुषी किमस्याः ?।
अपि भ्रमीभङ्गिभिरावृताङ्गं वासो लतावेष्टितकप्रवीणम् ॥९६॥

"इसकी जङ्घाओं में विद्यमान, क्रम से ऊपर जाती मुटाई वृक्ष की वृद्धि के प्रकार को जानती है क्या ? इसका वस्त्र भी इधर उधर से अङ्ग को लपेटने के कारण बेल के वेष्टन में कुशल है ॥९६॥

अरुन्धतीकामपुरन्ध्रिलक्ष्मीजम्भद्विषद्दारनवाम्बिकानाम्।
चतुर्दशीयं तदिहोचितैव गुल्फद्वयाप्ता यददृश्यसिद्धिः ॥९७॥

"अरुन्धती, रति, लक्ष्मी, इन्द्राणी तथा नौ अम्बिका[1] इन तेरह को पूर्ण करने वाली चतुर्दशी दमयन्ती है। इस कारण इसके दोनों टखनों ने जो अदृश्य होने की सिद्धि प्राप्त की है वह ठीक ही है ॥९७॥

अस्याः पदौ चारुतया महान्तावपेक्ष्य सौक्ष्म्याल्लवभावभाजः।
जाता प्रवालस्य महीरुहाणां जानीमहे पल्लवशब्दलब्धिः ॥९८॥

"मैं जानता हूँ कि वृक्षों के नये पत्ते ने जो पल्लव (=पद् + लव) नाम पाया है उसका कारण दमयन्ती के पदों के मुकाबले में हीन होना है क्योंकि उसमें सुन्दरता का केवल लव (=लेश) है ॥९८॥

जगद्वधूमूर्धसु रूपदर्पाद्यदेतयाऽदायि पदारविन्दम्।
तत्सान्द्रसिन्दूरपरागरागैर्ध्रुवं प्रवालप्रबलारुणं तत् ॥९९॥

"इसने सौन्दर्य के गर्व से तीनों लोकों की सुन्दरियों पर अपना चरण-कमल रक्खा था। वह उनके सिर में लगे घने सिन्दूर के रङ्ग के कारण मूँगे से भी अधिक रक्त हो गया ॥९९॥

रुषारुणा सर्वगुणैर्जयन्त्या भैम्याः पदं श्रीः स्म विधेर्वृणीते।
ध्रुवं स तामच्छलयद्यतः सा भृशारुणैतत्पदभाग्विभाति ॥१००॥

१—ब्रह्माणी, वैष्णवी, रौद्री, वाराही, नारसिंही, कौमारी माहेन्द्री, चामुण्डा तथा चण्डिका।

२—दमयन्ती अरुन्धती आदि के समान अत्यन्त सुन्दरी और पतिव्रता है। इसमें टखने न दीखने का सामुद्रिक लक्षण होना उचित ही है।

"लक्ष्मी ने ब्रह्मा से दमयन्ती का पद (=अधिकार) माँगा क्योंकि दमयन्ती ने सब गुणों से लक्ष्मी को जीत लिया था लेकिन ब्रह्मा ने धोखा दिया और क्रोध से जल हुई लक्ष्मी को दमयन्ती की पद-सेवा (=चरण सेवा) दी ॥१००॥

यानेन तन्व्या जितदन्तिनाथौ पादाब्जराजौ परिशुद्धपार्ष्णी ।
जाने न शुश्रूषयितुं स्वमिच्छू नतेन मूर्ध्ना कतरस्य राज्ञः ॥१०१॥

"तन्वी के—गति से हाथी का जीतने वाले तथा रमणीय एड़ी वाले—श्रेष्ठ कमल तुल्य चरण किस राजा के नम्र हुए शिर से अपनी सेवा कराने के इच्छुक हैं—यह मैं नहीं जानता ॥१०१॥

कर्णाक्षिदन्तच्छदबाहुपाणिपादादिनः स्वाखिलतुल्यजेतुः ।
उद्वेगभागद्वयताभिमानादिहैव वेधा व्यधित द्वितीयम् ॥१०२॥

"इसके एक कान, नेत्र, ओष्ठ, बाहु, हाथ तथा चरण आदि ने अपने तुल्य सब को जीत लिया और गर्व किया कि हमारा-सा अन्य नहीं है। इस पर विधाता को क्रोध आया और उसी शरीर में उसने हर एक का एक साथी अवयव बना दिया ॥१०२॥

तुषारनिःशेषितमब्जसर्गं विधातुकामस्य पुनर्विधातुः ।
पञ्चस्विहास्याङ्घ्रिकरेष्वभिख्याभिक्षाऽधुना माधुकरी सदृक्षा ॥१०३॥

"हिम से बिलकुल विनष्ट की गई कमल-सृष्टि को अब फिर बनाने वाले विधाता की—दमयन्ती के मुख, दोनों चरण, दोनों हाथ—इन पाँच में से शोभा की याचना करना माधुकरी[1] भिक्षा के बराबर है ॥१०३॥

एष्यन्ति यावद्गणनादिगन्तान्नृपाः स्मरार्ताः शरणे प्रवेष्टुम् ।
इमे पदाब्जे विधिनापि सृष्टास्तावत्य एवांगुलयोऽत्र लेखाः॥१०४॥

"काम से पीड़ित राजा-लोग दमयन्ती के चरण-कमलों की शरण लेने के लिए जिन जिन दिशाओं से आवेंगे उतनी ही संख्या की उँगलियाँ विधाता ने इसके दोनों चरणों में बनाईं ॥१०४॥

१—मधुकर अनेक फूलों से मधु लेकर अपना पेट भरता है; इसी तरह यति पाँच घरों से भिक्षा लेकर अपना निर्वाह करता है।

प्रियानखीभूतवतो मुदेदं व्यधाद्विधिः साधुदशत्वमिन्दोः ।
एतत्पदच्छद्मसरागपद्मसौभाग्यभाग्यं कथमन्यथा स्यात् ? ॥१०५॥

"अच्छा हुआ कि विधाता ने हर्ष से दस चन्द्रमा बनाये जो दमयन्ती के चरणों के नख हुए, नहीं तो चन्द्रमा को दमयन्ती के चरणों के बहाने दस लाल कमलों के लाभ का सौभाग्य कैसे मिलता ? ॥१०५॥

यशः पदाङ्गुष्ठनखौ मुखञ्च बिभर्ति पूर्णेन्दुचतुष्टयं या ।
कला चतुःषष्टिरुपैतु वासं तस्यां कथं सुभ्रुवि नाम नास्याम् ॥१०६॥

"दमयन्ती अपने यश, मुख और दोनों चरणों के अँगूठों के दो नखों के रूप में चार पूर्ण चन्द्रमाओं को धारण करती है। फिर उसमें चौंसठ कलाएँ क्यों न निवास करें ? ॥१०६॥

सृष्टातिविश्वा विधिनैव तावत् तस्यापि नीतोपरि यौवनेन ।
वैदग्ध्यमध्याप्य मनोभुवेयमवापिता वाक्पथपारमेव ॥१०७॥

"विधाता ने इसे संसार के ऊपर बनाया; यौवन ने उसके भी ऊपर बनाया; इसके बाद कामदेव ने सब क्रियाओं का चातुर्य सिखाकर इसे वाणी के भी पार पहुँचा दिया ॥१०७॥"

इति स चिकुरादारभ्यैनां नखावधि वर्णयन्
हरिणरमणीनेत्रां चित्राम्बुधौ तरदन्तरः ।
हृदयभरणोद्वेलानन्दः सखीकृतभीमजा
नयनविषयीभावे भावं दधार धराधिपः ॥१०८॥

राजा नल ने केश-पाश से लेकर चरणों के नखों तक मृगाक्षी दमयन्ती का वर्णन किया। उसका हृदय आश्चर्य के समुद्र में तैर रहा था तथा अपार हर्ष हृदय में समाकर बाहर निकल रहा था। फिर उसमें अपने को सखियों के साथ दमयन्ती को दिखा देने की बुद्धि उत्पन्न हुई ॥१०८॥

१—क्योंकि एक पूर्ण चन्द्रमा में सोलह कलाएँ होती हैं।

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणितिभ्रातर्ययं तन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत् सप्तमः ॥१०९॥

कविराजों की पंक्तियों के मुकुटों के अलङ्कार रूप हीरे श्री हीर नामक पिता तथा मामल्ल देवी नामक माता ने जिस जितेन्द्रिय श्री हर्ष नामक पुत्र को उत्पन्न किया उसके गौडोर्वीशकुल प्रशस्ति के भ्राता नैषध-चरित महाकाव्य में स्वभाव से सुन्दर सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१०९॥

अष्टमः सर्गः ।

अथाद्भुतेनास्तनिमेषमुद्रमुन्निद्ररोमानममुं युवानम् ।
दृशा पपुस्ताः सुदृशः समस्ताः सुता च भीमस्य महीमघोनः ॥१॥

फिर सब सखियाँ और दमयन्ती इस युवक का दृष्टि से पान करने लगीं। वह रोमांचित हो गया था और उसने आश्चर्य के कारण निमेष की मुद्रा तोड़ दी थी ॥ १ ॥

कियच्चिरं दैवतभाषितानि निह्नोतुमेनं प्रभवन्तु नाम ।
पलालजालैः पिहितः स्वयं हि प्रकाशमासादयतीक्षुडिम्भः ॥२॥

देवताओं के वचन कब तक इसे छिपाने को समर्थ होते ! तिनकों से ढका हुआ ईख का अंकुर अपने आप प्रकट हो जाता है ॥ २ ॥

अपाङ्गमप्याप दृशोर्न रश्मिर्नलस्य भैमीमभिलष्य यावत् ।
स्मराशुगः सुभ्रुवि तावदस्यां प्रत्यङ्गमापुङ्खशिखं ममज्ज ॥३ ।

नल के नेत्रों की किरणें दमयन्ती के उद्देश्य से अपांग तक भी न पहुँची कि इसके पहले ही कामदेव के बाणों की नोंक तक दमयन्ती के प्रत्येक अंग में घुस गई ॥ ३ ॥

यदक्रमं विक्रमशक्तिसाम्यादुपाचरद्द्वावपि पञ्चबाणः।
चक्रे न वैमत्यममुष्य चक्रे शरैरनर्धार्धविभागभाग्भिः ॥४॥

दमयन्ती में उत्साह तथा नल में पराक्रम के कारण कामदेव दोनों को एक साथ ही अपने वश में रखता था। पाँच का आधा हिस्सा नहीं हो सकता इस कारण कामदेव के बाणों ने नल-दमयन्ती के साथ एक सा बर्ताव किया ॥४॥

तस्मिन् नलोऽसाविति साऽन्वरज्यत क्षणं क्षणं केह स इत्युदास्त।
पुरः स्म तस्यां वलतेऽस्य चित्तं दूत्यादनेनाथ पुनर्न्यवर्ति ॥५॥

दमयन्ती उसे नल समझ कर अनुरक्त हुई पर फिर—वह यहाँ कैसे आ सकता है?—यह प्रति क्षण विचार कर उदासीन हो गई। नल का चित्त भी दमयन्ती में चंचल हुआ पर उसने अपने को दूत समझ कर रोका ॥ ५ ॥

कयाचिदालोक्य नलं ललज्जे कयापि तद्भासि हृदा ममज्जे।
तं कापि मेने स्मरमेव कन्या भेजे मनोभूवशभूयमन्या ।६॥

कोई सखी नल को देखकर लज्जित हुई; कोई नल की कान्ति में हृदय से निमग्न हो गई; कोई कन्या उसे कामदेव समझने लगी और कोई कामदेव के वश में हो गई ॥ ६ ॥

कस्त्वं कुतो वेति न जातु शेकुस्तं प्रष्टुमप्यप्रतिभातिभारात्।
उत्तस्थुरभ्युत्थितिवाञ्छयेव निजासनान्नैकरसाः कृशाङ्ग्यः ॥७॥

कृशांगी कन्याएँ भ्रम के अत्यन्त भार के कारण—तुम कौन हो और कहाँ से आये हो?—यह भी न पूछ सकीं। वे अनेक प्रकार की भावनाओं के साथ उसके अभ्युत्थान की आकांक्षा से अपने अपने आसन से उठ बैठीं ॥७॥

स्वाच्छन्द्यमानन्दपरम्पराणां भैमी तमालोक्य किमप्यवाप।
महारयं निर्झरिणीव वारामासाद्य धाराधरकेलिकालम् ॥८॥

दमयन्ती ने उसे देखकर अपने आनन्द में बड़ा आधिक्य पाया जैसे वर्षा का क्रीड़ा-समय पाकर नदी को जल का बड़ा वेग प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

तत्रैव मग्ना यदपश्यदग्रे नास्या दृगस्याङ्गमयास्यदन्यत्।
नाद्यास्यदस्यै यदि वृद्धिभाजं विविच्य विविच्य चिराय निमेषः ॥९॥

दमयन्ती की दृष्टि ने नल के जिस अंग को पहले देखा उसमें ही वह निमग्न हो गई और दूसरे अंग पर नहीं गई किन्तु बहुत देर में हुए निमेष ने बीच बीच में विघ्न करके अन्य अंग देखने की इच्छा पैदा कर दी ॥ ९ ॥

दृशापि सालिङ्गितमङ्गमस्य जग्राह नाग्रावगताङ्गहर्षैः ।
अङ्गान्तरेऽनन्तरमीक्षिते तु निवृत्य सस्मार न पूर्वदृष्टम् ॥१०॥

दमयन्ती दृष्टि से स्पर्श किये गये नल के अंग को भी, पहले देखे हुए अंग के आनन्द के कारण, न देख सकी। बाद में दूसरा अंग देख लेने पर वह लौट कर पहले देखे हुए अंग को याद न रख सकी ॥ १० ॥

हित्वैकमस्यापघनं विशन्ती तद्दृष्टिरङ्गान्तरभुक्तिसीमाम् ।
चिरं चकारोभयलाभलोभात् स्वभावलोला गतमागतं च ॥११॥

दमयन्ती की स्वभाव से ही चंचल दृष्टि पहले देखे तथा पीछे देखे अंगों के लाभ के लोभ से बहुत देर तक गई और आई। वह एक अंग को छोड़ कर दूसरा अंग देखने में आने जाने लगी ॥ ११ ॥

निरीक्षितं चाङ्गमवीक्षितं च दृशा पिबन्ती रभसेन तस्य ।
समानमानन्दमियं दधाना विवेद भेदं न विदर्भसुभ्रूः ॥१२॥

दमयन्ती अच्छी तरह देखे अंगों का और अच्छी तरह न देखे अंगों का हर्ष-पूर्वक दृष्टि से पान करती और दोनों में हर्ष प्राप्त करती उनका तारतम्य न जान सकी ॥ १२ ॥

सूक्ष्मे घने नैषधकेशपाशे निपत्य निष्यन्दतरीभवद्भ्याम् ।
तस्यानुबन्धं न विमोच्य गन्तुमपारि तल्लोचनखञ्जनाभ्याम् ॥१३॥

उसके नेत्र रूपी खंजन नल के घने केश-पाश के अवलोकन रूप बंधन छोड़ने में समर्थ नहीं हुए। वे केश-पाश में गिरकर निमेष-रहित हो गये ॥ १३ ॥

भूलोकभर्तुर्मुखपाणिपादपद्मैः परीरम्भमवाप्य तस्य ।
दमस्वसुर्दृष्टिसरोजराजिश्चिरं न तत्याज सबन्धुबन्धम् ॥१४॥

दमयन्ती के नेत्र—कमलों की पंक्ति नल के मुख, हाथ तथा चरण रूप कमलों के साथ सम्बन्ध पाकर अपने जातीय स्नेह को बहुत देर तक नहीं छोड़ सकी ॥ १४ ॥

तत्कालमानन्दमयी भवन्ती भवत्तरानिर्वचनीयमोहा।
सा मुक्तसंसारिदशारसाभ्यां द्विस्वादमुल्लासमभुङ्क्त मिष्टम्॥१[illegible]

दमयन्ती नल को देखकर तो आनन्दमयी हो गई पर—यहाँ नल [illegible] आना कैसे हुआ ?—यह समझकर उसे असाधारण मोह हुआ। इस प्र[illegible] उसको मुक्तों और संसारियों की जुदी जुदी प्रीति के समान दो तरह के [illegible] युक्त अत्यन्त हर्ष हुआ ॥१५॥

दूते नलश्रीभृति भाविभावा कलङ्किनीयं जनि मेति नूनम्।
न संव्यधान्नैषधकायमायं विधिः स्वयंदूतमिमां प्रतीन्द्रम् ॥१[illegible]

विधाता ने कपट से नल का वेश धारण करने वाले इन्द्र को दमयन्ती [illegible] दूत नहीं बनाया क्योंकि उस दूत में अनुराग होने से वह कलङ्कित हो जाती ॥१[illegible]

पुण्ये मनः कस्य मुनेरपि स्यात् प्रमाणमास्ते यदघेऽपि धावत्।
तच्चिन्ति चित्तं परमेश्वरस्तु भक्तस्य हृष्यत्करुणो रुणद्धि ॥१[illegible]

किस मुनि का मन पुण्य के विषय में निश्चय-युक्त है ? क्योंकि वह [illegible] भी शीघ्र चला जाता है। पाप की चिन्ता करने वाले भक्त के चित्त को [illegible] ही कृपा करके रोकता है ॥१७॥

सालीकदृष्टे मदनोन्मदिष्णुर्यथाप शालीनतमा न मौनम्।
तथैव तथ्येऽपि नले न लेभे मुग्धेषु कः सत्यमृषाविवेकः ॥१[illegible]

लज्जा युक्त भी दमयन्ती काम के कारण उन्मत्त होकर भ्रम से दीखने [illegible] के सामने जैसे मौन नहीं थी उसी तरह सच्चे नल के सामने भी मौन [illegible] रही। जो मोह से ग्रस्त हैं उनको झूँठे सच्चे का विचार कैसा ? ॥१८॥

व्यर्थीभवद्भावपिधानयत्ना स्वरेण साथ श्लथगद्गदेन।
सखीचये साध्वसबद्धवाचि स्वयं तमूचे नमदाननेन्दुः ॥१९॥

फिर सखियाँ भय से मौन थीं तब अपना मुख-चन्द्र झुकाकर दम[illegible] स्वयं नल से बोली। उसका—अपने भाव छिपाने का—यत्न विरल [illegible] कुते स्वर के कारण निष्फल हो गया था ॥१९॥

नत्वा शिरोरत्नरुचापि पाद्यं सम्पाद्यमाचारविदातिथिभ्यः ।
प्रियाक्षरालीरसधारयापि वैधी विधेया मधुपर्कतृप्तिः ॥२०॥

"हे पुरुष-श्रेष्ठ, धर्मशास्त्र जानने वाले व्यक्ति को अतिथियों को नमस्कार करके अपने चूडामणि की कान्ति पाद्य बनानी चाहिए, मधुपर्क से उत्पन्न हुई तृप्ति की विधि प्रिय वचनों की पंक्ति के रस की धारा से करनी चाहिए ॥२०॥

स्वात्मापि शीलेन तृणं विधेयं देया विहायासनभूर्निजापि ।
आनन्दबाष्पैरपि कल्प्यमम्भः पृच्छा विधेया मधुभिर्वचोभिः ॥२१॥

"शील से अपनी आत्मा को भी तृण बनाना चाहिए; अपनी बैठने की जगह छोड़ कर अतिथि को देनी चाहिए; हर्ष के अश्रुओं से पानी देना चाहिए और मीठे वचनों से कुशल-प्रश्न पूछने चाहिए ॥२१॥

पदोपहारेऽनुपनम्रतापि सम्भाव्यतेऽपां त्वरयापराधः ।
तत्कर्तुमर्हाञ्जलिसञ्जनेन स्वसम्भृतिः प्राञ्जलतापि तावत् ॥२२॥

"चरण धोने के लिए जल का शीघ्र न आना भी अपराध हो जाता है इस कारण आतिथ्य सामग्री आवे तब तक हाथ जोड़कर अपनी सरलता दिखानी चाहिए ॥२२॥

पुरा परित्यज्य मयात्यसर्जि स्वमासनं तत्किमिति क्षणं न ।
अनर्हमप्येतदलङ्क्रियेत प्रयातुमीहा यदि चान्यतोऽपि ॥२३॥

"पहले ही मैंने अपना आसन छोड़कर आपकी तरफ कर दिया। यद्यपि यह आपके योग्य नहीं है तो भी क्षण भर के लिए क्यों आप इसे भूषित नहीं करते, चाहे आपकी इच्छा अन्यत्र जाने की भले ही हो ! ॥२३॥

निर्णेद्यतां हन्त समापयन्तौ शिरीषकोषम्रदिमाभिमानम् ।
पदौ कियद्दूरमिमौ प्रयासे निधित्सते तुच्छदयं मनस्ते ॥२४॥

"अरने—शिरीष के कोश की मृदुता के गर्व का नाश करने वाले—इन चरणों को आपकी कृपा से शून्य मन कितनी दूर तक श्रम करावेगा—यह कृपा कर कहिए ॥२४॥

अनायि देशः कतमस्त्वयाद्य वसन्तमुक्तस्य दशां वनस्य।
त्वदाप्तसङ्केततया कृतार्था श्रव्यापि नानेन जनेन संज्ञा ॥२५॥

"वसन्त के चले जाने से वन की जो दशा होती है उसमें आपने किस देश को पहुँचा दिया? क्या मैं वह नाम न सुन सकूँगी जो आपकी संज्ञा से कृतार्थ हुआ है? ॥२५॥

तीर्णः किमर्णोनिधिरेव नैष सुरक्षितेऽभूदिह यत्प्रवेशः।
फलं किमेतस्य तु साहसस्य न तावदद्यापि विनिश्चिनोमि ॥२६॥

"नर-श्रेष्ठ, सुरक्षित रनवास में जो आपका प्रवेश हुआ इससे क्या समुद्र नहीं तरा? आपके इस साहस का फल मैं अबतक नहीं समझी हूँ ॥२६॥

तव प्रवेशे सुकृतानि हेतुर्मन्ये मदक्ष्णोरपि तावदत्र।
न लक्षितो रक्षिभटैर्यदाभ्यां पीतोऽसि तन्वा जितपुष्पधन्वा ॥२७॥

"मैं यहाँ आपके आने में अपने नेत्रों के पुण्यों को कारण समझती हूँ क्योंकि चौकीदारों ने आपको देखा नहीं तथा शरीर से कामदेव को जीतने वाले आपका इन नेत्रों ने पान किया ॥२७॥

यथाकृतिः काचन ते यथा वा दौवारिकान्धङ्करणी च शक्तिः।
रुच्यो रुचीभिर्जितकाञ्चनीभिस्तथासि पीयूषभुजां सनाभिः ॥२८॥

"आपका आकार लोकोत्तर है, आपमें रक्षकों को अन्धा करने की शक्ति है तथा हलदी को जीतनेवाली कान्तिसे आप सुन्दर लगते हैं—इनसे ज्ञात होता है कि आप देवताओं में से कोई हैं ॥२८॥

न मन्मथस्त्वं स हि नास्तिमूर्तिर्न चाश्विनेयः स हि नाद्वितीयः।
चिह्नैः किमन्यैरथवा तवेयं श्रीरेव ताभ्यामधिको विशेषः ॥२९॥

"आप कामदेव तो हैं नहीं क्योंकि वह शरीर-रहित है; आप अश्विनी कुमार भी नहीं हैं क्योंकि वे अकेले नहीं रहते अथवा अन्य चिह्नों से क्या? विशेषता यह है कि आपकी शोभा इन दोनोंसे भी अधिक है ॥२९॥

आलोकतृप्तीकृतलोक! यस्त्वामसूत पीयूषमयूखमेनम्।
कः स्पर्धितुं धावति साधु सार्धमुदन्वता तत्वयमन्वायः ॥३०॥

"आपके दर्शनसे संसार कृतार्थ हो गया है। कौनसे वंशने आप जैसे चन्द्रमा को जन्म दिया है? उस वंशका समुद्रके साथ स्पर्धा करने के लिए सर्वथा उचित है" ॥३०॥

भूयोऽपि बाला नलसुन्दरं तं मत्वाऽमरं रक्षिजनाक्षिबन्धात्।
आतिथ्यचाटून्यपदिश्य तत्स्थां श्रियं प्रियस्याऽस्तुत वस्तुतः सा ॥३१॥

दमयन्ती ने नल को चौकीदारों को अन्धा करने से नल के सदृश देवता समझकर आतिथ्य सम्बन्धी प्रिय वचनों के बहाने उसमें विद्यमान नलकी शोभा का फिर वर्णन किया ॥३१॥

वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत्।
खलत्वमल्पीयसि जल्पितेऽपि तदस्तु वन्दिभ्रमभूमितैव ॥३२॥

"गुणों से अद्भुत वस्तु का यदि वर्णन न हो तो वाणी के जन्म की विफलता अत्यन्त दुःखदायिनी होती है। अगर थोड़ा कहा जाय तो दुर्जनता प्रकट होती है। इस कारण स्तुतिपाठक होने की भ्रान्ति होना ही ठीक है ॥३२॥

कन्दर्प एवेदमविन्दत त्वां पुण्येन मन्ये पुनरन्यजन्म।
चण्डीशचण्डाक्षिहुताशकुण्डे जुहाव यन्मन्दिरमिन्द्रियाणाम् ॥३३॥

"मैं समझती हूँ कि कामदेवने ही बड़े पुण्य से आप में दूसरा जन्म पाया है क्योंकि उसने महादेव के नेत्र के दुर्लभ हवन-कुण्ड में अपने शरीर का होम किया था ॥३३॥

शोभायशोभिर्जितशैवशैलं करोषि लज्जागुरुमौलिमैलम्।
दस्रौ हठात् श्रीहरणादुदस्रौ कन्दर्पमप्युज्झितरूपदर्पम् ॥३४॥

"अपनी कान्ति से कैलास को जीतनेवाले पुरूरवाकी शोभा आपने हठ से हर ली, इस कारण उसे लज्जासे नीचा मुख करना पड़ा। अश्विनी-कुमारों की कीर्ति आपने हठसे छीन ली इस कारण उनको आँसू बहाने पड़े। आपने कामदेवसे सौन्दर्यका गर्व छुड़ाया ॥३४॥

अवैमि हंसावलयो वलक्षास्त्वत्कान्तिकीर्वैश्चपलाः पुलाकाः।
उड्डीय युक्तं पतिताः सवन्तीमेतान्त्यूरं परितः प्लवन्ते ॥३५॥

"मैं जानती हूँ कि श्वेत हंसों की पंक्तियाँ आपके सौन्दर्यकी कीर्तिके चन्द्र... योग्य हैं। इस कारण यह ठीक है कि वे उड़कर और गिर कर नालियों तक पल्वलों के प्रवाह में सब दिशाओं में तैरती[1] हैं ॥३५॥

भवत्पदाङ्गुष्ठमपि श्रिता श्रीर्ध्रुवं न लब्धा कुसुमायुधेन।
रतीशजेतुः खलु चिह्नमस्मिन्नर्धेन्दुरास्ते नखवेषधारी ॥३६॥

"कामदेव ने आपके अँगूठे में आश्रित शोभा भी प्राप्त नहीं की क्योंकि उसमें नख के बहाने महादेव का चिह्न अर्ध-चन्द्र[2] विद्यमान है ॥३६॥

राजा द्विजानामनुमासभिन्नः पूर्णां तनूकृत्य तनूं तपोभिः।
कुहूषु दृश्येतरतां किमेत्य सायुज्यमाप्नोति भवन्मुखस्य ॥३७॥

"प्रत्येक मास नया चन्द्रमा अपने सब शरीर का तप से क्षय करके अमावस्याओं में अदृष्ट होकर क्या आपके मुख में मिल जाता है? ॥३७॥

कृत्वा दृशौ ते वहुवर्णचित्रे किं कृष्णसारस्य तयोर्मृगस्य?।
अदूरजाग्रद्भिदुरप्रणालीरेखामयच्छद्भिधिरर्धचन्द्रम् ॥३८॥

"विधाता ने आपके नेत्रों को बहुत से वर्णों से विचित्र बनाकर कृष्णवर्ण सार से युक्त मृग के नेत्रों को नीचे रहती लकीर के बहाने क्या अर्धचन्द्र दिया है? ॥३८॥

मुग्धः स मोहात् सुभगान्न देहाद्दद्भ्रुवङ्कूरचनाय चापम्।
भ्रूभङ्गजेयस्तव यन्मनोभूरनेन रूपेण यदा तदाभूत् ॥३९॥

"कामदेव ने आपकी भौंहे बनाने के लिए विधाता को अपना धनुष दिया इससे वह आपकी भौंह की कुटिलता मात्र से ही जीतने लायक हो गया

१ आशय यह है—आपके बराबर कोई सुन्दर नहीं देखा गया।
२ कामदेव के शत्रु महादेव का चिह्न है अर्ध-चन्द्र। कामदेव उससे डरता था। इस कारण वह अँगूठे से दूर रहा और उसकी शोभा को प्राप्त न कर सका।
३—कृष्ण मृग ने नल के नेत्रों के समान नेत्र चाहे तब विधाता ने अँगूठा गड़ा कर उसे दण्ड दिया। उस से आँखों के नीचे अर्ध-चन्द्र के समान ... हो गई।

तदर्पितामश्रुतवद्विधाय तां दिगीशसन्देशमयीं सरस्वतीम् ।
इदं तमुर्वीतलशीतलद्युतिं जगाद वैदर्भनरेन्द्रनन्दिनी ॥२॥

दमयन्ती ने दूत से अर्पित की गई दिक्पालों के सन्देश रूप वाणी को अनादर से अनसुना करके भूतल में शीतल कान्ति वाले चन्द्रमा (=नल) से इस प्रकार कहा— ॥२॥

मयाङ्ग ! पृष्टः कुलनामनी भवानमू विमुच्यैव किमन्यदुक्तवान् ।
न मह्यमत्रोत्तरधारयस्य किं ह्रियेऽपि सेयं भवतोऽधमर्णता ॥३॥

"दूत, मैंने आप से कुल और नाम पूछे थे लेकिन आपने उनको छोड़कर अप्रस्तुत बात क्यों कही ? मेरा उत्तर आप के ऊपर उधार है इस कारण इस अधमर्णता से क्या आप को लज्जा नहीं आती ? ॥३॥

अदृश्यमाना क्वचिदीक्षिता क्वचिन्ममानुयोगे भवतः सरस्वती ।
क्वचित्प्रकाशां क्वचिदस्फुटार्णसं सरस्वतीं जेतुमनाः सरस्वतीम् ॥४॥

"आपकी वाणी सरस्वती नदी को जीतना चाहती है। सरस्वती में कहीं तो जल प्रकट है और कहीं अप्रकट है। इसी तरह आपकी वाणी मेरे प्रश्नों के विषय में कहीं गुप्त है और कहीं प्रकट है ॥४॥

गिरः श्रुता एव तव श्रवःसुधाः श्लथा भवन्नाम्नि तु न श्रुतिस्पृहा ।
पिपासुता शान्तिमुपैति वारिजा न जातु दुग्धान्मधुनोऽधिकादपि ॥५॥

"आप की—कानों को अमृत के समान—वाणी सुनी पर आप का नाम सुनने की इच्छा शान्त नहीं हुई। पानी की प्यास अधिक मधुर दुग्ध या मधु से कभी शान्त नहीं होती ॥५॥

बिभर्ति वंशः कतमस्तमोपहं भवादृशं नायकरत्नमीदृशम् ।
तमन्यसामान्यधियावमानितं त्वया महान्तं बहु मन्तुमुत्सहे ॥६॥

"कौनसा वंश आपके समान ऐसे शोक-नाशक नायक रत्न को धारण करता है ? अन्य वंशों से बराबर होने की बुद्धि से तिरस्कार किये गये तथा आपके कारण महत्त्व को प्राप्त हुए उस वंश को मैं सम्मान देने की उत्सुक हूँ ॥६॥

इतीरयित्वा विरतां स तां पुनर्गिरानुजग्राहतरां नराधिपः ।
विरुत्य विश्रान्तवतीं तपात्यये घनाघनश्चातकमण्डलीमिव ॥७॥

पूर्वोक्त वचन कहकर मौन हुई दमयन्ती पर नल ने वाणी के द्वारा अत्यन्त अनुग्रह किया जैसे वर्षा ऋतु में शब्द करके विश्रान्त हुई चातक पर मेघ कृपा करता है ॥ ७ ॥

अये ! ममोदासितमेव जिह्वया द्वयेऽपि तस्मिन्ननतिप्रयोजने।
गरौ गिरः पल्लवनार्थलाघवे मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता ॥

"दमयन्ती, मेरा कुल तथा नाम प्रकट करने में मेरी जिह्वा उदासीन क्योंकि उसमें कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। बहुत शब्द कहना तथा का संकोच करना—ये दोनों वाणीके लिए विष के समान है। केवल परि तथा सार बचनों से पाण्डित्य प्रकट होता है ॥ ८ ॥

वृथा कथेयं मयि वर्णपद्धतिः कयानुपूर्व्या समकेति केति च।
क्षमे समक्षव्यवहारमावयोः पदे विधातुं खलु युष्मदस्मदी ॥

"दमयन्ती, वर्णों की किस पंक्ति से और किस परिपाटी से मेरे नाम संकेत होता है—यह कथा निरर्थक होती है क्योंकि हमारे तुम्हारे सामने करने के लिए हम और तुम शब्द काफी हैं ॥ ९ ॥

यदि स्वभावान्मम नोज्ज्वलं कुलं ततस्तदुद्भावनमौचिती कुतः ?।
अथावदातं तदहो ! विडम्बना तथा कथा प्रेष्यतयोपसेदुषः ॥

"यदि मेरा वंश स्वभाव से ही निर्मल नहीं है तो उसका प्रकट मेरे लिये कैसे उचित है ? अगर वह उज्ज्वल है तो मैं दूत होकर इस कारण उसकी निर्दोष कथा केवल विडम्बना है ॥१०॥

इति प्रतीत्यैव मयावधीरिते तवापि निर्बन्धरसो न शोभते।
हरित्पतीनां प्रविवाचिकं प्रति श्रमो गिरां ते घटते हि संप्रति ॥

"इस तरह विचार करके मैं जिनके प्रति उदासीन हूँ उन प्रश्नों के में तुम्हारी प्रीति शोभा नहीं देती। अब तो तुम्हें इन्द्र आदि के उत्तर देने के लिये अपनी वाणी का श्रम देना चाहिये ॥११॥

तथापि निर्बध्नति तेऽथवा स्पृहामिहानुरुन्धे मितया न किं गिरा ?।
हिमांशुवंशस्य करीरमेव मां निशम्य किं नासि फलेग्रहिग्रहा ॥१२॥

"अथवा इतने पर भी तुम्हारा आग्रह है तो हे दमयन्ती, क्या मैं वंश और नाम के प्रश्न के विषय में तुम्हारी इच्छा अल्प बचनों से पूरा नहीं करूँगा ? तुम मुझे चन्द्र वंश का बालक जानकर क्या अपने आग्रह को सफल हुआ न समझोगी ? ॥१२॥

महाजनाचारपरम्परेदृशी स्वनाम नामाददते न साधवः ।
अतोऽभिधातुं न तदुत्सहे पुनर्जनः किलाचारमुचं विगायति ॥१३॥

"साधु अपना नाम नहीं लेते । यह महाजनों के आचार की परम्परा है । इस कारण मैं उसे नहीं कहा चाहता क्योंकि लोग आचार को छोड़ने वाले मनुष्य की निन्दा करते हैं ॥१३॥

अदोऽयमालप्य शिखीव शारदो बभूव तूष्णीमहितापकारकः ।
अथास्यरागस्य दधा पदे पदे वचांसि हंसीव विदर्भजाददे ॥१४॥

यों कहकर शत्रुओं का अपकारक नल इस प्रकार चुप हो गया जैसे सर्पों को ताप देने वाला मयूर वर्षा ऋतु में शब्द करके शरद् ऋतु में चुप हो जाता है। इसके अनन्तर—अपनी चोंच के रंग को प्रत्येक पंजे पर धारण करने वाली—हंसी के समान—नल के पद पद में अनुराग धारण करने वाली—दमयन्ती ये वचन बोली— ॥१४॥

सुधांशुवंशाभरणं भवानिति श्रुतेऽपि नापैति विशेषसंशयः ।
कियत्सु मौनं वितता कियत्सु वाग्भ्रहत्यहो वञ्चनचातुरी तव ॥१५॥

"आप चन्द्र-वंश के आभूषण हैं—यह सुन कर भी मेरा विशेष संशय दूर नहीं होता । किसी विषय में तो आपने मौन धारण किया और किसी में वाणी का विस्तार किया । आपके वञ्चन करने की चतुरता आश्चर्य-जनक है ॥१५॥

मयापि देयं प्रतिवाचिकं न ते स्वनाम मत्कर्णसुधामकुर्वते ।
परेण पुंसा हि ममापि संकथा कुलाबलाचारसहासनासहा ॥१६॥

"अपना नाम मेरे कर्णों का अमृत न बनाने से मैं भी आपको उत्तर देना

ठीक नहीं समझती क्योंकि मेरी भी पर-पुरुष के साथ बातचीत कुल-स्त्रियों के आचार के अनुकूल नहीं होगी" ॥१६॥

हृदाभिनन्द्य प्रतिबन्धनुत्तरः प्रियागिरः सस्मितमाह स स्म ताम्।
वदामि वामाक्षि ! परेषु मा क्षिप स्वसीदृशं माक्षिकमाक्षिपद्वचः ॥१७॥

तब आक्षेप के कारण उत्तर-हीन नल ने मुसकराहट के साथ उसके वचनों का हृदय से अभिनन्दन करके कहा—"हे वामाक्षि, मेरी राय में तुम मधु का तिरस्कार करने वाले अपने ऐसे वचनों को अप्रस्तुत विषयों पर नष्ट न करो ॥१७॥

करोषि नेमं फलिनं मम श्रमं दिशोऽनुगृह्णासि न कञ्चन प्रभुम्।
त्वमित्थमर्हासि सुरानुपासितुं रसामृतस्नानपवित्रया गिरा ॥१८॥

"क्या तुम मेरे इस श्रम को सफल नहीं करोगी ? क्या तुम किसी दिक्पाल को ग्रहण नहीं करोगी ? माधुर्य रूपी अमृत में स्नान करने से पवित्र हुई वाणी से तुम देवताओं की उपासना करने योग्य हो ॥१८॥

सुरेषु सन्देशयसीदृशीं बहुं रसस्रवेण स्तिमितां न भारतीम्।
मदर्पिता दर्पकतापितेषु या प्रयाति दावार्दितदाववृष्टिताम् ॥१९॥

"दमयन्ती, तुम बहुत से माधुर्य के द्रव से आर्द्र वाणी के द्वारा क्या देवताओं को सन्देश नहीं भेजोगी ? मेरे द्वारा अर्पित की गई तुम्हारी वाणी काम-पीड़ित देवताओं को, अग्नि से पीड़ित बन में वृष्टि के समान, सुखकर होगी ॥१९॥

यथा यथेह त्वदुपेक्षयानया निमेषमप्येष जनो विलम्बते।
रुषा शरव्यीकरणे दिवौकसां तथा तथाद्य त्वरते रतेः पतिः ॥२०॥

"जैसे जैसे तुम्हारी इस उपेक्षा से मैं पल-पल की देर कर रहा हूँ वैसे वैसे कामदेव क्रोध से देवताओं को अपने वाण का निशान बनाने में शीघ्रता कर रहा है ॥२०॥

द्वयक्षिरस्यावदधन्ति सत्पथे किमिन्द्र नेत्राण्यशनिर्न निर्ममौ।
धिगस्तु मां सत्वरकार्यमन्थरं स्थितः परप्रेष्यगुणोऽपि यत्र न।

"मेरा बहुत काल से रास्ता देखते हुए इन्द्र के नेत्र क्या वज्र के बने हुए नहीं हैं ? शीघ्र पूरा करने के काम में मन्द हुए मुझको धिक्कार है क्योंकि मुझ में पराया दूत होने का गुण भी नहीं है ?" ॥२१॥

इदं निगद्य क्षितिभर्तरि स्थिते तयाऽभ्यधायि स्वगतं विदग्धया ।
अधिस्त्रि तं दूतयतां भुवः स्मरं मनो दधत्या नयनैपुण्यये ॥२२॥

नल यों कहकर चुप हुआ तब भूलोक के कामदेव (=नल) को स्त्री के पास दूत बनाकर भेजने वाले इन्द्र आदि की नीति में कौशल के अभाव की चिन्ता करने वाली तथा नीति-शास्त्र में चतुर दमयन्ती ने अपने मन में कहा— ॥२२॥

जलाधिपस्त्वामदिशन्मयि ध्रुवं परेतराजः प्रजिघाय स स्फुटम् ।
मरुत्वतैव प्रहितोऽसि निश्चितं नियोजितश्चोर्ध्वमुखेन तेजसा ॥२३॥

"वरुण ने मेरे विषय में सचमुच तुमको आदेश दिया । यम ने निश्चय-पूर्वक तुम्हें भेजा । इन्द्र ने निःसन्देह तुमको भेजा और अग्नि ने भी तुम्हारा नियोग किया ॥२३॥"

अथ प्रकाशं निभृतस्मिता सती सतीकुलस्याभरणं किमप्यसौ ।
पुनस्तदाभाषणविभ्रमोन्मुखं मुखं विदर्भाधिपसम्भवा दधौ ॥२४॥

फिर कुछ मुसकराकर पतिव्रताओं की लोकोत्तर आभूषण दमयन्ती ने अपने मुख को उसके साथ भाषण के विलास के लिए उन्मुख किया ॥२४॥

वृथापरीहास इति प्रगल्भता न नेति च त्वादृशि वाग्विगर्हणा ।
भवत्यवज्ञा च भवत्यनुत्तरादतः प्रदित्सुः प्रतिवाचमस्मि ते ॥२५॥

"देव-दूत, वृथा परिहास करना धृष्टता है; बार-बार नहीं कहने से आप जैसे मनुष्य की निंदा होती है । उत्तर न देने से अवज्ञा होती है । इस कारण मैं आपको उत्तर देना चाहती हूँ ॥२५॥

कथं नु तेषां कृपयापि वागसावसावि मानुष्यकलाञ्छने जने ।
स्वभावभक्तिप्रवणं प्रतीश्वराः कया न वाचा मुदमुद्गिरन्ति वा ॥२६॥

"मनुष्य होने के लाञ्छन से युक्त जन में कृपा करके देवताओं ने ऐसी

वाणी क्यों कही ? अथवा ईश्वर सहज ही भक्ति से नम्र हुए जन के लिए किस वाणी से हर्ष प्रकट नहीं करते हैं ? ॥२६॥

अहो महेन्द्रस्य कथं मयौचिती सुराङ्गनासङ्गमशोभिताभृतः।
ह्रदस्य हंसावलिमांसलश्रियो बलाकयेव प्रबला विडम्बना ॥२७॥

"आश्चर्य है ! यह कैसे उचित है कि देवाङ्गनाओं के सङ्गम से शोभा धारण करने वाले इन्द्र की मेरे साथ विडम्बना हो, जैसे बहुत से हंसों से शोभायमान सरोवर की विडम्बना बगुलों से होती है ॥२७॥

पुरः सुरीणां भण केव मानवी न यत्र तास्तत्र तु शोभिकापि सा।
अकाञ्चनेऽकिञ्चननायिकाङ्के किमारकूटाभरणेन न श्रियः ॥२८॥

"आप ही कहिये कि देवाङ्गनाओं के सामने मानवी क्या चीज है ? जहाँ वे नहीं होतीं वहीं—पृथ्वी पर—उसकी शोभा होती है जैसे पीतल के गहने सुवर्ण के अलङ्कारों से हीन दरिद्र नायिका के अङ्ग में ही शोभा देते हैं ॥२८॥

यथा तथा नाम गिरः किरन्तु ते श्रुती पुनर्मे बधिरे तदक्षरे।
पृषत्किशोरी कुरुतामसङ्गतां कथं मनोवृत्तिमपि द्विपाधिपे ॥२९॥

"देवता जैसा चाहें वैसा कहें लेकिन मेरे कान उनकी वाणी का एक अक्षर सुनने के लिए भी बहरे हैं। हरिणी ऐरावत के विषय में अयोग्य इच्छा कैसे कर सकती है ? ॥२९॥

अदो निगद्यैव नतास्यया तया श्रुतौ लगित्वाभिहितालिरालपत्।
प्रविश्य यन्मे हृदयं ह्रियाह तद्विनिर्यदाकर्णय मन्मुखाध्वना ॥३०॥

यों कहकर लज्जा से नीचा मुख करके दमयन्ती ने एक सखी के कान में कुछ कहा। तब सखी बोली—"हे दूत, दमयन्ती ने लज्जा से मेरे हृदय में प्रवेश करके जो कुछ कहा है वह मेरे मुख रूपी मार्ग से बाहर निकल रहा है उसे तुम सुनो ॥३०॥

बिभेमि चिन्तामपि कर्तुमीदृशीं चिराय चित्तार्पितनैषधेश्वरा।
मृणालतन्तुच्छिदुरा सतीस्थितिर्लवादपि त्रुट्यति चापलात् किल ॥३१॥

"मैंने बहुत कालसे नलको चित्तमें धारण कर लिया है इस कारण

आदिका वरण करने की चिन्ता करने में भी मुझे डर लगता है क्योंकि पतिव्रताओं की मर्यादा मृणाल-तन्तु के समान सूक्ष्म है। वह जरासी चपलता से भी टूट जाती है ॥३१॥

ममाशयः स्वप्नदशाज्ञयापि वा नलं विलङ्घ्येतरमस्पृशद्यदि।
कुतः पुनस्तत्र समस्तसाक्षिणी निजैव बुद्धिर्विबुधैर्न पृच्छ्यते ॥३२॥

"मेरा मन स्वप्न में भी नल को छोड़ अन्य किसी के पास गया हो तो सब लोकों के सदाचार को प्रत्यक्ष देखने वाली अपनी बुद्धि से देवता इस विषय में क्यों नहीं पूछ लेते ? ॥३२॥

अपि स्वमस्वप्नमसूषुपन्नमी परस्य दाराननवैतुमेव माम्।
स्वयं दुरध्वार्णवनाविकाः कथं स्पृशन्तु विज्ञाय हृदापि तादृशीम् ॥३३॥

"ये देवता मुझे अन्य की स्त्री न जानने के लिए ही अपनी निद्रा-रहित आत्मा को भी सुलाते हैं—नहीं तो स्वयं ही दुष्ट मार्ग रूपी समुद्र से तारने के लिए कर्णधार होकर मुझे पर-स्त्री जानकर भी कैसे चाहते हैं ? ॥३३॥

अनुग्रहः केवल एष मादृशे मनुष्यजन्मन्यपि यन्मनो जने।
स चेद्विधेयस्तदमी तमेव मे प्रसद्य भिक्षां वितरीतुमीशताम् ॥३४॥

"यदि मुझ सरीखे जन पर—जिसने मनुष्य-जन्म लिया है—उनका मन लगा है तो हो यह केवल उनका अनुग्रह है। यदि वे उस अनुग्रह को पूर्ण किया चाहते हैं तो प्रसन्न होकर मुझे नल की भिक्षा देने के लिए ही समर्थ हों ॥३४॥

अपि द्रढीयः शृणु मत्प्रतिश्रुतं स पीडयेत् पाणिमिमं न चेन्नृपः।
हुताशनोद्बन्धनवारिकारितां निजायुषस्तत्करवै स्ववैरिताम् ॥३५॥

"तुम मेरी अत्यन्त दृढ़ प्रतिज्ञा भी सुन लो। यदि नल मेरे साथ विवाह नहीं करेंगे तो अग्नि के, कंठ में रस्सी बाँधने के अथवा जलके द्वारा मैं अपने जीवन के साथ अपने आप शत्रुता करूँगी ॥३५॥

निषिद्धमप्याचरणीयमापदि क्रिया सती नावति यत्र सर्वथा।
घनाम्बुना राजपथे हि पिच्छिले कचिद्बुधैरप्यपथेन गम्यते ॥३६॥

"जिस आपदा में अच्छी क्रिया से किसी प्रकार आत्मा की रक्षा न हो सके उसमें निषिद्ध कर्म भी करना चाहिए क्योंकि जब सड़क पर वर्षा से कीचड़ हो आती है तब पंडित लोग भी कभी २ कुमार्ग से जाते हैं ॥३६॥

स्त्रिया मया वाग्मिषु तेषु शक्यते न जातु सम्यग्वितरीतुमुत्तरम्।
तदत्र मद्भाषितसूत्रपद्धतौ प्रबन्धृतास्तु प्रतिबन्धृता न ते ॥३७॥

"मैं स्त्री हूँ इस कारण उन वाग्मी देवताओं को संतोषजनक उत्तर देने में किसी प्रकार समर्थ नहीं हूँ। इस कारण मैंने जो सूक्ष्म वचन कहे हैं उनकी पद्धति में तुम अपने प्रबन्ध से भाष्य बनाकर कहना। दूषण मत कहना" ॥३७॥

निरस्य दूतः स्म तथा विसर्जितः प्रियोक्तिरप्याह कदुष्णमक्षरम्।
कुतूहलेनेव मुहुः कुहूरवं विडम्ब्य डिम्भेन पिकः प्रकोपितः ॥३८॥

"इस प्रकार पराभव करके विसर्जित कर दिया तब मधुर-भाषी दूत ने संताप-दायक अक्षर बोला——जैसे बालक के द्वारा बार २ कुतूहल के लिए अनु- कुहू शब्द करके कोपित की गई कोकिल बोलती है ॥३८॥

अहो! मनस्त्वामनु तेऽपि तन्वते त्वमप्यमीभ्यो विमुखीति कौतुकम्।
क्व वा निधिर्निर्धनमेति किं च तं स वाक्कवाटं घटयन्निरस्यति ॥३९॥

"दमयन्ती, देवताओं ने तुम पर मन चलाया है लेकिन बड़ा आश्चर्य कि तुम उनसे विमुख हो। दरिद्र के पास कभी भाग्य से निधि आजाय तो क्या वह वाणी रूप दीवार खड़ी करके उसे आने से रोक देता है! ॥३९॥

सहाखिलस्त्रीषु वहेऽवहेलया महेन्द्ररागाद्गुरुमादरं त्वयि।
त्वमीदृशि श्रेयसि सम्मुखेऽपि तं पराङ्मुखी चन्द्रमुखि! न्यवीवृतः ॥४०॥

"हे चन्द्र-मुखि, इन्द्र का तुम्हारे ऊपर अनुराग है। इस कारण स्त्रियों की अवज्ञा करके मैं तुम्हारा बड़ा आदर करता हूँ। तुम्हारे ऐसी समृद्धि आई पर तुम उसे अंगीकार न करके मेरे आदर को करती हो ॥४०॥

दिवौकसं कामयते न मानवी नवीनमश्रावि तवाननादिदम्।
कथं न वा दुर्महदीप एव ते हितेन सम्यक् ... शाम्यते ॥४१॥

"मानवी देवता को नहीं चाहती—यह नई बात मैंने तुम्हारे मुख से सुनी। तुम्हारे इस दुष्ट ग्रह के दोष को क्या तुम्हारे हितकारी पिता भी दूर नहीं करेंगे ? ॥४१॥

अनुग्रहादेव दिवौकसां नरो निरस्य मानुष्यकमेति दिव्यताम्।
अयोविकारे स्वरितत्वमिष्यते कुतोऽयसां सिद्धरसस्पृशामपि ॥४२॥

"देवताओं के अनुग्रह से ही मनुष्य मनुष्यत्व को छोड़ कर देवत्व को प्राप्त होते हैं। औषधों से साधित पारे के साथ संयोग होने से सुवर्ण हुए लोहे को लोहे का विकार कौन कह सकता है ? ॥४२॥

हरिं परित्यज्य नलाभिलाषुका न लज्जसे वा विदुषिन्नुवा कथम् ? ।
उपेक्षितेक्षोः करभाच्छमीरतादुरुं वदे त्वां करभोरु ! भोरिति ॥४३॥

"दमयन्ती, तुम इन्द्र को छोड़ कर नल की अभिलाषा करती हो और तिस पर अपने को विदुषी कहती हो ? इससे क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती ? हे करभोरु, इससे मैं तुमको ईख छोड़ कर शमी खाने वाले ऊँट से भी बढ़कर समझता हूँ ॥४३॥

विहाय हा सर्वसुपर्वनायकं त्वया धृतः किं नरसाधिमभ्रमः ।
मुखं विमुच्य श्वसितस्य धारया वृथैव नासापथधावनश्रमः ॥४४॥

"दमयन्ती, इन्द्र को छोड़ कर मनुष्य के साधुत्व में तुम्हारा भ्रम है। यह बड़ा कष्ट है। श्वास की धारा को मुख छोड़कर नाक के मार्ग से आने का श्रम करना वृथा है ॥४४॥

तपोनले जुह्वति सूरयस्तनूर्दिवे फलायान्यजनुर्भविष्णवे ।
करे पुनः कर्षति सैव विह्वला बलादिव त्वां वलसे न बालिशे ! ॥४५॥

"पण्डित लोग अन्य जन्म में होने वाले स्वर्ग के फल के लिए तप रूपी अग्नि में अपने शरीरों का होम कर देते हैं। वही स्वर्ग तुम्हारे अनुराग से विह्वल होकर इसी जन्म में बल-पूर्वक तुम्हारा हाथ खींचता है। हे मूर्खे, तुम्हीं उसके अभिमुख नहीं होतीं ॥४५॥

यदि स्वमुद्बन्धुमना विना नलं भवेर्भवन्तीं हरिरन्तरिक्षगाम्।
दिविस्थितानां प्रथितः पतिस्ततो हरिष्यति न्याय्यमुपेक्षते हि कः ॥४६॥

"तुम नल के बिना अपने को फाँसी लगाओगी तो तुम्हें अन्तरिक्ष से इन्द्र हर ले जायगा क्योंकि यह सब जानते हैं कि वह अन्तरिक्ष का स्वामी है। फिर अपने न्याय से प्राप्त हुए भाग को अङ्गीकार नहीं करेगा ? ॥४६॥

निवेक्ष्यसे यद्यनले नलोज्झिता सुरे तदस्मिन्महती दया कृता।
चिरादनेनार्थनयापि दुर्लभं स्वयं त्वयैवाङ्ग ! यदङ्गमर्प्यते ॥४७॥

"दमयन्ती, यदि तुम नल के बिना अग्नि में प्रवेश करोगी तब तो निश्चय-पूर्वक अग्नि के ऊपर तुम्हारी बड़ी कृपा होगी क्यों कि बहुत काल तक प्रार्थना किये गये अपने दुर्लभ अङ्ग को तुम स्वयं अग्नि को दे दोगी ॥४७॥

जितं जितं तत्खलु पाशपाणिना विनानलं वारि यदि प्रवेक्ष्यसि।
तदा त्वदाख्यान् वहिरप्यसूनसौ पयःपतिर्वक्षसि वक्ष्यतेतराम् ॥४८॥

"दमयन्ती, यदि तुम नल के बिना पानी में डूबोगी तो निःसन्देह वरुण जीत जायगा क्योंकि तुम भीतर प्रवेश करोगी तब वह तुम्हारे नाम के सारे प्राणों को बाहर भी धारण करेगा ॥४८॥

करिष्यसे यद्यत एव दूषणादुपायमन्यं विदुषी स्वमृत्यवे।
प्रियातिथिः स्वेन गृहागता कथं न धर्मराजं चरितार्थयिष्यसि ॥४९॥

"दमयन्ती, यदि तुम अन्य उपाय तलाश करके अपनी मृत्यु के लिए यत्न करोगी तो तुम स्वयं घर में आई हुई प्रिया के रूप से यम को क्यों न कृतार्थ करोगी ? ॥४९॥

निषेधवेषो विधिरेष तेऽथवा तवैव युक्ता खलु वाचि वक्रता।
विजृम्भितं यस्य किल ध्वनेरिदं विदग्धनारीवदनं तदाकरः ॥५०॥

"अथवा तुमने जो बार बार निषेध किया है सो भी निषेध के रूप में तुम्हारी "हाँ" है क्योंकि तुम्हारे वचन में वक्रता होनी ही चाहिए। जिस ध्वनि-संज्ञक काव्य का विलास निषेध-विधि रूप है उसका आकार चतुर स्त्री का मुख होता है ॥५०॥

१—जिस काव्य में शब्दों के नियत अर्थों के योग से सूचित होने वाले

भ्रमामि ते भैमि ! सरस्वतीरसप्रवाहचक्रेषु निपत्य कत्यदः ।
त्रपामपाकृत्य मनाक् कुरु स्फुटं कृतार्थनीयः कतमः सुरोत्तमः ॥५१॥

"दमयन्ती, मैं तुम्हारे वाणी के रस के प्रवाह-चक्रों में गिर कर कब तक भ्रमण करता रहूँ ? लज्जा को जरा दूर करके यह बात स्पष्ट कहो कि तुम किस दिक्पाल को कृतार्थ किया चाहती हो ॥५१॥

मतः . . . किमैरावतकुम्भकैतवप्रगल्भपीनस्तनदिग्धवस्तव ।
सहस्रनेत्रान्न पृथग्मते मम त्वदङ्गलक्ष्मीमवगाहितुं क्षमः ॥५२॥

"ऐरावत के कुंभस्थल ही जिसके कठिन और पीन स्तन हैं उस दिशा के पति इन्द्र को तुम चाहती हो क्या ? तुम्हारे शरीर की शोभा पूर्ण रूप से देखने के लिए सहस्रनेत्र इन्द्र के अतिरिक्त कोई मेरी सम्मति में नहीं है ॥५२॥

प्रसीद तस्मै दमयन्ति ! सन्ततं त्वदङ्गसङ्गप्रभवैर्जगत्प्रभुः ।
पुलोमजालोचनतीक्ष्णकण्टकैस्तनुं घनामातनुतां स कण्टकैः ॥५३॥

"दमयन्ती, इन्द्र से तुम प्रसन्न होओ । वह तुम्हारे अङ्ग के सहवास से उत्पन्न हुए रोमाञ्चों से अपने शरीर को सदा परिपूर्ण समझे । वे रोमांच इन्द्राणी के नेत्रों को असह्य काँटों के समान हैं ॥५३॥

अबोधि तत्त्वं दहनेऽनुरज्यसे स्वयं खलु क्षत्रियगोत्रजन्मनः ।
विना तमोजस्विनमन्यतः कथं मनोरथस्ते वलते विलासिनि ! ॥५४॥

"तुम अपने आप अग्नि से अनुराग करती हो—यह रहस्य मैंने जान लिया है । हे विलासिनि, तुमने क्षत्रिय-कुल में जन्म लिया है इस कारण तुम्हारा मनोरथ अग्नि को छोड़कर अन्य किसी में कैसे जायगा ? ॥५४॥

त्वयैकसत्या तनुतापशङ्कया ततो निवर्त्य न मनः कथञ्चन ।
हिमोपमा तस्य परीक्षणक्षणे सतीषु वृत्तिः शतशो निरूपिता ॥५५॥

की अपेक्षा प्रसङ्ग से निकलने वाले अर्थ में विशेषता होती है । वह ध्वनि कहलाता है । ध्वनि काव्य का यह विलास है कि इसमें निषेध की विधि और विधि का निषेध समझा जाता है । स्त्री ही वक्रोक्ति आदि ध्वनि के विलास को कहने में समर्थ होती है ।

"तुम अद्वितीय सती हो। तुम शरीर के दाह की शंका करके अग्नि से किसी प्रकार भी अपना मुँह मत मोड़ना क्योंकि परीक्षा के समय अग्नि की वृत्ति तुम्हारे बार बर्फ के समान देखी गई है ॥५५॥

स धर्मराजः खलु धर्मशीलया त्वयाऽस्ति चित्तातिथितामवापितः।
ममापि साधुः प्रतिभात्ययं क्रमश्चकास्ति योग्येन हि योग्यसङ्गमः॥

"तुमने यम को अपने चित्तका अतिथि बनाया है क्योंकि तुम धर्मशील हो। यह परिपाटी मुझे भी अच्छी लगती है क्योंकि योग्यके साथ ही योग्यका संगम ठीक होता है ॥५६॥

अजातविच्छेदलवैः स्मरोद्भवैरगस्त्यभासा दिशि निर्मलत्विषि।
धुतावधिं कालममृत्युशङ्किता निमेषवत्तेन नयस्व केलिभिः॥

"दमयन्ती, तुम अगस्त्य नक्षत्रकी कान्तिसे उज्ज्वल दक्षिण दिशामें यमके साथ विना वियोगके क्रीड़ाओंमें मृत्यु-भय-रहित होकर सीमारहित काल रहो ! ॥५७॥

शिरीषमृद्वी वरुणं किमीहसे पयःप्रकृत्या मृदुवर्गवासवम्।
विहाय सर्वान् वृणुते स्म किं न सा निशापि शीतांशुमनेन हेतुना॥

"तुम्हारा अंग शिरीष के समान कोमल है। जल की प्रकृति के मृदु वस्तुओं के स्वामी वरुणको चाहती हो क्या ? क्योंकि निशा भी इसी क्या सब देवताओं को छोड़कर शीतांशु चन्द्रमा को पसन्द नहीं करती है! ॥

असेवि यस्त्यक्तदिवा दिवानिशं श्रियः प्रियेणानणुरामणीयकः।
सहामुना तत्र पयःपयोनिधौ कृशोदरि ! क्रीड यथामनोरथम्॥

"स्वर्ग को छोड़कर विष्णु रात-दिन बड़े रमणीय क्षीर-समुद्र की सेवा करते हैं। तुम वहाँ क्षीर-समुद्र में वरुण के साथ इच्छा से क्रीड़ा करना ॥५९॥

इति स्फुटं तद्वचसस्तयादरात् सुरस्पृहारोपविडम्बनादपि।
कराङ्कसुप्तैककपोलकर्णया श्रुतं च तद्भाषितमश्रुतं च तत्॥

हथेली पर रक्खे हुए कपोल-कर्णवाली दमयन्ती ने दूत के वचन

और नहीं भी सुने। नल के आकार वाले दूत के आदर के कारण सुने और इन्द्र आदि में अभिलाषा रूप दूषण के कारण नहीं सुने ॥६०॥

चिरादनध्यायमवाङ्मुखी मुखे ततः स्म सा वासयते दमस्वसा।
कृतायतश्वासविमोक्षणाथ तं क्षणाद्बभाषे करुणं विचक्षणा ॥६१॥

फिर दमयन्ती नीचा मुख करके बहुत देरतक चुप रही। बाद में करुणापूर्वक लम्बे लम्बे साँस छोड़कर उसने नल से कहा— ॥६१॥

विभिन्दता दुष्कृतिनीं मम श्रुतिं दिगिन्द्रदुर्वाचिकसूचिसञ्चयैः।
प्रयातजीवामिव मां प्रति स्फुटं कृतं त्वयाप्यन्तकदूततोचितम् ॥६२॥

"मेरे दुष्कर्मकारी कानोंको दिक्पालोंके दुष्ट सन्देश-वचनरूप सुइयों से छेद कर और मुझे मरा हुआ सा समझ कर तुमने मुझपर प्रत्यक्ष रूप से वही कर्म किया जो यम के दूत को करना चाहिये था ॥६२॥

त्वदास्यनिर्यन्मदलीकदुर्यशोमषीमयं सल्लिपिरूपभागिव।
श्रुतिं ममाविश्य भवद् रक्षरं सृजत्यदः कीटवदुत्कटा रुजः ॥६३॥

"तुम्हारे मुख से निकले, मेरी (देवताओं के अनुराग से उत्पन्न हुई) मिथ्या कीर्ति रूप स्याही से युक्त लेख के समान, दुष्ट अक्षर मेरे कानों में प्रवेश करके कीड़े के समान उत्कट पीड़ा पैदा करते हैं" ॥६३॥

तमालिरुचेऽथ विदर्भजेरिता प्रगाढमौनव्रतयैकया सखी।
त्रपां समाराधयतीयमन्यया भवन्तमाह स्वरसज्ञया मया ॥६४॥

फिर दमयन्ती से प्रेरित हुई सखीने कहा—"हे दूत, मेरी सखी दमयन्ती अत्यन्त मौन का व्रत करने वाली जिह्वा से लज्जा का आश्रय लेती है। इस कारण मेरे द्वारा अपनी जिह्वा से तुमसे यों कहती है— ॥६४॥

तमर्चितुं मद्वरणस्रजा नृपं स्वयंवरः सम्भविता परेद्यवि।
ममासुभिर्गन्तुमनाः पुरःसरैस्तदन्तरायः पुनरेष वासरः ॥६५॥

"मेरे वरण की माला से राजा नलकी पूजा करने के लिए कल स्वयंवर होगा। आज का दिन उस स्वयंवर में विघ्न है। इसके पहले ही मेरे प्राण चले जाना चाहते हैं ॥६५॥

"अग्नि तुम्हारे प्राप्त करने की अभिलाषा से अपनी मूर्त्तियों में स्वयं इ... करके यदि सर्व-काम-दाता यज्ञ करे तो वेद की विधि असत्य कैसे होगी ?॥७५॥

सदा तदाशामधितिष्ठतः करं वरं प्रदातुं चलिताद्बलादपि ।
मुनेरगस्त्याद्वृणुते स धर्मराड् यदि त्वदाप्तिं भण का तदा गतिः ?॥७६॥

"यम अगस्त्य से तुम्हारी प्राप्ति के लिए यदि कहे तो बतलाओ तुम्हारी क्या गति होगी ? क्योंकि अगस्त्य यम की दिशा में रहता है। वह ... राज भाग बल-पूर्वक देने के लिए अपने आप प्रवृत्त होगा ॥७६॥

क्रतोः कृते जाग्रति वेत्ति कः कति ? प्रभोरपां वेश्मनि कामधेनवः।
त्वदर्थमेकामपि याचते स चेत् प्रचेतसः पाणिगतैव वर्तसे ॥७७॥

"दमयन्ती, बरुण के घर में यज्ञ के लिए कितनी कामधेनु हैं—यह ... जानता है, वह तुम्हारे लिए उनमें एक से भी कहेगा तो तुम अपने को ... हाथ में आया समझो ॥७७॥

न सन्निधात्री यदि विघ्नसिद्धये पतिव्रता पत्युरनिच्छया शची।
स एव राजव्रजवैशसात् कुतः परस्परस्पर्द्धिवरः स्वयंवरः ?॥७८॥

"पतिव्रता इन्द्राणी पति का अनादर करके विघ्न करने के इरादे से उपस्थित न हो तो तुम्हारे स्वयम्वर में राजा लोग आपस में स्पर्धा करेंगे ... उनमें कलह होने के कारण स्वयम्वर कैसे होगा ? ॥७८॥

निजस्य वृत्तान्तमजानतां मिथो मुखस्य रोषात् परुषाणि जल्पतः।
मृधं किमच्छत्रकदण्डताण्डवं भुजाभुजि क्षोणिभुजां दिदृक्षसे ॥७९॥

"क्या तुम उपस्थित राजाओं में बाहु-युद्ध देखा चाहती हो जिसमें ... से डण्डे टूट कर ताण्डव करेंगे और किसी को यह नहीं मालूम होगा कि ... दूसरे पर आक्रोश करके उनके मुख क्या कहा चाहते हैं ? ॥७९॥

अपार्थयन् याज्ञिकफूत्कृतिश्रमं ज्वलेद्रुषा चेद्वपुषा तु नानलः।
अलं नलः कर्तुमनग्निसाक्षिको विधिं विवाहे तव सारसाक्षि ! क...

१—स्वयम्बर में इन्द्राणी की उपस्थिति आवश्यक है। यह समझा जाता है। इन्द्राणी सब सङ्कटों से स्वयम्बर की रक्षा करती है।

"पुरोहितों की फूँक का श्रम व्यर्थ करके अग्नि ज्वाला रूप से दीप्त न होकर यदि क्रोध से ही प्रदीप्त हो तो हे कमल-नयने, उस विवाह में नल, अग्नि के साक्ष्य के विना, कौन सी विधि पूरी करने में समर्थ होगा ? ॥८०॥

पतिंवरायाः कुलजं वरस्य वा यमः कमप्याचरितातिथिं यदि ।
कथं न गन्ता विफलीभविष्णुतां स्वयंवरः साध्वि ! समृद्धिमानपि ॥८१॥

"तुम पतिंवरा हो । तुम्हारे किसी बन्धु को या नल के किसी बन्धु को यदि यम मार डाले तो हे पतिव्रते, समृद्धि से युक्त स्वयम्बर भी कैसे विफल नहीं होगा ? ॥८१॥

अपः पतिः स्वामितयाऽपरः सुरः स ता निषेधेद्यदि नैषधक्रुधा ।
नलाय लोभात्तपाणयेऽपि ते पिता कथं त्वां वद संप्रदास्यते ? ॥८२॥

"जल का स्वामी होने के कारण वरुण यदि नल पर क्रोध करके जल का निषेध कर देगा तो तुम्हारा पिता प्रतिग्रह के लोभ से हाथ पसारने वाले नल को तुम्हें किस प्रकार देगा । कहो तो ? ॥८२॥

इदं महत्तेऽभिहितं हितं मया विहाय मोहं दमयन्ति ! चिन्तय ।
सुरेषु विघ्नैकपरेषु को नरः करस्थमप्यर्थमवाप्तुमीश्वरः ? ॥८३॥

"हे दमयन्ती, मैं तुमसे बड़े हित की बात कहता हूँ । तुम मोह छोड़ कर विचार करो । जब देवता ही विघ्न करने पर उतारू हो जायँगे तब हथेली पर रक्खी हुई वस्तु को भी लेने के लिए कौन समर्थ होगा ? ॥८३॥

इमा गिरस्तस्य विचिन्त्य चेतसा तथेति संप्रत्ययमाससाद सा ।
निवारितावग्रहनीरनिर्झरे नभोनभस्यत्वमलम्भयद्दृशौ ॥८४॥

नल की इस वाणी को मन में विचार कर दमयन्ती को विश्वास हुआ कि यह बात सच है, और जिनका जल-प्रवाह नहीं रुका था ऐसे उसके नेत्र सावन-भादों हो गये ॥८४॥

स्फुटोत्पलाभ्यामलिदम्पतीव तद्विलोचनाभ्यां कुचकुड्मलाशया ।
निपत्य बिन्दू हृदि कज्जलाविलौ मणीव नीलौ तरलौ विरेजतुः ॥८५॥

काजल से मलीन दो अश्रुबिंदु, कुच रूप कलिका की अभिलाषा से

भ्रमर-दम्पती के समान, खिले हुए कमल रूपी नेत्रों से हृदय पर गिर कर वे चञ्चल इन्द्रनील मणियों के समान शोभायमान हुए ॥८५॥

धुतापतत्पुष्पशिलीमुखाशुगैः शुचेस्तदासीत् सरसी रसस्य सा।
रसाय बद्धादरयाऽश्रुधारया सनालनीलोत्पललीललोचना ॥८६॥

दमयन्ती कामदेव के बाणों के आक्रमण से पीड़ित थी तथा विप्रलम्भ शृंगार की झील थी। निरंतर गिरती हुई अश्रु धारा के कारण उसके नेत्र नाल-सहित नीले कमल की लीला समान थे ॥८६॥

अथोद्भ्रमन्ती रुदती गतक्षमा ससम्भ्रमा लुप्तरतिः स्खलन्मतिः।
व्यधात् प्रियप्राप्तिविघातनिश्चयान्मृदूनि दूना परिदेवितानि सा ॥८७॥

फिर नल की प्राप्ति न होने के निश्चय से दुःखित, उन्माद युक्त, रोदन करती, सहन-शक्ति-हीन, सुख-हीन, किंकर्तव्य-विमूढ़ तथा संभ्रम-युक्त दमयन्ती कोमल विलाप-वचन कहने लगी—॥८७॥

त्वरस्व पञ्चेषुहुताशनात्मनस्तनुष्व मद्भस्ममयं यशश्चयम्।
विधे! परेहाफलभक्षणव्रती पताद्य तृप्यन्नसुभिर्ममाफलैः ॥८८॥

"हे कामाग्नि, तुम जल्दी करो और मेरे शरीर को भस्म करके अपने यश का विस्तार करो। हे विधाता, दूसरे की इच्छा के फल को भक्षण करना ही तेरा व्रत है। तू भी मेरे व्यर्थ प्राणों से तृप्त हो कर पतित हो ॥८८॥

भृशं वियोगानलतप्यमान! किं विलीयसे न त्वमयोमयं यदि!।
स्मरेषुभिर्भेद्य! न वज्रमप्यसि ब्रवीषि न स्वान्त! कथं न दीर्यसे ॥८९॥

"हे हृदय, तू वियोगाग्नि से अत्यन्त संतप्त हो गया है। यदि तू लोहमय है तो गल क्यों नहीं जाता? कामदेव के बाण तेरा वेधन करते हैं इस कारण तू वज्र भी नहीं है। तेरे टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं होते? यह मुझे बता! ॥८९॥

विलम्बसे जीवित! किं द्रव द्रुतं ज्वलत्यदस्ते हृदयं निकेतनम्।
जहासि नाद्यापि मृषा सुखासिकामपूर्वमालस्यमिदं तवेदृशम् ॥९०॥

"हे जीवन, तू क्यों विलम्ब करता है? जल्दी भाग। तेरा स्थान वो

हृदय है और उसमें आग लग गयी है। क्या आज भी तुझे वृथा सुख की आशा बनी है? तेरा आलस्य बड़ा अपूर्व है ॥९०॥

दृशौ! मृषा पातकिनो मनोरथाः कथं पृथू वामपि विप्रलेभिरे।
प्रियश्रियः प्रेक्षणघाति पातकं स्वमश्रुभिः क्षालयतं शतं समाः ॥९१॥

"हे नेत्र, पातक-युक्त मनोरथों ने तुम्हें व्यर्थ आशा से क्यों वञ्चित किया? अब तुम दोनों नल की शोभा देखने में विघ्न करने वाले अपने पातक को सौ वर्ष तक आँसुओं से धोओ ॥९१॥

प्रियं न मृत्युं न लभे त्वदीप्सितं तदेव न स्यान्मम यत्त्वमिच्छसि।
वियोगमेवेच्छ मनः! प्रियेण मे तव प्रसादान्न भवत्वसौ मम ॥९२॥

"हे मन, न तो मैं नल को और न मृत्यु को प्राप्त करती हूँ। जो मेरी अभीप्सित बात तू चाहता है वही प्राप्त नहीं होती। इस कारण तू प्रियतम के साथ मेरे वियोग की इच्छा कर जिससे तेरी कृपा से वह मुझे प्राप्त न हो ॥९२॥

न काकुवाक्यैरतिवाममङ्गजं द्विषत्सु याचे पवनं तु दक्षिणम्।
दिशापि मद्भस्म किरत्वयं तया प्रियो यया वैरविधिर्वधावधिः ॥९३॥

"वैरियों के बीच में दीन वचनों से मैं कामदेव से प्रार्थना नहीं करूँगी क्योंकि वह स्त्रियों की बात नहीं मानता। परन्तु मैं दक्षिण पवन से याचना करूँगी जिसमें यह मेरी मृत्यु के बाद जिस दिशा में मेरा प्रिय हो उसी तरफ मेरी भस्म उड़ा ले जाय क्योंकि वैर मरण पर समाप्त हो जाता है ॥९३॥

अमूनि गच्छन्ति युगानि न क्षणः कियत् सहिष्ये न हि मृत्युरस्ति मे।
स मां न कान्तः स्फुटमन्तरुज्झिता न तं मनस्तच्च न कायवायवः ॥९४॥

"मेरा यह क्षण नहीं है पर क्षण रूप से युग बीत रहे हैं। कहाँ तक दुःख सहन करूँ? मृत्यु भी तो नहीं आती क्योंकि यह स्पष्ट है कि मेरा प्रिय भीतर से मुझे नहीं छोड़ता, मन मेरे प्रिय को नहीं छोड़ता और मेरे प्राण मन को नहीं छोड़ते ॥९४॥

मदुग्रतापव्ययशक्तशीकरः सुराः! स वः केन पपे कृपार्णवः।
उदेति कोटिर्न मुदे मदुत्तमा किमाशु सङ्कल्पकणश्रमेण वः ॥९५॥

"हे देवताओ, तुम्हारी कृपा का समुद्र किसने पी लिया है ? उसकी तो एक बूँद ही मेरे उग्र ताप का नाश कर सकती है । तुम्हारी इच्छा के तो लेश से ही मुझे भी अच्छी करोड़ों स्त्रियाँ क्या तुम्हारी प्रीति के लिए शीघ्र उदित नहीं हो सकती हैं ॥९५॥

ममैव वाहर्दिनमश्रुदुर्दिनैः प्रसह्य वर्षासु ऋतौ प्रसञ्जिते ।
कथं नु शृण्वन्तु सुषुप्य देवता भवत्वरण्येरुदितं न मे गिरः॥९६॥

"अथवा प्रति दिन मेरी अश्रु-धाराओं से वर्षा ऋतु आ जाने पर देवता निद्रित होने के कारण मेरी वाणी कैसे सुनेंगे ? इस कारण मेरा वचन जंगल में रोने के समान न हो ॥९६॥

इयं न ते नैषध ! दृक्पथातिथिस्त्वदेकतानस्य जनस्य यातना ।
ह्रदे ह्रदे हा न कियद्रवेषितः स वेधसाऽगोपि खगोऽपि वक्ति यः॥९७॥

"हे नल, जिसके जीवन का उपाय केवल तुम हो उसकी इतनी पीड़ा क्या तुम्हारे दृष्टि-गोचर नहीं है ? कष्ट है ! जो मेरी पीड़ा तुमको सुनाता वह पक्षी भी कितनी ही बार सरोवरों पर देखा गया पर उसे भी विधाता ने छिपा दिया है ॥९७॥

ममापि किं नो दयसे दयाघन ! त्वदङ्घ्रिमग्नं यदि वेत्थ मे मनः ।
निमज्जयन् सन्तमसे पराशयं विधिस्तु वाच्यः क तवागसः कथा॥९८॥

"हे नल, यदि तुम जानते हो कि मेरा मन तुम्हारे चरणों में लगा है तो मेरे ऊपर कृपा क्यों नहीं करते ? पर इसमें तुम्हारा अपराध नहीं है । यह विधाता का ही दोष है क्योंकि वह दूसरे के अन्तःकरण को अज्ञान में रखता है ॥९८॥

कथावशेषं तव सा कृते गतेत्युपैष्यति श्रोत्रपथं कथं न ते ? ।
दयाणुना मां समनुग्रहीष्यसे तदापि तावद्यदि नाथ ! नाऽधुना॥९९॥

"दमयन्ती की तुम्हारे कारण सिर्फ कहानी रह गई—यह बात क्या तुम्हारे कान में नहीं पड़ेगी ? हे नाथ, यद्यपि अब तुम मुझ पर कृपा नहीं करते, क्या उस समय भी तुम मुझे दया के कणों से अनुगृहीत नहीं करोगे ? ॥९९॥

ममादरीदं विदरीतुमान्तरं तदर्थिकल्पद्रुम ! किञ्चिदर्थये ।
भिदां हृदि द्वारमवाप्य मा स मे हतासुभिः प्राणसमः समं गमः॥१००॥

"मेरा हृदय फटना चाहता है; इस कारण हे अर्थि-कल्पद्रुम, मैं कुछ प्रार्थना करती हूँ। हे प्राणप्रिय, हृदय के फटने से उत्पन्न हुआ द्वार पाकर मेरे प्राणों के साथ कहीं तुम बाहर मत चले जाना !" ॥१००॥

इति प्रियाकाकुभिरुन्मिषन् भृशं दिगीशदूत्येन हृदि स्थिरीकृतः ।
नृपं स योगेऽपि वियोगमन्मथः क्षणं तमुद्भ्रान्तमजीजनत् पुनः॥१०१॥

नल, दिक्पालों के दूत्य से, हृदय में स्थिर था तथा दमयन्ती उसके सन्मुख थी तो भी प्रिया के दीन वचनों से प्रबुद्ध होकर वियोग रूपी कामदेव ने उसे उद्भ्रान्त कर दिया ॥१०१॥

महेन्द्रदूत्यादि समस्तमात्मनस्ततः स विस्मृत्य मनोरथस्थितैः ।
क्रियाः प्रियाया ललितैः करम्बिता वितर्कयन्नित्थमलीकमालपत् ॥१०२॥

तब नल, अपने इन्द्र दूत्य आदि के सब काम भूल कर, प्रिया की—अपने मनोरथ में स्थित—विलास-मिश्रित क्रियाओं की बार-बार तर्कना करके यों बोला— ॥१०२॥

अयि ! प्रिये ! कस्य कृते विलप्यते विलिप्यते हा मुखमश्रुबिन्दुभिः ।
पुरस्त्वयालोकि नमन्नयं न किं तिरश्चलल्लोचनलीलया नलः ॥१०३॥

"अयि प्रिये, किसके लिए तुम विलाप करती हो और अश्रु-बिन्दुओं से अपना मुख भिंगोतो हो ? यह नल नम्र होकर तुम्हारे सामने ही तो तिर्यक् दृष्टि करके खड़ा है ! क्या तुमने इसे नहीं देखा ? ॥१०३॥

चकास्ति बिन्दुच्युतकातिचातुरी घनाश्रुबिन्दुस्रुतिकैतवात् तव ।
मसारताराक्षि ! ससारमात्मना तमोषि संसारमसंशयं यतः ॥१०४॥

"हे नीलम के समान नेत्रों की पुतलियों वाली, घने नेत्र-बिन्दु गिरने के बहाने तुम्हारी बिन्दु-च्युतक[१] के विषय में चतुरता शोभायमान है क्योंकि तुम निश्चय-पूर्वक संसार को अपने से स-सार बनाती हो ॥१०४॥

१—बिन्दु—च्युतक में अनुस्वार के हटाने से शब्द का अर्थ बदल जाता है जैसे संसार असार है पर बिन्दु हटाने से ससार हो जाता है ।

अपास्तपाथोरुहि शायितं करे करोषि लीलाकमलं किमाननम्।
तनोषि हारं कियदस्त्रुणः स्रवैरदोषनिर्वासितभूषणे हृदि ॥१०५॥

"तुमने कमलका त्याग करने वाले हाथमें अपना मुख रखकर उसे लीला-कमल क्यों बनाया है ? बिना दूषण के ही भूषण त्यागने वाले हृदय पर अश्रु विन्दुओं से कब तक मुक्ताहार बनाओगी ? ॥१०५॥

दृशोरमङ्गल्यमिदं मिलज्जलं करेण तावत् परिमार्जयामि ते।
अथापराधं भवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयीरजोभिः सममात्ममौलिना ॥१०६॥

"दमयन्ती, तुम्हारे नेत्रों से निरंतर गिरते इन अमंगल आँसुओं को पहले मैं पोंछता हूँ। फिर तुम्हारे दोनों चरण-कमलों की रज के साथ-साथ अपने मस्तक से अपराध भी पोंछूँगा ? ॥१०६॥

मम त्वदच्छाङ्घ्रिनखामृतद्युतेः किरीटमाणिक्यमयूखमञ्जरी।
उपासनामस्य करोतु रोहिणी त्यज त्यजाकारणरोषणे ! रुषम् ॥१०७॥

"दमयन्ती, मेरे किरीट के माणिक्य-मयूखों की लालमंजरी को रोहिणी के समान अपने चरणों के स्वच्छ नखरूपी चन्द्रमा की उपासना करने दो। हे विना कारण कोप करने वाली, क्रोध छोड़ दो, छोड़ दो ॥१०७॥

तनोषि मानं मयि चेन्मनागपि त्वयि श्रये तद्बहुमानमानतः।
विनम्य वक्त्रं यदि वर्तसे कियन्नमामि ते चण्डि ! तदा पदावधि ॥१०८॥

"याद तुम मुझसे जरा भी अप्रसन्न हो तो मैं नम्र होकर तुम्हारा अत्यन्त सन्मान करता हूँ। हे कोपने, यदि तुम रोष के कारण अपना मुख जरा सा नीचा रक्खोगी तो मैं तुम को चरणों तक नमस्कार करता हूँ ॥१०८॥

प्रभुत्वभूम्नानुगृहाण वा न वा प्रणाममात्राधिगमेऽपि कः श्रमः ?।
क याचतां कल्पलतासि मां प्रति क दृष्टिदाने तव बद्धमुष्टिता ॥१०९॥

"अपनी प्रभुता की शक्ति से तुम मुझ पर अनुग्रह करो या न करो लेकिन मेरा प्रणाम स्वीकार करने में कौन सा श्रम है ? कहाँ तो तुम याचकों के लिए

कल्पलता हो और कहाँ मेरी ओर दृष्टि-दान में कृपणता ॥१०९॥

स्मरेषुमाथं सहसे मृदुः कथं हृदि द्रढीयः कुचसंवृते तव।
निपत्य वैसारिणकेतनस्य वा व्रजन्ति बाणा विमुखोत्पतिष्णुताम् ॥११०॥

"दमयन्ती, तुम अत्यन्त कोमल होकर कामदेव के बाण कैसे सहन करती हो। अथवा कामदेव के बाण तुम्हारे दृढ़ कुचों से ढँके हृदय पर लग कर विमुख हो उड़ जाते हैं ॥११०॥

स्मितस्य संभाव्य सृक्कणा कणान् विधेहि लीलाचलमञ्चलं भ्रुवः।
अपाङ्गरथ्यापथिकीं च हेलया प्रसद्य सन्धेहि दृशं ममोपरि ॥१११॥

"दमयन्ती, तुम ओष्ठ प्रान्त में मुसकराहट के कण धारण करो; भौंहों के अञ्चल को लीला से चलायमान करो तथा नेत्रों के प्रान्त मार्ग में नित्य चलने वाली दृष्टि प्रसन्न होकर मुझ पर फेंको ॥१११॥

समापय प्रावृष्टमश्रुविप्रुषां स्मितेन विश्राणय कौमुदीमुदः।
दृशावितः खेलतु खञ्जनद्वयी विकासि पङ्केरुहमस्तु ते मुखम्॥११२॥

"तुम अश्रु-बिन्दुओं की वर्षा बन्द करो; अपनी मुसकुराहट से मुझे चाँदनी का हर्ष दो। तुम्हारे नेत्र रूपी दोनों खञ्जन मुझ पर क्रीड़ा करें तथा तुम्हारा मुख खिला हुआ कमल हो ॥११२॥

सुधारसोद्वेलनकेलिमक्षरस्रजा सृजान्तर्मम कर्णकूपयोः।
दृशौ मदीये मदिराक्षि! कारय स्मितश्रिया पायसपारणाविधिम्॥११३॥

"दमयन्ती, मेरे कर्ण-कूपों के बीच में वर्ण माला से अमृत रस की सीमा-रहित क्रीड़ा की रचना करो। हे मदिराक्षि, जैसे उपवास करने वाले को पायस की पारणा से तृप्ति होती है उसी तरह तुम्हारी मुसकराहट से मेरे नेत्रों को तृप्ति हो ॥११३॥

ममासनार्धे भव मण्डनं न न प्रिये! मदुत्सङ्गविभूषणं भव।
अहं प्रमादालपमङ्ग! मृष्यतां विना ममोरः कतमत्तवासनम् ॥११४॥

"प्रिये, मेरे आधे सिंहासन को भूषित करो; नहीं, नहीं, मेरे अङ्क को भूषित करो। यह मैंने भ्रम से कहा था। मुझे क्षमा करो क्योंकि मेरे वक्षःस्थल के बिना तुम्हारा और क्या आसन हो सकता है ? ॥११४॥

अधीतपञ्चाशुगबाणवञ्चने ! स्थिता मदन्तर्बहिरेषि चेदुरः ।
स्मराशुगेभ्यो हृदयं बिभेतु न प्रविश्य तत्त्वन्मयसम्पुटे मम ॥११५॥

"तुमने कामदेव की बाण वञ्चना का अभ्यास किया है । तुम मेरे मन में स्थित होओ । यदि तुम मेरे वक्षःस्थल पर भी आ जाओ तो तुम्हारा सम्पुट होने से मेरे हृदय को कामदेव के बाणों का डर न रहे ॥११५॥

परिष्वजस्वानवकाशबाणता स्मरस्य लग्ने हृदयद्वयेऽस्तु नौ ।
दृढा मम त्वत्कुचयोः कठोरयोरुरस्तटीयं परिचारिकोचिता ॥११६॥

"दमयन्ती, तुम मेरा आलिङ्गन करो जिसमें हमारे निरन्तर मिले हुए दोनों हृदयों के बेंधने में बाणों को अवकाश नहीं मिले । मेरा अत्यन्त कठोर तथा विशाल वक्षःस्थल तुम्हारे कठोर कुचों का सेवक होने के योग्य है ॥११६॥

तवाधराय स्पृहयामि यन्मधुस्रवैः श्रवःसाक्षिकमाक्षिका गिरः ।
अधित्यकासु स्तनयोस्तनोतु ते ममेन्दुलेखाभ्युदयाद्भुतं नखः ॥११७॥

"दमयन्ती, मैं तुम्हारे उस अधर की इच्छा करता हूँ जिसके मधुर निर्झर से तुम्हारी वाणी मेरे कानों में मधु पहुँचाती है । मेरे नख तुम्हारे स्तनों की अधित्यकाओं में चन्द्र-लेखा[1] के उदय से अद्भुत आश्चर्य का विस्तार करें ॥११७॥

न वर्तसे मन्मथनाटिका कथं प्रकाशरोमावलिसूत्रधारिणी ।
तवाङ्गहारे रुचिमेति नायकः शिखामणिश्च द्विजराड्विदूषकः ॥११८॥

"दमयन्ती, अत्यन्त शोभायमान रोमावली रूप सूत्र-धारिणी तुम मन्मथ-नाटिका क्यों नहीं हो ? तुम्हारे हार में मध्यमणि ऐसा शोभायमान है मानो नाटिका का नायक तुम्हारे अङ्ग-विक्षेप में प्रीति करता हो । चन्द्रमा का तिरस्कार करने वाला तुम्हारी शिखा का मणि मानो ब्राह्मण-विदूषक है जो अपनी शिखा पर मणि रखता है ॥११८॥

शुभाष्टवर्गस्त्वदनङ्गजन्मनस्तवाधरेऽलिख्यत यत्र लेखया ।
मदीयदन्तक्षतराजिरञ्जनैः स भूर्जतामर्जतु बिम्बपाटलः ॥११९॥

1—मेरे नख ऐसे चिह्न बनावें जो अर्ध-चन्द्र के समान हों ।

"दमयन्ती, कामदेव के जन्म का अष्टक[1] वर्ग लेखनी से तुम्हारे अधर पर लिखा गया है। वह तुम्हारा बिम्ब के समान पाटल अधर मेरे द्वारा दन्त-क्षत से भोजपत्र[2] बने ॥११९॥

गिरानुकम्पस्व दयस्व चुम्बनैः प्रसीद शुश्रूषयितुं मया कुचौ।
निशेव चान्द्रस्य करोत्करस्य यन्मम त्वमेकासि नलस्य जीवितम् ॥१२०॥

"तुम वाणी से अनुग्रह करो; चुम्बनोंसे दया करो; प्रसन्न होकर मुझे कुचों की सेवा करने दो। चन्द्रमा के किरण-समूह को निशाके समान एक तुम्हीं नल की जीवन हो" ॥१२०॥

मुनिर्यथाऽऽत्मानमथ प्रबोधवान् प्रकाशयन्तं स्वमसावबुध्यत।
अपि प्रपन्नां प्रकृतिं विलोक्य तामवाप्तसंस्कारतयाऽसृजद्गिरः ॥१२१॥

जब नल की भ्रान्ति दूर हो गई तब उसने जाना कि मैंने अपने को प्रकट कर दिया है और दमयन्ती प्रकृतिस्थ होगई है। यह समझने पर उसने ये वचन इस तरह कहे जैसे यती अपनी आत्मा पहचान कर तथा तीनों गुणों की प्रकृति को अपने से अलग समझकर व्यवहार छोड़ देता है ॥१२१॥

अये! मयात्मा किमनिह्नुतीकृतः किमत्र मन्ता स तु मां शतक्रतुः।
पुरः स्वभक्त्याथ नमन् ह्रियाविलो विलोकिताहे न तदिङ्गितान्यपि ॥१२२॥

"मैंने अपने को नल क्यों प्रकट कर दिया? यह बड़ा अनुचित हुआ। इस विषय में इन्द्र मुझे क्या समझेगा? पहले तो मैं भक्ति से नमस्कार करूँगा और लज्जा से व्याकुल हो जाऊँगा। तब तो मैं इन्द्र की चेष्टाएँ भी न देख सकूँगा ॥१२२॥

स्वनाम यन्नाम मुधाभ्यधामहो महेन्द्रकार्यं महदेतदुज्झितम्।
हनूमदाद्यैर्यशसा मया पुनर्द्विषां हसैर्दूत्यपथः सितीकृतः ॥१२३॥

"मैंने वृथा अपना नाम कहकर इन्द्रके बड़े भारी कार्य का नाश कर

1—जैसे भोजपत्र पर जन्मपत्र लिखा जाता है उसी तरह कामदेव का जन्मपत्र तुम्हारे अधर पर लिखा गया है।

2—मेरे किये—अक्षरोंके समान—दन्त-क्षत से तुम्हारे अधर भोजपत्र बनें।

दिया। यह बड़ा अनुचित हुआ। हनुमान आदि ने जिस दूत-कर्म को यश से श्वेत किया था उसे मैंने शत्रुओं के हास्य से श्वेत कर दिया ॥१२३॥

धियात्मनस्तावदचारु नाचरं परस्तु तद्वेद स यद्वदिष्यति।
जनावनायोद्यमिनं जनार्दनं क्षये जगज्जीवपिबं शिवं वदन् ॥१२४॥

"मैंने अपनी बुद्धि से इन्द्र आदि के प्रतिकूल कुछ नहीं किया लेकिन लोग जो कहेंगे उसे मैं जानता हूँ क्योंकि वे रक्षा के लिए उद्यम करने वाले देवता को [1]जनार्दन कहते हैं। और प्रलय में जगत् का प्राण हरने वाले देवता को शिव[2] कहते हैं ॥१२४॥

स्फुटत्यदः किं हृदयं त्रपाभराद्यदस्य शुद्धिर्विबुधैर्विबुध्यताम्।
विदन्तु ते तत्त्वमिदं तु दन्तुरं जनानने कः करमर्पयिष्यति ॥१२५॥

"मेरा हृदय लज्जा के भार से फट क्यों नहीं जाता जिससे देवताओं को इस की शुद्धि मालूम हो जाय? इससे उनको इस तत्त्व की विषमता ज्ञात हो जाती पर लोगों के मुखपर कौन हाथ धरेगा? ॥१२५॥

मम श्रमश्वेतनयाऽनया फली वलीयसाऽलोपि च सैव वेधसा।
न वस्तु दैवस्वरसाद्विनश्वरं सुरेश्वरोऽपि प्रतिकर्तुमीश्वरः ॥१२६॥

"मैं दूत हूँ—इस चेतना से सफल हो जाता पर बली भाग्य ने उसका लोप कर दिया। दैव की इच्छा से नष्ट हुई वस्तु की चिकित्सा करने के लिए इन्द्र भी समर्थ नहीं है" ॥१२६॥

इति स्वयं मोहमहोर्मिनिर्मितं प्रकाशनं शोचति नैषधे निजम्।
तथा व्यथामग्नतदुद्दिधीर्षया दयालुरागाल्लघु हेमहंसराट् ॥१२७॥

जब नल स्वयं अत्यन्त भ्रान्ति से अपने को प्रकट करने का परिताप कर रहा था तब पीड़ा में मग्न हुए नल का उद्धार करने की इच्छा से दयालु हंस शीघ्र आया ॥१२७॥

नलं स तत्पक्षरवोर्ध्ववीक्षिणं स एव पक्षीति भणन्तमभ्यधात्।
नयादयैनामति मा निराशतामसून् विहातेयमतः परं परम् ॥१२८॥

१—जनार्दन = लोगों को पीड़ा देने वाला। २—शिव = मंगल करने वाला।

नलने हंसके पक्षों के शब्द से ऊपर देखा और बाद में कहा कि यह वही हंस है। तब हंस ने कहा—"हे कृपा-हीन नल, दमयन्ती को अत्यन्त निराश मत करो। तुमने जो कुछ कहा है उससे अधिक कहने से वह प्राण छोड़ देगी ॥१२८॥

सुरेषु पश्यन् निजसापराधताभियत्नयस्यापि तदर्थसिद्धये।
न कूटसाक्षीभवनोचितो भवान् सतां हि चेतः शुचितात्मसाक्षिका ॥१२९॥

"हे नल, देवताओं के प्रयोजन की सिद्धि के लिए बहुत प्रयास करके तुम उनके विषय में अपने अपराध के झूठे साक्षी मत होओ क्योंकि सज्जनों के मन की शुद्धि के लिए वे स्वयं साक्षी होते हैं" ॥१२९॥

इतीरिणापृच्छय नलं विदर्भजामपि प्रयातेन खगेन सान्त्वितः।
मृदुर्बभाषे भगिनीं दमस्य स प्रणम्य चित्तेन हरित्पतीन्नृपः ॥१३०॥

इन वचनों से सान्त्वना देकर और नल दमयन्ती से विदा लेकर हंस चला गया। तब नल ने दिक्पालों को प्रणाम करके मृदु होकर दमयन्ती से कहा—॥१३०॥

ददेऽपि तुभ्यं कियतीः कदर्थनाः सुरेषु रागप्रसवावकेशिनीः।
अदम्भदूत्येन भजन्तु वा दयां विशन्तु वा दण्डममी ममागसा ॥१३१॥

"दमयन्ती, देवताओं में अनुराग उत्पन्न करने के लिए मैं तुमको कितनी ही पीड़ा दूँ पर वह सब निष्फल है। इस कारण ये देवता मुझे निष्कपट दूत समझ कर मुझपर कृपा करें या अपराध के कारण दंड दें ॥१३१॥

अयोगजामन्वभवं न वेदनां हिताय मेऽभूदियमुन्मदिष्णुता।
उदेति दोषादपि दोषलाघवं कृशत्वमज्ञानवशादिवैनसः ॥१३२॥

"मेरे इस उन्माद से मेरा हित हुआ क्योंकि मैं विरह-वेदना का अनुभव नहीं कर पाया। दोष से भी अन्य दोष अल्प हो जाता है जैसे अज्ञान के कारण पातक अल्प हो जाता है ॥१३२॥

तवेत्ययोगस्मरपावकोऽपि मे कदर्थनात्यर्थतयाऽगमद्दयाम्।
अकाशमुन्माद्य यदद्य कारयन्मयात्मनस्त्वामनुकम्पते स सः॥१३३॥

"मैंने तुमको अत्यन्त पीड़ा दी तो भी तुम्हारे वियोग से उत्पन्न हुई कामाग्नि ने मुझपर दया की क्योंकि आज मुझमें उन्माद पैदा करके तथा मुझसे ही अपने को प्रकट कराके इसने तुमपर कृपा की ।।१३३।।

अमी समीहैकपरास्त्वमामराः स्वकिङ्करं मामपि कर्तुमीशिषे ।
विचार्य कार्यं सृज मा विधान्मुधा कृतानुतापस्त्वयि पार्ष्णिविग्रहम् ।।१३४।।

"ये देवता केवल तुमको ही चाहते हैं और तुम मुझे अपना दास बनाना चाहती हो । तुमको भी विचार कर काम करना चाहिये । कहीं ऐसा न हो कि बाद में पछताना पड़े ।।१३४।

उदासितेनैव मयेदमुच्यसे भिया न तेभ्यः स्मरतानवान्न वा ।
हितं यदि स्यान्मदसुव्ययेन ते तदा तव प्रेमणि शुद्धिलब्धये ।।१३५।।

"दमयन्ती, मैं यह बात तुमसे उदासीन होकर कहता हूँ, न देवताओं के डर से कहता हूँ, न कामदेव ने मुझे पीड़ा पहुँचाई है इस कारण कहता हूँ। मेरे प्राणों के व्यय से यदि तुम्हारा हित हो तो वह, अबतक जो मुझपर तुम्हारा अनुराग है उसका ऋण चुकाने के लिए काफी होगा" ।।१३५।।

इतीरितैर्नैषधसूनृतामृतैर्विदर्भजन्मा भृशमुल्ललास सा ।
ऋतोरधिश्रीः शिशिरानुजन्मनः पिकस्वरैर्दूरविकस्वरैर्यथा ।।१३६।।

नल के इन सच्चे वचनों से दमयन्ती अत्यन्त हर्ष को प्राप्त हुई जैसे वसन्त ऋतु की शोभा अत्यन्त दूर तक फैलते कोकिल के शब्दों से उल्लास को प्राप्त होती है ।।१३६।।

नलं तदावेत्य तमाशये निजे घृणां विगानं च मुमोच भीमजा ।
जुगुप्समाना हि मनो धृतं तदा सतीधिया दैवतदूतधावि सा ।।१३७।।

दमयन्ती ने [1]दूत को मन में नल जानकर घृणा और निन्दा छोड़ दी क्योंकि उस समय वह सती की बुद्धि से देवताओं के दूत में मन लगाने के कारण जुगुप्सा कर रही थी ।।१३७।

१—दमयन्ती को इस बात का बड़ा परिताप था कि वह एक अनजान व्यक्ति से बातें कर रही है। जब उसने जाना कि देवताओं का दूत नल है तब उसे संतोष हुआ।

मनोभुवस्ते भविनां मनः पिता निमज्जयन्नेनसि तन्न लज्जसे।
वसुद्रि सत्पुत्रकथा त्वयेति सा स्थिता सती मन्मथनिन्दिनी धिया ॥१३८॥

दमयन्ती ने इस तरह अपने मन में कामदेव की निन्दा की—"हे कामदेव, प्राणियों का मन तेरा पिता है। तू उस—अपने पिता—मन को पा[1]प में डाल कर लज्जित नहीं होता? तूने सत्पुत्रों की कथा समाप्त कर दी" ॥१३८॥

प्रसूनमित्येव तदङ्गवर्णना न सा विशेषात् कतमत्तदित्यभूत्।
तदा कदम्बं तदवर्णि लोमभिर्मुदस्रुणा प्रावृषि हर्षमागतैः ॥१३९॥

दमयन्ती का शरीर पुष्प है—यह उसका वर्णन है; पर वह किस जाति का पुष्प है—इसका ठीक-ठीक वर्णन नहीं हो सकता। किन्तु जब यह विदित हुआ कि इन्द्र का दूत स्वयं नल है तब मोद के अश्रुओं से उत्पन्न हुए वर्षा-काल में हर्ष को प्राप्त हुए रोमों से उसका शरीर कदम्ब के पुष्प के तुल्य मालूम हुआ ॥१३९॥

मयैव संबोध्य नलं व्यलापि यत् स्वमाह मद्बुद्धिमिदं विमृश्य तत्।
असाविति भ्रान्तिमसाद्दमस्वसुः स्वभाषितस्वोद्भ्रमविभ्रमक्रमः ॥१४०॥

अपनी [2]भ्रान्ति के विलास के क्रम को स्वयं कहने वाले नल ने दमयन्ती की इस भ्रान्ति को खण्डित कर दिया कि मैंने ही नल को [3]संबोधन करके जो विलाप किया उसे विचार कर मुझसे जाने गये [4]अपने को नल ने बतलाया[5] ॥१४०॥

१—पर-पुरुष में अभिलाषा करने का पाप।
२—सर्ग ९ श्लोक १२२ से पाँच। ३—सर्ग ९ श्लो० ९७ से चार। ४—सर्ग ९ श्लो० १०३ से सात। ५—दमयन्ती ने पहले सोचा कि नल ने अपने को इस कारण प्रकट नहीं किया कि वह उससे प्रेम करता है पर इसका कारण यह था कि जब दमयन्ती इसका नाम ले लेकर रोने लगी तब उसे यह शंका हुई कि दमयन्ती ने मुझे पहचान लिया। लेकिन बाद में अनुरागपूर्ण रीति से जो उसने अपने को प्रकट किया कि वह नल के सिवाय अन्य कोई नहीं है तब उसकी सचाई के विषय में दमयन्ती को सन्देह नहीं रहा।

विदर्भराजप्रभवा ततः परं त्रपासखी वक्तुमलं न सा नलम्।
पुरस्तमूचेऽभिमुखं यदत्रपा ममज्ज तेनैव महाह्रदे ह्रियः ॥१४१॥

इसके बाद दमयन्ती लज्जा के कारण नल से कुछ कहने के लिए समर्थ नहीं हुई क्योंकि पहले निर्लज्ज होकर सामने बात-चीत की थी-इस कारण वह लज्जा के समुद्र में निमग्न हो गई ॥१४१॥

यदापवार्यापि न दातुमुत्तरं शशाक सख्याः श्रवसि प्रियस्य सा।
विहस्य सख्येव तमब्रवीत् तदा ह्रियाऽधुना मौनधना भवत्प्रिया ॥१४२॥

जब दमयन्ती रहस्य में भी सखी के कान में नल को उत्तर देने के लिए समर्थ नहीं हुई तब सखी ने ही हँसकर नल से कहा—"अब आपकी प्रिया लज्जा के कारण मौन के खजाने की स्वामिनी है ॥१४२॥

पदातिथेयाँल्लिखितस्य ते स्वयं वितन्वती लोचननिर्झरानियम्।
जगाद यां सैव मुखान्मम त्वया प्रसूनबाणोपनिषन्निशम्यताम् ॥१४३॥

"नल, अश्रुओं के प्रवाह को स्वय चित्र-पट पर लिखे तुम्हारे चरणों का अतिथि बनाकर जो कामदेव के मर्म दमयन्ती ने कहे थे उनको मेरे मुख से सुनो ॥१४३॥

असंशयं स त्वयि हंस एव मां शशंस न त्वद्विरहात्तसंशयाम्।
क्व चन्द्रवंशस्य वतंस ! मद्वधान्नृशंसता संभविनी भवादृशे ॥१४४॥

"हंस ने तुमसे यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा कि तुम्हारे विरह से मेरा जीवन सन्देह में पड़ गया है; नहीं तो तुम जैसे चन्द्र-वंश के अलंकार-भूत में मेरे वध के लिए निर्दयता कहाँ से आती ?॥१४४॥

जितस्त्वयाऽऽस्येन विधुः स्मरः श्रिया कृतप्रतिज्ञौ मम तौ वधे कुतः।
तवेति कृत्वा यदि तज्जितं मया न मोघसङ्कल्पधराः किलामराः ॥१४५॥

"नल, मुख से तुमने चन्द्रमा को जीत लिया है; शरीर की कान्ति से कामदेव को जीत लिया है। ये दोनों क्यों मेरा वध किया चाहते हैं ? यदि यह सोचते हैं कि मैं तुम्हारी हूँ तब तो मैं जीत गई क्योंकि जो बात देवताओं के मन में आती है वह निष्फल नहीं होती ॥१४५॥

निजांशुनिर्दग्धमदङ्गभस्मभिर्मुधा विधुर्वाञ्छति लाञ्छनोन्मृजाम् ।
त्वदास्यतां यास्यति तावतापि किं वधूवधेनैव पुनः कलङ्कितः ॥१४६॥

"चन्द्रमा अपनी किरणों से मेरा शरीर जलाकर उसकी भस्म से अपने कलंक को वृथा रगड़ना चाहता है। उससे भी क्या वह तुम्हारे बराबर हो जायगा क्योंकि फिर तो वह स्त्री-वध के पाप से कलङ्कित हो जायगा ॥१४६॥

प्रसीद यच्छ स्वशरान् मनोभुवे स हन्तु मां तैर्धुतकौसुमाशुगः ।
त्वदेकचित्ताहमसून् विमुञ्चती त्वमेव भूत्वा तृणवज्जयामि तम्॥१४७॥

"नल, तुम मुझपर प्रसन्न होओ और अपने बाण कामदेव को दे दो जिसमें वह फूलों के बाण छोड़कर तुम्हारे बाणों से मेरी हत्या करे। तुम में चित्त रख कर मैं प्राण छोड़ूँगी तो मैं तुममें मिल जाऊँगी और कामदेव को तिनके के समान जीत लूँगी ॥१४७॥

श्रुतिः सुराणां गुणगायनी यदि त्वदङ्घ्रिमग्नस्य जनस्य किं ततः ।
स्तवे रवेरप्सु कृताप्लवैः कृते न मुद्वती जातु भवेत् कुमुद्वती ॥१४८॥

"वेद यदि देवताओं के गुणों का वर्णन करते हैं तो मुझे क्या ? क्योंकि मैं तो तुम्हारे चरणों से अनुराग करती हूँ। जल में स्नान करने वाले पुरुष सूर्य की स्तुति करते हैं तो भी कुमुदिनी कभी सूर्य से अनुराग नहीं करती ॥१४८॥

कथासु शिष्यै वरमद्य न म्रिये ममावगन्तासि न भावमन्यथा ।
त्वदर्थमुक्तासुतया सुनाथ ! मां प्रतीहि जीवाभ्यधिक ! त्वदेकिकाम्॥१४९॥

"हे नल, आज मेरी कहानी ही रह जायगी। अच्छा है। अब मैं जियूँगी नहीं। मरण के बिना तुम मेरे अनुराग को नहीं समझोगे। इस कारण हे नाथ, तुम्हारे कारण प्राण त्यागने से तो तुम मुझे केवल अपनी ही शरण जानोगे[1] ॥१४९॥

१—जैसे गीता में लिखा है

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवेति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥

अर्थात्—प्राणी जिस जिस भाव का स्मरण करके अन्त में शरीर छोड़ता है उसी भाव को प्राप्त होता है। क्योंकि वह उसी भाव के वशीभूत हो जाता है।

महेन्द्रहेतेरपि रक्षणं भयाद्यदर्थिसाधारणमस्त्रभृद्व्रतम् ।
प्रसूनबाणादपि मामरक्षतः क्षतं तदुच्चैरवकीर्णिनस्तव ॥१५०॥

"यह शूरों का शरणागतों के साथ साधारण व्रत है कि वे उनकी वज्र के भय से भी रक्षा करते हैं। वह तुम्हारा व्रत बिल्कुल भग्न हो गया क्योंकि तुमने पुष्पों के बाणों से भी मेरी रक्षा नहीं की ॥१५०॥

तवास्मि मां घातुकमप्युपेक्षसे मृषामरं हाऽमरगौरवात् स्मरम् ।
अवेहि चण्डालमनङ्गमङ्ग ! तं स्वकाण्डकारस्य मधोः सखा हि सः ॥१५१॥

"मैं तुम्हारी हूँ। तुम मुझे मारने वाले झूँठे देवता कामदेव को सच्चा देवता समझकर उपेक्षा करते हो—यह बड़ा कष्ट है। हे प्रियतम, कामदेव चाण्डाल है क्योंकि वह अपने बाण बनाने वाले वसन्त[1] का मित्र है ॥१५१॥

लघौ लघावेव पुरः परे बुधैर्विधेयमुत्तेजनमात्मतेजसः ।
तृणे तृणेढि ज्वलनः खलु ज्वलन् क्रमात् करीषद्रुमकाण्डमण्डलम् ॥१५२॥

"पण्डित लोग पहले छोटे से शत्रु पर अपने तेज[2] का आक्रमण करते हैं जैसे अग्नि बिना सार के तिनके में जलकर क्रम से सूखे गोबर तथा वृक्षों को जला देती है ॥१५२॥

सुरापराधस्तव वा कियानयं स्वयंवरायामनुकम्प्रता मयि ।
गिरापि वक्ष्यन्ति मखेषु तर्पणादिदं न देवा मुखलज्जयैव ते ॥१५३॥

"मैं पति का वरण करने में स्वतन्त्र हूँ। तुम जो कृपा मुझ पर करोगे इससे क्या देवताओं का कोई अपराध होगा ? यज्ञों में तुम्हारे तर्पण से तृप्त होकर देवता सङ्कोच के कारण यह बात वाणी से भी न कहेंगे ॥१५३॥

व्रजन्तु ते तेऽपि वरं स्वयंवरं प्रसाद्य तानेव मया वरिष्यसे ।
न सर्वथा तानपि न स्पृशेद्दया न तेऽपि तावन्मदनस्त्वमेव वा ॥१५४॥

"वे देवता भी स्वयम्वर में भले ही आवें। मैं उनको प्रसन्न करके ...

1—वसन्त में ही पुष्प उत्पन्न होते हैं जिन्हें कामदेव अपने बाणों के काम में लाता है। मित्रता बराबर वाले से होती है।

2—कामदेव यद्यपि बहुत छोटा शत्रु है पर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये

तुम्हारे साथ विवाह करूँगी। क्या उनमें भी थोड़ी बहुत दया न होगी ! वे तो न कामदेव हैं, न तुम हो ॥१५४॥

इतीयमालेख्यगतेऽपि वीक्षिते त्वयि स्मरव्रीडसमस्ययाऽनया।
पदे पदे मौनमयान्तरीपिणी प्रवर्तिता सारघसारसारणी ॥१५५॥

"नल, दमयन्ती ने इस तरह अत्यन्त मधुर नदी का प्रचार किया जिसमें वचन वचन पर मौन रूपी जीव थे और तुम्हारा चित्र सामने होने के कारण—तुम्हारे अचेतन होने पर भी—उसमें थोड़ा थोड़ा काम और लज्जा मिली हुई थी ॥१५५॥

चण्डालस्ते विषमविशिखः स्पृश्यते दृश्यते न
ख्यातोऽनङ्गस्त्वयि जयति यः किं नु कृत्ताङ्गुलीकः।
कृत्वा मित्रं मधुमधिवनस्थानमन्तश्चरित्वा
सख्याः प्राणान् हरति हरितस्त्वद्यशस्तज्जुषन्ताम् ॥१५६॥

"तुम्हारा कामदेव चाण्डाल है ; वह न तो स्पर्श किया जाता है, न देखा जाता है। उसका नाम अनंग (=अंगहीन) है और तुमने सौन्दर्य के विवाद में उसे हराया तब से उसकी एक उँगली कटी हुई है। वह वन के बीचमें वसन्त को मित्र बनाकर तथा हृदयमें प्रवेश करके दमयन्ती के प्राण हरता है। इस कारण दिशाओंमें तुम्हारा यश विस्तृत हो" ॥१५६॥

अथ भीमभुवैव रहोऽभिहितां नतमौलिरपत्रपया स निजाम्।
अमरैः सह राजसमाजगतिं जगतीपतिरभ्युपगत्य ययौ ॥१५७॥

"देवताओं के साथ तुम आना"—यों दमयन्ती ने एकान्त में कहा था स्वयंवर में जाना अंगीकार करके लज्जासे अधोमुख होकर नल बाहर गया ॥१५७॥

श्वस्तस्याः प्रियमाप्तुमुद्धुरधियो धाराः सृजन्त्या रया-
न्म्रोन्म्रकपोलपालिपुलकैर्वेतस्वतीरश्रुणः।

१—यहाँ आक्षेप किया गया है। आशय यह है कि कामदेव दमयन्ती को पीड़ा देता है इससे तुम्हारा अपयश होता है। इस कारण जिससे इसकी पीड़ा शान्त हो और तुम्हारा [illegible] में ही उसी तरह तुम करना।

चत्वारः प्रहराः स्मरार्तिभिरभूत् सापि क्षपा दुःक्षया
तत्तस्यां कृपयाखिलैव विधिना रात्रिस्त्रियामा कृता ॥१५८॥

दूसरे दिन नलको प्राप्त करने में उत्सुक बुद्धि शाली, वाष्प-धारा प्रवाहों का वेग से विस्तार करती तथा कपोलोंके ऊँचे नीचे पुलकोंके कारण बहुत से बेंतों[1] से युक्त, दमयन्ती को चार प्रहर की एक रात्रि भी काम पीड़ा के कारण काटने के लिए अशक्य हो गई। इस कारण विधाताने उसपर कृपा करके सब रात्रियोंको तीन पहर का कर दिया अर्थात् रात्रि का नाम 'त्रियामा' रख दिया ॥१५८॥

तदखिलमिह भूतं भूतगत्या जगत्याः
पतिरभिलपति स्म स्वात्मदूतत्वतत्त्वम्।
त्रिभुवनजनयावद्वृत्तवृत्तान्तसाक्षात्
कृतिकृतिषु निरस्तानन्दमिन्द्रादिषु द्राक् ॥१५९॥

नलने दमयन्ती के विषय में अपने दूत होने के सब तत्त्व को देवताओं से सच्ची वाणी से कहा। त्रिभुवन में जो कुछ होता है उसे प्रत्यक्ष देखने में देव कुशल होते हैं ॥१५९॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
संदब्धार्णववर्णनस्य नवमस्तस्य व्यरंसीन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥१६०॥

कविराजों की पंक्ति के मुकुटों के अलंकार रूप हीरे श्री हीर नामक पिता तथा मामल्ल देवी नामक माता ने जिस जितेन्द्रिय श्री हर्ष नामक पुत्र को उत्पन्न किया तथा जिसने अर्णव-वर्णन की रचना की उसके महाकाव्य नल-चरित में स्वभाव से सुन्दर नवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१६०॥

1—यहाँ वाष्प-धारा की समानता नदी से तथा पुलकों की समानता बेंतों से की गई है।

दशमः सर्गः

रथैरथायुः कुलजाः कुमाराः शस्त्रेषु च शास्त्रेषु दृष्टपाराः ।
स्वयम्वरं शम्वरवैरिकायव्यूहश्रियः श्रीजितयक्षराजाः ॥१॥

फिर कुलीन, शस्त्रों तथा शास्त्रों के पार पहुँचनेवाले, कामदेव के शरीर-समूह के समान शोभावाले, तथा धन में कुबेर के जीतनेवाले राजा लोग रथों में बैठकर स्वयंवर में आये ॥१॥

नाऽभूदभूमिः स्मरसायकानां नासीदगन्ता कुलजः कुमारः ।
नास्थादपन्था धरणेः कणोऽपि व्रजेषु राज्ञां युगपद्व्रजत्सु ॥२॥

कोई भी कुलीन कुमार कामदेव के बाणों का अगोचर नहीं हुआ और कोई ऐसा नहीं था जो स्वयंवर में न गया हो । राजाओं के समूहों के, एक ही साथ, जाने के कारण पृथ्वी का कोई हिस्सा भी मार्ग होने से नहीं बचा ॥२॥

योग्यैर्व्रजद्भिर्नृपजां वरीतुं वीरैरनर्हैः प्रसभेन हर्तुम् ।
द्रष्टुं परैस्तान् परिकर्तुमन्यैः स्वमात्रशेषाः ककुभो बभूवुः ॥३॥

योग्य राजा दमयन्ती का वरण करने के लिए गये थे । अयोग्य राजा उसे बलपूर्वक हरने के लिए गये थे । इनके अलावा अन्य तमाशा देखने के लिए गये थे तथा बहुत से नौकर इन सब की सेवा करने के लिए गये थे । इस कारण सब दिशाएँ खाली हो गईं ॥३॥

लोकैरशेषैरवनिश्रियं तामुद्दिश्य दिश्यैर्विहिते प्रयाणे ।
स्ववर्तितत्तज्जनयन्त्रणार्तिविश्रान्तिमायुः ककुभां विभागाः ॥४॥

सब लोग पृथ्वी की लक्ष्मी दमयन्ती के लिए चले गये तब दिशाओं के भागों को अपने में रहते असख्य जनों के संकट की पीड़ा से विश्राम मिला ॥४॥

तलं यथेयुर्न तिला विकीर्णाः सैन्यैस्तथा राजपथा बभूवुः ।
भैमीं स लब्धामिव तत्र मेने यः प्राप भूभृद्भवितुं पुरस्तात् ॥५॥

सैनिकों से सड़कें इतनी भर गईं कि ऊपर से फेंके गये तिल भी भूतल तक नहीं पहुँचते थे । वहाँ जो राजा आगे जाने में समर्थ हुआ उसने समझा कि मैंने दमयन्ती को पा लिया ॥५॥

नृपः पुरःस्थैः प्रतिबद्धवर्त्मा पश्चात्तनैः कश्चन नुद्यमानः ।
यन्त्रस्थसिद्धार्थपदाभिषेकं लब्ध्याप्यसिद्धार्थममन्यत स्वम् ॥६॥

आगे जाती हुई भीड़ से जिसका रास्ता रुक गया था तथा पीछे आ... भीड़ से जो आगे ढकेला गया था ऐसे—कोल्हू में दबी हुई सरसो के सदृ... राजा ने अपने काम को पूरा हुआ नहीं समझा ॥६॥

राज्ञां पथि स्त्यानतयानुपूर्व्या विलङ्घनाशक्तिविलम्बभाजाम् ।
आह्वानसंज्ञानमिवाग्रकम्पैर्ददुर्विदर्भेन्द्रपुरीपताकाः ॥७॥

रास्ते में अत्यन्त सङ्कट होने से एक दूसरे के पीछे आने के कारण वि... करने वाले राजाओं को कुण्डिनपुर की पताका अपना छोर कँपा कँपा... आने का सङ्केत कर रही थी ॥७॥

प्राग्भूय कर्कोटक आचकर्ष सकम्बलं नागबलं यदुच्चैः ।
भुवस्तले कुण्डिनगामि राज्ञां तद्वासुकेश्चाऽश्वतरोऽन्वगच्छत् ॥८॥

पृथ्वी पर राजाओं के दुलकी चलने वाले सफेद घोड़े आगे आकर कु... पुर को जाने वाली—अनेक वर्णों की झूलों से युक्त—हाथियों की सेना... पीछे लाते थे और उसके पीछे खच्चरों की सेना आती थी । पाताल में क... सर्प के साथ कर्कोटक सर्प आगे आकर कुण्डिनपुर को जाते हुए वासु... सर्प-बल को खेंच कर लाया । अश्वतर सर्प उसके पीछे था ॥८॥

आगच्छदुर्वीन्द्रचमूसमुत्थैर्भूरेणुभिः पाण्डुरिता मुखश्रीः ।
विस्पष्टमाचष्ट हरिद्वधूनां रूपं पतित्यागदशानुरूपम् ॥९॥

दिशा रूपी स्त्रियों की शोभा आते हुए राजाओं की सेनाओं से उ... गई धूल के कारण फीकी हो गई और वे ऐसी दशा प्रकट करने ल... पति स्त्रियों का त्याग कर देते हैं ॥९॥

आखण्डलो दण्डधरः कृशानुः पाशीति नाथैः ककुभां चतुर्भिः ।
भैम्येव बद्ध्वा स्वगुणेन कृष्टैः स्वयम्वरे तत्र गतं न शेषैः ॥

इन्द्र, यम, अग्नि और वरुण—ये चार दिक्पाल इस प्रकार स्व... गये मानों दमयन्ती ने इन्हें अपने गुणों से बाँधकर खींच लिया हो । अन्य... पाल नहीं गये ॥१०॥

मन्त्रैः पुरं भीमपुरोहितस्य तद्रुद्धरक्षं विशति क रक्षः ? ।
तत्रोद्यमं दिक्पतिराततान यातुं ततो जातु न यातुधानः ॥११॥
राक्षस कुण्डिनपुर में कैसे जाते क्योंकि राजा भीम के पुरोहित के मन्त्रों से उसकी रक्षा होती थी। इस कारण यातुधान नैऋत दिक्पाल कदापि वहाँ नहीं जा सकता था ॥११॥

कर्तुं शशाङ्काभिमुखं न भम्या मृगं दृगम्भोरुहतर्जितं यत् ।
अस्या विवाहाय ययौ विदर्भांस्तद्वाहनस्तेन न गन्धवाहः ॥१२॥
दमयन्ती के साथ विवाह करने के लिए वायु विदर्भ को नहीं गया क्योंकि वह दमयन्ती के कमल-नेत्रों से तर्जित होने के कारण अपने वाहन मृग को उसके सामने नहीं ले जा सकता था ॥१२॥

जातौ न वित्ते न गुणे न कामः सौन्दर्य एव प्रवणः स वामः ।
स्वच्छस्वशैलेक्षितकुत्सबेरस्तां प्रत्यगान्न स्त्रितमां कुबेरः ॥१३॥
कामदेव न तो जाति पर आसक्त होता है और न धन तथा गुण पर। वह केवल सौन्दर्य पर मरता है। इस कारण निर्मल कैलास पर्वत में अपना शरीर उत्तम न देखकर कुबेर नहीं गया ॥१३॥

भैमीविवाहं सहते स्म कस्मादर्धं तनुर्या गिरिजात्मभर्तुः ।
तेनाव्रजन्त्या विदधे विदर्भानीशानयानाय तयाऽन्तरायः ॥१४॥
पार्वती महादेव का आधा शरीर थी। वह महादेव के साथ दमयन्ती के विवाह को कैसे सहन करती ? इस कारण विदर्भ को नहीं जाकर पार्वती ने महादेव के जाने में विघ्न किया ॥१४॥

स्वयम्वरं भीमनरेन्द्रजाया दिशः पतिर्न प्रविवेश शेषः ।
प्रयातु भारं स निवेश्य कस्मिन्नहिर्मही'रैवसासहिर्यैः ॥१५॥
दमयन्ती के स्वयम्बर में शेषनाग इस कारण नहीं गये कि वह पृथ्वी के बड़े भारी बोझ को धारण करते हैं। उसे किसके ऊपर छोड़ जाते ? ॥१५॥

ययौ विमृश्योर्ध्वदिशः पतिर्न स्वयम्वरं वीक्षितधर्मशास्त्रः ।
न्यलोकि लोके श्रुतिषु स्मृतौ वा समं विवाहः क पितामहेन ॥१६॥

धर्म-शास्त्र पढ़ने वाले ब्रह्मा धर्म-तत्त्व विचार कर स्वयम्वर में नहीं गये। क्योंकि पितामह[1] के साथ विवाह लोक में कहीं सुना नहीं जाता ॥१६॥

भैमीनिरस्तं स्वमवेत्य दूतीमुखात् किलेन्द्रप्रमुखा दिगीशाः।
स्यदे मुखेन्दौ च वितत्य मान्द्यं चित्तस्य ते राजसमाजमीयुः ॥१७॥

इन्द्र प्रमुख दिक्पालों ने दूतियों के मुख से सुना कि दमयन्ती ने हमें छोड़ दिया है। तब वे चित्त की उदासीनता को मन्द गमन और मलिन मुख-चन्द्र में प्रकट करके स्वयम्वर में गये ॥१७॥

नलभ्रमेणापि भजेत भैमी कदाचिदस्मानिति शेषिताशा।
अभून्महेन्द्रादिचतुष्टयी सा चतुर्नली काचिदलीकरूपा ॥१८॥

दमयन्ती नल के भ्रम से शायद हमारे साथ विवाह कर ले—इस आशा से इन्द्र आदि चार दिक्पाल कुछ-कुछ आशा से नल का मिथ्या रूप धर कर उपस्थित हुए ॥१८॥

प्रयस्यतां तद्भवितुं सुराणां दृष्टेन पृष्टेन परस्परेण।
नैवाऽनुमेने नलसाम्यसिद्धिः स्वाभाविकात् कृत्रिममन्यदेव ॥१९॥

नल होने का प्रयत्न करते हुए देवताओं ने आपस में देखकर और पूछकर अपनी सफलता को स्वीकार नहीं किया क्योंकि असली से बनावटी में बड़ा अन्तर होता है ॥१९॥

पूर्णेन्दुमास्यं विदधुः पुनस्ते पुनर्मुखीचक्रुरनिद्रमब्जम्।
स्ववक्त्रमादर्शतलेऽथ दर्शं दर्शं बभञ्जुर्न तथातिमञ्जु ॥२०॥

उन देवताओं ने अपने मुख को पूरा चन्द्रमा बनाया, फिर कमल बनाया, फिर दर्पण में अपना मुख देख-देख कर दर्पण तोड़ डाला क्योंकि उनका नल के मुख के समान सुन्दर नहीं था ॥२०॥

तेषां तदा लब्धुमनीश्वराणां श्रियं निजास्येन नलाननस्य।
नालं तरीतुं पुनरुक्तिदोषं बर्हिर्मुखानामनलाननत्वम् ॥२१॥

तब अपने मुख से नल के मुख की शोभा प्राप्त करने में असमर्थ

१—ब्रह्मा का नाम पितामह भी है।

"अनलानन" के पुनरुक्त दोष को हरने के लिए समर्थ नहीं हुए ॥२१॥

प्रियावियोगक्वथितादिवैलाच्चन्द्राच्च राहुग्रहपीडितात् ते ।
दग्धाद्भवेन स्मरतोऽपि सारैः स्वयं कल्पयन्ति स्म नलानुकल्पम् ॥२२॥

उन देवताओं ने मानो उर्वशी के वियोग से दग्ध हुए पुरूरवा से, राहु से पीड़ित हुए चन्द्रमा से तथा जले हुए कामदेव से लिये गये सार से अपने को नल के समान बनाया ॥२२॥

नलस्य पश्यत्वियदन्तरं तैर्भैमीति भूपान् विधिराहृतास्यै ।
स्पर्धां दिगीशानपि कारयित्वा तस्यैव तेभ्यः प्रथिमानमाख्यत् ॥२३॥

विधाता ने राजाओं को इसलिए भेजा कि दमयन्ती नल के साथ इनका अन्तर देख ले। दिक्पालों की नल के साथ स्पर्धा करा कर विधाता ने उनकी अपेक्षा नल का उत्कर्ष प्रकट किया ॥२३॥

सभा नलश्रीयमकैर्यमाद्यैर्नलं विनाऽभूद्धृतदिव्यरत्नैः ।
भामाङ्गणप्राघुणिके चतुर्भिर्देवद्रुमैर्द्यौरिव पारिजाते ॥२४॥

नल के बिना उसकी शोभा के दिव्य रत्न धारी चार प्रतिनिधि होने से स्वयंवर की सभा ऐसी मालूम हुई जैसे सत्यभामा के आँगन में पारिजात के अतिथि होने गया तब चार देव वृक्षों से युक्त स्वर्ग हो ॥२४॥

तत्राऽगमद्वासुकिरीशभूषाभस्मोपदेहस्फुटगौरदेहः ।
फणीन्द्रवृन्दप्राणिगद्यमानप्रसीदजीवाद्यनुजीविवादः ॥२५॥

फिर महादेव की भस्म के समान उज्ज्वल देह वाले वासुकि स्वयंवर सभामें आये तब सर्पों के राजाओं ने प्रसन्न हो सेवकों का-सा कोलाहल किया कि चिरंजीव रहो, प्रसन्न रहो! ॥२५॥

द्वीपान्तरेभ्यः पुटभेदनं तत् क्षणादवापे सुरभूमिभूपैः ।
तत्कालमालम्बि न केन यूना स्मरेषुपक्षानिलतूललीला ॥२६॥

१—अनल (= अग्नि) + आनन (= मुख) = अग्निमुख। देवता अग्नि में हवन की गई वस्तुएँ ग्रहण करते हैं इससे उनको अग्निमुख कहा जाता है। अन्+नल+आनन का यह अर्थ भी है कि उनका मुख नल के समान नहीं था। इस प्रकार दो तरह से उनका नाम अनलानन हुआ।

देव-भूमिके राजा भी द्वीपान्तरों से कुण्डिनपुर में झट आ गये। किस युवक ने उस समय कामदेव के बाणों के पंखों को वायु से रुई का विलास अंगीकार नहीं किया अर्थात् जैसे वायु से प्रेरित रुई दूर से झट आ जाती है उसी तरह काम-पीड़ित होकर वे सब भी अनायास आगये ? ॥२६॥

रम्येषु हर्म्येषु निवेशनेन सपर्यया कुण्डिननाकनाथः।
प्रियोक्तिदानादरनम्रताद्यैरुपाचरच्चारु स राजचक्रम् ॥२७॥

कुण्डिन रूपी स्वर्ग के स्वामी भीम ने सुन्दर महलों में ठहरा कर, आतिथ्य करके, प्रिय वचनों से उपहार देकर, आदर करके तथा नम्रता आदि से भली-भाँति राजाओं के समूह को संतुष्ट किया ॥२७॥

चतुःसमुद्रीपरिखे नृपाणामन्तःपुरे वासितकीर्तिदारे।
दानं दया सूनृतमातिथेयी चतुष्टयी रक्षणसौविदल्ला ॥२८॥

चार समुद्र रूप परिखा से युक्त राजाओं के रनवास (अर्थात् पृथ्वी) में कीर्ति रूप स्त्री को ठहरा कर दान, दया, सत्य-प्रिय-वचन तथा आतिथ्य इन चारों को उसका कंचुकी बनाया ॥२८॥

अभ्यागतैः कुण्डिनवासवस्य परोक्षवृत्तेष्वपि तेषु तेषु।
जिज्ञासितस्वेप्सितलाभलिङ्गं स्वल्पोऽपि नावापि नृपैर्विशेषः॥२९॥

अतिथि हुए राजाओं को—कुण्डिनपुर के इन्द्र—भीमके अप्रत्यक्ष आचरण से ज़रा भी तारतम्य नहीं मिला जिससे उन्हें मालूम हो जाता कि दमयन्ती का लाभ होगा या नहीं ॥२९॥

अङ्के विदर्भेन्द्रपुरस्य शङ्के न संममौ नैष तथा समाजः।
यथा पयोराशिरगस्त्यहस्ते यथा जगद्वा जठरे मुरारेः॥३०॥

जैसे अगस्त्य के हाथ में समुद्र और विष्णु के उदरमें त्रैलोक्य आया उसी तरह कुण्डिनपुर के अङ्क में क्या राजाओं का समूह नहीं आया ? ॥३०॥

पुरे पथि द्वारगृहाणि तत्र चित्रीकृतान्युत्सववाञ्छयेव।
नभोऽपि किर्मीरमकारि तेषां महीभुजामाभरणप्रभाभिः॥३१॥

नगर में राजमार्ग के पास द्वारों और घरों में उत्सव के कारण

खींचे गये थे तथा राजाओं के आभरणों की प्रभासे वहाँ का आकाश भी अनेक वर्णों का हो गया था ॥३१॥

विलासवैदग्ध्यविभूषणश्रीस्तेषां यथाऽऽसीत् परिचारकेऽपि ।
अज्ञासिषुः स्त्रीशिशुबालिशास्तं तथाऽऽगतं नायकमेव कञ्चित् ॥३२॥

विलास, चातुर्य तथा विभूषणोंकी शोभा राजाओं के सेवकों में भी इतनी थी जिससे स्त्री, बालक और मूर्ख उनको कहीं से आये हुए राजा ही समझते थे ॥३२॥

न स्वेदिनश्चामरमारुतैर्न निमेषनेत्राः प्रतिवस्तुचित्रैः ।
म्लानस्रजो नातपवारणेन देवा नृदेवा बिभिदुर्न तत्र ॥३३॥

उस राज समाज में देवताओं और राजाओं में कोई भेद नहीं था क्योंकि झलते हुए चामरों की हवा से उनको पसीना नहीं आरहा था, विचित्र वस्तुएँ देखने से उनके नेत्रों में निमेष नहीं था और आतप दूर करने वाले छत्र के कारण उनकी मालाएँ मुरझाई नहीं थीं ॥३३॥

अन्योन्यभाषानवबोधभीतेः संस्कृत्रिमाभिर्व्यवहारवत्सु ।
दिग्भ्यः समेतेषु नरेषु वाग्भिः सौवर्गवर्गो न जनैरचिह्नि ॥३४॥

कुण्डिनपुर के मनुष्यों ने दिशाओं से आए हुए राजाओं के बीच में देवताओं के समूह को नहीं पहचाना क्योंकि आपस की भाषा नहीं समझने के भय से वे सस्कृत में बातचीत करते थे ॥३४॥

ते तत्र भैम्याश्चरितानि चित्रे चित्राणि पौरैः पुरि लेखितानि ।
निरीक्ष्य निन्युर्दिवसं निशां च तत्स्वप्नसम्भोगकलाविलासैः ॥३५॥

उस नगरी में देवता और राजा पुरजनों से बनाये गये चित्रोंमें दमयन्ती का चरित्र देखकर दिन और स्वप्न में दमयन्ती के संभोग के कला कौशल से रात काटते थे ॥३५॥

सा विभ्रमं स्वप्नगताऽपि तस्यां निशि स्वलाभस्य ददे यदेभ्यः ।
तदर्थिनां भूमिभुजां वदान्या सती सती पूरयति स्म कामम् ॥३६॥

स्वयंवर के पहले की रात्रि में स्वप्न में देखी गई दान शूर सती दमयन्ती

ने इन देवताओं और राजाओं को अपनी प्राप्ति की भ्रान्ति देकर अभिलाषा पूरी की ॥३६॥

वैदर्भदूतानुनयोपहूतैः शृङ्गारभङ्गीरनुभावयद्भिः ।
स्वयम्वरस्थानजनाश्रयस्तैर्दिने परत्राऽलमकारि वीरैः ॥३७॥

दूसरे दिन भीम के दूतों के द्वारा विनय से बुलाए गये तथा शृंगार की चेष्टाएँ प्रकाशित करते शूर राजपुत्रों ने स्वयंवर-भूमि के मंडप को अलंकृत किया ॥३७॥

भूषाभिरुच्चैरपि संस्कृते यं वीदयाकृत प्राकृतबुद्धिमेव ।
प्रसूनबाणे विबुधाधिनाथस्तेनाथ साऽशोभि सभा नलेन ॥३८॥

नल से उस सभा की बड़ी शोभा हुई । इन्द्र ने नल को देखकर अलङ्कारों से अत्यन्त विभूषित कामदेव के विषय में भी नीच बुद्धि प्रकट की ॥३८॥

धृताङ्गरागे कलितद्युशोभां तस्मिन् सभां चुम्बति राजचन्द्रे ।
गता वताक्ष्णोर्विषयं विहाय क्व क्षत्रनक्षत्रकुलस्य कान्तिः ? ॥३९॥

जब शरीर पर चन्दन का अंगलेप करके राज-चन्द्र नल स्वर्ग की शोभा जीतने वाली सभामें आया तब उसे देख कर क्षत्रिय रूप नक्षत्रों की कान्ति कहाँ चली गई ? ॥३९॥

द्रागदृष्टयः क्षोणिभुजाममुष्मिन्नाश्चर्यपर्युत्सुकिता निपेतुः ।
अनन्तरं दन्तुरितभ्रुवां तु नितान्तमीर्ष्याकलुषा दृगन्ताः ॥४०॥

आश्चर्य से उत्कंठित राजाओं की दृष्टि झटपट नल पर पड़ी । बाद में क्रोध के कारण उनकी भौंह टेढ़ी हो गईं और उनके नेत्र-प्रान्त ईर्ष्या से काले पड़ गये ॥४०॥

सुधांशुरेष प्रथमो भुवीति स्मरो द्वितीयः किमसावितीमम् ।
दस्रस्तृतीयोऽयमिति क्षितीशाः स्तुतिच्छलान्मत्सरिणो निनिन्दुः ॥४१॥

क्या यह प्रथम चन्द्रमा पृथ्वी पर फिर पैदा हुआ है ? क्या यह पृथ्वी पर दूसरा कामदेव है ? क्या यह तीसरा अश्विनी-कुमार है ? इस तरह स्तुति के बहाने ईर्ष्या से राजाओं ने उनकी निन्दा की ॥४१॥

मायानलोदाहरणान्निषधस्तैरूचे समाः सन्त्यमुना कियन्तः।
आत्मापकर्षे सति मत्सराणां द्विषः परस्पर्धनया समाधिः ॥४२॥
राजाओं ने नल के रूप में छिपे हुए चार देवताओं को देख कर आपस में कहा "इस नलके समान तो यहाँ बहुत से हैं।" जब शत्रु से अपनी न्यूनता होती है तब मत्सर-युक्त राजा दूसरों के साथ उसकी बराबरी करके अपना समाधान कर लेते हैं ॥४२॥

गुणेन केनापि जनेऽनवद्ये दोषान्तरोक्तिः खलु तत्खलत्वम्।
रूपेण तत्संसददूषितस्य सुरैर्नरत्वं यददूषि तस्य ॥४३॥
सौन्दर्य के कारण सभा को नलमें कोई दोष नहीं मिला पर देवताओं ने "नर" बतला कर जो निन्दा की उसका कारण दुर्जनता थी। किसी गुण से पूज्य मनुष्य में दोषान्तर का आरोपण करना दुर्जनता है ॥४३॥

नलानसत्यान्नवदत् स सत्यः कृतोपवेशान् सविधे सुवेषान्।
नोभाविलाभूः किमु दर्पकश्च भवन्ति नासत्ययुतौ भवन्तः ॥४४॥
सच्चे नल ने पास ही बैठे हुए सुन्दर आकार वाले झूंठे नलों से कहा—"क्या आप पुरूरवा, कामदेव तथा दोनों अश्विनी-कुमार हैं?" ॥४४॥

अमी तमीदृग्जगुरत्र मध्ये कस्यापि नोत्पत्तिरभूदिलायाम्।
अदर्पकाः स्मः सविधे स्थितास्ते नासत्यतां नाऽत्र बिभर्ति कश्चित् ॥४५॥
मिथ्या नलों ने सच्चे नल से कहा—"हम पुरूरवा नहीं हैं। तुम्हारे पास बैठे हुए हम कामदेव से भिन्न हैं। हम में कोई अश्विनी-कुमार नहीं है ॥४५॥

तेभ्यः परान्नः परिकल्पयस्व श्रिया विदूरीकृतकामदेवान्।
अस्मिन् समाजे बहुषु भ्रमन्ती भैमी किलास्मासु घटिष्यतेऽसौ ॥४६॥
"तुम समझ लो कि हम उनसे भिन्न हैं और हमने कामदेव की शोभा को जीत लिया है! इस समाज में भ्रमण करती हुई दमयन्ती हमारे साथ ही संयोग करेगी ॥४६॥

असाम यन्नम तवेह रूपं स्वेनाधिगत्य श्रितमुग्धभावाः ।
तन्नो धिगाशापतितान्नरेन्द्र ! धिक् चेदमस्मद्विबुधत्वमस्तु ॥४७॥

"हे नरेन्द्र ! तुम्हारे सौन्दर्य को जान कर भी हम लोग उसे धारण करके मूर्खता से स्वयंवर में आ बैठे हैं इस कारण हमारे [1]आशापतित्व को तथा विबुधत्व को धिक्कार है ! (असल और नकल में वड़ा अन्तर होता है—यह बात हमें समझनी चाहिए थी)" ॥४७॥

सा वागवाज्ञायितमां नलेन तेषामनाशङ्कितवाक्छलेन ।
स्त्रीरत्नलाभोचितयत्नमग्नमेनं हि न स्म प्रतिभाति किञ्चित् ॥४८॥

देवताओं की वाणी पर शङ्का न करने वाले नल ने उनके वचनों की बिलकुल अवज्ञा की ! दमयन्ती के लाभ के उपाय में मग्न हुए नल को कुछ सूझता ही नहीं था ॥४८॥

यः स्पर्धया येन निजप्रतिष्ठां लिप्सुः स एवाह तदुन्नतत्वम् !
कः स्पर्धितुः स्वाभिहितस्वहानेः स्थानेऽवहेलां बहुलां न कुर्यात् ॥४९॥

जो पुरुष किसी के साथ स्पर्धा करके गौरव प्राप्त करना चाहे वह अपने प्रतिस्पर्धी का उत्कर्ष प्रकट करता है । इस कारण स्वयं अपनी न्यूनता प्रकट करनेवाले स्पर्धी की [2]अवज्ञा कौन नहीं करेगा ॥४९॥

गीर्देवतागीतयशःप्रशस्तिः श्रिया तडित्त्वल्ललिताभिनेता ।
मुदा तदाऽवैक्षत केशवस्तं स्वयम्वराडम्बरमम्बरस्थः ॥५०॥

तब सरस्वती के द्वारा यश का गान किये गये तथा कान्ति के कारण बिजली सहित मेघ के विलास का अभिनय करते हुए विष्णु आकाश में से स्वयंवर की तैयारी हर्ष-पूर्वक देखने लगे ॥५०॥

अष्टौ तदाष्टासु हरित्सु दृष्टीः सदो दिदृक्षुर्निर्दिदेश देवः ।
लैङ्गीमदृष्ट्वापि शिरःश्रियं यो दृष्टौ मृषावादितकेतकीकः ॥५१॥

१—(१) दिक्पतित्व; (२) आशा अर्थात् तृष्णा से पतित होना ।
२—दमयन्ती के लिए नलका रूप धारण करने वाले देवताओं ने नलका उत्कर्ष तथा अपनी न्यूनता प्रकट की इस कारण नल ने उनकी अवज्ञा ठीक ही की।

शिव के लिङ्ग के मस्तक की शोभा नहीं देखकर भी उसे देखने के विषय में केतकी से झूँठी साक्ष्य[1] दिलाने वाले ब्रह्मा ने भी स्वयम्बर-सभा देखने की इच्छा से आठों दिशाओं में अपने आठ नेत्र फेंके ॥५१॥

एकेन पर्यक्षिपदात्मनाद्रिं चक्षुर्मुरारेरभवत् परेण ।
तैर्द्वादशात्मा दशभिस्तु शेषैर्दिशो दशालोकत लोकपूर्णाः ॥५२॥

द्वादशात्मा[2] सूर्य एक आत्मा से मेरु की रक्षा करने लगा, दूसरी से विष्णु का नेत्र हो गया तथा बचे हुए दश शरीरों से दशों दिशाएँ देखने लगा ॥५२॥

प्रदक्षिणं दैवतहर्म्यमद्रिं सदैव कुर्वन्नपि शर्वरीशः ।
द्रष्टा महेन्द्रानुजदृष्टिमूर्त्या न प्राप तद्दर्शनविघ्नतापम् ॥५३॥

चन्द्रमा सर्वदा देवताओं के स्थान—मेरु पर्वत—पर चक्कर लगाता है। उसे विष्णु के वाम नेत्र के रूप में द्रष्टा होने के कारण स्वयम्वर देखने में अड़चन नहीं हुई ॥५३॥

आलोकमाना वरलोकलक्ष्मीं तात्कालिकीमप्सरसो रसोत्काः ।
जनाम्बुधौ यत्र निजाननानि वितेनुरम्भोरुहकाननानि ॥५४॥

दर्शन को उत्कण्ठित तथा उस समय के राज-समूह की शोभा देखती हुई अप्सराओं ने वहाँ जन समुद्र में अपने मुख रूप कमल वनों का विस्तार किया ॥५४॥

न यक्षलक्षैः किमलक्षि नो सा सिद्धैः किमध्यासि सभाप्रशोभा ।
सा किन्नरैः किं न रसादसेवि नादर्शि हर्षेण महर्षिभिर्वा ॥५५॥

१—एक बार विष्णु और ब्रह्मा में शिव-लिङ्ग के पाद तथा मस्तक देखने के विषय में विवाद हुआ। उसे देखने विष्णु तो पाताल को तथा ब्रह्मा सत्यलोक को गये। वहाँ न तो विष्णु ने चरण देखे, न ब्रह्मा ने सिर देखा। बाद में विष्णु ने तो स्पष्ट कह दिया कि मैंने चरण नहीं देखे पर ब्रह्मा ने झूँठ कहा कि मैंने मस्तक देख लिया और केतकी से झूँठी गवाही दिलवा दी।

२—धाता मित्रोऽर्यमा रुद्रो वरुणः सूर्य एव च ।
भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमः स्मृतः ॥
एकादशस्तथा त्वष्टा विष्णुर्द्वादश उच्यते ।

उस अत्यन्त सुन्दर सभा को लाखों यक्षों ने क्या प्रीति से नहीं देखा ! क्या सिद्ध वहाँ जाकर नहीं बैठे ? क्या किन्नरों ने प्रीति से उसकी सेवा नहीं की ? क्या महर्षियों ने उसे हर्ष से नहीं देखा ? ॥५५॥

वाल्मीकिरश्लाघत तामनेकशाखत्रयी भूरुहराजिभाजा।
क्लेशं विना कण्ठपथेन यस्य दैवी दिवः प्राग्भुवमागमद्वाक् ॥५६॥

जिनके कण्ठ से विना क्लेश के देव-वाणी पृथ्वी पर आई उन वाल्मीकि ने उस सभा की प्रशंसा की। उनके कण्ठ में अनेक शाखाओं से युक्त तीन वेद रूप वृक्षों की पंक्ति उपस्थित थी ॥५६॥

प्राशंसि संसद्गुरुणापि चार्वी चार्वाकतासर्ववेदिदूषकेण।
आस्थानपट्टं रसनां यदीयां जानामि वाचामधिदेवतायाः ॥५७॥

चार्वाकता[1] से सब वेद आदि का खण्डन करने वाले तथा जिनकी जिह्वा में मैं सरस्वती का सिंहासन समझता हूँ उन वृहस्पति ने भी सुन्दर सभा की प्रशंसा की ॥५७॥

नाकेऽपि दीव्यत्तमदिव्यवाचि वचःस्रगाचार्यकवित्कविर्यः।
दैतेयनीतेः पथि सार्थवाहः काव्यः स काव्येन सभामभाणीत् ॥५८॥

जो संस्कृत वाणी से शोभायमान स्वर्ग में वचनों की मालाएँ बनाने के आचार्य हैं तथा दैत्यों के नीति-शास्त्र के प्रवर्तक हैं उन शुक्राचार्य ने भी कविता के द्वारा उस सभा का वर्णन किया ॥५८॥

अमेलयद्भीमनृपः परं न नाकर्षदेतान् दमनस्वसैव।
इदं विधातापि विचिन्त्य यूनः स्वशिल्पसर्वस्वमदर्शयन्नः ॥५९॥

"केवल राजा भीम ने इन राजाओं को दमयन्ती के स्वयंवर के लिए एकत्रित नहीं किया, न दमयन्ती ने इनका आकर्षण किया किन्तु विधाता ने विचार

1—चार्वाक किसी व्यक्ति का नाम नहीं। जो प्रत्यक्ष के सिवा अन्य कोई प्रमाण एवं दिखाई देने वाले जगत् के सिवा परलोक को स्वीकार नहीं करते वही चार्वाक कहलाते हैं।

कर अपनी कारीगरी के सर्वस्व युवकों को एक स्थान में सम्मिलित करके हमें दिखाया ॥५९॥

एकाकिभावेन पुरा पुरारिर्यः पञ्चतां पञ्चशरं निनाय ।
तद्भीसमाधानममुष्य कायनिकायलीलाः किममी युवानः ॥६०॥

"महादेव ने पहले अकेले कामदेव को मार डाला। ये कामदेव के बहुत से शरीरों की कान्ति धारण करनेवाले युवक महादेव के भय के प्रतीकार[1] हैं ॥६०॥

पूर्णेन्दुविम्बाननुमासभिन्नानस्थापयत् क्वापि निधाय वेधाः ।
तैरेव शिल्पी निरमादमीषां मुखानि लावण्यमयानि मन्ये ॥६१॥

"विधाता प्रति मास में जुदे जुदे पूर्ण चन्द्र-विम्बों को किसी जगह छिपा रखता है। मैं समझता हूँ कि उन्हीं से इनके सुन्दर मुख विधाता ने बनाये हैं ॥६१॥

मुधार्पितं मूर्धसु रत्नमेभिर्यन्नाम तानि स्वयमेत एव ।
स्वतःप्रकाशे परमात्मबोधे बोधान्तरं न स्फुरणार्थमर्थ्यम् ॥६२॥

"इन राजाओं के शिरों पर रत्न वृथा धरे गये हैं क्योंकि ये तो स्वयं ही रत्न हैं। परमात्मा का ज्ञान अपने आप प्रकाशित होने पर उसके लिए ज्ञानान्तर की प्रार्थना ठीक नहीं है ॥६२॥

प्रवेक्ष्यतः सुन्दरवृन्दमुच्चैरिदं मुदा चेदितरेतरं तत् ।
न शक्ष्यतो लक्षयितुं विमिश्रं दस्रौ सहस्रैरपि वत्सराणाम् ॥६३॥

"दोनों अश्विनी-कुमार हर्ष से इस सुन्दर समाज के भीतर प्रवेश करें तो इस राज-वृन्द में मिलकर एक दूसरे को हजार वर्षों तक पहचानने में समर्थ न हों ॥६३॥

स्थितैरियद्भिर्युवभिर्विदग्धैर्दग्धेऽपि कामे जगतः क्षतिः का ।
एकाम्बुबिन्दुव्ययमम्बुराशेः पूर्णस्य कः शंसति शोषदोषम् ॥६४॥

"इतने चतुर युवकों के विद्यमान होने पर महादेव ने केवल एक कामदेव

1—कामदेव को अकेला होने से शिव का डर था। अब इनके बहुत होने से डर नहीं रहा।

को भस्म करके जगत् की क्या हानि की ? पूरे समुद्र में से एक बूँद का क्षय होने पर क्या कमी होगी ? ॥६४॥"

इति स्तुवन् हुङ्कृतिवर्गणाभिर्गन्धर्ववर्गेण स गायतैव।
ओङ्कारभूम्ना पठतैव वेदान् महर्षिवृन्देन तथाऽन्वमानि ॥६५॥

गाते हुए गन्धर्वों ने इस प्रकार स्तुति करते हुए शुक्राचार्य का बार बार हुङ्कार करके तथा वेद-पाठक महर्षियों ने बार बार ओंकार कह कर अभिनन्दन किया ॥६५॥

न्यवीविशत् तानाथ राजसिंहान् सिंहासनौघेषु विदर्भराजः।
शृङ्गेषु यत्र त्रिदशैरिवैभिरशोभि कार्तस्वरभूधरस्य ॥६६॥

तब भीम ने राजाओं को सिंहासनों पर बैठाया और उन्होंने मेरु के शिखर पर बैठे हुए देवताओं की शोभा पाई ॥६६॥

विचिन्त्य नानाभुवनागतांस्तानमर्त्यसङ्कीर्त्यचरित्रगोत्रान्।
कथ्याः कथङ्कारममी सुतायामिति व्यषादि क्षितिपेन तेन ॥६७॥

राजा भीम ने बड़ा विषाद किया कि ये राजा अनेक भुवनों से आये हैं इस कारण इनके कुल-शील का वर्णन देवता ही कर सकते हैं। फिर कुमारी के सामने इनका वर्णन कैसे हो सकेगा ? ॥६७॥

श्रद्धालुसङ्कल्पितकल्पनायां कल्पद्रुमस्याथ रथाङ्गपाणेः।
तदाकुलोऽसौ कुलदैवतस्य स्मृतिं ततान क्षणमेकतानः ॥६८॥

तब चिन्तित होकर भीम ने अपनी वंश-परम्परा के पूज्य तथा भक्त की वाञ्छित वस्तु की सिद्धि के कल्पद्रुम विष्णु का स्मरण क्षण भर एकाग्र होकर किया ॥६८॥

तच्चिन्तनानन्तरमेव देवः सरस्वतीं सस्मितमाह स स्म।
स्वयम्वरे राजकगोत्रवृत्तवक्त्रीमिह त्वां करवाणि वाणि! ॥६९॥

भीम ने विष्णु को याद किया सो ही विष्णु ने मुसकुराहट के साथ सरस्वती से कहा—"सरस्वती, इस स्वयम्बर में राजाओं के समूह के कुल, नाम, शील आदि का वर्णन करने के लिए मैं तुम्हें नियुक्त करता हूँ ॥६९॥

कुलं च शीलं च वलं च यूनां जानासि नानाभुवनागतानाम् ।
एषामतस्त्वं भव वावदूका मूकायितुं कः समयस्तवायम् ? ॥७०॥

"सरस्वती, तुम अनेक लोकों से आये हुए इन राजाओं के कुल, शील, और बल जानती हो इस कारण तुम्हीं इनका वर्णन करो। यह अवसर तुम्हारे चुप होने का नहीं है ॥७०॥

जगत्त्रयीपण्डितमण्डितैषा सभा न भूता न च भाविनी च ।
राज्ञां गुणज्ञापनकैतवेन संख्यावतः श्रावय वाङ्मुखानि ॥७१॥

"सरस्वती, यह सभा तीनों लोकों के विद्वानों से विभूषित है। ऐसी सभा न तो पहले हुई है और न आगे होगी। इस कारण राजाओं के गुण प्रकाश करने के बहाने पण्डितों को तुम अपना व्याख्यान सुनाओ" ॥७१॥

इतीरिता तच्चरणात् परागं गीर्वाणचूडामणिमृष्टशेषम् ।
तस्य प्रसादेन सहाज्ञयासावादाय मूर्ध्नादरिणी बभार ॥७२॥

इस प्रकार विष्णु के द्वारा प्रेरित होकर सरस्वती ने देवताओं के मुकुट-रत्नों से पोंछने से बची—विष्णु के चरण कमलों की—रज उनकी आज्ञा रूप प्रसाद से सिर पर लगा कर आदर प्रकट किया ॥७२॥

मध्येसभं साऽवततार वाला गन्धर्वविद्याधरकण्ठनाला ।
त्रयीमयीभूतवलीविभङ्गा साहित्यनिर्वर्तितदृक्तरङ्गा ॥७३॥

बाला सरस्वती सभा के बीच में आई। उसका कंठ-नाल गान-विद्यामें प्रवीण था, उसकी कटि की सिलवटों की रचना तीनों वेदों से बनाई गई थी और उसके कटाक्षों के विक्षेप साहित्य से निर्मित थे ॥७३॥

आसीदथर्वा त्रिवलित्रिवेदीमूलाद्विनिर्गत्य वितायमाना ।
नानाभिचारोचितमेचकश्रीः श्रुतिर्यदीयोदररोमरेखा ॥७४॥

अनेक अभिचारों के योग्य काली शोभा वाला अथर्ववेद उसकी उदर-रोमावली था जो तीन सिलवट रूप तीनों वेदों के मूल से निकल कर विस्तार को प्राप्त हुआ था ॥७४॥

शिक्षैव साक्षाच्चरितं यदीयं कल्पश्रियाकल्पविधिर्यदीयः ।

यस्याः समस्तार्थनिरुक्तिरूपैर्निरुक्तिविद्या खलु पर्यणंसीत ॥७५॥

उसका चरित वर्णों की स्थानोच्चारण-बोधक शिक्षा थी। उसकी अलंकार-विधि कल्प (=कर्तव्यता-बोधक ग्रंथ) की शोभा से बनी थी। उसकी निरुक्ति विद्या सब अर्थों के व्याख्यानों से प्रादुर्भूत हुई थी ॥७५॥

जात्या च वृत्तेन च भिद्यमानं छन्दो भुजद्वन्द्वमभूद्यदीयम्।
श्लोकार्धविश्रान्तिमयीभविष्णुपर्वद्वयीसन्धिसुचिह्नमध्यम् ॥७६॥

उसकी दोनों भुजाएँ मात्राओं के तथा वर्णों के भेद से दो तरह के छन्द थे। हर भुजाके बीच में दो हिस्सों के जोड़ का चिन्ह था जो श्लोक के आधे भाग के बीच की विश्रान्ति का सूचक था ॥७६॥

असंशयं सा गुणदीर्घभावकृतां दधाना विततिं यदीया।
विधायिका शब्दपरम्पराणां किं चारचि व्याकरणेन काञ्ची ॥७७॥

उसकी करधनी निःसंदेह व्याकरण ने बनाई जो पट्टसूत्र की लंबाई के कारण विस्तारवाली तथा बराबर शब्द करनेवाली थी ॥७७॥

स्थितैव कण्ठे परिणम्य हारलता बभूवोदिततारवृत्ता।
ज्योतिर्मयी यद्भजनाय विद्या मध्येङ्गमङ्केन भृता विशङ्के ॥७८॥

ताराओं के वृत्तान्त का वर्णन करने वाली तथा शिक्षा आदि के अंगों में गिनी जाने वाली ज्योतिष विद्या कंठ में स्थित होकर उसकी सेवा के लिए रूपान्तर प्राप्त करके प्रकाशित मध्य-मणि वाली, गोल तथा शरीर पर मध्य में धारण की गई हार-लता हो गई—यह मुझे शंका है ॥७८॥

अवैमि वादिप्रतिवादिगाढस्वपक्षरागेण विराजमाने।
ते पूर्वपक्षोत्तरपक्षशास्त्रे रदच्छदौ भूतवती यदीयौ ॥७९॥

उसके ओष्ठ दोनों प्रसिद्ध वादी—प्रतिवादी के दृढ स्व-सिद्धान्तानुराग से विराजमान पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष के शास्त्र हो गये—यह मैं जानता हूँ! ॥७९॥

ब्रह्मार्थकर्मार्थकवेदभेदाद्द्विधा विधाय स्थितयाऽऽत्मदेहम्।
चक्रे पराच्छादनचारु यस्या मीमांसया मांसलमूरुयुग्मम् ॥८०॥

ब्रह्मकाण्ड तथा कर्मकाण्ड संज्ञक वेद-विभाग के कारण दो

...गा कर के स्थित हुई—ईश्वर[2] निराकरण से सुन्दर-मीमांसा ने उसके दोनों ...कुल ऊरु बनाये जो उत्तम वस्त्र से रमणीय लगते थे ॥८०॥

उद्देशपर्वण्यपि लक्षणेऽपि द्विधोदितैः षोडशभिः पदार्थैः।
आन्वीक्षिकीं यद्दशनद्विमालीं तां मुक्तिकामाकलितां प्रतीमः ॥८१॥

सरस्वती के दाँतों की दोनों पंक्तियों को—जो शुभ स्थान में उगे हुए ...था शुभ लक्षणों से युक्त बत्तीस दाँतों से शोभित तथा गुँथी हुई मोतियों माला के समान पुनः पुनः दर्शनीय थीं—हम उस आन्वीक्षिकी (=न्याय-विद्या) के समान ही समझते हैं जो [3]नाम-निर्देश तथा लक्षण[4]-निर्देश द्वारा दोहराये हुए ...माण-प्रमेय आदि सोलह पदार्थों[5] से युक्त है तथा मुमुक्षु लोग जिसका अभ्यास करते हैं ॥८१॥

तर्का रदा यद्वदनस्य तर्क्या वादेऽस्य शक्तिः क तथाऽन्यथा तैः।
पत्रं क दातुं गुणशालिपूगं क वादतः खण्डयितुं प्रभुत्वम् ? ॥८२॥

सरस्वती के मुख के दाँतों को ही तर्क-विद्या के तर्क समझना चाहिये। जिस प्रकार तर्कों के बिना वाद (=शास्त्रार्थ) की शक्ति नहीं होती, स्व-पक्ष-स्थापन और पर-पक्ष-खण्डन नहीं हो सकता तथा प्रतिवादी गुणी विद्वत्समूह की ...क्तियों का खण्डन भी नहीं हो सकता। उसी प्रकार सरस्वती के मुख से भी ...दाँतों के बिना भाषण, काषायादि गुण युक्त सुपारी का खण्डन तथा ताम्बूल-...दान नहीं हो सकता था ॥८२॥

१—पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा।
२—मीमांसा ईश्वर को नहीं मानती।
३—सोलह पदार्थों का नाम के द्वारा वर्णन करना।
४—प्रत्येक पदार्थ का पुनः लक्षण द्वारा वर्णन करना।
५—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, ...द, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रह-स्थान। ये सोलह पदार्थ ...म तथा लक्षण के जुदे जुदे निर्देश से बत्तीस हो जाते हैं।

सपल्लवं व्यास-पराशराभ्यां प्रणीतभावादुभयीभविष्णु ।
तन्मत्स्यपद्माद्युपलक्ष्यमाणं यत्पाणियुग्मं ववृते पुराणम् ॥८३॥

व्यास तथा पराशर के द्वारा निर्मित होने से दो प्रकार के—मत्स्य, पद्म आदि नामों से प्रसिद्ध तथा कथा-आख्यायिकाओं से युक्त—पुराण ही उसके किसलय-सदृश दोनों हाथों के आकार में परिणत हो गये थे ॥८३॥

आकल्पविच्छेदविवर्जितो यः स धर्मशास्त्रव्रज एव यस्याः ।
पश्यामि मूर्धा श्रुतिमूलशाली कण्ठस्थितः कस्य मुदे न वृत्तः ॥८४॥

प्रलय तक नाश न होने वाले तथा वेद से निकले धर्मशास्त्र-समूह—जो उसको कण्ठस्थ है—मूर्धा थी । इससे किसे प्रीति न होती ? ॥८४॥

भ्रुवौ दलाभ्यां प्रणवस्य यस्यास्तद्विन्दुना भालतमालपत्रम् ।
तदर्धचन्द्रेण विधिर्विपञ्चीनिक्वाणनाकोणधनुः प्रणिन्ये ॥८५॥

विधाता ने ओंकार के खण्डों से उसकी भौंहें बनाईं । ओंकार के अनुस्वार से तमाल पत्र के समान ललाट का तिलक बनाया । उसकी चन्द्र-बिन्दु से वीणा बजाने का कोण-धनुष बनाया ॥८५॥

द्विकुण्डली वृत्तसमाप्तिलिप्याः कराङ्गुली काञ्चनलेखनीनाम् ।
कैश्यं मषीणां स्मितभा कठिन्याः काये यदीये निरमायि सारैः ॥८६॥

विधाता ने उसके शरीर में गोल [1]समाप्ति ज्ञापक लिपि के सार से कर्ण-फूल बनाये । सुवर्णमय लेखनियों के सार से हाथ की उँगलियाँ बनाईं । मसी के सार से केश-कलाप बनाया । खड़िया के सार से मुसकुराहट की आभा बनाई ॥८६॥

या सोमसिद्धान्तमयाननेव शून्यात्मतावादमयोदरेव ।
विज्ञानसामस्त्यमयान्तरेव साकारतासिद्धिमयाखिलेव ॥८७॥

१—यहाँ "छ" से आशय है जो हाथ की लिखी पुस्तकें समाप्त होने पर लिखा जाता था ।

उसका मुख मानों सोम-सिद्धान्तमय¹ था; उदर मानो शून्यात्मवाद² मय ; चित्त मानो विज्ञान-साम्रस्त्यमय³ था और पूरा रूप मानों साकारता-सिद्धिमय⁴ था ॥८७॥

१—प्रबोध चन्द्रोदय नाटक में सोम-सिद्धान्त ने अपना यह रहस्य बतलाया है—'पश्यामि योगाञ्जनशुद्धदर्शनो जगन्मिथोभिन्नमभिन्नमीश्वरात्' अर्थात् मेरा नेत्र योग रूपी अञ्जन से शुद्ध है और मैं आपस में भेद-युक्त जगत् को भी ईश्वर से अभिन्न देखता हूँ जैसे अँगूठी और कङ्कण में भेद होने पर भी दोनों सुवर्ण से अभिन्न हैं।

सरस्वती को राजाओं के कुल, शील, नाम आदि का वर्णन करना था। उसका मुख सोम-सिद्धान्तमय होने से प्रकट हुआ कि उसके नेत्र योग रूपी अञ्जन से शुद्ध थे जिनके द्वारा वह अभ्रान्त दृष्टि से राजाओं को देखकर उनका वर्णन कर सकती थी।

२—शून्यात्मवाद माध्यमिक बौद्धों का सिद्धान्त है। वे किसी पदार्थ का स्वभाव (=यथार्थ सत्ता) नहीं मानते। उनका कहना है कि शून्य ही जगत का उपादान है और जगत् शून्य ही में परिणत हो जायगा। हम घट पट और मनुष्य आदि जो कुछ अनुभव करते हैं वह सब माया है। अविद्या का नाश होने से इन सब वस्तुओं का ध्वंस हो जायगा। बाद में जगत् और "मैं" दोनों ही शून्यता में परिणत हो जायँगे। "मैं शून्यता-मात्र हूँ"—इसी ज्ञान के उत्पन्न होने से निर्वाण प्राप्त होगी।

यहाँ आशय यह है कि सरस्वती का उदर शून्य था अर्थात् वह कृशोदरी थी।

३—योगाचार बौद्ध बाह्य जगत् का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि हम जो सब पदार्थों के घट पट इत्यादि नाम रखते हैं वह ज्ञान ही का आकार है। घट—इस ज्ञान के बाहर घट नाम का कोई स्वतन्त्र जड़ पदार्थ नहीं है। यही विज्ञान की सम्पूर्णता या सामस्त्य है।

यहाँ आशय यह है कि सरस्वती का चित्त, सर्वज्ञ होने के कारण, ज्ञान की सम्पूर्णता से निष्पन्न हुआ था।

४—सौत्रान्तिक बौद्ध साकार-ज्ञान-वादी हैं। वे ज्ञान को स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि यद्यपि हम बाह्यार्थ प्रत्यक्ष नहीं कर सकते तथापि ज्ञान के द्वारा

भीमस्त्वयागद्यत मोदितुं ते वेला किलेयं तदलं विषद्य।
मया निगाद्यं जगतीपतीनां गोत्रं चरित्रं च विचित्रमेषाम् ॥८८॥

सरस्वती ने भीम से कहा—'यह समय तो आपके हर्ष करने का है। समय आप को विषाद नहीं करना चाहिए। मैं इन राजाओं के विचित्र और चरित्र का वर्णन करूँगी ॥८८॥

अविन्दतासौ मकरन्दलीलां मन्दाकिनी यच्चरणारविन्दे।
अत्रावतीर्णा गुणवर्णनाय राज्ञां तदाज्ञावशगास्मि कापि ॥८९॥

"जिनके चरण कमल में मन्दाकिनी मकरन्द-लीला को प्राप्त हुई उन विष्णु के निर्देश से राजाओं के गुण वर्णन करने के लिए मैं स्वयं आई हूँ" ॥८९॥

तत्कालवेद्यैः शकुनस्वराद्यैराप्तामवाप्तां नृपतिः प्रतीत्य।
तां लोकपालैकधुरीण एष तस्यै सपर्यामुचितां दिदेश ॥९०॥

लोकपालों के समान राजा भीम ने उसके आने से प्रकट हुए शकुन स्वर आदि से अभीष्ट देवी को आया हुआ जानकर उसकी योग्य पूजा की ॥९०॥

दिगन्तरेभ्यः पृथिवीपतीनामाकर्षकौतूहलसिद्धविद्याम्।
ततः क्षितीशः स निजां तनूजां मध्येमहाराजकमाजुहाव ॥९१॥

फिर राजा ने अपनी कन्या दमयन्ती को राजाओं के समूह के बीच बुलाया। उसने दिगन्तरों से राजाओं के आकर्षण करने के कौतुक सिद्ध-विद्या को अपने वश में कर लिया था ॥९१॥

दासीषु नासीरचरीषु जातं स्फीतं क्रमेणालिषु वांछितासु।
स्वाङ्गेषु रूपोत्थमथाद्भुताब्धिमुद्वेलयन्तीमवलोककानाम् ॥९२॥

आगे चलती हुई दासियों को देखने से पैदा हुआ तथा पीछे क्रम से

उसके अस्तित्व का अनुमान कर सकते हैं। यही ज्ञान की साक्ष कहलाती है।

यहाँ आशय यह है कि सरस्वती के सम्पूर्ण अवयवों के द्वारा ज्ञान ही को प्राप्त हुआ था।

हुई सखियों से वृद्धि को प्राप्त हुआ, दमयन्ती के अवयवों के सौन्दर्य से उठा हुआ दर्शकों के आश्चर्य का समुद्र मर्यादा से बाहर हो गया ॥९२॥

स्निग्धत्वमायाजलले़पलोपसयत्नरत्नांशुमृजांशुकाभाम् ।
नेपथ्यहीरद्युतिवारिवर्तिस्वच्छायसच्छायनिजालिजालाम् ॥९३॥

उसके वस्त्र की चमक चिकनाई, कृत्रिम जल तथा लेप इन तीनों के विना ही निर्मल रत्नों की कान्ति के समान शुद्ध थी। उसकी सखियों का समूह उसके वस्त्रों पर लगे हुए हीरों की निर्मल कान्ति में चमकते उसके प्रतिबिम्बों के समान था ॥९३॥

विलेपनामोदमुदागतेन तत्कर्णपूरोत्पलसर्पिणा च ।
रतीशदूतेन मधुव्रतेन कर्णे रहः किञ्चिदिवोच्यमानाम् ॥९४॥

विलेपन के परमल के हर्ष से आया तथा दमयन्ती के कर्णफूल पर बैठा कामदेव का दूत भ्रमर उसके कानमें कोई गुप्त बात कहता मालूम होता था ॥९४॥

विरोधिवर्णाभरणाश्मभासां मल्लाजिकौतूहलमीक्षमाणाम् ।
स्मरस्वचापभ्रमचालिते नु भ्रुवौ विलासाद्वलिते वहन्तीम् ॥९५॥

वह एक दूसरे से विरुद्ध वर्णवाले आभरणों के रत्नों की दीप्ति के मल्लयुद्ध का कौतुक देखती थी। उसकी–विलास से टेढ़ी–भौंहें ऐसी मालूम होती थीं मानों उन्हें कामदेव ने अपने धनुष के भ्रम से चलायमान किया हो ॥९५॥

सामोदपुष्पाशुगवासिताङ्गीं किशोरशाखाग्रशयालिमालाम् ।
वसन्तलक्ष्मीमिव राजभिस्तैः कल्पद्रुमैरप्यभिलष्यमाणाम् ॥९६॥

उसके अवयवों में सहर्ष कामदेव अधिष्ठित था। उसके साथ पतली टहनियों के समान हाथ वाली सखियों का समूह था तथा राजा लोग उसकी अभिलाषा करते थे। वह वसन्त–लक्ष्मी के समान थी जो सुगंधित पुष्पों से तथा वायु से सुरभित होती है, जिसकी कोमल शाखाओं के अग्रभाग पर भ्रमर-पंक्ति शयन करती है तथा जिसकी अभिलाषा कल्पद्रुम भी करते हैं ॥९६॥

पीतावदातारुणनीलभासां देहोपदेहात् किरणैर्मणीनाम् ।
गोरोचनाचन्दनकुङ्कुमैणनाभीविलेपान् पुनरुक्तयन्तीम् ॥९७॥

पीली, सफेद, लाल और नीली कान्ति वाले मणियों की किरणों से शरीर रँग जाने के कारण क्रमसे गोरोचन, चन्दन, कुङ्कुम और कस्तूरी के अनुलेपन को वह व्यर्थ करती थी। ॥९७॥

स्मरं प्रसूनेन शरासनेन जेतारमश्रद्दधतीं नलस्य।
तस्मै स्वभूषादशदंशुशिल्पं बलद्विषः कार्मुकमर्पयन्तीम्॥९८॥

फूलों के धनुष से नल को जीतने के लिए कामदेव की शक्ति पर विश्वास न करके वह कामदेव को अपने भूषणों के रत्नों की किरणों से बने इन्द्र-धनुष मानों देती थी ॥९८॥

विभूषणेभ्योऽवरमंशुकेषु ततोऽवरं सान्द्रमणिप्रभासु।
सम्यक पुनः क्वापि न राजकस्य पातुं दृशा धातृधृतावकाशाम्॥९९॥

विभूषणों के पास के अंशुकों में तथा अंशुकों के पास के मणियों की घनी प्रभा के बीच में कहीं भी विधाता ने राजाओं की दृष्टि के पान करने के लिए कोई जगह शायद ही छोड़ी थी ॥९९॥

प्राक् पुष्पवर्षैर्वियतः पतद्भिर्द्रष्टुं न दत्तामथ तद्विरेफैः।
तद्भीतिभुग्नेन ततो मुखेन विधेरहो वाञ्छितविघ्नयत्नः॥१००॥

राजाओं ने दमयन्ती को देख नहीं पाया क्योंकि पहले तो आकाश से फूलोंकी वर्षा होरही थी, फिर भ्रमर उसके पीछे चलने लगे और फिर उसने भ्रमरों के भय से मुँह टेढ़ा कर लिया। विधाता का वाञ्छित वस्तु में विघ्न करने का व्यापार आश्चर्य जनक है! ॥१००॥

एतद्वरं स्यामिति राजकेन मनोरथातिथ्यमवापिताय।
सखीमुखायोत्सृजतीमपाङ्गात् कर्पूर-कस्तूरिकयोः प्रवाहम्॥१०१॥

एक सखी के मुँह की ओर वह नेत्र प्रान्त से कपूर तथा कस्तूरी का प्रवाह छोड़ती थी अर्थात् उसे कटाक्ष से देखती थी। प्रत्येक राजा उस सखी के मुखको अपने मनोरथ का अतिथि बनाकर कहता था कि मैं उसका मुख हो जाऊँ जिसमें दमयन्ती मुझे कटाक्ष से देखे! ॥१०१॥

स्मितेच्छुदन्तच्छदकम्पकिञ्चिद्दिगम्बरीभूतरदांशुवृन्दैः।
आननिवृत्तोर्मिमुखाबिन्दैर्मुदं नकुर्वीं हृदि कौमुदीनाम्॥१०२॥

वह राजाओं के मुखारविन्दों को आनन्दित करती थी तथा मुसकुराहट दिखाने के इच्छुक ओष्ठों के चलायमान होने से कुछ कुछ प्रकट हुए दाँतों की किरणों से चाँदनी के हृदय में स्थित गर्व को नष्ट करती थी ॥१०२॥

प्रत्यङ्गभूषाच्छमणिच्छलेन यत्सङ्गनतन्निश्चललोकनेत्राम् ।
हाराग्रजाग्रद्गरुडाश्मरश्मिपीनाभनाभीकुहरान्धकाराम् ॥१०३॥

वह प्रत्येक अवयव पर भूषणों के निर्मल रत्नों के बहाने जिस अवयव में वे लगे थे उसी में निश्चल हुए लोगों के नेत्र धारण करती थी। उसकी नाभि का अंधकार मुक्ताहार के बीचमें देदीप्यमान मरकत की किरणों से बढ़ गया था ॥१०३॥

तद्गौरसारस्मितविस्मितेन्दुप्रभाशिरःकम्परुचोऽभिनेतुम् ।
विपाण्डुतामण्डितचामरालीनानामरालीकृतलास्यलीलाम् ॥१०४॥

उसके ऊपर सफेदी से भूषित---अनेक प्रकार के हंसों के समान दीखती--चामर-पंक्ति की ताण्डव-लीला हो रही थी। चामर ऐसे मालूम होते थे मानों वे उसकी अत्यन्त गौर मुसकुराहट से चकित होकर शिर कँपाने वाली चाँदनी[1] की नकल करते थे ॥१०४॥

तदङ्गभोगावलिगायनीनां मध्ये निरुक्तिक्रमकुण्ठितानाम् ।
स्वयं धृतामप्सरसां प्रसादं ह्रियं हृदो मण्डनमर्पयन्तीम् ॥१०५॥

उसके अवयवों की स्तुति गाने के बीच में स्तुति के समाप्त होने के पहले ही पाठ की परिपाटी में कुण्ठित हुई अप्सराओं को उसने स्वयं धारण की गई स्त्री-हृदय की भूषण लज्जा[2] का प्रसाद दिया ॥१०५॥

१—शरीर-धारिणी चाँदनी दमयन्ती की मुसकुराहट की अत्यन्त गौरता को देखकर आश्चर्य से अपना शिर हिलाती थी और दमयन्ती के ऊपर झूलनेवाले सफेद चामर मानों शरीर-धारिणी चाँदनी की इस चेष्टा की नकल करते थे।

२—अप्सराएँ दमयन्ती की सुन्दरता की स्तुति करने लगीं पर यह काम उनकी शक्ति से बाहर था इससे उनको बीच में ही रुक जाना पड़ा। लज्जा स्त्रियों का भूषण है। यहाँ उत्प्रेक्षा की गई है कि अपनी स्तुति के बदले में दमयन्ती ने ही मानों अपने हृदय से लज्जा लेकर उसका दान किया।

तारा रदानां वदनस्य चन्द्रं रुचा कचानां च नभो जयन्तीम्।
आकण्ठमक्ष्णोर्द्वितयं मधूनि महीभुजः कस्य न भोजयन्तीम् ॥१०६॥

दन्तों की कान्ति से तारों को, वदन की कान्ति से चन्द्र को तथा केशों की कान्ति से आकाश को जीतने वाली दमयन्ती ने किस राजा के दोनों नेत्रों को कण्ठ तक मधु-भोजन नहीं कराया ? ॥१०६॥

अलङ्कृताङ्गाद्भुतकेवलाङ्गीं स्तवाधिकाध्यक्षनिवेद्यलक्ष्मीम्।
इमां विमानेन सभां विशन्तीं पपावपाङ्गैरथ राजराजिः ॥१०७॥

उसके अनलङ्कृत अवयव अलंकृत अवयवों की उपेक्षा अधिक अद्भुत थे। स्तुति से अधिक प्रत्यक्ष-दृश्य लक्ष्मी थी। पालकी में बैठकर स्वयम्वर-सभा में प्रवेश करती हुई दमयन्ती का राजाओं की पंक्ति ने कटाक्षों से पान किया ॥१०७॥

आसीदसौ तत्र न कोऽपि भूपस्तन्मूर्तिरूपोद्भवदद्भुतस्य।
उल्लेसुरङ्गानि मुदा न यस्य विनिद्ररोमाङ्कुरदन्तुराणि ॥१०८॥

उसके सौन्दर्य के विलोकन से उत्पन्न हुए आश्चर्य से जिसके अङ्ग को हर्ष नहीं हुआ ऐसा कोई भी राजा उस सभा में नहीं था। अनुराग के कारण उठे हुए रोमांकुरों से उनके अङ्ग ऊँचे नीचे हो गये थे ॥१०८॥

अङ्गुष्ठमूर्ध्ना विनिपीडिताग्रा मध्येन भागेन च मध्यमायाः।
आस्फोटि भैमीमवलोक्य तत्र न तर्जनी केन जनेन नाम ॥१०९॥

उस स्वयम्वर भवन में दमयन्ती को देखकर किसने अपने अँगूठे के अग्रभाग तथा मध्यमा के मध्य भाग की सहायता से दबाकर अपनी तर्जनी अँगुली नहीं चटकाई ? ॥१०९॥

अस्मिन् समाजे मनुजेश्वरेण तां खञ्जनाक्षीमवलोक्य केन।
पुनःपुनर्लोलितमौलिना न भ्रुवोरुदक्षेपितरां द्वयी वा ॥११०॥

इस समाज में बार-बार शिर कँपा कर किस किस राजा ने उस खञ्जनाक्षी को देखकर दोनों भौंहें ऊपर नहीं चढ़ाईं ! ॥११०॥

स्वयंवरस्याजिरमाजिहानां विभाव्य भैमीमथ भूमिनाथैः।
इदं मुदा विह्वलचित्तभावादवादि खण्डाक्षरजिह्मजिह्मम् ॥१११॥

फिर राजाओं ने स्वयम्वर के मैदान में आई हुई दमयन्ती को देख

विकल चित्त होने के कारण आधी उक्तियों से जिह्वा अलस करके हर्ष-पूर्वक कहा— ॥१११॥

रम्भादिलोभात् कृतकर्मभिर्मा शून्यैव भूर्भूत्सुरभूमिपान्थैः ।
इत्येतयालोपि दिवोऽपि पुंसां वैमत्यमत्यप्सरसा रसायाम् ॥११२॥

"सौन्दर्य से अप्सराओं को अतिक्रान्त करने वाली दमयन्ती ने स्वर्ग के देवताओं की पृथ्वी पर आने की अनिच्छा[1] इस कारण रोक दी है कि रम्भा आदि अप्सराओं में अनुराग होने से यज्ञ करके मनुष्यों के स्वर्ग चले जाने पर पृथ्वी शून्य न हो जाय ॥११२॥

रूपं यदाकर्ण्य जनाननेभ्यस्तत्तद्दिगन्ताद्वयमागमाम ।
सौन्दर्यसारादनुभूयमानादस्यास्तदस्माद्बहु नाकनीयः ॥११३॥

"हम इसके जिस सौन्दर्य को लोगों के मुखों से सुन कर दूर दूर के दिगन्तों से आये हैं वह अनुभव करने से प्रत्यक्ष हुए सौन्दर्य से बहुत ही कम था ॥११३॥

रसस्य शृङ्गार इति श्रुतस्य क नाम जागर्ति महानुदन्वान् ? ।
कस्मादुदस्थादियमन्यथा श्रीर्लावण्यवैदग्ध्यनिधिः पयोधेः ॥११४॥

"शृङ्गार नाम के रस का महासमुद्र किस देश में है ! नहीं तो यह सौन्दर्य की निधि लक्ष्मी किस समुद्र से उत्पन्न हुई है ? ॥११४॥

साक्षात्सुधांशुर्मुखमेव भैम्या दिवः स्फुटं लाक्षणिकः शशाङ्कः ।
एतद्भ्रुवौ मुख्यमनङ्गचापं पुष्पं पुनस्तद्गुणमात्रवृत्त्या ॥११५॥

"दमयन्ती का मुख ही साक्षात् सुधांशु है । आकाश का शशाङ्क निःसन्देह अनुमान से सुधांशु कहाता है । उसकी भौंहें कामदेव का असली धनुष है । पुष्पों में तो केवल भौंह के गुणमात्र हैं इसी से वे धनुष कहाते हैं ॥११५॥

लक्ष्ये धृतं कुण्डलिके सुदत्या ताटङ्कयुग्मं स्मरधन्विने किम् ? ।
सव्याऽपसव्यं त्रिशिखा विसृष्टास्तेनानयोर्यान्ति किमन्तरेव ॥११६॥

[1]—दमयन्ती का लावण्य पृथ्वी पर देवताओं का आकर्षण करता था । वे उन नर राजाओं का स्थान लेने आते थे जो रम्भा आदि अप्सराओं से प्रीति के कारण यज्ञ करके स्वर्ग में जाते थे ।

"दमयन्ती के दोनों कर्ण भूषण कामदेव रूपी धन्वी के कुण्डलाकार लक्ष्य हैं क्या ? कामदेव के द्वारा सीधी और बाईं तरफ से छोड़े गये बाण क्या इनके बीच में होकर जाते हैं ? ॥११६॥

तनोत्यकीर्तिं कुसुमाशुगस्य सैषा बतेन्दीवरकर्णपूरौ ।
यतः श्रवःकुण्डलिकापराद्धशरं खलः ख्यापयिता तमाभ्याम् ॥११७॥

"दमयन्ती नीलोत्पल के दो कर्णपूरों से कामदेव की अकीर्त्ति का विस्तार करती है यह आश्चर्य है ! इनके कारण दुर्जन कहेंगे कि कामदेव के बाण कर्णपूर रूप दो लक्ष्यों[1] से च्युत हो गये ॥११७॥

रजःपदं षट्पदकीटजुष्टं हित्वाऽऽत्मनः पुष्पमयं पुराणम् ।
अद्यात्मभूराद्रियतां स भैम्या भ्रूयुग्ममन्तर्धृतमुष्टिचापम् ॥११८॥

"कामदेव दमयन्ती के दोनों भौंहों[2] के बीच के भाग को मुट्ठी से पकड़ कर धनुष का अब आदर करे । अपने पुष्पमय पुराने धनुष को छोड़ दे। उसमें धूल लग रही है तथा वह भ्रमरों और कीड़ों से सेवित है ॥११८॥

पद्मान् हिमे प्रावृषि खञ्जरीटान् क्षिप्नुर्यमादाय विधिः क्वचित् तान् ।
सारेण तेन प्रतिवषमुच्चैः पुष्णाति दृष्टिद्वयमेतदीयम् ॥११९॥

"विधाता नीलोत्पलों को शीतकाल में तथा खञ्जनों को वर्षाकाल में कहीं इकट्ठा करके रखता है और प्रतिवर्ष उनसे सार[3] निकाल कर दमयन्ती के नेत्रों को पुष्ट करता है ॥११९॥

१—कामदेव बहुधा कमलों को बाण बनाता है । दमयन्ती के कानों में लगे हुए दो नीले कमलों से लोगों की यह भावना होगी कि कामदेव इन दो बाणों को कर्ण-भूषणों के द्वारा नहीं चला सका और ये कानों में ही चिपके रह गये । इस तरह ये दो नीले कमल कामदेव धन्वी की अकीर्त्ति फैलावेंगे ।

२—दमयन्ती की दोनों भौंहें कामदेव का धनुष हैं । उनके बीच का खाली भाग धनुष के बीच का हिस्सा है । वह दीखता नहीं है क्योंकि कामदेव की पकड़ में है।

३—सुन्दर स्त्री के नेत्रों के सौन्दर्य के आदर्श कमल और खञ्जन हैं । दमयन्ती के नेत्र या तो दो कमल हैं या दो खञ्जन हैं । शीतकाल में कमल नहीं होते

एतद्दृशोरम्बुरुहैर्विशेषं भृङ्गौ जनः पृच्छतु तद्गुणज्ञौ ।
इतीव धात्राकृत तारकालिस्त्रीपुंसमाध्यस्थ्यमिहाक्षियुग्मे ॥१२०॥

"विधाता ने इस कारण से दमयन्ती के दोनों नेत्रों में पुतली के रूप में भ्रमर[1]-दम्पती को स्थापित किया है कि लोग दोनों के गुणज्ञ भ्रमरों से दमयन्ती के नेत्रों का कमलों के साथ तारतम्य पूछेंगे कि कमल रमणीय है या दमयन्ती के नेत्र ॥१२०॥

व्यधत्त सौधे रतिकामयोस्तद्भक्तं वयोऽस्या हृदि वासभाजोः ।
तदग्रजाग्रत्पृथुशातकुम्भकुम्भौ न सम्भावयति स्तनौ कः ? ॥१२१॥

"रति और कामदेव के भक्त वय अर्थात् यौवन ने उसके हृदय में रहते हुए रति तथा कामदेव के लिए दो महल बनाये क्योंकि कौन पुरुष दमयन्ती के स्तनों को उन महलों के ऊपर प्रकाशित बड़े बड़े सुवर्ण कलश न समझेगा ? ॥१२१॥

अस्या भुजाभ्यां विजिताद्बिसात् किं पृथक्करोऽगृह्यत तत्प्रसूनम् ।
इहेष्यते तन्न गृहाः श्रियः कैर्न गीयते वा करएव लोकैः ॥१२२॥

"दमयन्ती की भुजाओं में से प्रत्येक ने अभिभूत मृणाल से उसके पुष्प ही कर नहीं लिये क्या ? इस लोक में भुजाओं के कर हुए कमल को कौन लोग लक्ष्मी का स्थान नहीं समझते हैं और कौन कर समझ कर उसकी स्तुति नहीं करते हैं ? ॥१२२॥

छद्मैव तच्छम्बरजं विसिन्यास्तत्पद्ममस्यास्तु भुजाग्रसद्म ।
उत्कण्टकादुद्गमनेन नालादुत्कण्टकं शातशिखैर्नखैर्यत् ॥१२३॥

तथा वर्षा के आने पर खञ्जन चले जाते हैं इस कारण जब उनकी प्रतिकूल ऋतु आने को होती है तब विधाता कहीं उनको छिपा देता है और उनका सार लेकर दमयन्ती के नेत्रों के सौन्दर्य को सब ऋतुओं में कायम रखता है ।

१—पुतलियाँ दो भ्रमर हैं । ये कमलों के विषय में तथा दमयन्ती के नेत्रों से उनकी भिन्नता के विषय में सब जानते हैं । जो कोई इनसे पूछेगा उसे इनसे निष्पक्ष उत्तर मिलेगा कि दमयन्ती के नेत्र बेहतर हैं ।

"जो कमल जल से पैदा होता है वह कमलिनी का छद्म है। सच्चा कमल दमयन्ती की भुजा के अग्र भाग में स्थित है। यह उत्कृष्ट नखों से कंटकित[1] है क्योंकि कंटकित नाल से निकला है ॥१२३॥

जागर्ति मर्त्येषु तुलार्थमस्या योग्येति योग्यानुपलम्भनं नः।
यद्यस्ति नाके भुवनेऽथ बाधस्तदा न कौतस्कुतलोकबाधः ॥१२४॥

"यदि यह प्रश्न किया जाय कि दमयन्ती के साथ तुलना के योग्य मर्त्य-लोक में कोई स्त्री है तो उसका कहीं न मिलना ही उत्तर है। अगर ऐसी स्त्री स्वर्ग या पाताल में है तो सब लोकों से आये हुए लोगों की भीड़ यहाँ नहीं होती ॥१२४॥

नमः करेभ्योऽस्तु विधेर्न वास्तु स्पृष्टं धियाऽप्यस्य न किं पुनस्तैः।
स्पर्शादिदं स्याल्लुलितं हि शिल्पं मनोभुवोऽनङ्गतयानुरूपम् ॥१२५॥

"विधाता के हाथों को हम नमस्कार करें या न करें क्योंकि उसकी बुद्धि ने भी इस शिल्प को स्पर्श नहीं किया। फिर हाथों से छूने का तो कहना ही क्या ? यह अत्यन्त मृदु शिल्प हाथ के स्पर्श से तो सचमुच बिगड़ जायगा। यह तो अङ्गहीन कामदेव के ही अनुरूप है ॥१२५॥

इमां न मृद्वीमसृजत् कराभ्यां वेधाः कुशाभ्यासनकर्कशाभ्याम्।
शृङ्गारधारां मनसा न शान्तिविश्रान्तिधन्वाध्वमहीरुहेण ॥१२६॥

"विधाता ने इस सुकुमार दमयन्ती को हाथों से नहीं बनाया क्योंकि हाथ कुशा धारण करने से कर्कश हो गये थे। इस शृङ्गार-धारा को मन से भी नहीं बनाया क्योंकि मन शान्ति रस की विश्रान्ति के लिए मरु देश के मार्ग का वृक्ष[2] है ॥१२६॥

१—मृणाल पर छोटे छोटे काँटे होते हैं। उससे कमल निकलता है इस कारण सच्चे कमल पर भी काँटे होने चाहिए। लेकिन जल में जो कमल पैदा होता है उसमें काँटे नहीं होते। दमयन्ती के हाथ में नख रूप काँटे हैं इससे यह सच्चा कमल है।

२—अर्थात् मन अत्यन्त नीरस और कठिन है। अत्यन्त कठिन मन से अत्यन्त सुकुमार दमयन्ती को कैसे बना सकता है ?

उल्लास्य धातुस्तुलिता करेण श्रोणौ किमेषा स्तनयोर्गुरुर्वा ।
तेनाऽन्तरालैस्त्रिभिरङ्गुलीनामुदीतमध्यत्रिवलीविलासा ॥१२७॥

"यह नितम्ब में तथा स्तनों में भारी है—यह जानने के लिए विधाता ने हाथ से उठाकर क्या इसकी तुलना करी ? इसी से क्या चारों उँगलियों के तीन अवकाशों से मध्य-देश में त्रिवली-विलास का उदय हो गया है ॥१२७॥

निजामृतोद्यन्नवनीतजाङ्गमेतां क्रमोन्मीलितपीतिमानम् ।
कृत्वेन्दुरस्या मुखमात्मनाभून्निद्रालुना दुर्घटमम्बुजेन ॥१२८॥

"चन्द्रमा इसे बनाकर स्वयं इसका मुख हो गया । उसने अपने अमृत से उत्पन्न नवनीत से इसके अङ्ग बनाये जिनमें क्रम से गौरता प्रकट हुई । यह काम [1]सङ्कोच-शील कमल से दुष्कर था ॥१२८॥

अस्याः स चारुर्मधुरेव कारुः श्वासं वितेने मलयानिलेन ।
अमूनि सूनैर्विदधेऽङ्गकानि चकार वाचं पिकपञ्चमेन ॥१२९॥

"वसन्त ही इसका सुन्दर शिल्पी था । उसने मलयानिल से इसका श्वास बनाया, फूलों से मृदु अङ्ग बनाये, पिक के पञ्चम से वाणी बनाई ॥१२९॥

कृतिः स्मरस्यैव न धातुरेषा नास्या हि शिल्पीतरकारुजेयः ।
रूपस्य शिल्पे वयसाऽपि वेधा निर्जीयते स स्मरकिङ्करेण ॥१३०॥

"यह कामदेव की बनावट है, विधाता की नहीं क्योंकि इसका शिल्पी अन्य शिल्पियों से जीता नहीं जा सकता । विधाता रूप के निर्माण में कामदेव के किंकर-वय[2] से जीता गया है ॥१३०॥

गुरोरपीमां भणदोष्ठकण्ठं निरुक्तिगर्वच्छिदया विनेतुम् ।
श्रयः स्मरस्यैव भवं विहाय मुक्तिं गतानामनुतापनाय ॥१३१॥

१—चन्द्रमा स्वयं दमयन्ती का मुख हो गया । वह कमल से भी मुख बना सकता था पर कमल मुरझा जाता क्योंकि सब अवयव चन्द्र-किरणों से बने थे ।

२—विधाता शैशव बनाता है । यौवन सौन्दर्य बनाता है । विधाता यौवन से न्यून है । यौवन कामदेव का किंकर है । इस कारण विधाता दमयन्ती को नहीं बना सका ।

"दमयन्ती का वर्णन करने वाले बृहस्पति के भी ओष्ठ-कण्ठ को अति सौन्दर्य के कारण वर्णन करने में अशक्त होने से गर्व का निराकरण करके विनीत करने को दमयन्ती का निर्माण कामदेव का ही है—विधाता का नहीं। संसार को छोड़ कर मुक्ति को प्राप्त हुए पुरुषों में परिताप पैदा करना भी कामदेव का ही काम है" ॥१३१॥

आख्यातुमक्षिव्रजसर्वपीतां भैमीं तदेकाङ्गनिखातदृक्षु।
गाथासुधाश्लेषकलाविलासैरलञ्चकाराऽऽननचन्द्रमिन्द्रः ॥१३२॥

उसके एक एक अवयव में दृष्टि को आरोपित करने वाले राजाओं के बीच में हजार नेत्रों से सब अवयव देखने वाले इन्द्र ने दमयन्ती का वर्णन करने के लिए श्लोक रूपी सुधा की अलङ्कार-विद्या के विलासों से अपने मुख-चन्द्र को अलंकृत किया ॥१३२॥

स्मितेन गौरी हरिणी दृशेयं वीणावती सुस्वरकण्ठभासा।
हेमेव कायप्रभयाङ्गशेषैस्तन्वी मतिं क्रामति मेनकाऽपि ॥१३३॥

"दमयन्ती मुसकुराहट से गौरी, नेत्रों से हरिणी, अत्यन्त मधुर स्वर के कण्ठ की शोभा से वीणावती, अङ्ग कान्ति से हेमा, तथा अवयवों के शेष भागों से मेनका होकर बुद्धि में आती है" ॥१३३॥

इति स्तुवानः सविधे नलेन विलोकितः शङ्कितमानसेन।
व्याकृत्य मर्त्योचितमर्थमुक्तेराखण्डलस्तस्य नुनोद शङ्काम् ॥१३४॥

इन्द्र ने नल के समीप इस प्रकार दमयन्ती की प्रशंसा की तब नल ने मन में शङ्का कर के उसे देखा। तब इन्द्र ने जो कुछ कहा था उसका अर्थ मनुष्यों में घटित होना प्रकट करके उसकी शङ्का दूर की ॥१३४॥

स्वं नैषधादेशमहो विधाय कार्यस्य हेतोरपि नानलः सन्।
किं स्थानिवद्भावमधत्त दुष्टं तादृक्कृतव्याकरणः पुनः सः ॥१३५॥

१—मनुष्यों में घटित अर्थ—मुसकुराहट से गौरी, नेत्रों से मृगी, कण्ठ की शोभा से वीणा बजाने वाली, शरीर-कान्ति से सुवर्ण से न्यून नहीं तथा अन्य अवयवों से सुन्दरी।

यह आश्चर्य है कि अपने को नल का आदेश बनाकर तथा अपने काम के लिए नल के अतिरिक्त अन्य कोई न होकर भी क्यों इन्द्र ऐसी व्याख्या देकर अपना स्वाभाविक दुष्ट आशय[१] धारण करता था ? ॥१३५॥

इयमियमधिरथ्यं याति नेपथ्यमञ्जु-
विंशति विशति वेदीमुर्वशी सेयमुर्व्याः।
इति जनजनितैः सानन्दनादैर्विजघ्ने
नलहृदि परभैमीवर्णनाकर्णनाप्तिः ॥१३६॥

"अलङ्कारों से रुचिर दमयन्ती उस मार्ग से जाती है। वह उर्वशी के समान सुन्दर है। अब स्वयम्वर-भूमि में प्रवेश करती है।" इस तरह लोगों से किये गये आनन्द-पूर्ण नाद से नल के हृदय में वर्तमान—दमयन्ती के वर्णन सुनने के—लाभ में विघ्न हो गया ॥१३६॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तर्केष्वप्यसमश्रमस्य दशमस्तस्य व्यरंसीन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥१३७॥

कविराजों की पंक्ति के मुकुटों के अलङ्कार रूप हीरे श्री हीर नामक पिता तथा मामल्ल देवी नामक माता ने जिस जितेन्द्रिय श्री हर्ष को जन्म दिया—जिसने तर्क में भी असामान्य अभ्यास किया था—उसके महाकाव्य सुन्दर नल-चरित में स्वभाव से सुन्दर दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१३७॥

एकादशः सर्गः

तां देवतामिव मुखेन्दुवसत्प्रसादा-
मक्ष्णा रसादनिमिषेण निभालयन्तीम्।

१—यद्यपि इन्द्र ने नल का रूप धारण कर लिया था पर वह नल के आचरण की शुद्धता से बहुत दूर था। उसने झूँठी व्याख्या देकर अपनी स्वाभाविक दुष्टता प्रकट की।

लाभाय चेतसि धृतस्य वरस्य भीम-
भूमीन्द्रजा तदनु राजसभां बभाज ॥१॥

इसके अनन्तर चित्तमें धारण किये गये वर के लाभ के लिए दमयन्ती उस राजसभा में इस प्रकार आई जैसे कोई दूसरे देवता के पास आता है। वहाँ उपस्थित राजाओं के मुख-चन्द्रों पर प्रसन्नता थी और वे अनुराग के कारण निमेष-रहित नेत्रों से दमयन्ती को देख रहे थे ॥१॥

तन्निर्मलावयवभित्तिषु तद्विभूषारत्नेषु च प्रतिफलन्निजदेहदम्भात्।
दृष्ट्या परं न हृदयेन न केवलं तैः सर्वात्मनैव सुतनौ युवभिर्ममज्जे॥२॥

वहाँ के युवक राजा दमयन्ती में केवल दृष्टि से अथवा केवल हृदय से निमग्न नहीं हुए किन्तु उसके निर्मल अंगों की भित्तियों में और भूषणों के रत्नों में प्रति-बिम्बित होने के कारण सब शरीरों से निमग्न हो गये ॥२॥

द्यामन्तरा वसुमतीमपि गाधिजन्मा
यद्यन्यमेव निरमास्यत नाकलोकम्।
चारुः स यादृगभविष्यदभूद्विमानै-
स्तादृक् तदभ्रमवलोकितुमागतानाम् ॥३॥

यदि विश्वामित्र पृथ्वी और स्वर्ग के बीच में कोई और स्वर्ग बनाते तो वह जितना सुन्दर होता उतना ही स्वयंवर देखने के लिए आये हुए देवताओं आदि के विमानों से स्वयंवर के ऊपर का आकाश मालूम हुआ ॥३॥

कुर्वद्भिरात्मभवसौरभसम्प्रदानं
भूपालचक्रचलचामरमारुतौघम्।
आलोकनाय दिवि सञ्चरतां सुराणां।
तत्राऽर्चनाविधिरभूदधिवासधूपैः ॥४॥

स्वयंवर देखने को आकाश में विचरते देवताओं की धूप के द्वारा पूजा की गई। वह धूप राजाओं के चामरों से उत्पन्न हुई वायु को भी सुगन्ध देती थी ॥४॥

तत्रावनीन्द्रचयचन्दनचन्द्रलेपनेपथ्यगन्धवहगन्धवहप्रवाहम्।
आलीभिरापतदनङ्गशरानुसारी संरुध्य सौरभमगाहत भृङ्गवर्गः॥

वहाँ राज-समूह के चन्दन-युक्त कर्पूर से किये गये अंग-राग की गंध से लदी हुई वायु के प्रवाह को अपनी पंक्ति से रोककर आकाश से गिरते फूलों के पीछे जाते भ्रमरों ने सुगन्धि का भोग किया ॥५॥

उत्तुङ्गमङ्गलमृदङ्गनिनादभङ्गी-
सर्वानुवादविधिबोधितसाधुमेधाः ।
सौधस्रजः प्लुतपताकतयाभिनिन्यु-
र्मन्ये जनेषु निजताण्डवपण्डितत्वम् ॥६॥

मंगल के मृदंग की अत्यन्त ऊँची ध्वनि के प्रतिशब्द से गंभीरता युक्त सफ़ेद गृहों की पंक्तियाँ उड़ती हुई पताकाओं से आदमियों को अपने नृत्य की चतुरता दिखाती थीं ॥६॥

सम्भाषणं भगवती सदृशं विधाय
वाग्देवता विनयबन्धुरकन्धरायाः ।
ऊचे चतुर्दशजगज्जनतानमस्या
तत्राश्रिता सदसि दक्षिणपक्षमस्याः ॥७॥

चौदह लोकों में वन्दित भगवती सरस्वती दमयन्ती के साथ बातचीत करके राज-सभा में उसके दक्षिण की ओर खड़ी होकर बोली। दमयन्ती के कंधे उस समय विनय के कारण झुक रहे थे ॥७॥

अभ्यागमन्मखभुजामिह कोटिरेषा
येषां पृथक्कथनमब्दशतातिपाति ।
अस्यां वृणीष्व मनसा परिभाव्य कञ्चि-
द्यं चित्तवृत्तिरनुधावति तावकीना ॥८॥

"दमयन्ती, स्वयंवर में करोड़ों देवता आए हैं, उनका जुदा जुदा वर्णन सौ वर्ष में भी पूरा नहीं होगा; इस कारण मन में विचार कर जिसकी अभिलाषा तुम्हारा चित्त करता हो उसके साथ विवाह कर लो ॥८॥

एषां त्वदीक्षणरसादनिमेषतैषा
स्वाभाविकानिमिषता[illegible]

उद्वृत्वरामृतकरार्धपरार्ध्यभालां
बालामभाषत सभासततप्रगल्भा ॥१६॥

सभा में अत्यन्त प्रगल्भ तथा वाणी के समस्त विस्तार को मुनि जिसका परिणाम (Evolution) बतलाते हैं ऐसी सरस्वती ने उदयाचल पर स्थित अर्ध-चन्द्र के समान मस्तक वाली दमयन्ती से कहा— ॥१६॥

आश्लेषलग्नगिरिजाकुचकुङ्कुमेन
यः पट्टसूत्रपरिरम्भणशोणशोभः ।
यज्ञोपवीतपदवीं भजते स शम्भोः
सेवासु वासुकिरयं प्रसितः सितश्रीः ॥१७॥

"आलिङ्गन से पार्वती का कुच कुङ्कुम जिसमें लग गया था ऐसे पट्टसूत्र के सम्बन्ध से लाल शोभा वाले तथा महादेव की सेवा में आसक्त यह श्वेत वासुकि है जो महादेव के यज्ञोपवीत की शोभा धारण करते हैं ॥१७॥

पाणौ फणी भजति कङ्कणभूयमैशे सोऽयं मनोहरमणिरमणीयमुच्चैः ।
कोटीरबन्धनधनुर्गुणयोगपट्टव्यापारपारगममुं भज भूतभर्तुः ॥१८॥

"दमयन्ती, यह वासुकि महादेव के हाथ पर कङ्कण होकर रहते हैं। यह अत्यन्त मनोहर मणियों से शोभायमान है। तुम इनको स्वीकार करो। यह शिव जी के जटा-जूट बन्धन, धनुष की प्रत्यञ्चा तथा योग-पट्ट में काम आते हैं ॥१८॥

धृत्वैकया रसनयामृतमीश्वरेन्दो-
रप्यन्यया त्वदधरस्य रसं द्विजिह्वः ।
आस्वादयन् युगपदेष परं विशेषं
निर्णेतुमेतदुभयस्य यदि क्षमः स्यात् ॥१९॥

"एक जिह्वा से महादेव के चन्द्रमा के अमृत का स्वाद लेकर तथा दूसरी से तुम्हारे अधर का रस लेकर और दोनों को एक समय पीकर यदि कोई उनका तारतम्य निश्चित करने में समर्थ हो सकता है तो वह यही है ॥१९॥

१—योग के समय धारण किये जाने वाला वस्त्र।

आशीविषेण रदनच्छददंशदानमेतेन ते पुनरनर्थतया न गण्यम् ।
बाधां विधातुमधरे हि न तावकीने पीयूषसारघटिते घटतेऽस्य शक्तिः॥२०॥

"तालु में विष से युक्त वासुकि के द्वारा अधर खण्डन को तुम अनर्थ न समझना क्योंकि तुम्हारे—अमृत के सार से बने हुए—अधरमें बाधा करने के लिए उनको शक्ति नहीं है" ॥२०॥

तद्विस्फुरत्फणविलोकनभूतभीतेः
कम्पं च वीक्ष्य पुलकं च ततोऽनु तस्याः ।
सञ्जातसात्विकविकारधियः स्वभृत्यान्
नृत्यान्न्यषेधदुरगाधिपतिर्विलक्षः ॥२१॥

अपने फैले हुए फणों के दर्शन से उत्पन्न भयवाली दमयन्ती के कम्प और रोमाञ्च देखकर और इन गात्र-विकारों को अपने स्वामी वासुकि के प्रति प्रेम-सूचक सात्विक भाव समझ कर नाचते हुए अपने भृत्यों को वासुकि ने लज्जित होकर नृत्य से रोका ॥२१॥

तद्दर्शिभिः स्ववरणे फणिभिर्निराशै-
र्निःश्वस्य तत् किमपि सृष्टमनात्मनीनम् ।
यत् तान् प्रयातुमनसोऽपि विमानवाहा
हा हा प्रतीपपवनाशकुनान्न जग्मुः ॥२२॥

वासुकि के अतिरिक्त अन्य सर्पों ने अपने वरण से निराश हो निःश्वास लेकर अपना अहित किया क्योंकि उन सर्पों के पास जाते हुए भी वाहक निःश्वास की प्रतिकूल वायु के अशकुन से हा हा करके आगे नहीं बढ़े ॥२२॥

सङ्कुचत्फणगणादुरगप्रधानात् तां राजसङ्घमनयन्त विमानवाहाः।
सन्ध्यानमद्दलकुलात् कमलाद्द्वितीय कह्लारमिन्दुकिरणा इव हासभासम् ॥२३॥

फन सकुचाते हुए वासुकि को छोड़कर वाहक उसे राज-समूह में लाए जैसे चन्द्रमा की किरणें संध्या-समय अपने दलों को सङ्कुचित करने वाले कमलों की दीप्ति लेकर कुमुद को देती हैं ॥२३॥

देव्याभ्यधायि भव भीरु ! धृतावधाना
भूमीभुजो ! भजत भीमभुवो निरीक्षाम् ।

आलोकितामपि पुनः पिबतां दृशैना-
मिच्छापि गच्छति न वत्सरकोटिभिर्वः ॥२४॥

फिर सरस्वती ने कहा—"भीरु, तुम सावधान होओ। राजाओ, तुम दम-यन्ती का दर्शन करो। इसको देखकर भी तुम्हारी फिर देखने की इच्छा करोड़ों वर्ष में भी पूरी नहीं होगी ॥२४॥

लोकेशकेशवशिवानपि यश्चकार
शृङ्गारसान्तरभृशान्तरशान्तभावान्।
पञ्चेन्द्रियाणि जगतामिषुपञ्चकेन
संक्षोभयन् वितनुतां वितनुर्मुदं वः ॥२५॥

"जिस कामदेव ने शृंगार रस से ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु के मन की शान्ति को भी दूर कर दिया वह पाँचों बाणों से लोकों की पाँचों इन्द्रियों में विकार पैदा करके आपको हर्ष दे ॥२५॥

पुष्पेषुणा ध्रुवमसूनिषुवर्षजन्मिहुङ्कारमन्त्रबलभस्मितशान्तशक्तीन्।
शृङ्गारसर्गरसिकद्व्यणुकोदरि! त्वं द्वीपाधिपान्नयनयोर्नय गोचरत्वम् ॥२६॥

"हे शृंगाररस उद्दीप्त करने में रसिक—दो अणुओं के समान—कृश उदर वाली, तुम इन द्वीपाधिपों को नयन-गोचर करो। बाण छोड़ते में कामदेव ने हुंकार रूप मंत्र जपकर उसके प्रभाव से इनकी शान्ति-शक्ति को नष्ट कर दिया ॥२६॥

स्वादूदके जलनिधौ सवनेन सार्धं
भव्या भवन्तु तव वारिविहारलीलाः।
द्वीपस्य तं पतिममुं भज पुष्करस्य
निस्तन्द्रपुष्करतिरस्करणक्षमाक्षि! ॥२७॥

"हे खिले हुए कमल के विजय करने में समर्थ नेत्रवाली, मधुर जलवाले समुद्र में इस सवन नामक राजा के साथ तुम्हारी रमणीक जल-क्रीड़ा हो। इस कारण तुम इस पुष्कर द्वीप के पति—के साथ विवाह करो ॥२७॥

सावर्तभावभवदद्भुतनाभिकूपे!
स्वर्भौममेतदुपवर्तनमात्मनैव

स्वाराज्यमर्जयसि न श्रियमेतदीया-
मेतद्गृहे परिगृहाण शचीविलासम् ॥२८॥

"हे आवर्त के कारण आश्चर्य पैदा करनेवाले नाभि–कूप से युक्त दमयन्ती, इस सवन का देश पृथ्वी पर स्वर्ग है। क्या तुम इसके स्वर्गराज्य की प्राप्ति नहीं करोगी? तुम इसके घर में शची के विलास को ग्रहण करो ॥२८॥

देवः स्वयं वसति तत्र किल स्वयम्भू-
र्न्यग्रोधमण्डलतले हिमशीतले यः।
स त्वां विलोक्य निजशिल्पमनन्यकल्पं
सर्वेषु कारुषु करोतु करेण दर्पम् ॥२९॥

"पुष्कर द्वीप में वटवृक्षों के–हिमाचल के समान शीतल–मंडप के तले ब्रह्मा स्वयं रहता है। वह तुमको अपना अनन्यशिल्प देखकर सब शिल्पियों के मध्यमें अपने हाथ पर गर्व करेगा ॥२९॥

न्यग्रोधनादिव दिवः पतदातपादे-
र्न्यग्रोधमात्मभरधारमिवावरोहैः।
तं तस्य पाकिफलनीलदलद्युतिभ्यां
द्वीपस्य पश्य शिखिपत्रजमातपत्रम् ॥३०॥

"दमयन्ती, तुम उस वटवृक्ष को देखो जो अपने पके लाल फलों और नीले पत्तों की कान्ति से उस द्वीप के–मोर पंखों के बने–छत्र के समान है। आकाश से गिरे आतप को नीचे रोक लेने के कारण ही उसका नाम न्यग्रोध[1] हुआ है। वह शाखाओं में से उत्पन्न हुई जड़ों से अपने भार को स्वयं धारण करता है ॥३०॥

न श्वेततां चरतु वा भुवनेषु राज-
हंसस्य न प्रियतमा कथमस्य कीर्तिः?।
चित्रं तु यद्विशदिमाद्वयमादिशन्ती
क्षीरं च ताम्बु च मिथः पृथगातनोति ॥३१॥

1—न्यग्रोध = वट; नीचे से रोकनेवाला।

"इस राजहंस की प्रियतमा कीर्त्ति श्वेत क्यों नहीं हो अथवा तीनों लोकों में क्यों जाय ? परन्तु आश्चर्य है कि यह कीर्त्ति सब वस्तुओं को श्वेत करके भी क्षीर और जल को एक दूसरे से [1]अलग नहीं करती" ॥३१॥

शूरेऽपि सूरपरिषत्प्रथमार्चितेऽपि
शृङ्गारभङ्गिमधुरेऽपि कलाकरेऽपि ।
तस्मिन्नवद्यमियमाप तदेव नाम
यत्कोमलं न किल तस्य नलेति नाम ॥३२॥

यद्यपि यह शूर था, विद्वानों की सभा में इसकी गणना पहले होती थी, संगति आदि कलाओं का स्थान था और शृंगार-रचना से मधुर था तो भी इस में दमयन्ती ने यही दूषण पाया कि इस सवन का कोमल नाम नल नहीं है ॥३२॥

भ्रूवल्लिवेल्लितमथाकृतिभङ्गिमेषा लिङ्गं चकार तदनादरणस्य विज्ञा ।
राज्ञोऽपि तस्य तदलाभजतापवह्नेश्चिह्नीबभूव मलिनच्छविभूमधूमः ॥३३॥

तब समझदार दमयन्ती ने सवनके अनादर का चिन्ह भ्रूलता की चेष्टा रूप आकृति बिगाड़ कर किया । राजा की मलिन कान्ति का धूम भी दमयन्ती के अलाभ से उत्पन्न हुई अग्नि का चिन्ह हुआ ॥३३॥

राजान्तराभिमुखमिन्दुमुखीमथैनां जन्या जनीं हृदयवेदितयैव निन्युः ।
अन्यानपेक्षितविधौ न खलु प्रधानवाचां भवत्यवसरः सति भव्यभृत्ये॥३४॥

फिर यान-वाहक चन्द्र-मुखी दमयन्ती का केवल आशय जानकर उसे दूसरे राजा के पास ले गये क्योंकि जिनको किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं है ऐसे कुशल सेवक होने पर स्वामी के वचनों को अवसर ही नहीं मिलता ॥३४॥

ऊचे पुनर्भगवती नृपमन्यमस्मै
निर्दिश्य दृश्यतमतावमताश्विनेयम् ।
आलोक्यतामयमये ! कुलशीलशाली
शालीनतानतमुदस्य निजास्यबिम्बम् ॥३५॥

१—हंस क्षीर और जल को अलग कर देता है पर इस राजा का यशरूप हंस उनको अलग नहीं करता ।

भगवती सरस्वती ने सौन्दर्य के कारण अश्विनी-कुमारों को जीतनेवाले एक राजा को दिखाकर कहा—"दमयन्ती, लज्जा से नम्र हुए अपने मुख को उठा कर कुल शील से शोभायमान इस राजा को देखो ।।३५।।

एतत्पुरःपठदपश्रमवन्दिवृन्द-
वाग्डम्बरैरनवकाशतरेऽम्बरेऽस्मिन् ।
उत्पत्तुमस्ति पदमेव न मत्पदाना-
मर्थोऽपि नार्थपुनरुक्तिषु पातुकानाम् ।।३६।।

"दमयन्ती, इसके सामने बिना श्रम के पढ़ते हुए बन्दियों के वचन-विलास के कारण इस वायुमण्डल में मेरे कुछ कहने के लिए अवकाश ही नहीं है। मेरे शब्दों का कुछ अर्थ भी नहीं होगा। वे केवल पुनरुक्त होंगे ।।३६।।

नन्वत्र हव्य इति विश्रुतनाम्नि शाक-
द्वीपप्रशासिनि सुधीषु सुधीभवन्त्या ।
एतद्भुजाविरुदबन्दिजयानयापि
किं रागि राजनि गिराजनि नान्तरं ते ।।३७।।

"दमयन्ती, तुम्हारा मन इस शाकद्वीप के हव्यराज की भुजाओं के प्रताप के स्तुति—पाठकों की वाणी से क्या इसमें अनुरक्त नहीं हुआ? इनकी वाणी पण्डितों को अमृत के समान है ।।३७।।

शाकः शुकच्छदसमच्छविपत्रमाल-
भारी हरिष्यति तरुस्तव तत्र चित्तम् ।
यत्पल्लवौघपरिरम्भविजृम्भितेन
ख्याता जगत्सु हरितो हरितः स्फुरन्ति ।।३८।।

"शाकद्वीप में तोते के पङ्ख के समान कान्ति वाले पत्तों की माला धारण करता शाक नामक वृक्ष तुम्हारा चित्त हरेगा। उसके पत्तों के सम्बन्ध से दिशाएँ हरी होकर हरित्[१] कहाती हैं ।।३८।।

स्पर्शेन तत्र किल तत्तरुपत्रजन्मा यन्मारुतः कमपि संमदमादधाति ।
कौतूहलं तदनुभूय विधेहि भूयः श्रद्धां पराशरपुराणकथान्तरेऽपि ।।३९।।

१—हरित् = हरी, दिशाओं का नाम भी हरित् है।

"शाकद्वीप में शाक के पत्तों से उत्पन्न हुई वायु के स्पर्श से अपूर्व हर्ष प्राप्त होता है। उसका अनुभव करके तुम पराशर[1] पुराण के आख्यान में भी श्रद्धा करोगी ॥३९॥

क्षीरार्णवस्तव कटाक्षरुचिच्छटाना-
मन्वेतु तत्र विकटायितमायताक्षि ! ।
वेलावनीवनततिप्रतिबिम्बचुम्बी
किर्मीरितोर्मिचयचारिमचापलाभ्याम् ।४०॥

"हे विशाल नयने, क्षीर समुद्र वेला-भूमि में वन-पंक्ति के प्रति बिम्ब से विचित्र हुई तरङ्गों को सुन्दरता तथा चञ्चलता से तुम्हारे कटाक्ष की कान्ति की छटा के विलास का अनुकरण करता है ॥४०॥

कल्लोलजालचलनोपनतेन पीवा
जीवातुनानवरतेन पयोरसेन ।
अस्मिन्नखण्डपरिमण्डलितोरुमूर्ति-
रध्यास्यते मधुभिदा भुजगाधिराजः ॥४१॥

"उस क्षीर-समुद्र में तरङ्गों से चलायमान होने से पास आए—जीवन के औषध-भूत—बहुत से दुग्ध-रस से परिपुष्ट तथा सर्वदा अपनी मूर्ति कुण्डलाकार रखते शेषनाग के ऊपर विष्णु निवास करते हैं ॥४१॥

त्वद्रूपसम्पदवलोकनजातशङ्का
पादाब्जयोरिह कराङ्गुलिलालनेन ।
भूयाच्चिराय कमला कलितावधाना
निद्रानुबन्धमनुरोधयितुं धवस्य ॥४२॥

"वहाँ क्षीर-समुद्र में तुम्हारी रूप सम्पत्ति को देखकर शङ्का-युक्त हुई लक्ष्मी चरण-कमलों को उँगलियों से दाब दाब कर बहुत देर तक विष्णु की निद्रा[2] बढ़ाने के लिए सावधान होगी ॥४२॥

१—विष्णु-पुराण से आशय है जिसमें यहाँ की वायु का हवाला दिया गया है।
२—लक्ष्मी को सन्देह होगा कि कहीं विष्णु तुम पर आसक्त न हो जाँय इस कारण वह उनकी निद्रा की वृद्धि करेगी जिससे विष्णु तुमको न देख सकें।

बालातपैः कृतकगैरिकतां कृतां द्विस्तत्रोदयाचयशिलाः परिशीलयन्तु ।
त्वद्विभ्रमभ्रमणजश्रमवारिधारिपादाङ्गुलीगलितया नखलाक्षयापि ॥४३॥

"वहाँ उदयाचल की शिलाएँ बाल-सूर्यकी किरणों से तथा तुम्हारे नखों की महावर से दो तरह की गैरिकता का अनुभव करें । तुम्हारे विलास-पूर्वक वन-विहार से पैरों की उँगलियों में पसीना आ जायगा और उनमें से महावर निकलेगी ॥४३॥

नॄणां करम्बितमुदामुदयन्मृगाङ्क-
शङ्कां सृजत्वनघजङ्घि ! परिभ्रमन्त्याः ।
तत्रोदयाद्रिशिखरे तव दृश्यमास्यं
काश्मीरसम्भवसमारचनाभिरामम् ॥४४॥

"हे सुन्दर-जङ्घि, वहाँ जब तुम उदयाचल के शिखर पर भ्रमण करोगी तब तुम्हारा—कुङ्कुम की रचना से रमणीय—सुन्दर मुख हृष्ट मनुष्यों को उदय होते चन्द्रमा की शङ्का पैदा करेगा ॥४४॥

एतेन ते विरहपावकमेत्य तावत्
कामं स्वनाम कलितान्वयमन्वभावि ।
अङ्गीकरोषि यदि तत्तव नन्दनाद्यै-
र्लब्धान्वयं स्वमपि नन्वयमातनोतु ॥४५॥

"दमयन्ती, इस राजाने तुम्हारी विरहाग्नि प्राप्त करके अनुभव किया कि इसका हव्य नाम [1]अन्वय-युक्त है । अब अगर तुम इसको अङ्गीकार कर लोगी तो तुम्हारे पुत्रों और कन्याओं के कारण यह अपने को भी अन्वय[2] युक्त समझेगा" ॥४५॥

लक्ष्मीलतासमवलम्बभुजद्रुमेऽपि वाग्देवतायतनमञ्जुमुखाम्बुजेऽपि ।
सामुत्र दूषणमजीगणदेकमेव नार्थी बभूव मघवा यदमुष्य देवः ॥४६॥

१—अग्नि में जो हवन किया जाय उसे हव्य कहते हैं । जब हव्य ने देखा कि दमयन्ती की कामाग्नि उसे भस्म कर रही है तब उसने अपना नाम सार्थक समझा ।

२—वंश से युक्त ।

लक्ष्मी रूपलता का आधार जिसका बाहुरूप वृक्ष है तथा जिसका सुन्दर मुख सरस्वती के रहने का स्थान है ऐसे हव्य राजा में भी दमयन्ती ने एक दूषण पाया कि इन्द्र उसका याचक नहीं हुआ ॥४६॥

लक्ष्मीविलासवसतेः सुमनःसु मुख्या-
दस्माद्विकृष्य भुवि लब्धगुणप्रसिद्धिम् ।
स्थानान्तरं तदनु निन्युरिमां विमान-
वाहाः पुनः सुरभितामिव गन्धवाहाः ॥४७॥

विमान-वाहक लक्ष्मी-विलास के आकर तथा पण्डितों में मुख्य हव्य राजा से हटाकर पृथ्वी पर गुणों से प्रसिद्ध हुई दमयन्ती को अन्य राजा के पास इस तरह ले गये जैसे वायु पुष्पों में मुख्य तथा लक्ष्मी-विलास के स्थान कमल से सुगन्धि को अन्यत्र ले जाता है ॥४७॥

भूयस्ततो निखिलवाङ्मयदेवता सा
हेमोपमेयतनुभासमभाषतैनाम् ।
एनं स्वबाहुबहुवारनिवारितारिं
चित्ते कुरुष्व कुरुविन्दसकान्तिदन्ति ! ॥४८॥

तब सरस्वती सुवर्ण के समान कान्तिवाली दमयन्ती से बोली—"हे माणिक्य के समान दन्तवाली, अपनी बाहुओं से अनेक बार शत्रुओं का निवारण करने वाले इस राजा को तुम अपने चित्त में धारण करो ॥४८॥

द्वीपस्य पश्य दयितं द्युतिमन्तमेतं
क्रौञ्चस्य चञ्चलदृगञ्चलविभ्रमेण ।
यन्मण्डले स खलु मण्डलसंनिवेशः
पाण्डुश्चकास्ति दधिमण्डपयोधिपूरः ॥४९॥

"तुम क्रौञ्च द्वीप के पति द्युतिमान् नामक तेजस्वी राजा को अपने चञ्चल नेत्रों के कटाक्ष से देखो । इसके राज्य में चारों तरफ सफेद दधि-मण्ड संज्ञक समुद्र का गोल प्रवाह शोभायमान है ॥४९॥

तत्राद्रिरस्ति भवदङ्घ्रिविहारसाक्षी
क्रौञ्चः स्फुरिष्यति गुणानिव यस्त्वदीयान् ।

हंसावलीकलकलप्रतिनादवाग्भिः
स्कन्देषुवृन्दविवरैर्विवरीतुकामः ॥५०॥

"वहाँ क्रौञ्च पर्वत तुम्हारे चरणोंके विहारकी प्रर्थना करता है। यह कार्त्तिकेय के बाणोंसे बनाये गये छिद्रोंसे आए हंसोंके प्रतिशब्द रूपवाणी वाले वाले मुखोंसे तुम्हारे गुणोंका वर्णन करना चाहता है ॥५०॥

वैदर्भि ! दर्भदलपूजनयापि यस्य
गर्भे जनः पुनरुदेति न जातु मातुः।
तस्यार्चनां रचय तत्र मृगाङ्कमौले-
स्तन्मात्रदैवतजनाभिजनः स देशः ॥५१॥

"दमयन्ती, जिनको कुशा के दलसे पूजा करने पर भी मनुष्य माता के गर्भमें फिर कभी नहीं जाता है उन शिव की पूजा करो, क्योंकि उस देश में वही लोग उत्पन्न होते हैं जो केवल शिव की पूजा करते हैं ॥५१॥

चूडाग्रचुम्बिमिहिरोदयशैलशीलस्तेनाः स्तनन्धयसुधाकरशेखरस्य।
तस्मिन् सुवर्णरसभूषणरम्यहर्म्यभूभृद्घटा घटय हेमघटावतंसाः ॥५२॥

"वहाँ बालचन्द्र को शिर पर धारण करने वाले शिव के लिए सुवर्ण-रस से भूषित रमणीक मन्दिरोंकी परम्परा, पर्वतोंके समान, बनाओ जिनके ऊपर स्वर्ण-कलश लगे हों और जो शिखर पर स्थित सूर्य से युक्त उदयाचल के स्वरूपको चुराते हों ॥५२॥

तस्मिन् मलिम्लुच इव स्मरकेलिजन्मघर्मोदबिन्दुमयमौक्तिकमण्डनं ते।
जालैर्मिलन्दधिमहोदधिपूरलोलकल्लोलचामरमरुत्तरुणि! च्छिनत्तु ॥५३॥

"हे तरुणि, उस प्रदेशमे चोर की तरह खिड़कियों से आकर, दधि-मण्ड समुद्रके प्रवाहों के कल्लोल रूप चामरोंकी वायु तुम्हारे काम के लिये पैदा हुए स्वेद-बिन्दु रूप मौक्तिक-मंडल को मिटावे ! ॥५३॥

एतद्यशो नवनवं खलु हंसवेषं
वेशन्तसन्तरणदूरगमक्रमेण

१—हंसों का शब्द ही पर्वत की वाणी है। कार्तिकेय के बाणों से बनाए गए छेद ही पर्वत के मुख हैं जिनके द्वारा वह दमयन्ती की स्तुति का गान करेगा।

अभ्यासमर्जयति सन्तरितुं समुद्रान्
गन्तुं च निःश्रममितः सकलान् दिगन्तान् ॥५४॥

हंसके आकारके समान प्रतिदिन अपूर्व होता इसका यश समुद्रों को तैरने के लिए सरोवरों पर तैरने और दूर जानेका अभ्यास करता है वहाँसे वह सब दिगन्तरों में विना श्रम के यात्रा करेगा" ॥५४॥

तस्मिन् गुणैरपि भृते गणनादरिद्रै-
स्तन्वी न सा हृदयबन्धमवाप भूपे ।
दैवे निरुन्धति निबन्धनतां वहन्ति
हन्त प्रयासपरुषाणि न पौरुषाणि ॥५५॥

उस असंख्य गुणों से पूर्ण राजामें भी दमयन्ती की अभिलाषा पूरी नहीं हुई । भाग्य काममें विघ्न गेरे तब प्रयास से दुःसह पौरुष भी कार्य पूरा होने का कारण नहीं होता ॥५५॥

ते निन्यिरे नृपतिमन्यमिमाममुष्मा-
दंसावतंसशिबिकांशभृतः पुमांसः ।
रत्नाकरादिव तुषारमयूखलेखां
लेखानुजीविपुरुषा गिरिशोत्तमाङ्गम् ॥५६॥

कंधों पर पालकी को भूषण के समान धारण करने वाले वाहक दमयन्ती को इस राजाके पाससे अन्य राजाके पास इस तरह लेगये जैसे देवता रूपी सेवक चन्द्र-कलाको समुद्रसे शिवके मस्तक पर लेगये थे ॥५६॥

एकैकमद्भुतगुणं धुतदूषणं च
हित्वान्यमन्यमुपगत्य परित्यजन्तीम् ।
एनां जगाद जगदञ्चितपादपद्मा
पद्मामिवाच्युतभुजान्तरविच्युतां सा ॥५७॥

त्रिलोक-वन्दित चरण-कमल वाली सरस्वतीने अद्भुत-गुण-युक्त दूषण-रहित एक-एक राजा को छोड़ कर अन्यान्य राजा के पास जाती हुई—विष्णुके वक्षःस्थलसे मानो अलग हुई लक्ष्मी के समान—दमयन्तीसे कहा ॥५७॥

ईशः कुशेशयसनाभिशये ! कुशेन
द्वीपस्य लाञ्छिततनोर्यदि वाञ्छितस्ते ।
ज्योतिष्मता सममनेन वनीघनासु
तत्त्वं विनोदय घृतोदतटीषु चेतः ॥५८॥

"हे कमलों के समान हाथ वाली, यदि कुश से चिन्हित द्वीप का स्वामी तुम्हारा अभीष्ट हो तो उस ज्योतिष्मान् राजा के साथ घनी छाया वाले घृत-समुद्र के तटोंपर चित्त का विनोद करो ॥५८॥

वातोर्मिदोलनचलद्दलमण्डलाग्र-
भिन्नाभ्रमण्डलगलज्जलजातसेकः ।
स्तम्बः कुशस्य भवितास्म्बरचुम्बिचूड-
श्चित्राय तत्र तव नेत्रनिपीयमानः ॥५९॥

"दमयन्ती, वहाँ जिसकी शिखा आकाश तक पहुच गई है तथा वायु के चलने से चंचल हुए पत्र रूपी खड्गों से भिन्न किये गये मेघ-मंडल से झरे हुए जल से जिसकी सिंचाई हुई है ऐसी—तुम्हारे नेत्रोंसे आदर-पूर्वक देखनेके लायक—कुशा की क्यारी आश्चर्य पैदा करेगी ॥५९॥

पाथोधिमाथसमयोत्थितसिन्धुपुत्रीपत्पङ्कजार्पणपवित्रशिलासु तत्र ।
पत्या सहावह विहारमयैर्विलासैरानन्दमिन्दुमुखि! मन्दरकन्दरासु ॥६०॥

"हे चन्द्र-मुखी, वहाँ तुम मंदर की कंदराओं में पति के साथ विहारमय विलासों से आनन्द प्राप्त करना । समुद्र के मन्थन के समय निकली हुई लक्ष्मी के चरण-कमलों से उनके शिला-तल पवित्र हो गये हैं ॥६०॥

आरोहणाय तव सज्ज इवास्ति तत्र
सोपानशोभित्रपुरश्मवलिच्छटाभिः ।
भोगीन्द्रवेष्टशतघृष्टिकृताभिरब्धि-
क्षुब्धाचलः कनककेतकगोत्रगात्रि ! ॥६१॥

"हे सुनहरी केतकके समान शरीर वाली, वहाँ समुद्र का मंथन करने वाला मंदराचल तुम्हारे आरोहण करने के लिए सजा हुआ है । उसमें वासुकि के

सौ बार लिपटने के कारण घिसने से उत्पन्न हुई लकीरें मानों सोपान के समान हैं ॥६१॥

मन्थानगः स भुजगप्रभुवेष्टघृष्टिलेखावलब्धजलनिर्झरवारिधारः ।
त्वन्नेत्रयोः स्वभरयन्त्रितशीर्षशेषशेषाङ्गवेष्टिततनुभ्रममातनोतु ॥६२॥

"दमयन्ती, वासुकि के उसपर लिपटने से घिसजाने के कारण उत्पन्न हुई गोल लकीरों में सफेद पानीकी धाराओं से वह मंदराचल तुम्हारे नेत्रों को अपने भार से आक्रान्त मस्तक वाले शेषनाग के बचे हुए अंग से शरीर लिपट जाने का भ्रम[२] पैदा करेगा ॥६२॥

एतेन ते स्तनयुगेन सुरेभकुम्भौ
पाणिद्वयेन दिविषद्द्रुमपल्लवानि ।
आस्येन स स्मरतु नीरधिमन्थनोत्थं
स्वच्छन्दविन्दुमपि सुन्दरि ! मन्दराद्रिः ॥६३॥

"सुन्दरी, उस मंदराचल को अपने दोनों स्तनों से ऐरावत के कुंभ का, हाथों से कल्पवृक्ष के पल्लवका तथा मुख से चन्द्रमा का यथेच्छ स्मरण करने दो। ये सब समुद्र-मंथन के समय निकले थे" ॥६३॥

वेदैर्वचोभिरखिलैः कृतकीर्तिरत्ने
हेतुं विनैव धृतनित्यपरार्थयत्ने ।
मीमांसयेव भगवत्यमृतांशुमौलौ
तस्मिन् महीभुजि तयानुमतिर्न भेजे ॥६४॥

सब लोकों ने वेद के समान सत्यवचनों से जिसके कीर्त्ति-रत्न की स्तुति की है तथा जो विना ही कारण उपकार करने का यत्न करता था उस राजा में दमयन्ती अनुमत नहीं हुई जैसे पूर्व मीमांसा— चारों वेदों में महावाक्यों से जिनके कीर्ति रत्नकी स्तुति की गई है तथा जो विना कारण ही परोपकार का यत्न करते हैं उन—भगवान् शिव को अंगीकार नहीं करती है ॥६४॥

१—जब दमयन्ती देखेगी कि मंदराचल पर बनी हुई धाराओंमें पानी भरा हुआ है तब उसे ऐसा मालूम होगा मानों वह पर्वत सफेद शेष नागकी कुण्डली से घिरा है।

तस्मादिमां नरपतेरपनीय तन्वीं
राजन्यमन्यमथ जन्यजनः स निन्ये ।
स्त्रीभावधावितपदामविमृश्य याच्ञा-
मर्थी निवर्त्य विधनादिव वित्तवित्तम् ॥६५॥

तब वाहक स्त्री स्वभावके कारण आगे पैर रखती हुई दमयन्तीको उस राजा के पाससे हटाकर अन्य राजा के पास लेगये जैसे याचक निर्धन मनुष्य से अपनी याञ्चा हटाकर धनी से कहते हैं ॥६५॥

देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा
वागालपत्पुनरिमां गरिमाभिरामाम् ।
अस्यारिनिष्कृपकृपाणसनाथपाणेः
पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम् ॥६६॥

विष्णु का वामभाग शोभित करने वाली सरस्वती गौरव से रमणीय दमयन्ती से बोली–"दमयन्ती, शत्रुओं पर कृपा-हीन तथा हाथ में खड्ग धारण करने वाले इस राजा के साथ विवाह करके इसके गुण गणोंको ग्रहण करो ॥६६॥

द्वीपस्य शाल्मल इति प्रथितस्य नाथः
पाथोधिना वलयितस्य सुराम्बुनायम् ।
अस्मिन् वपुष्मति न विस्मयसे गुणाब्धौ
रक्ता तिलप्रसवनासिकि ! नासि किं वा ॥६७॥

हे तिलके फूलके समान नासिका वाली, मदिरा रूपी जलके समुद्रसे घिरे हुए शाल्मल द्वीप का यह पति है ! यह गुणोंका समुद्र है । इसका सुन्दर शरीर है। इसका नाम वपुष्मान् है । क्या इस राजा में तुमको कुछ अद्भुत नहीं दिखता ! ॥६७॥

विप्रे धयत्युदधिमेकतमं त्रसत्सु
यस्तेषु पञ्चसु बिभाय न सीधुसिन्धुः ।
तस्मिन्ननेन च निजालिजनेन च त्वं
सार्धं विधेहि मधुना मधुपानकेलीः ॥६८॥

"अगस्त्य ने जब एक समुद्र पीने की इच्छा की तब पाँचों समुद्रों में डर पैदा हो गया पर सुरा के समुद्र को डर नहीं लगा क्योंकि ब्राह्मण सुरा नहीं पीते हैं। तुम इस अक्षय समुद्र में इस राजा के तथा अपनी सखियों के साथ मधु-पान क्रीड़ा करो ॥६८॥

द्रोणः स तत्र वितरिष्यति भाग्यलभ्य-
सौभाग्यकार्मणमयीमुपदां गिरिस्ते ।
तद्वीपदीप इव दीप्तिभिरोषधीनां
चूडामिलज्जलदकज्जलदर्शनीयः ॥६९॥

"वहाँ द्रोण पर्वत भाग्य से लभ्य वशीकरण औषध रूप भेंट तुमको देगा। औषधों की दीप्ति से वह पर्वत उस द्वीप के दीप के समान है और शिखरों से संलग्न मेघ रूप काजल से सुन्दर लगता है ॥६९॥

तद्वीपलक्ष्मपृथुशाल्मलितूलजालैः
क्षोणीतले मृदुनि मारुतचारुकीर्णैः ।
लीलाविहारसमये चरणार्पणानि
योग्यानि ते सरससारसकोशमृद्वि ! ॥७०॥

"हे नये कमल कोष के समान सुकुमार अङ्ग वाली, इस द्वीप के चिह्न—बड़े शाल्मली वृक्ष—के हवा से फैलाए कार्पास-समूहों से सुकुमार पृथ्वी पर लीला-विहार के समय तुम्हें चरण रखना योग्य है" ॥७०॥

एतद्गुणश्रवणकालविजृम्भमाण-
तल्लोचनाञ्चलनिकोचनसूचितस्य ।
भावस्य चक्रुरुचितं शिबिकाभृतस्ते
तामेकतः क्षितिपतेरपरं नयन्तः ॥७१॥

वाहकों ने इस राजा के गुण सुनने के समय जँभाई लेती हुई दमयन्ती के नेत्र-प्रान्त के सङ्कुचित होने से सूचित हुए अभिप्राय के योग्य व्यापार किया कि वे उसे इस राजा के पास से अन्य राजा के पास ले गये ॥७१॥

तां भारती पुनरभाषत नन्वमुष्मिन्
काश्मीरपङ्कनिर्मलनजमातुराते ।

श्रीखण्डलेपमयदिग्जयकीर्तिराजि-
राजद्भुजे भज महीभुजि भैमि ! भावम् ॥७२॥

सरस्वती फिर बोली—"दमयन्ती, तुम इस राजा से अनुराग करो। इसमें कुङ्कुम के अङ्गलेप के बहाने प्रजा का अनुराग व्याप्त है तथा इसकी भुजाएँ चन्दन के अङ्गलेप के बहाने दिशाओं के विजय से उत्पन्न हुई कीर्ति परम्परा से शोभायमान हैं ॥७२॥

द्वीपं द्विपाधिपतिमन्दपदे ! प्रशास्ति
प्लक्षोपलक्षितमयं क्षितिपस्तदस्य।
मेधातिथेस्त्वमुरसि स्फुर स्पृष्टसौख्या
साक्षाद्यथैव कमला यमलार्जुनारेः ॥७३॥

"हे मत्त मातङ्ग के समान मन्द गमन करने वाली, यह राजा पाकड़ के वृक्षों से युक्त प्लक्ष द्वीप का शासक है। इस मेधातिथि नामक राजा के हृदय के आलिङ्गन से तुम उसी तरह शोभा पाओ जैसे विष्णु के हृदय में लक्ष्मी प्राप्त करती है ॥७३॥

प्लक्षे महीयसि महीवलयातपत्रे
तत्रेक्षिते खलु तवापि मतिर्भवित्री।
खेलां विधातुमधिशाखविलम्बिदोला-
लोलाखिलाङ्गजनताजनितानुरागे ॥७४॥

"वहाँ पृथ्वी के छत्र रूप पाकड़ के वृक्ष को देखकर तुम्हारा भी बुद्धि झूला झूलने को होगा। उसकी शाखाओं में गिरे झूलों में अङ्गों को इधर उधर झुलाने वाले मनुष्य उस वृक्ष से अनुराग करते हैं ॥७४॥

पीत्वा तवाऽधरसुधां वसुधासुधांशु-
र्न श्रद्धधातु रसमिक्षुरसोदवाराम्।
द्वीपस्य तस्य दधतां परिवेषवेषं
सोऽयं चमत्कृतचकोरचलाचलाक्षि ! ॥७५॥

"हे डरे हुए चकोर के समान चञ्चल नेत्र वाली, यह पृथ्वी का चन्द्रमा

मेधातिथि तुम्हारी अधर-सुधा पीकर अपने द्वीप के चारो तरफ फैले हुए इक्षु-रस के समुद्रों के स्वाद की अभिलाषा नहीं करेगा ॥७५॥

सूरं न सौर इव नेन्दुमवीक्ष्य तस्मिन्
नाश्नाति यस्तदितरत्रिदशानभिज्ञः।
तस्यैन्दवस्य भवदास्यनिरीक्षयैव
दर्शेऽश्नतोऽपि न भवत्यवकीर्णिभावः ॥७६॥

"इस द्वीप में प्रजा चन्द्रमा की भक्त है और चन्द्रमा के दर्शन के बिना भोजन नहीं करती है क्योंकि चन्द्रमा के अतिरिक्त देवताओं को वह नहीं जानती जैसे सूर्य के भक्त सूर्य के अतिरिक्त अन्य देवताओं को नहीं जानते तथा सूर्य के दर्शन के बिना भोजन नहीं करते। वहाँ चन्द्रमा से रहित अमावास्या के दिन भी तुम्हारे मुख-चन्द्र के दर्शन के कारण उनके व्रत का टूटना नहीं होगा ॥७६॥

उत्सर्पिणी न किल तस्य तरङ्गिणी या
त्वन्नेत्रयोरहह तत्र विपाशि जाता।
नीराजनाय नवनीरजराजिरास्ता-
मत्राऽजसानुरज राजनि राजमाने ॥७७॥

"इस द्वीप की विपाट नाम की नदी वर्षाकाल में अपने तट से बाहर नहीं निकलती—यह आश्चर्य है! उस नदी में उत्पन्न हुई कमल-पंक्ति तुम्हारे नेत्र-कमलों की नीराजन हो! इस उज्ज्वल राजा में तुम शीघ्र अनुराग करो ॥७७॥

एतद्यशोभिरखिलेऽम्बुनि सन्तु हंसा
दुग्धीकृते तदुभयव्यतिभेदमुग्धाः।
क्षीरे पयस्यपि पदे द्वयवाचिभूयं
नानार्थकोषविषयोऽस्य मृषोद्यमस्तु ॥७८॥

"सब पानी इसके यश से दुग्ध हो जाने के कारण हंस क्षीर और नीर के विवेक के विषय में मूर्ख रहें। नानार्थ कोष में क्षीर और पय को दोनों का वाचक कहा है। आज तुम इसको मिथ्या करो ॥७८॥

ब्रूमः किमस्य नलमप्यलमाजुहूषोः
कीर्तिं स चैष च समादिशतः स्म कर्तुम् ।
स्व द्वीपसीमसरिदीश्वरपूरपार-
वेलाचलाक्रमणविक्रममक्रमेण ॥७९॥

"दमयन्ती, इसके विषय में मैं तुम से क्या कहूँ ? क्योंकि यह नल के साथ भी स्पर्धा करता है । नल और मेधातिथि ने साथ साथ अपनी कीर्ति को अपने अपने [1]द्वीपों की सीमाओं पर स्थित समुद्रों के दूसरे पार के पर्वत पर चढ़ने के पराक्रम के लिए आदेश दिया था" ॥७९॥

अम्भोजगर्भरुचिराथ विदर्भसुभ्रू-
स्तं गर्भरूपमपि रूपजितत्रिलोकम् ।
वैराग्यरूक्षमवलोकयति स्म भूपं
दृष्टिः पुरत्रयरिपोरिव पुष्पचापम् ॥८०॥

कमल के मध्य के समान दमयन्ती ने सौन्दर्य से तीनों लोकों को जीतने वाले तथा वयःसन्धि में वर्तमान उस युवक राजा को भी वैराग्य से दे देखा जैसे महादेव की दृष्टि ने काम को देखा था ॥८०॥

ते तां ततोऽपि चक्षुर्जगदेकदीपा-
दंसस्थलस्थितसमानविमानदण्डाः ।
चण्डद्युतेरुदयिनीमिव चन्द्रलेखां
सोत्कण्ठकैरववनीसुकृतप्ररोहाः ॥८१॥

तुल्य-विमान-दण्ड धारी वाहक दमयन्ती को तेजस्वी होने से जगत् के एक ही दीपक उस राजा के पास से हटा ले गए जैसे कुमुदों के उत्कण्ठित [2]पुण्याङ्कुर सूर्य से उदय होने वाली चन्द्र-रेखा का आकर्षण करते हैं ॥८१॥

१—जम्बू द्वीप तथा प्लक्ष द्वीप ।

२—अमावास्या की रात्रि को चन्द्रमा सूर्य में प्रवेश करता है और शुक्ल पक्ष में क्रम से वहाँ से निकलता है । यहाँ उत्प्रेक्षा की गयी है कि चन्द्रोदय पर विकास पाने वाला कुमुद अपने पुण्यों की बदौलत सूर्य में से चन्द्रमा को निकालता है ।

भूपेषु तेषु न मनागपि दत्तचित्ता
विस्मेरया वचनदेवतया तयाथ ।
वाणीगुणोदयतृणीकृतपाणीवीणा-
निक्वाणया पुनरभाणि मृगेक्षणा सा ॥८२॥

दमयन्तीने उन राजाओंमें जराभी चित्त नहीं लगाया । इससे विस्मित हुई तथा वाणी के गुणों से हाथमें रक्खी वीणा का स्वर जीतने वाली सरस्वती ने फिर कहा— ॥८२॥

यन्मौलिरत्नमुदितासि स एष जम्बू-
द्वीपस्त्वदर्थमिलितैर्युवभिर्विभाति ।
दोलायितेन बहुना भवभीतिकम्प्रः
कन्दर्पलोक इव खात्पतितस्त्रुटित्वा ॥८३॥

"दमयन्ती, यह जम्बूद्वीप है जिसके शिखर की तुम रत्न मालूम होती हो। इसमें तुम्हारे उद्देश्य से युवक एकत्रित हुए हैं जो ऐसे मालूम होते हैं मानो महादेव के डरसे काँपते झूले से टूटकर आकाशमें कंदर्प-लोक आ गिरा हो ॥८३॥

विष्वग्वृतः परिजनैरयमन्तरीपैस्तेषामधीश इव राजति राजपुत्रि! ।
हेमाद्रिणा कनकदण्डमहातपत्रः कैलासरश्मिचयचामरचक्रचिह्नः ॥८४॥

"राज-कुमारी, सब ओर अन्तरीपों से घिरा रहनेके कारण यह जम्बूद्वीप उनका राजा मालूम होता है । मेरु इसका सुवर्ण दंडका बड़ा छत्र है तथा कैलाससे निकला किरण-समूह इसके चामर-चक्रका चिन्ह है ॥८४॥

एतत् तरुस्तरुणि ! राजति राजजम्बूः
स्थूलोपलानिव फलानि विमृश्य यस्याः ।
सिद्धस्त्रियः प्रियमिदं निगदन्ति दन्ति-
यूथानि केन तरुमारुरुहुः पथेति ॥८५॥

"हे तरुणी, इसका चिन्ह राज-जंबू वृक्ष है जिसके बड़े बड़े पत्थरों समान फलों को देखकर सिद्धों की स्त्रियाँ अपने पतियों से कहती हैं कि

प्रिय ! ये हाथियोंके समूह किस मार्ग से जम्बू वृक्षपर आरूढ़ हुए ? ॥८५॥

जाम्बूनदं जगति विश्रुतिमेति मृत्स्ना
कृत्स्नापि सा तव रुचा विजितश्रि यस्याः ।
तज्जाम्ब्ववद्रवभवास्य सुधाविधाम्बु-
र्जम्बूसरिद्वहति सीमनि कम्बुकण्ठि ! ॥८६॥

"हे शंख के समान तीन रेखाओं से युक्त कंठवाली, जंबू नदी जंबूद्वीप की सीमापर बहती है । वह जामुनों के रस से उत्पन्न हुई है और उसका जल अमृत के समान है । उस नदी की सब मिट्टी—जिसकी शोभा तुमने अपनी कान्ति से जीत ली है—सुवर्ण के नाम से प्रसिद्ध है ॥८६॥

अस्मिञ्जयन्ति जगतीपतयः सहस्र-
मस्रास्रुसाद्ररिपुतद्वनितेषु तेषु ।
रम्भोरु ! चारु कतिचित्तव चित्तबन्ध-
रूपाि रूपय मुदाहमुदाहरामि ॥८७॥

"इस द्वीपमें हजारों राजा वर्तमान हैं । हे रम्भोरु, रक्त रूपी अश्रुओं से भीगे शत्रुओं तथा उनकी स्त्रियोंसे युक्त अत्यन्त शूर राजाओं के बीचमें से मैं कुछ राजाओं को बतलाती हूँ जिनके सौन्दर्य से तुम आकृष्ट हो जाओगी । उन्हें तुम हर्ष से देखो ॥८७॥

प्रत्यर्थियौवततवतंसतमालमालो-
न्मीलत्तमःप्रकरतस्करशौर्यसूर्ये ।
अस्मिन्नवन्तिनृपतौ गुणसन्ततीनां
विश्रान्तिधामनि मनो दमयन्ति ! किं ते ॥८८॥

"दमयन्ती, गुणों के विश्रान्ति-स्थान अवन्ती के राजापर क्या तुम्हारा मन चलता है ? यह शत्रुओंकी तरुणियोंकी आभूषण हुई तमाल-माला रूप अंधकारके समूहके विनाशक शौर्य रूप सूर्य से युक्त है । ॥८८॥

तत्रानुतीरवनवासितपस्विविप्रा
शिप्रा तवोर्मिभुजया जलकेलिकाले ।

आलिङ्गनानि ददती भविता वयस्या
हास्यानुबन्धरमणीयसरोरुहास्या ॥८९॥

"वहाँ अवन्ति में शिप्रा नदी तुम्हीं सखी होगी। उसके तीर के पावन वनों में तपस्वी तथा ब्राह्मण रहते हैं। वह जल-क्रीड़ा के समय तरंग रूपी हाथों से तुम्हें आलिंगन देगी। उसका कमल के समान मुख निरंतर हास्यसे रमणीय है ॥८९॥

अस्याधिशय्य पुरमुज्जयिनीं भवानी
जागर्ति या सुभगयौवतमौलिमाला।
पत्याऽर्धकायघटनाय मृगाक्षि! तस्याः
शिष्या भविस्यसि चिरं वरिवस्ययापि ॥९०॥

"मृगाक्षी, सुभग स्त्री-वृंद की मौली-माला पार्वती इस राजाकी उज्जयिनी में अधिष्ठित होकर रहती है। तुम पार्वती की सेवासे अपने पतिके अर्ध शरीर की रचनामें भी शिष्या होगी ॥९०॥

निःशङ्कमङ्कुरिततां रतिवल्लभस्य
देवः स्वचन्द्रकिरणामृतसेचनेन।
तत्रावलोक्य सुदृशां हृदयेषु रुद्र-
स्तद्देहदाहफलमाह स किं न विद्मः ॥९१॥

"उज्जयिनी में महादेव अपने चन्द्रमा की किरणों की सुधा की सिंचाई स्त्रियोंके हृदयोंमें कामदेवका निःशंक प्रादुर्भाव देखकर कामदेवके देहके दाहसे क्या प्रयोजन बतलाते हैं- यह हमें नहीं मालूम ॥९१॥

आगःशतं विदधतोऽपि समिद्धकामा
नाधीयतो परुषमक्षरमस्य वामाः।
चान्द्री न तत्र हरमौलिशयालुरेका-
ऽनध्यायहेतुतिथिकेतुरपैति लेखा ॥९२॥

सैकड़ों अपराध करने वाले इस राजाके कामसे व्याकुल स्त्रियाँ निठुर

अक्षर नहीं कहतीं क्योंकि महादेवके मस्तकपर स्थित प्रतिपदा[1] के चिन्ह चन्द्रमा की एक कला तो उस नगरी से जाती ही नहीं है। इससे उनका निष्ठुर अक्षर कहने में अनध्याय होता है" ॥९२॥

भूपं व्यलोकत न दूरतरानुरक्तं
सा कुण्डिनावनिपुरन्दरनन्दिनी तम्।
अन्यानुरागविरसेन विलोकनाद्वा
जानामि सम्यगविलोकनमेव रम्यम् ॥९३॥

दमयन्ती ने उस अत्यन्त अनुरक्त राजा को भी नहीं देखा। अन्य में अनुराग होने के कारण विना रस के देखने से नहीं देखना अच्छा है ॥९३॥

भैमीङ्गितानि शिबिकामधरे वहन्तः
साक्षान्न यद्यपि कथञ्चन जानते स्म।
जज्ञुस्तथापि सविधस्थितसम्मुखीन-
भूपालभूषणमणिप्रतिबिम्बितेन ॥९४॥

पालकी को नीचे से उठाने वाले वाहक यद्यपि दमयन्ती की चेष्टा प्रत्यक्ष रूपसे किसी प्रकार नहीं जानते थे तो भी वे सामने बैठे हुए राजाओं के रत्नादि में प्रतिबिम्ब पड़ने से जान लेते थे ॥९४॥

भैमीमवापयत जन्यजनस्तदन्यं
गङ्गामिव क्षितितलं रघुवंशदीपः।
गाङ्गेयपीतकुचकुम्भयुगां च हार-
चूडासमागमवशेन विभूषितां च ॥९५॥

दमयन्ती के दोनों कुच सुवर्ण के समान पीले थे तथा उसके कंठ में मोतियों का हार और शिर पर आभूषण थे। वाहक उसे अन्य राजा के पास इस तरह लाये जैसे भागीरथ गंगा को भूमि पर लाये थे। गंगा के कुचों का

१— आशय यह है कि चन्द्रमा के सदा सामने रहने से कामाग्नि प्रज्वलित रहती है जिससे स्त्रियाँ अपने पतियों के सब अपराध क्षमा कर देती हैं।

भीष्म ने पान किया था तथा वह शिव के शिर के साथ समागम होने से अलंकृत थी ॥९५॥

तां सत्स्यलाञ्छनदराञ्छितचापभासा
नीराजितभ्रुवमभाषत भाषितेशा।
व्रीडाजडे! किमपि सूचय चेतसा चेत्
क्रीडारसं वहसि गौडविडौजसीह ॥९६॥

सरस्वती ने दमयन्ती से कहा, जिसकी भौंहें कामदेव के जरा खेंचे गये धनुष की कान्ति से चमक उठी थीं—"हे लज्जा के कारण अप्रगल्भ, इस गौड़देशाधीश के साथ यदि तुम्हारे मन में क्रीड़ा-रस के उपभोग करने की इच्छा है तो कटाक्ष से मुझे बताओ ॥९६॥

एतद्यशोभिरमलानि कुलानि भासां
तथ्यं तुषारकिरणस्य तृणीकृतानि।
स्थाने ततो वसति तत्र सुधाम्बुसिन्धौ
रङ्कुस्तदङ्कुरवनीकवलाभिलाषात् ॥९७॥

"दमयन्ती, इसके यश ने चन्द्रमा की किरणों के निर्मल कुलों को तृण बना दिया है। इस कारण यह ठीक ही है कि एक मृग—सुधारूपी जल के समुद्र—चन्द्रमा में तृण के अंकुरों के ग्रास की अभिलाषा से रहता है ॥९७॥

आलिङ्गितः कमलवत्करकस्त्वयाऽयं
श्यामः सुमेरुशिखयेव नवः पयोदः।
कन्दर्पमूर्धरुहमण्डनचम्पकस्रग्-
दामत्वदङ्गरुचिकञ्चुकितश्चकास्तु ॥९८॥

"दमयन्ती, यह—कमल[1] से युक्त हाथवाला तथा श्याम—राजा कामदेव के केशों को भूषित करनेवाली चंपा की माला के समान तुम्हारे अंग की रुचि से व्याप्त होकर जलरूप ओलों से युक्त नीले तथा सुमेरु-शिखा से संबद्ध नये बादल के समान शोभायमान होगा ॥९८॥

१—अर्थात् हाथ में कमल की रेखा से युक्त।

एतेन सम्मुखमिलत्करिकुम्भमुक्ताः
कौक्षेयकाभिहतिभिर्विबभुर्विमुक्ताः ।
एतद्भुजोष्मभृशनिःसहया विकर्णाः
प्रस्वेदबिन्दव इवारिनरेन्द्रलक्ष्मया ॥९९॥

"दमयन्ती, इस राजा के द्वारा खड्ग-प्रहार से कुंभ-स्थलों के भीतर से गिराए गए—संग्राम में सम्मुख आए—हाथियों के मोती इसके बाहु-प्रताप को सहन करने में असमर्थ होकर शत्रु-राजाओं की लक्ष्मी से विसृष्ट किये गये स्वेद-बिन्दु से मालूम हुए ॥९९॥

आश्चर्यमस्य ककुभामवधीनवाप-
दाजानुगाद्भुजयुगादुदितः प्रतापः ।
व्यापत्सदाशयविसारितसप्ततन्तु-
जन्मा चतुर्दश जगन्ति यशःपटश्च ॥१००॥

"इसके घुटने तक पहुँचती भुजाओं से उदय हुआ प्रताप दिशाओं की सीमा तक पहुँचा है तथा पवित्र हृदय से किये गये यज्ञों से उत्पन्न हुआ यशः-पट चौदह लोकों में व्याप्त हो गया है—यह कैसा आश्चर्य है" ॥१००॥

औदास्यसंविदवलम्बितशून्यमुद्रा-
मस्मिन् दृशोर्निपतितामवगम्य भैम्याः ।
स्वेनैव जन्मजनतान्यमजीगमत् तां
सुज्ञं प्रतीङ्गितविभावनमेव वाचः ॥१०१॥

दमयन्ती की इस राजा पर फेंकी गई दृष्टि की उदासीनता से प्रेम-हीनता का चिह्न जानकर वाहक अपने आपही उसे अन्य राजा के पास ले गये। समझदार मनुष्यों के लिए चेष्टा जानना ही उपदेश है ॥१०१॥

एतां कुमारनिपुणां पुनरप्यभाणी-
द्वाणी सरोजमुखि ! निर्भरमारभस्व ।
अस्मिन्नसङ्कुचितपङ्कजसख्यशिक्षा-
निष्णातदृष्टिपरिरम्भविजृम्भितानि ॥१०२॥

सरस्वती ने कुमारी तथा निपुण दमयन्ती से फिर कहा—"हे सरोज-मुखी, इस राजा पर खिले हुए कमल के समान दृष्टि के आलिंगन के विलासों का भलीभाँति अभ्यास करो ॥१०२॥

प्रत्यर्थिपार्थिवपयोनिधिसाथमन्थ-
पृथ्वीधरः पृथुरयं मथुराधिनाथः।
अस्मश्रुजातमनुयाति न शर्वरीशः
श्यामाङ्ककर्बुरवपुर्वदनाब्जमस्य ॥१०३॥

"दमयन्ती, यह मथुरा का राजा पृथु है। जैसे मंदर पर्वत ने समुद्र का मंथन किया था उसी तरह यह शत्रु-राजाओं का मंथन करता है। चन्द्रमा इसके दाढ़ी से हीन मुख-चन्द्र का अनुकरण नहीं कर सकता क्योंकि उसका शरीर कलंक से चितकबरा हो रहा है ॥१०३॥

बालेऽधराधरितनैकविधप्रवाले!
पाणौ जगद्विजयकार्मणमस्य पश्य।
ज्याघातजेन रिपुराजकधूमकेतु-
तारायमाणमुपरज्य मणिं किणेन ॥१०४॥

"हे अधर से अनेक प्रकार के विद्रुमों को जीतने वाली, हे बाले, तुम इस राजा के हाथ में संसार के जीतने के रत्न को देखो जो प्रत्यंचा के आघात से काला होकर शत्रु राजाओं के लिए [1]धूम्रकेतु है ॥१०४॥

एतद्भुजारणिसमुद्भवविक्रमाग्नि-
चिह्नं धनुर्गुणकिणः खलु धूमलेखा।
जातं ययारिपरिषन्मशकार्थयाश्रु-
विश्राणनाय रिपुदारदृगम्बुजेभ्यः ॥१०५॥

"प्रत्यंचा से उत्पन्न हुआ निशान इसकी भुजारूप अरणि से उत्पन्न हुई

१—कलाई पर धारण किया गया रत्न तारा है तथा ज्या-घात से उत्पन्न हुआ निशान उस तारे की पूँछ है जिसे धूमकेतु कहते हैं।

प्रतापाग्नि का चिन्ह धूम-लेखा है जिसने शत्रुओं की स्त्रियों के नेत्रों से आँसू गिराये हैं क्योंकि वह शत्रु-संघरूप मच्छर मारने में सफल हुई है ॥१०५॥

श्यामीकृतां मृगमदैरिव माथुरीणां
धौतैः कलिन्दतनयामधिमध्यदेशम् ।
तत्राप्तकालियमहाह्रदनाभिशोभां
रोमावलिमिव विलोकयितासि भूमेः ॥१०६॥

"वहाँ मध्यदेश में यमुना को तुम पृथ्वी की रोमावली के समान देखोगी। वह ऐसी मालूम होगी मानो मथुरा की स्त्रियों के कपड़ों से धुली हुई कस्तूरी से श्याम हो गई है तथा कालिय सर्पराज का महा ह्रद मानो उसकी नाभि है॥१०६॥

गोवर्धनाचलकलापिचयप्रचार-
निर्वासिताहिनि घने सुरभिप्रसूने ।
तस्मिन्ननेन सह निर्विश निर्विशङ्कं
वृन्दावने वनविहारकुतूहलानि ॥१०७॥

"दमयन्ती, वहाँ सुगंधित फूलों से व्याप्त वृन्दावन में तुम इस राजा के साथ बिना शंका के वन विहार के कौतुक का भोग करो। गोवर्धन पर्वत पर रहनेवाले मयूरों के संचार के कारण सर्प वृन्दावन को छोड़ गये हैं ॥१०७॥

भावी करः कररुहाङ्कुरकोरकोऽपि
तद्वल्लिपल्लवचये तव सौख्यलक्ष्यः ।
अन्तस्त्वदास्यहृतसारतुषारभानु-
शोकानुकारिकरिदन्तजकङ्कणाङ्कः ॥१०८॥

"दमयन्ती, वृन्दावन के लता-किसलयों के बीच में नखरूपी अंकुर तथा कलियाँ धारण करनेवाला तुम्हारा हाथ अनायास सुख प्राप्त करेगा क्योंकि हाथी-दाँत का कंकण तुम्हारे हाथ का चिन्ह होगा जो चन्द्रमा के आकार का मालूम होगा जिसके बीच में से तुम्हारे मुख के निर्माण के लिए श्रेष्ठ भाग निकाल दिया गया है ॥१०८॥

तज्जः श्रमाम्बु सुरतान्तमुदा नितान्त-
मुत्कण्टके स्तनतटे तव सञ्चरिष्णुः ।

खञ्जन् प्रभञ्जनजनः पथिकः पिपासुः
पाता कुरङ्गमदपङ्किलमप्यशङ्कम् ॥१०९॥

"दमयन्ती, वृन्दावन में उत्पन्न हुई प्यासी वायु कस्तूरी से पंकिल हुए पसीने को निःशंक होकर पी लेगी। वह सुख का अवसान होने के हर्ष से रोमाञ्चित हुए तुम्हारे स्तनों पर संचरण करेगी तथा अधिक वृक्ष होने के कारण मंद होकर सदा मार्ग में रहेगी ॥१०९॥

पूजाविधौ मखभुजामुपयोगिनो ये
विद्वत्कराः कमलनिर्मलकान्तिभाजः ।
लक्ष्मीमनेन दधतेऽनुदिनं वितीर्णै-
स्ते हाटकैः स्फुटवराटकगौरगर्भाः ॥११०॥

"पंडितों के हाथ देवताओं की पूजा में तत्पर रहते हैं। संकल्प के जल से उनकी निर्मल कान्ति है तथा हथेली बीज-कोष के समान सफेद है। ऐसे हाथ इस राजा के द्वारा प्रतिदिन दिये गये सुवर्ण से शोभा धारण करते हैं ॥११०॥

वैरिश्रियं प्रतिनियुद्धमनाप्नुवन्यः
किञ्चिन्न तृप्यति धरावलयैकवीरः ।
स त्वामवाप्य निपतन्मदनेषुवृन्द-
स्यन्दीनि तृप्यतु मधूनि पिबन्निवायम् ॥१११॥

"पृथ्वी पर यह एक ही वीर है। शत्रु-राजाओं की राज-लक्ष्मी के लिए उनके साथ निरंतर युद्ध न करने से इसे जरा भी तृप्ति नहीं है। तुम्हें विवाह करके अब यह इस प्रकार तृप्ति प्राप्त करे मानों यह बराबर गिरते हुए कामदेव के बाणों से रिसते मधु का पान करता हो!" ॥१११॥

तस्मादियं क्षितिपतिक्रमगम्यमान-
मध्वानमैक्षत नृपादवतारिताक्षी ।
तद्भावबोधबुधतां निजचेष्टयैव
व्याचक्षते स्म शिबिकानयने नियुक्ताः ॥११२॥

उस राजा से दृष्टि हटाकर दमयन्ती मार्ग देखने लगी जिस पर राजा को

क्रम से आते जाते थे। वाहक अपनी चेष्टा से ही उसका आशय जानकर पालकी अन्यत्र ले गये ॥११२॥

भूयोऽपि भूपमपरं प्रति भारती तां
त्रस्यच्चमूरुचलचक्षुषमाचचक्षे।
एतस्य काशिनृपतेस्त्वमवेक्ष्य लक्ष्मी-
मक्ष्णोः सुखं जनय खञ्जनमञ्जुनेत्रे ! ॥११३॥

डरे हुए हिरन के समान चंचल नेत्रवाली दमयन्ती से सरस्वती ने फिर कहा—"हे खंजन के समान सुन्दर नेत्रवाली, तुम इस काशिराज के शरीर की कान्ति देखकर नेत्रों को सुख दो ॥११३॥

एतस्य सावनिभुजः कुलराजधानी
काशी भवोत्तरणधर्मतरिः स्मरारेः।
यामागता दुरितपूरितचेतसोऽपि
पापं निरस्य चिरजं विरजीभवन्ति ॥११४॥

"काशी संसार-समुद्र तरने के लिए महादेव की धर्म-नौका है। यह इस राजा की कुल-राजधानी है। काशी में आकर बड़े-बड़े पापी भी अपने चिरकाल संचित पाप को दूर करके शुद्ध हो जाते हैं ॥११४॥

आलोक्य भाविविधिकर्तृकलोकसृष्टि-
कष्टानि रोदिति पुरा कृपयैव रुद्रः।
नामेच्छयेति मिषमात्रमधत्त यत्तां
संसारतारणतरीमसृजत् पुरीं सः ॥११५॥

"महादेव ब्रह्मा की बनाई हुई लोक-सृष्टि के होने वाले दुःख देखकर पहले करुणा के कारण रो दिये थे। जब पूछा गया तब उन्होंने बहाने से कहा कि तुमने मेरा नाम नहीं रक्खा था इसी वजह से मैं रोता हूँ। उन्हीं महादेव (=रुद्र=रोने वाले) ने इस पुरी को संसार समुद्र से पार जाने के लिए नौका बनाया है ॥११५॥

वाराणसी निविशते न वसुन्धरायां
तत्र स्थितिर्मखभुजां भुवने निवासः।

तत्तीर्थमुक्तवपुषामत एव मुक्तिः
स्वर्गात् परं पदमुदेतु मुदे तु कीदृक् ॥११६॥

"काशी पृथ्वी पर नहीं है। उसमें रहना स्वर्ग में रहना है। इसी कारण उसके तीर्थों में शरीर छोड़ने वालों को मोक्ष[1] मिलता है। अन्य किस प्रकार मनुष्यों के आमोद के लिए स्वर्ग से बढ़कर पद मिल सकता है ? ॥११६॥

सायुज्यमृच्छति भवस्य भवाब्धियाद-
स्तां पत्युरेत्य नगरीं नगराजपुत्र्याः।
भूताभिधानपटुमद्यतनीमवाप्य
भीमोद्भवे ! भवति भावमिवास्तिधातुः ॥११७॥

"दमयन्ती, संसार—समुद्र के जन्तु इस नगरी में आकर सत्यका उपदेश करने में समर्थ महादेव के साथ एकता को प्राप्त होते हैं जैसे "अस्ति" धातु भूतकाल के अर्थ में लुङ् विभक्ति प्राप्त करके भू हो जाती है ॥११७॥

निर्विश्य निर्विरति काशिनिवासि भोगान्
निर्माय नर्म च मिथो मिथुनं यथेच्छम्।
गौरीगिरीशघटनार्धिकमेकभावं
शर्मोर्मिकञ्चुकितमञ्चति पञ्चतायाम् ॥११८॥

"काशी में रहने वाले स्त्री-पुरुष आपस में अनुराग—सहित भोगों का अनुभव करके तथा यथेच्छ वचन-विहार आदि की क्रीड़ा करके प्राणान्त के समय पार्वती और शिवकी आधे आधे अंग की एकता से भी अधिक सुख-परंपरा से युक्त शिव के साथ पूर्ण एकता को प्राप्त होते हैं ॥११८॥

न श्रद्दधासि यदि तन्मम मौनमस्तु
कथ्या निजाप्ततमयैव तवानुभूत्या।
न स्यात् कनीयसितरा यदि नाम काश्या
राजन्वती मुदिरमण्डनधन्वना भूः ॥११९॥

"दमयन्ती, यदि तुम मेरे वचनों पर विश्वास नहीं करती हो तो मैं ...

1—काशी में मरने से सीधा मोक्ष प्राप्त होता है जो स्वर्ग से बढ़कर है।

हूं पर तुम्हीं अपनी आन्तरिक भावना से कहो कि मेघ मंडल का भूषण-धनुष धारण करने वाले इन्द्र की राजधानी अमरावती काशी से हीन नहीं है क्या ! ॥११९॥

ज्ञानाधिकासि सुकृतान्यधिकाशि कुर्याः
कार्यं किमन्यकथनैरपि यत्र मृत्योः ।
एकं जनाय सतताभयदानमन्य-
द्धन्ये ! वहत्यमृतसत्रमवारितार्थि ॥१२०॥

"हे पुण्यवती दमयन्ती, तुम्हारा ज्ञान बड़ा उत्कृष्ट है । तुम काशी में पुण्य करो । अधिक कहने से क्या लाभ ? काशी में मृत्यु होने से लोगों को अभयदान मिलता है जो अमर होने का आश्रय है । वहाँ भागीरथी रूप दूसरा भी साधन है जो याचकों का कभी निवारण नहीं करता ॥१२०॥

भूभर्तुरस्य रतिरेधि मृगाक्षि ! मूर्ता
सोऽयं तवास्तु कुसुमायुध एव मूर्तः ।
भातं च ताविव पुरा गिरिशं विराद्ध-
माराद्धुमाशु पुरि तत्र कृतावतारौ ॥१२१॥

"हे मृगनयनी, इस राजा की तुम साक्षात् रति होओ और यह राजा साक्षात् कामदेव हो ! तुम दोनों कामदेव और रति के समान शोभायमान होओ जिससे मालूम हो कि पहले क्रोधित हुए महादेव को शीघ्र प्रसन्न करने के लिए काशी में कामदेव और रति ने अवतार लिया है ॥१२१॥

कामानुशासनशते सुतरामधीती सोऽयं रहो नखपदैर्महतु स्तनौ ते ।
अद्रिजाचरणकुङ्कुमपङ्करागसङ्कीर्णशङ्करशशाङ्ककलङ्ककारैः ॥१२२॥

"दमयन्ती, इस राजाने कामदेव के सैकड़ों अनुशासनों का अध्ययन किया है । ये नखों के निशानों से तुम्हारे स्तनों को मंडित करे ! ये निशान भी पार्वती के चरणों के केशर की रक्तता से मिले हुए शंकर की चन्द्रकला से स्पर्धा करेंगे ॥१२२॥

पृथ्वीश एष नुदतु त्वदनङ्गताप-
मालिङ्ग्य कीर्तिचयचामरचारुचापः ।
सङ्ग्रामसङ्गतविरोधिशिरोधिदण्ड-
खण्डिक्षुरप्रसरसंप्रसरन् प्रतापः ॥१२३॥

"इस राजा का आलिंगन करके अपने मदन ज्वर का शीघ्र नाश होने दो। इसका धनुष कीर्त्ति—समूह रूपी चामरों से सुन्दर है तथा संग्राम में भिड़े हुए वैरियों की गर्दनों को काटने वाले—उस्तरे की तरह पैनी धार के—शरों से इसका प्रताप बहुत बढ़ गया है ॥१२३॥

वक्षस्त्वदुग्रविरहादपि नास्य दीर्णं वज्रायते पतनकुण्ठितशत्रुशस्त्रम् ।
तत्कन्दकन्दलतया भुजयोर्न तेजोवह्निर्नमत्यरिवधूनयनाम्बुनापि ॥१२४॥

"तुम्हारे उग्र विरह से भी विदीर्ण न होनेवाला इसका वक्षःस्थल वज्र के समान है। इस पर गिरकर शत्रुओं के शस्त्र भौंतरे पड़ जाते हैं। इसके वज्र के तुल्य वक्षःस्थल से निकली हुई भुजाओं से उत्पन्न हुई प्रतापाग्नि शत्रुओं की स्त्रियों के नेत्र-वाष्प से शान्त नहीं होती ॥१२४॥

किं न द्रुमा जगति जाग्रति लक्षसंख्या-
स्तुल्योपनीतपिककाकफलोपभोगाः ।
स्तुत्यस्तु कल्पविटपी फलसम्प्रदानं
कुर्वन् स एष विबुधानमृतैकवृत्तीन् ॥१२५॥

"जो कोकिलों और काकों को फलों से एकसी [1]जीवन-वृत्ति देते हैं ऐसे लाखों वृक्ष क्या संसार में नहीं हैं ? परन्तु केवल अमृत से जीनेवाले देवताओं को अपने फल देने के कारण कल्पवृक्ष स्तुति के योग्य है ॥१२५॥

अस्मै करं प्रवितरन्तु नृपा न कस्मा-
दस्यैव तत्र यदभूत् प्रतिभूः कृपाणः ।

१—पंडितों और मूर्खों को दान देनेवाले तो अचेतन वृक्षों के समान बहुत से राजा हैं पर यह काशिराज नहीं माँगनेवाले याज्ञिक आदि को भी दान देता है इस कारण यह कल्पवृक्ष है ।

दैवाद्यदा प्रवितरन्ति न ते तदैव
नेदंकृपा निजकृपाणकरग्रहाय ॥१२६॥

"सब राजा इसे कर क्यों न दें क्योंकि खड्ग ही इसकी जमानत करता है। जब राजा कर नहीं देते हैं तब हाथ में कृपाण लेने के लिए इसकी उग्र प्रवृत्ति होती है ॥१२६॥

एतद्बलैः क्षणिकतामपि भूखुराग्र-
स्पर्शायुषां रयरसादसमापयद्भिः।
दृक्पेयकेवलनभःक्रमणप्रवाहै-
र्वाहैरलुप्यत सहस्रदृगर्वगर्वः ॥१२७॥

"इसकी सेना के घोड़ों ने इन्द्र के घोड़े का गर्व नष्ट कर दिया है। वे वेग के कारण खुर के अग्रभाग से भी क्षण भर पृथ्वी नहीं छूते हैं। उनके केवल आकाश में जाने की परंपरा सावधानतापूर्वक देखने लायक है" ॥१२७॥

तद्वर्णनासमय एव समेतलोक-
शोभावलोकनपरा तमसौ निरासे।
मानी तया गुणविदा यदनादृतोऽसौ
तद्भूभृतां सदसि दुर्यशसेव मम्लौ ॥१२८॥

काशिराज के वर्णन के समय नये आये हुए राजाओं की शोभा देखती हुई दमयन्ती ने उसे अस्वीकार किया। राज-सभा में गुण-ग्राहिणी दमयन्ती के द्वारा अनादर होने से वह राजा इस तरह काला पड़ गया जैसे कोई दुर्यश हुआ हो ॥१२८॥

सानन्तानाप्य तेजःसखनिखिलमरुत्पार्थिवान् दिष्टभाज-
श्चित्तेनाशाजुषस्तान् समससमगुणान् मुञ्चती गूढभावा।
पारेवाग्वर्तिरूपं पुरुषमनु चिदम्भोधिमेकं शुभाङ्गी
निःसीमानन्दमासीदुपनिषदुपमा तत्परीभूय भूपः ॥१२९॥

जिस प्रकार परम रहस्यमयी और शुभ अंगों से युक्त उपनिषद् पृथ्वी, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, तथा मन द्रव्य, नित्य-पदार्थ सामान्य

(जाति), विशेष तथा समवाय और पंच संख्या-युक्त कर्म तथा गुणों का निषेध कर के अवाङ्‌मनस-गोचर, चैतन्य-घन, असीम आनन्दमय, परम-पुरुष (पर ब्रह्म) रूपी एक मात्र अद्वैत तत्त्व को लक्ष्य कर के उसका प्रतिपादन करती है और इस प्रकार ब्रह्म-परक ही अपने को प्रदर्शित करती है उसी प्रकार नल में गूढ़ प्रीति रखनेवाली तथा सुन्दर अंगों वाली उस दमयन्ती ने भी चित्त में विवाह की आशा लेकर स्वयंवर में पधारने वाले, तेजस्वी, अनुपम-गुणशाली, असंख्य नरेन्द्रों एवं देवताओं का निराकरण करके अवर्णनीय रूप-वाले ज्ञानसागर, परमोत्साह-संपन्न एकमात्र नल को ही अपने प्रणय का लक्ष्य बनाया और उसी में अपनी प्रीति-निष्ठा प्रदर्शित की। अतः वह भीम-पुत्री दमयन्ती उपनिषद् के समान थी ॥१२९॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
शृङ्गारामृतशीतगावयमगादेकादशस्तन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः॥१३०॥

कविराजों की पंक्ति के मुकुटों के अलंकार रूप हीरे श्री हीर नामक पिता तथा मामल्ल देवी नामक माता ने जिस जितेन्द्रिय श्री हर्ष को जन्म दिया उसके श्रृंगार रूपी अमृत के चन्द्र सुन्दर नल-चरित महाकाव्य में स्वभाव से सुन्दर ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१३०॥

द्वादशः सर्गः।

प्रियाह्नियालम्ब्य विलम्बमाविला विलासिनः कुण्डिनमण्डनायितम्।
समाजमाजग्मुरथो रथोत्तमास्तमासमुद्रादपरेऽपरे नृपाः॥१॥

इसके अनन्तर अन्यान्य विलासी राजा दिगन्तों से कुण्डिन पुर को अलंकृत करने वाली स्वयंवर सभा में आये। वे अपनी प्रियाओं के सन्मुख लज्जा के कारण विलंब होने से व्याकुल थे तथा उनके पास उत्तम रथ थे ॥१॥

ततः स भैम्या ववृते वृते नृपैर्विनःश्वसद्भिः सदसि स्वयंवरः ।
चिरागतैस्तर्कितताद्विरागितैः स्फुरद्भिरानन्दमहार्णवैर्नवैः ॥२॥

उस सभामें दमयन्ती का स्वयंवर जारी था । वहाँ पहले आये राजा तो दमयन्ती का अपने में विराग हो जाने के कारण लम्बे लम्बे साँस छोड़ रहे थे पर जो नए आये थे वे पहले राजाओं की ओर दमयन्ती की उदासीनता देख कर आनन्द के अगाध समुद्र मालूम होते थे ॥२॥

चलत्पदस्तत्पदयन्त्रणेङ्गितस्फुटाशयामासयति स्म राजके ।
श्रमं गता यानगतावपीयमित्युदीर्य धुर्यः कपटाज्जनीं जनः ॥३॥

शिविका दंड-वाहकों ने दमयन्ती को राजाओं के समूह के बीच में खड़ा किया । दमयन्ती के चरण के इशारे से उन्होंने उसका आशय जान लिया था । पर पालकी में बैठकर कर चलने पर भी श्रम होता है—यह बहाना किया ॥३॥

नृपानुपक्रम्य विभूषितासनान् सनातनी सा सुषुवे सरस्वती ।
विहारमारभ्य सरस्वतीः सुधासरःस्वतीवार्द्रतनूरनूत्थिताः ॥४॥

सनातनी सरस्वती ने आसनों को अलंकृत करते हुए राजाओं को दिखा कर कहा । उसकी वाणी अमृत समुद्रमें विहार करने से अत्यन्त आर्द्र होगई थी और बिना विलंब के ही वहाँ से निकली थी ॥४॥

वृणीष्व वर्णेन सुवर्णकेतकीप्रसूनवर्णादृतुपर्णमादृतम् ।
निजामयोध्यामपि पावनीमयं भवन्मयो ध्यायति नावनीपतिः ॥५॥

"सुनहरी केतकी के फूल से अधिक गौरव ऋतुपर्ण राजा के साथ तुम विवाह करो । यह राजा तुममें चित्त लगाने के कारण अपनी पवित्र अयोध्या को भी भूल गया है ॥५॥

न पीयतां नाम चकोरजिह्वया कथञ्चिदेतन्मुखचन्द्रचन्द्रिका ।
इमां किमाचामयसे न चक्षुषी चिरं चकोरस्य भवन्मुखस्पृशी ॥६॥

"दमयन्ती, तुम चकोर की जिह्वा से ऋतुपर्ण के मुख-चन्द्र की चन्द्रिका का किसी प्रकार पान करो । तुम अपने मुख में स्थित चकोर के नेत्रों को चन्द्रमा की इस चाँदनी का पान क्यों नहीं कराती हो ? ॥६॥

अपां विहारे तव हारविभ्रमं करोतु नीरे पृषदुत्करस्तरन्।
कठोरपीनोच्चकुचद्वयीतटत्रुटत्तरः सारवसारवोर्मिजः ॥७॥

"दमयन्ती, सरयू की लहरों के—तुम्हारे अत्यन्त कठिन तथा उच्च स्तनों के आसपास अत्यन्त विशीर्ण हुए और पानी में तैरते हुए—बुलबुले जल-विहार में तुम्हारे हारका विभ्रम धारण करें ! ॥७॥

अखानि सिन्धुः समपूरि गङ्गया कुले किलास्य प्रसभं स भंत्स्यते।
विलङ्घ्यते चास्य यशःशतैरहो सतां महत्सम्मुखधावि पौरुषम् ॥८॥

"इसके वंश में सगर-पुत्रों के द्वारा समुद्र खोदा गया और भगीरथ के द्वारा गंगा से भरा गया। इसके वंश में ही बल पूर्वक रामचन्द्र के द्वारा उसका बंधन किया जायगा। उसी को अब इसका व्यापक यश आक्रान्त कर रहा है। बड़े आदमियों का पौरुष बड़ों के सामने ही जाता है ॥८॥

एतद्यशःक्षीरधिपूरगाहि पतत्यगाधे वचनं कवीनाम्।
एतद्गुणानां गणनाङ्कपातः प्रत्यर्थिकीर्तीः खटिकाः क्षिणोति ॥९॥

"कवियों के शब्द इसके यश रूपी क्षीर-समुद्र के प्रवाह में डूब कर अगाध[१] स्थान में जा पड़ते हैं। इसके गुणों की गणना वैरियों के यश रूपी खड़िया का नाश करती है ॥९॥

भास्वद्वंशकरीरतां दधदयं वीरः कथं कथ्यता-
मध्युष्टापि हि कोटिरस्य समरे रोमाणि सत्त्वाङ्कुराः।
नीतः संयति बन्दिभिः श्रुतिपथं यन्नामवर्णावली-
मन्त्रः स्तम्भयति प्रतिक्षितिभृतां दोस्तम्भकुम्भीनसान् ॥१०॥

"दमयन्ती, सूर्य-वंश के अंकुर तथा वयः-संधि में वर्तमान इस कुमार राजा की प्रशंसा कैसे की जाय क्योंकि युद्ध में साढ़े तीन करोड़ रोम इसकी शूरता के अंकुर का काम देते हैं। इसके नाम के अक्षर रूपी मंत्र युद्ध में

१—इसके गुण इतने हैं कि उनका गिनना अशक्य है। जैसे लम्बा हिसाब करने से खड़िया घिस जाती है उसी तरह इसके गुणों की गणना इसके वैरियों के यश को अंधकार में गेर देती है।

न्दियों के द्वारा शत्रु राजाओं के कान में आने पर उनकी—सर्पों के समान—
नामरूप बाहुओं का स्तम्भन करते हैं ॥१०॥

तादृग्दीर्घविरिञ्चिवासरविधौ जानामि यत्कर्तृतां
शङ्के यत्प्रतिबिम्बमम्बुधिपयःपूरोदरे वाडवः ।
व्योमव्यापिविपक्षराजकयशस्तारा: पराभावुकः
कासामस्य न स प्रतापतपनः पारं गिरां गाहते ॥११॥

"दमयन्ती, इस राजा का प्रताप रूपी सूर्य किस वाणी के पार नहीं पहुँच
गया है? यह शत्रु-राजाओं के आकाश-व्यापी तारा रूप यशों का तिरस्कर्ता है।
ब्रह्मा का इतना लम्बा दिन बनाने में इस सूर्य का [1]हाथ है। मैं समझती हूँ कि
समुद्र-जल के प्रवाह के बीच में बड़वानल इसके प्रताप रूपी सूर्य का प्रतिबिम्ब
है ॥११॥

द्वेष्याकीर्तिकलिन्दशैलसुतया नद्यास्य यद्दोर्द्वयी-
कीर्तिश्रेणिमयी समागममगाद्गङ्गा रणप्राङ्गणे ।
तत्तस्मिन् विनिमज्ज्य बाहुजभटैरारम्भि रम्भापरी-
रम्भानन्दनिकेतनन्दनवनक्रीडादराडम्बरः ॥१२॥

"इस राजा की दोनों बाहुओं से उत्पन्न हुई कीर्ति परम्परा गङ्गा है।
शत्रुओं के पलायन से उत्पन्न हुई अकीर्ति यमुना है। उन दोनों में संग्राम-
भूमि में संयोग हुआ। तब क्षत्रिय योद्धा स्नान करके देह छोड़कर रम्भा के
साथ आलिङ्गन के स्थान नन्दन-वन में क्रीड़ा के लिए चले गये" ॥१२॥

इति श्रुतिस्वादिततद्गुणस्तुतिः सरस्वतीवाङ्मयविस्मयोत्थया ।
शिरस्तिरःकम्पनयैव भीमजा न तं मनोरन्वयमन्वमन्यत ॥१३॥

दमयन्ती ने ऋतुपर्ण के गुणों की स्तुति का स्वाद कानों से ले लिया पर

1—सूर्य ही दिन बनाता है पर ब्रह्मा का दिन इतना लम्बा है कि साधारण
सूर्य उसे नहीं बना सकता। वह ऋतुपर्ण के शौर्य के सूर्य से बनाया गया मालूम
होता है।

सरस्वती की वाणी से उत्पन्न हुए आश्चर्य से शिर हिलाकर ऋतुपर्ण को अङ्गीकार नहीं किया ॥१३॥

युवान्तरं सा वचसामधीश्वरा स्वरामृतन्यक्कृतमत्तकोकिला।
शशंस संसक्तकरैव तद्दिशा निशाकरज्ञातिमुखीमिमां प्रति ॥१४॥

फिर अपने स्वर-रूपी अमृत से मत्त कोकिल का तिरस्कार करने वाली सरस्वती चन्द्रमुखी दमयन्तीसे जिस दिशा में एक अन्य युवक बैठा था उस तरफ हाथ का इशारा करके उसका वर्णन करने लगी ॥१४॥

न पाण्ड्यभूमण्डनमेणलोचने! विलोचनेनापि नृपं पिपाससि।
शशिप्रकाशाननमेनमीक्षितुं तरङ्गयाऽपाङ्गदिशा दृशोस्त्विषः ॥१५॥

"हे मृगाक्षी, क्या तुम नेत्रों से पांड्य देश के चूड़ामणि इस राजा का पान नहीं करोगी ? चन्द्रमा के समान प्रसन्न मुख वाले इस राजा को देखने के लिए तुम नेत्रों की किरणों को अपांग के देश से चलाओ ॥१५॥

भुवि भ्रमित्वाऽनवलम्बमम्बरे विहर्तुमभ्यासपरम्परापरा।
अहो! महावंशममुं समाश्रिता सकौतुकं नृत्यति कीर्तिनर्तकी ॥१६॥

"दमयन्ती, इस महाकुलीन राजा के आश्रित होकर कीर्ति रूप नर्तकी कुतूहल से नाचती है। वह पहले पृथ्वी पर भ्रमण कर चुकी है और अब बिना विलम्ब के आकाश में विहार करने का अभ्यास करती है ॥१६॥

इतो भिया भूपतिभिर्वनं वनादटद्भिरुच्चैरटवीत्वमीयुषी।
निजापि साऽवापि चिरात्पुनः पुरी पुनः स्वमध्यासि विलासमन्दिरम् ॥१७॥

"इसके भय से वन से वन में घूमते हुए राजाओं ने अरण्य होती हुई अपनी पुरी को भी चिरकाल के बाद फिर वन की बुद्धि से प्राप्त किया और वहाँ फिर अपना विलास-मन्दिर बनाया ॥१७॥

आसीदासीमभूमीवलयमलयजालेपनेपथ्यकीर्तिः
सप्ताकूपारपारीसदनजनघनोद्गीतचापप्रतापः ।
वीरादस्मात् परः कः पदयुगयुगपत्पातिभूपातिभूय-
श्चूडारत्नोडुपत्नीकरपरिचरणानन्दनन्दन्नखेन्दुः ॥१८॥

"दमयन्ती, इस वीर से उत्कृष्ट और कौन है ? इसकी कीर्ति समुद्र की सीमा सहित भूमंडल के चन्दन के अङ्गराग रूप भूषण के समान हैं। सातो समुद्रों के तीर पर रहने वाले लोग इसके प्रताप का गान करते हैं। इसके चरणों पर एक साथ गिरते राजाओं के असंख्य चूड़ा रत्न रूप ताराओं की किरणों के विस्तार में नख रूपी चन्द्र अत्यन्त आनन्द प्राप्त करते हैं ॥१८॥

भङ्गाकीर्तिमषीमलीमसतमप्रत्यर्थिसेनाभट-
श्रेणीतिन्दुककाननेषु विलसत्यस्य प्रतापानलः।
तस्मादुत्पतिताः स्फुरन्ति जगदुत्सङ्गे स्फुलिङ्गाः स्फुटं
भालोद्भूतभवाक्षिभानुहुतभुग्जम्भारिदम्भोलयः ॥१९॥

"इसकी प्रतापाग्नि पराजय से उत्पन्न हुई अकीर्ति रूप मषी से अत्यन्त मलीन शत्रु-सैनिकों तथा शूरों की श्रेणी रूप तिन्दुक-काननों में विलास करती है। भाल में उत्पन्न महादेव का तीसरा नेत्र, अग्नि, सूर्य तथा इन्द्र का वज्र—ये इसकी प्रतापाग्नि से निकले हुए चिनगारे हैं जो संसार के मध्य में चमकते हैं ॥१९॥

एतद्दन्तिवलैर्विलोक्य निखिलामालिङ्गिताङ्गीं भुवं
सङ्ग्रामाङ्गणसीम्नि जङ्गमगिरिस्तोमभ्रमाधायिभिः।
पृथ्वीन्द्रः पृथुरेतदुग्रसमरप्रेक्षोपनम्रामर-
श्रेणीमध्यचरः पुनः क्षितिधरक्षेपाय धत्ते धियम् ॥२०॥

"दमयन्ती, इसके उग्र संग्राम देखने के लिए आये हुए देवताओं के बीच में देवत्व को प्राप्त हुआ राजा पृथु फिर पर्वत उखाड़ने का इरादा करता है क्योंकि युद्ध के मैदान के अहाते में यहाँ से वहाँ जाते तथा चलायमान पर्वतों की भ्रान्ति पैदा करते हाथियों की सेना ने भूमि का सब प्रदेश प्राप्त कर लिया है" ॥२०॥

शशंस दासीङ्गितविद्विदर्भजामितो ननु स्वामिनि ! पश्य कौतुकम्।
यदेष सौधाग्रनटे पटाञ्चले चलेऽपि काकस्य पदार्पणग्रहः ॥२१॥

तब दमयन्ती का अभिप्राय जाननेवाली एक दासी ने कहा—"स्वामिनी,

ज़रा यह तमाशा तो देखिए—राजमहल के ऊपर फहराती हुई चञ्चल पताका की झालर पर अपना पंजा रखने के लिए एक कौआ बार-बार उद्योग कर रहा है" ॥२१॥

ततस्तदप्रस्तुतभाषितोत्थितैः सदस्तदश्वेति हसैः सदःसदाम्।
स्फुटाऽजनि म्लानिरतोऽस्य भूपतेः सिते हि जायेत शितेः सुलक्ष्यता॥२२॥

दासी के अप्रस्तुत वचन से सभ्य हँसने लगे जिससे सभा सफेद हो गई। इस राजा का रंग काला पड़ गया। सफेद वस्तुओं में काला वर्ण सुगमता से प्रकट हो जाता है ॥२२॥

ततोऽनु देव्या जगदे महेन्द्रभूपुरन्दरं सा जगदेकवन्द्यया।
तदार्जवावर्जिततर्जनीकया जनी कयाचित् परचित्स्वरूपया ॥२३॥

उस समय जगत् की एक ही पूजनीय, श्रेष्ठ चित्स्वरूपवाली तथा दुर्गा सरस्वती ने महेन्द्र देश के स्वामी की तरफ अपनी उँगली उठाकर दमयन्ती से कहा— ॥२३॥

स्वयंवरोद्वाहमहे वृणीष्व हे ! महेन्द्रशैलस्य महेन्द्रमागतम्।
कलिङ्गजानां स्वकुचद्वयश्रिया कलिं गजानां शृणु तत्र कुम्भयोः॥२४॥

"दमयन्ती, स्वयंवर के उत्सव में आये हुए महेन्द्र शैल के स्वामी को तुम पसंद करो। वहाँ तुम अपने दोनों कुचों की लक्ष्मी के साथ कलिंग देश में उत्पन्न हुए हाथियों के कुंभों की कलह सुनना ॥२४॥

अयं किलायात इतीरिपौरवाग्भयाद्वयादस्य रिपुर्वृथा वनम्।
श्रुतस्तदुत्स्वापगिरस्तदक्षराः पठद्भिरत्रासि शुकैर्वनेऽपि सः ॥२५॥

"सुना जाता है कि-राजा आया-यों कहनेवाले पुरजनों की वाणी से भय-भीत होकर इसके रिपु वन में भाग गये। यह भी वृथा हुआ क्योंकि वहाँ भी निद्रा में वे इन्हीं शब्दों के प्रलाप से डर जाते थे और तोते इनकी नकल करते थे ॥२५॥

इतस्त्रसद्विद्रुतभूभृदुज्झिता प्रियाऽथ दृष्टा वनमानवीजनैः।
शशंस पृष्टा ... शशिस्विषः शीत ... किल ॥२६॥

"इससे डरकर भागे हुए राजाओं से छोड़ी गईं प्रियाएँ भीलनियों ने देखीं। जब भीलनियों ने उनके देश की अद्भुत बात पूछी तब रानियों ने कहा कि हमारे यहाँ के चन्द्रमा की चाँदनी शीतल होती है ॥२६॥

इतोऽपि किं वीरयसे न कुर्वतो नृपान् धनुर्बाणगुणैर्वशंवदान्।
गुणेन शुद्धेन विधाय निर्भरं तमेनमुर्वीवलयोर्वशी वशम् ॥२७॥

'दमयन्ती, क्या तुम इस राजासे अधिक शूर नहीं हो ? यह राजा तो धनुष, बाण और प्रत्यंचा की सामग्री से शत्रुओं को वश में करता है लेकिन तुम उर्वशी से भी अधिक सुन्दर होने के कारण इसको सौन्दर्यादि गुणों से अनायास ही वश में कर लोगी ॥२७॥

एतद्भीतारिनारी गिरिबिलविगलद्वासरा निःसरन्ती
स्वक्रीडाहंसमोहग्रहिलशिशुभृशप्रार्थितोन्निद्रचन्द्रा।
आक्रन्दद्भूरि यत्तन्नयनजलमिलच्चन्द्रहंसानुविम्व-
प्रत्यासत्तिप्रहृष्यत्तनयविहसितैराश्वसीन्न्यश्वसीच्च ॥२८॥

"इससे डरे हुए शत्रुओं की स्त्रियाँ पर्वतों की कन्दराओं में अपने दिन बिताती हैं। रात्रि में कंदराओं से बाहर निकलती हैं। तब बालक अपने क्रीड़ा-हंस की भ्रांति से चन्द्रमा माँगते हैं। उनके आग्रह के कारण स्त्रियाँ बहुत रोती हैं। फिर बहुत से आँसुओं में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब देखकर बालक प्रसन्न होते हैं तब उनको तसल्ली होती है ॥२८॥

अस्मिन् दिग्विजयोद्यते पतिरयं मे स्तादिति ध्यायिनी
कम्पं सात्त्विकभावमञ्चति रिपुक्षोणीन्द्रदारा धरा।
अस्यैवाभिमुखं निपत्य समरे यास्यद्भिरूर्ध्वं निजः
पन्था भास्वति दृश्यते बिलमयः प्रत्यर्थिभिः पार्थिवैः ॥२९॥

"दमयन्ती, जब यह राजा दिग्विजय करने के लिए तैयार होता है तब इसके शत्रु राजाओं की प्रिया पृथिवी—यह राजा मेरा पति हो—यह चिन्ता करती हुई सात्त्विक भावों के बीच में कंप को प्राप्त होती है। युद्ध में इसके सामने

शस्त्रों से मरकर ऊपर जाते हुए शत्रु राजाओं को सूर्य–मण्डल[1] के बीच में अपना रास्ता देख पड़ता है ॥२९॥

विद्राणे रणचत्वरादरिगणे त्रस्ते समस्ते पुनः
कोपात् कोऽपि निवर्तते यदि भटः कीर्त्या जगत्युद्भटः।
आगच्छन्नपि सम्मुखं विमुखतामेवाधिगच्छत्यसौ
द्रागेतच्छुरिकारयेण ठणिति च्छिन्नापसर्पच्छिराः ॥३०॥

"डरे हुए तथा लड़ाई के मैदान से भागे हुए सब शत्रुओं में से कोई बड़े यशवाला योद्धा क्रोध कर के यदि फिर लौटता है तो वह इसके सामने आकर ही विमुख हो जाता है क्योंकि शीघ्र ही इसकी छुरी की धार से कट कर उसका शिर जमीन पर लोटने लगता है" ॥३०॥

ततस्तदुर्वीन्द्रगुणाद्भुतादिव स्ववक्त्रपद्मेऽङ्गुलिनालदायिनी।
विधीयतामाननमुद्रणेति सा जगाद वैदग्ध्यमयेङ्गितैव ताम् ॥३१॥

तब मानों उस राजा के अद्भुत गुणों के आश्चर्य से अपने मुख-कमल के ऊपर उँगली रूप नाल रखकर चतुरता से युक्त चेष्टावाली दमयन्ती ने सरस्वती से कहा कि मौन रहो ॥३१॥

अनन्तरं तामवदन्नृपान्तरं तदध्वदृक्तारतरङ्गरङ्गणा।
तृणीभवत्पुष्पशरं सरस्वती स्वतीव्रतेजःपरिभूतभूतलम् ॥३२॥

इसके अनन्तर अन्य वर्णनीय राजा की ओर दृष्टि की तरंगों की गति करनेवाली सरस्वती ने दमयन्ती से अन्य नृप का वर्णन किया जिसने अपने तीव्र तेज से भू मण्डल को वश में कर लिया था तथा जिसके सामने कामदेव एक तृण के बराबर भी नहीं था ॥३२॥

तदेव किन्तु क्रियते न का क्षतिर्यदेष तद्दूतमुखेन काङ्क्षति।
प्रसीद काञ्चीमयमाच्छिनत्तु ते प्रसह्य काञ्चीपुरभूपुरन्दरः ॥३३॥

"यह कांचीपुर का राजा तुम्हारे पास भेजे गये दूत के सन्देश से जो चाहता है वही तुम क्यों नहीं करती हो ? इससे तुम्हारी क्या हानि है ! इस

१—जो रण में सन्मुख होकर मरते हैं वे सूर्य मण्डल भेदकर स्वर्ग को जाते हैं।

प्रसन्न होकर इसे अपनी कांची (=मेखला) शिथिल करने दो ॥३३॥

मयि स्थितिर्नम्रतयैव लभ्यते दिगेव तु स्तब्धतया विलङ्घ्यते ।
इतीव चापं दधदाशुगं क्षिपन्नयं नयं सम्यगुपादिशद्द्विषाम् ॥३४॥

"धनुष लेकर और शत्रुओं पर बाण चलाकर यह राजा उनसे यह नीति कहता मालूम होता है—हे शत्रुओ, मेरे पास नम्र होकर आओ। अविनीत होने से तो तुम लोगों को दिगंतरों में जाना पड़ेगा ॥३४॥

अदःसमित्सम्मुखवीरयौवतत्रुटद्भुजाकम्बुमृणालहारिणी ।
द्विषद्गणस्त्रैणदृगम्बुनिर्झरे यशोमरालावलिरस्य खेलति ॥३५॥

"इस राजा की कीर्तिरूप हंस-पंक्ति शत्रु समूहों की स्त्रियों के आँसुओं के प्रवाह में खेलती है। युद्ध में इसके सामने आये वीरों की स्त्रियों की शंखों की टूटी चूडियाँ ही मृणाल हैं जिनको यह भक्षण करती हैं ॥३५॥

सिन्दूरद्युतिमुग्धमूर्धनि धृतस्कन्धावधिश्यामिके
व्योमान्तःस्पृशि सिन्धुरेऽस्य समरारम्भोद्धुरे धावति ।
जानीमो नु यदि प्रदोषतिमिरव्यामिश्रसन्ध्याधिये
वाऽस्तं यान्ति समस्तबाहुजभुजातेजःसहस्रांशवः ॥३६॥

'दमयन्ती, युद्ध का आरम्भ करने के लिए उद्युक्त हुए इसके हाथी दौड़ते हैं तब प्रदोष के अंधकार से मिली हुई संध्या की भ्रान्ति से सब क्षत्रियों की भुजाओं के तेजरूपी सूर्य अस्त हो जाते हैं-यह हम समझते हैं। संध्या की भ्रान्ति इस कारण होती है कि हाथी का मस्तक सिन्दूर की कान्ति से मनोहर होता है उसके कन्धे तक काजल का लेप लगा रहता है तथा ऊँचा वह इतना होता है कि आकाश का स्पर्श करले ॥३६॥

हित्वा दैत्यरिपोरुरः स्वभवनं शून्यत्वदोषस्फुटा-
सीदन्मर्कटकीटकृत्रिमसितच्छत्रीभवत्कौस्तुभम् ।
उज्झित्वा निजसद्म पद्ममपि तद्भ्रक्षावनद्धीकृतं
लूतातन्तुभिरन्तरद्य भुजयोः श्रीरस्य विश्राम्यति ॥३७॥

लक्ष्मी आज इसकी भुजाओं के बीच में विश्राम करती है। उसने अपना

भवन—विष्णु का वक्षःस्थल—छोड़ दिया है और अपना भवन—कमल—भी छोड़ दिया है। विष्णु के वक्षःस्थल का कौस्तुभ लक्ष्मी के छोड़ने से शून्य होने के दोष के कारण इकट्ठी हुई मकड़ियों के जाले के समान लगता है और कमल मकड़ियों के सूत्र से बँधा मालूम होता है ॥३७॥

सिन्धोर्जैत्रमयं पवित्रमसृजत् तत्कीर्तिपूर्ताद्भुतं
यत्र स्नान्ति जगन्ति सन्ति कवयः के वा न वाचंयमाः।
यद्बिन्दुश्रियमिन्दुरञ्चति जलं चाविश्य दृश्येतरो
यस्यासौ जलदेवतास्फटिकभूर्जागर्ति यागेश्वरः ॥३८॥

"इसने समुद्र के जीतनेवाले पवित्र कीर्तिरूप सरोवर का एक आश्चर्य पैदा किया है जिसमें तीनों लोक स्नान करते हैं। इसका वर्णन नहीं हो सकता इस कारण इसके विषय में कौन से कवि मौन नहीं हैं? चन्द्रमा तो इस सरोवर का एक बिन्दु है। इसके जल में प्रवेश करके तथा अदृश्य रहकर कैलाश पर्वत स्फटिक के शिव लिंगरूप जल-देवता का स्थान ग्रहण करता है ॥३८॥

अन्तःसन्तोषवाष्पैः स्थगयति न दृशस्ताभिराकर्णयिष्य-
न्नङ्गेनानस्तिरोमा रचयति पुलकश्रेणिमानन्दकन्दाम्।
न क्षोणीभङ्गभीरुः कलयति च शिरःकम्पनं तन्न विद्मः
शृण्वन्नेतस्य कीर्तीः कथमुरगपतिः प्रीतिमाविष्करोति ॥३९॥

"शेषनाग अपने नेत्रों से इसके गुण सुनकर आनन्दाश्रुओं के कारण नेत्र बन्द नहीं करता है और न अपने शरीर पर आनन्द-कन्द रोमांच-पंक्ति की रचना करता है क्योंकि उसके रोम नहीं हैं। वह संतोष के कारण शिर भी नहीं हिलाता है क्योंकि उसे डर है कि यदि मैं शिर हिलाऊँगा तो पृथिवी गिर जायगी। इस कारण इसकी कीर्ति सुनकर शेषनाग अन्तःकरण में उत्पन्न हुई प्रीति किस प्रकार प्रकट करता है—यह हमें नहीं मालूम ॥३९॥

आचूडाग्रममज्जयज्जयपटुर्यच्छल्यदण्डानयं
संरम्भे रिपुराजकुञ्जरघटाकुम्भस्थलेषु स्थिरान्।
सा सेवास्य पृथुः प्रसीदसि तया नास्मै कुतस्त्वत्कुच-
स्पर्शायापि तेषु तेषु तां धृतव्रते दण्डान् प्रचण्डानपि ॥४०॥

"युद्ध होने पर जय में चतुर राजा ने शत्रु-राजाओं की गज-घटा के कुम्भ-स्थलों पर दूर तक गढ़ने से स्थिर हुए लोहे के शरों को पूँछ तक पहुँचा कर उनका मद दूर कर के तुम्हारी बड़ी सेवा की इस कारण तुम क्यों न प्रसन्न होओ क्योंकि वे कुम्भ-स्थल तुम्हारे कुचों की समानता के अभिलाषी थे, इससे उनको कठिन दण्ड दे दिया गया" ॥४०॥

स्मितश्रिया सृक्कणि लीयमानया वितीर्णया तद्गुणशर्मणेव सा ।
उपाहसत् कीर्त्यमहत्त्वमेव तं गिरां हि पारे निषधेन्द्रवैभवम् ॥४१॥

उसकी कीर्ति वर्णन के योग्य थी पर नल की कीर्ति वर्णन के योग्य नहीं थी इस कारण दमयन्ती ने मानों उसके गुण सुनने से उत्पन्न हुए सुख से प्राप्त हुई तथा ओष्ठ-प्रान्त में विलीन हुई मुसकुराहट की शोभा से उस राजा का यथार्थ में उपहास किया ॥४१॥

निजाक्षिलक्ष्मीहसितैणशावकामसाऽवभाणीदपरं परन्तपम् ।
पुरैव तद्दिग्वलनश्रियां भुवा भ्रुवा विनिर्दिश्य सभासभाजितम् ॥४२॥

फिर अपने नेत्रों की कान्ति से हिरन के बच्चे को जीतने वाली सरस्वती सभा से पूजित दूसरे राजाको अपनी भौंह से पहले ही दिखाकर दमयन्ती से बोली—॥४२॥

कृपा नृपाणामुपरि क्वचिन्न ते नतेन हा हा शिरसा रसादृशाम् ।
भवन्तु तावत् तव लोचनाञ्चला निपेयनेपालनृपालपालयः ॥४३॥

"दमयन्ती, यह बड़ा कष्ट है कि तुम्हारी इन राजाओं में से किसी पर भी कृपा नहीं है । ये लज्जा से शिर झुका कर पृथिवी को देख रहे हैं। लेकिन तुम्हारे नेत्रों के अपांग नैपाल देश के दर्शनीय राजा का पान करने के लिए भ्रमर हों ! ॥४३॥

ऋजुत्वमौनश्रुतिपारगामिता यदीयमेतत् परमेव हिंसितुम् ।
अतीव विश्वासविधायि चेष्टितं बहुर्महानस्य स दाम्भिकः शरः ॥४४॥

"नैपाल देश के राजा के बहुत से बड़े-बड़े बाण [1]दांभिक हैं । ये शत्रु का

१—दाम्भिक अपने मनुष्य के साथ अनुकूल बर्ताव करने वाला, अच्छे व्यक्ति सा बाहरी दिखावा, वेदपारगामी तथा विश्वास उत्पन्न करने वाला होता है ।

विनाश करने वाले, सीधे जाने वाले, शब्द-रहित, कान तक पहुँचने वाले तथा प्राण लेने वाले हैं ॥४४॥

रिपूनवाप्यापि गतोऽवकीर्णितामयं न यावज्जनरञ्जनव्रती।
भृशं विरक्तानपि रक्तवत्तरान् निकृत्य यत् तानसृजासृजद्युधि ॥४५॥

"इस राजा का व्रत है कि मैं सबका [1]रञ्जन करूँ इस कारण शत्रुओं को प्राप्त करके भी इसने अपना व्रत भङ्ग नहीं किया क्योंकि इसे देखकर विरक्त हुए शत्रुओं को बाणों से छेद कर इसने उनका रक्त-रंजन कर दिया ॥४५॥

पतत्येतत्तेजोहुतभुजि कदाचिद्यदि तदा
पतङ्गः स्यादङ्गीकृततमपतङ्गापदुदयः।
यशोऽमुष्येशोपार्जयितुमसमर्थेन विधिना
कथञ्चित् क्षीराम्भोनिधिरपि कृतस्तत्प्रतिनिधिः ॥४६॥

"यदि सूर्य कभी इसके तेज रूपी अग्नि में गिर पड़े तो उसकी पतंगे की सी दशा हो। किसी प्रकार भी इसका यश उत्पन्न करने के लिए असमर्थ हुए ब्रह्मा ने बड़े-बड़े क्षीर-समुद्रों को इसके यश का प्रतिनिधि बनाया है ॥४६॥

यावत्पौलस्त्यवास्तूभवदुभयहरिल्लोमरेखोत्तरीये
सेतुप्रालेयशैलौ चरति नरपतेस्तावदेतस्य कीर्तिः।
यावत् प्राक्प्रत्यगाशापरिवृढनगरारम्भणस्तम्भमुद्रा-
वद्री सन्ध्यापताकारुचिरचितशिखाशोणशोभावुभौ च ॥४७॥

"दमयन्ती, सेतु और हिमाचल जहाँ तक हैं यहाँ तक इसका यश भ्रमण करता है। ये सेतु और हिमाचल रावण और कुबेर की गृह-भूमि हैं और क्रम से दक्षिण और उत्तर दिशाओं में हैं। इनके श्याम और श्वेत होने से मानो इनकी रोमावली और उत्तरीय धारण करता है। पूर्व और पश्चिम के लोकपाल इन्द्र और वरुण के दोनों नगरों का आरम्भ बतलाते—स्तम्भ के समान—पर्वतों तक यह फैलता है। इन पर्वतों के शिखरों पर प्रातःकाल तथा सायंकाल की—ध्वजाओं के समान—संध्याओं की कान्ति से लाल रंग की सुन्दरता हो जाती है ॥४७॥

१—प्रसन्न करना, रँगना।

युद्धा चाभिमुखं रणस्य चरणस्यैवांदसीयस्य वा
बुद्धान्तः स्वपरान्तरं निपततामुन्मुच्य वाणावलीः ।
छिन्नं वावनतीभवन्निजभियः खिन्नं भरेणाथ वा
राज्ञाऽनेन हठाद्विलोठितमभूद्भूमावरीणां शिरः ॥४८॥

"इस राजा ने हठ से शत्रुओं के शिरों को भूमि पर लोटने दिया। ये शत्रु वाणों की पंक्ति वरसाकर युद्ध करके रण भूमि में गिर पड़े थे या अन्तःकरण में अपने और उसके बीच में तारतम्य देखकर बाण छोड़कर इसके चरणों में पड़ गये थे। उनके शिर खण्डित होकर या तो नीचे पड़े थे या भय के भार से नीचे झुक गये थे ॥४८॥

न तूणादुद्धारे न गुणघटने नाश्रुतिशिखं
समाकृष्टौ दृष्टिर्न वियति न लक्ष्ये न च भुवि ।
नृणां पश्यत्यस्य क्वचन विशिखान् किन्तु पतित-
द्विषद्वक्षःश्वभ्रैरनुमितिरमून् गोचरयति ॥४९॥

"युद्ध का तमाशा देखने वाले मनुष्यों की दृष्टि इसके बाणों को किसी समय भी देख नहीं सकती है—न तरकस से निकाले जायँ तब, न प्रत्यंचा में लगाये जाँय तब, न कानतक खेंचे जाँय तब। न आकाश में जाँय तब, न पृथ्वी पर, न निशाने पर। किन्तु गिरे हुए बहुत से शत्रुओं के वक्षःस्थल के प्रहारों से उनका अनुमान होता है" ॥४९॥

दमस्वसुश्चित्तमवेत्य हासिका जगाद देवीं कियदस्य वक्ष्यसि ।
भण प्रभूते जगति स्थिते गुणैरिहाप्यते सङ्कटवासयातना ॥५०॥

एक हँसोड़ नौकरानी दमयन्ती का आशय जानकर सरस्वती से कहने लगी—देवि, इनका तुम कितना वर्णन करोगी ! तुम इस तरह क्यों न कहो कि गुणों से पूर्ण संसार इतना बड़ा है तो भी इस राजा में संकट से समाने के कारण गुण वेदना प्राप्त करते हैं" ॥५०॥

इतीति दासीह किमप्यसङ्गतं ततोऽपि नीचेयमतिप्रगल्भते ।
अहो! सभा साधुरितीरिणः क्रुधा न्यषेधदेतान्क्षितिपानुगान् जनः ॥५१॥

राजा के नौकरों को लोगों ने क्रोध से इस तरह कह कर रोका—"यह अच्छी सभा है ! इस में एक दासी चाहे जो कुछ कह देती है—उचित हो या नहीं; अब दासी से भी नीची यह चेटी प्रगल्भता की सीमा को पहुँच गई है। इस तरह सभा में कहीं नहीं होता" ॥५१॥

अथान्यमुद्दिश्य नृपं कृपामयी मुखेन तद्दिङ्मुखसम्मुखेन सा।
दमस्वसारं वदति स्म देवता गिरामिलाभूवदतिस्मरश्रियम् ॥५२॥

फिर कृपामयी सरस्वती ने एक अन्य राजा की तरफ मुँह कर के दमयन्ती से कहा। उस राजा की शोभा पुरूरवा के समान कामदेव से बढ़कर थी ॥५२॥

विलोचनेन्दीवरवासवासितैः सितैरपाङ्गाध्वगचन्द्रिकाञ्चलैः।
त्रपामपाकृत्य निभान्निभालय क्षितिक्षितं मालयमालयं रुचः ॥५३॥

"दमयन्ती, नयनरूपी नीलोत्पलों में स्थिति होने से सुरभित तथा कटाक्ष रूपी मार्ग में भ्रमण करनेवाली—चाँदनी के समान—दीप्ति की श्वेत किरणों से किसी बहाने—लज्जा छोड़कर—मलयपर्वत के कान्तिमान राजा को देखो ॥५३॥

इमं परित्यज्य परं रणादरिः स्वमेव भग्नः शरणं मुधाविशत्।
न वेत्ति यत्रातुमितः कृतस्मयो न दुर्गया शैलभुवाऽपि शक्यते ॥५४॥

"युद्ध से भागा हुआ घमंडी शत्रु इसे छोड़कर अपने घर वृथा घुस गया क्योंकि वह नहीं जानता कि विषम पर्वतों के दुर्ग भी इस राजा से उसकी रक्षा नहीं कर सकते ॥५४॥

अनेन राज्ञाऽर्थिषु दुर्भगीकृतो भवन् घनध्वानजरत्नमेदुरः।
तथा विदूराद्रिरदूरतां गमी यथा स गामी तव केलिशैलताम् ॥५५॥

"इसका वरण करने से प्रसिद्ध [1]विदुराचल बढ़ता बढ़ता तुम्हारे आंगन में आ जायगा और तुम्हारा क्रीड़ा-पर्वत होगा क्योंकि इस राजा के कारण याचक उसके पास पहुँचते नहीं इससे व्यय न होने के कारण नये मेघों के गर्जन से उत्पन्न हुए रत्नों से वह बड़ा परिपुष्ट हो गया है ॥५५॥

१—रोहण पर्वत।

नम्रप्रत्यर्थिपृथ्वीपतिमुखकमलम्लानताभृङ्गजात-
छायान्तःपातचन्द्रायितचरणनखश्रेणिरैणेयनेत्रे ! ।
दृप्तारिप्राणवातामृतरसलहरीभूरिपानेन पीनं
भूलोकस्यैष भर्ता भुजभुजगयुगं सांयुगीनं बिभर्ति ॥५६॥

"हे हिरन के बच्चे के समान नेत्र वाली, यह भूगोल का भर्ता राजा दो रण-कुशल भुजाओं को दो सर्पों के समान धारण करता है। नम्र हुए शत्रुओं के मुखकमलों की म्लानता रूप भ्रमर-शोभा से इसके नख चन्द्र के समान मालूम होते हैं। इसकी भुजाएँ घमण्डी शत्रुओं की प्राण-वायु रूप अमृत-रस को तरङ्गों के तुल्य पान करने से अत्यन्त पुष्ट हो गई हैं ॥५६॥

अध्याहारः स्मरहरशिरश्चन्द्रशेषस्य शेष-
स्याहेर्भूयः फणसमुचितः काययष्टीनिकायः ।
दुग्धाम्भोधेर्मुनिचुलुकनत्रासनाशाभ्युपायः
कायव्यूहः क्व जगति न जागर्त्यदः कीर्तिपूरः ॥५७॥

"इसकी कीर्ति का प्रवाह किस लोक में प्रकाशित नहीं होता ? महादेव के सिर पर चन्द्रमा की एक कला को यह पन्दरह कलाओं से पूर्ण करता है क्योंकि श्वेतता में दोनों एक से हैं। शेषनाग के हजारों फनों से मुकाबला करने के लिए यह शरीर-यष्टियों का समूह है तथा—अगस्त्य के चुल्लू से पीने के भय को नाश करने के लिए बड़ा भारी साधन—यह दुग्ध के समुद्र का काय-व्यूह है ॥५७॥

राज्ञामस्य शतेन किं कलयतो हेतिं शतघ्नीं कृतं
लक्षैर्लक्षभिदो दशैव जयतः पद्मानि पद्मैरलम् ।
कर्तुं सर्वपरच्छिदः किमपि नो शक्यं परार्धेन वा
तत्सङ्ख्यापगमं विनाऽस्ति न गतिः काचिद्धतैतद्द्विषाम् ॥५८॥

"जो शतघ्नी धारण करता है उसका सौ राजा क्या कर सकते हैं ? जो

१—चन्द्रमा के कलङ्क से समानता की गई है।

अपने लक्ष्य का भेद करने में कभी चूकता नहीं है उसका लक्ष (=लाख) में क्या कर सकते हैं? जो दृष्टि से ही पद्म (=कमल) को जीत लेता उसका पद्म संख्या के शत्रु क्या कर सकते हैं। इस कारण इसके शत्रुओं के लिए इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है कि वे संख्या से परे हो जायँ" ॥५८॥

वयस्ययाऽऽकूतविदा दमस्वसुः स्मितं वितत्याभिदधेऽथ भारती।
इतः परेषामपि पश्य याचतां भवन्मुखेन स्वनिवेदनत्वराम् ॥५९॥

फिर दमयन्ती का अभिप्राय जानने वाली एक सखी ने हँस कर सरस्वती से कहा—"भारती, तुम अन्य राजाओं को भी देखो जो तुम से अपना वर्णन सुनने के लिए अधीर हो रहे हैं" ॥५९॥

कृताऽत्र देवीं वचनाधिकारिणी त्वमुत्तरं दासि! ददासि का सती।
इतीरिणस्तन्नृपपारिपार्श्विकान् स्वभर्तुरेव भ्रुकुटिर्न्यवर्तयत ॥६०॥

उनके स्वामी की भृकुटी इस तरह कहते हुए परिचरों का निषेध करने लगी—"अविनीत दासी, सरस्वती ही वर्णन करने की अधिकारिणी है। उत्तर बोलने वाली कौन हो" ॥६०॥

धराधिराजं निजगाद भारती तदुन्मुखेषद्वलिताङ्गसूचितम्।
दमस्वसारं प्रति सारवत्तरं कुलेन शीलेन च राजसूचितम् ॥६१॥

तब सरस्वती ने एक राजा के विषय में दमयन्ती से कहा जो जन्म और चरित्र के कारण राजाओं में श्रेष्ठ और बलिष्ठ था और जिसे उसकी तरफ जरा आगे बढ़ कर सरस्वती ने दमयन्ती को दिखा दिया था ॥६१॥

कुतः कृतैवं नवलोकमागतं प्रति प्रतिज्ञाऽनवलोकनाय वा।
अपीयमेनं मिथिलापुरन्दरं निपीय दृष्टिः शिथिलास्तु ते वरम् ॥६२॥

"दमयन्ती, तुमने स्वयम्बर के लिए आये हुए नेताओं की तरफ न देखने की प्रतिज्ञा क्यों की है? कम से कम इस मिथिला नगरी के स्वामी का पान करके अपनी दृष्टि को शिथिल हो जाने दो ॥६२॥

न पाहि पाहीति यदब्रवीरमुं ममौष्ठ! तेनैवमभूदिति क्रुधा।
रणक्षितावस्य विरोधिमूर्धभिर्विदश्य दन्तैर्निजमोष्ठमास्यते ॥६३॥

"इसके शत्रुओं के शिर संग्राम-भूमि में अपना होठ दाँतों से काट कर कहते हैं—हे ओष्ठ, तुमने इस राजा के सामने—रक्षा करो, रक्षा करो—नहीं कहा इसी कारण हमारा मरण हुआ ॥६३॥

भुजेऽपसर्पत्यपि दक्षिणे गुणं सहेषुणाऽऽदाय पुरःप्रसर्पिणे ।
धनुःपरीरम्भमिवाप्स्य सम्मदान्महाहवे दित्सति वामबाहवे ॥६४॥

"बड़े भारी युद्ध में दक्षिण भुजा बाण के साथ प्रत्यञ्चा लेकर कान की तरफ जाती है तब सामने जाती हुई वाम बाहु को धनुष हर्ष से आलिङ्गन[1] करना चाहता है ॥६४॥

अस्योर्वीरमणस्य पार्वणविधुद्वैराज्यसज्जं यशः
सर्वाङ्गोज्ज्वलशर्वपर्वतसितश्रीगर्वनिर्वासि यत् ।
तत्कम्बुप्रतिबिम्बितं किमु शरत्पर्जन्यराजिश्रियः
पर्यायः किमु दुग्धसिन्धुपयसां सर्वानुवादः किमु ॥६५॥

"इस राजा का यश पूर्ण चन्द्रमा के साथ सम्मिलित राज करने को तैयार है। यह सब अंगों में उज्ज्वल कैलास की श्वेत कान्ति के गर्व का दूर करनेवाला है। क्या यह शंख का प्रतिबिम्ब है ? शरद् के मेघों की पंक्ति की शोभा का पर्याय है ? क्षीर समुद्र के दुग्ध की सब प्रकार से पुनरुक्ति है । ॥६५॥

निस्त्रिंशत्रुटितारिवारणघटाकुम्भास्थिकूटाऽवट-
स्थानस्थायुकमौक्तिकोत्करकिरः कैरस्य नायं करः ।
उन्नीतश्चतुरङ्गसैन्यसमरत्वङ्गत्तुरङ्गक्षुर-
क्षुण्णासु क्षितिषु क्षिपन्निव यशःक्षोणीजबीजव्रजम् ॥६६॥

"किस ने इस राजा का हाथ नहीं देखा जो तलवार से काटे गये शत्रुओं के हाथियों के कुम्भों की हड्डियों के गड्ढे में पड़े हुए मोतियों को बखेरता है और हाथी, पैदल, रथ तथा घोड़ों से युक्त सेनाओंवाले युद्धों में जाते हुए

1—आशय यह है कि यह राजा युद्ध में कानतक खेंचने से धनुष को गोल आकार कभी छोड़ता हुआ ही दृष्टि पड़ता है ।

घोड़ों के खुरों से खोदी गई भूमि में यशरूपी वृक्षों को उत्पन्न करनेवाले बीजों को मानों बोता है ॥६६॥

अर्थिभ्रंशवहूभवत्फलभरव्याजेन कुब्जायितः
सत्यस्मिन्नतिदानभाजि कथमप्यास्तां स कल्पद्रुमः।
आस्ते निर्व्ययरत्नसम्पदुदयोदग्रः कथं याचक-
श्रेणीवर्जनदुर्यशोनिविडितव्रीडस्तु रत्नाचलः ॥६७॥

"कल्पवृक्ष केवल कल्पित वस्तु देता है पर यह राजा अत्यन्त दानी होने के कारण अकल्पित भी देता है। इस कारण कल्पवृक्ष याचकों के न होने से आय भी व्यय न होने के कारण एकत्रित हुए फलों के भार के बहाने अत्यन्त झुककर किसी तरह बड़े कष्ट से रहता है पर रत्नाचल[1] याचकों से परित्याग होने के कारण उत्पन्न हुई अपकीर्ति से लज्जा घनी होने के कारण रत्न-संपत्ति बढ़ने से ऊँचे शिखरवाला होकर कैसे रह सकता है?" ॥६७॥

सृजामि किं विघ्नमिदंनृपस्तुताविती‌ङ्गितैः पृच्छति तां सखीजने।
स्मिताय वक्त्रं यदवक्रयद्वधूस्तदेव वैमुख्यमलक्षि तन्नृपे ॥६८॥

दमयन्ती की एक सखी ने इशारे से पूछा कि हम इसकी प्रशंसा में विघ्न डालें क्या? तब अपना अभिप्राय जताने के लिए हँसकर दमयन्ती ने अपना मुँह टेढ़ा कर लिया जिससे उस राजा की तरफ विराग प्रकट हो गया ॥६८॥

दृशास्य निर्दिश्य नरेश्वरान्तरं मधुस्वरा वक्तुमधीश्वरा गिराम्।
अनूपयामास विदर्भजाश्रुती निजास्यचन्द्रस्य सुधाभिरुक्तिभिः ॥६९॥

फिर मधुर स्वरवाली सरस्वती ने वर्णन करने के लिए नेत्र से अन्य राजा को दिखाकर दमयन्ती के कानों को अपने मुख-चन्द्र की सुधारूप युक्तियों से पूर्ण किया ॥६९॥

स कामरूपाधिप एष हा त्वया न कामरूपाधिक ईक्ष्यतेऽपि यः।
स्मरस्य सा योग्यतमाऽपि वल्लभा सुदुर्लभा यत्प्रतिमल्लभा परा ॥७०॥

"यह कामरूप देश का स्वामी है और सौन्दर्य में कामदेव से भी बढ़कर

1—रत्नाचल में मेघों के गर्जन के समय रत्न पैदा होते हैं।

है। कष्ट है कि तुम इसकी तरफ देखती भी नहीं! तुम इसकी सब से योग्य प्रिया हो। ऐसी अन्य स्त्री नहीं मिलेगी जो तुम्हारी अपेक्षा सुन्दर हो ॥७०॥

अकर्णधाराशुगसम्भृतां गतां गतैररित्रेण विनास्य वैरिभिः।
विधाय यावत्तरणेर्भिदामहो! निमज्य तीर्णः समरे भवार्णवः ॥७१॥

"इसके शत्रु युद्ध में मरकर सूर्य-मंडल का भेद कर के संसार समुद्र के पार चले गये हैं—यह आश्चर्य है! उनके पास कवच नहीं था और उनके शरीर के प्रत्येक अवयव पर बाणों ने प्रहार किया था ॥७१॥

यदस्य भूलोकभुजो भुजोष्मभिस्तपर्तुरेव क्रियतेऽरिवेश्मनि।
प्रपां न तत्रारिवधूस्तपस्विनी ददातु नेत्रोत्पलवासिभिर्जलैः ॥७२॥

"इस राजा की बाहुओं के प्रताप से शत्रुओं के घरों में उनके ताप से सन्ताप होने के कारण ग्रीष्म ऋतु हो जाती है इस कारण दीन शत्रु-स्त्रियाँ नेत्र-कमलों के अश्रुओं से क्या प्याऊ नहीं बनाती हैं? ॥७२॥

एतद्दत्तासिघातस्रवदसृगसुहृद्वंशसार्द्रेन्धनैर्ज्वलित-
दोरुद्दामप्रतापज्वलदनलमिलद्धूमधूमभ्रमाय।
एतद्दिग्जैत्रयात्रासमसमरभरं पश्यतः कस्य नासी-
देतन्नासीरवाजिव्रजखुरजरजोराजिराजिस्थलीषु ॥७३॥

"संग्राम-भूमि में इसकी—दिशाओं में विजय प्राप्त करने वाली—सेना के अतुल समर-भार को देखते हुए किस मनुष्य ने इसकी सेना के आगे जाते घोड़ों के खुरों से उड़ाई गई धूल को इसकी बाहुओं के तीक्ष्ण प्रताप को देदीप्यमान अग्नि के धूम का बाहुल्य नहीं समझा? वह अग्नि इसके—तलवार के आघातों से रुधिर गिराते—शत्रु रूप बाँसों के गीले ईंधन से प्रज्वलित होती है ॥७३॥

क्षीरोदन्वदपाः प्रमथ्य मथितादेशोऽमरैर्निर्मिते
स्वाक्रम्यं सृजतस्तदस्य यशसः क्षीरोदसिंहासनम्।
केषां नाजनि वा जनेन जगतानेतत्कवित्वामृत-
स्रोतःप्रोतपिपासुकर्णकलशीसाजाभिषेकोत्सवः ॥७४॥

"ऐसे कौन से भुवन हैं जिनके निवासियों ने इस राजा के यश का अभिषेक नहीं किया ? क्षीर-समुद्र के जल को मथ कर देवताओं ने सुदृढ़ कर दिया तब यश ने उसमें अपने बैठने को सिंहासन बनाया। निवासियों के पास प्याले से कर्ण रूपी दो कलश थे जो इसकी स्तुति में बनी हुई कविता रूपी सुधा के प्रवाह[1] में डूब गये थे ॥७४॥

समिति पतिनिपाताकर्णनद्रागदीर्ण-
प्रतिनृपतिमृगाक्षीलक्षवक्षःशिलासु ।
रचितलिपिरिवोरस्ताडनव्यस्तहस्त-
प्रखरनखरटङ्कैरस्य कीर्तिप्रशस्तिः ॥७५॥

"इस राजा की कीर्ति की प्रशंसा संग्राम में स्वामियों का मरण सुनने से तत्काल विदीर्ण न हुई—हजारों मृगाक्षी स्त्रियों की—छाती रूप शिलाओं पर पीटने के लिए धरे गये हाथों के नख रूपी टाँकों से लिखी गई है" ॥७५॥

विधाय ताम्बूलपुटीं कराङ्कगां बभाण ताम्बूलकरङ्कवाहिनी।
दमस्वसुर्भावमवेत्य भारतीं नयाऽनया वक्त्रपरिश्रमं शमम् ॥७६॥

एक ताम्बूल-वाहिनी दमयन्ती का भाव जान कर ताम्बूल अपने हाथ में लेकर सरस्वती से बोली—"देवी, तुम पान खाकर अपने मुख का श्रम तो दूर कर लो" ॥७६॥

समुन्मुखीकृत्य बभार भारती रतीशकल्पेऽन्यनृपे निजं भुजम्।
ततस्त्रसद्बालपृषद्विलोचनां शशंस संसज्जनरञ्जनीं जनीम् ॥७७॥

सरस्वती ने कामदेव के तुल्य अन्य राजा की तरफ अपना हाथ लम्बा किया और फिर डरे हुए हिरन के बच्चे के समान नेत्र वाली तथा सभ्यों का रञ्जन करने वाली दमयन्ती को उसे दिखा कर कहा— ॥७७॥

१—यहाँ यश के अभिषेक का वर्णन है। यश ने क्षीरसमुद्र में अपना सिंहासन बनाया। अभिषेक के लिए पानी से भरा कलश चाहिए। लोगों ने अपने दोनों कानों को कलश बनाया जो यश की स्तुति में बनी कविता सुनने के अभ्यस्त थे।

अयं गुणौघैरनुरज्यदुत्कलो भवन्मुखालोकरसोत्कलोचनः ।
स्पृशन्तु रूपामृतवापि ! नन्वमुं तवापि दृक्कारतरङ्गभङ्गयः ॥७८॥

"हे सौन्दर्य रूप अमृत की सरसी, यही वह राजा है जिसमें अनेक गुणों के कारण उत्कल की भूमि अनुरक्त है । इसके नेत्र तुम्हारा मुख देखने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हैं । इस कारण तुम्हारी भी दृष्टि की उज्ज्वल तरङ्गों की लहरें इसका स्पर्श करें ॥७८॥

अनेन सर्वार्थिकृतार्थताकृताऽऽहृतार्थिनौ कामगवीसुरद्रुमौ ।
मिथःपयःसेचनपल्लवाशने प्रदाय दानव्यसनं समाप्नुतः ॥७९॥

"कामधेनु और कल्पवृक्ष आपस में एक दूसरे को क्रम से दूध और पल्लव देकर दान के व्यसन को समाप्त कर लेते हैं क्योंकि इस राजा ने सब याचकों को अभीष्ट दान देकर कृतार्थ कर दिया है ॥७९॥

नृपः कराभ्यामुदतोलयन्निजे नृपानयं यान् पततः पदद्वये ।
तदीयचूडाकुरुविन्दरश्मिभिः स्फुटेयमेतत्करपादरञ्जना ॥८०॥

"यह राजा जिन—अपने दोनों चरणों पर गिरते हुए—नम्र राजाओं को हाथों से कृपा करके उठाता था उनके मुकुट-माणिक्य की लाल शोभा से शायद इसके हाथ पैर लाल हो गये हैं ॥८०॥

यत् कस्यामपि भानुमान् न ककुभि स्थेमानमालम्बते
जातं यद्वनकाननैकशरणप्राप्तेन दावाग्निना ।
एषैतद्भुजतेजसा विजितयोस्तावत्तयोरौचिती
धिक् तं वाडवमम्भसि द्विषि भिया येन प्रविष्टं पुनः ॥८१॥

"सूर्य किसी दिशा में स्थिर नहीं होता है । दावाग्नि केवल अत्यन्त गहन कानन में शरण प्राप्त कर के रहती है । इसकी भुजाओं के तेज ने सूर्य और दावानल को जीत लिया है इस कारण उनके लिए यह ठीक ही था लेकिन बड़वानल को धिक्कार है जो इससे डर कर अपने सहज शत्रु—जल—में प्रविष्ट हो गई है ॥८१॥

अमुष्योर्वीभर्तुः प्रसृमरचमूसिन्धुरभवै-

रवामि प्रारब्धे वमथुभिरवश्यायजसमये ।

न कम्पन्तामन्तः प्रतिनृपभटा म्लायतु न त-
द्वधूवक्त्राम्भोजं भवतु न स तेषां कुदिवसः ॥८२॥

"इस राजा के–रण में जाते हुए–सेना के हाथियों की सूँड़ों की जल-बिन्दुओं से हिम ऋतु आ जाने पर क्या शत्रु राजाओं के सैनिक हृदय में कंपित नहीं हुए ? क्या उनकी रमणियों के मुख कमल म्लान नहीं हुए ! क्या वह दिन सब के लिए अशुभ नहीं हुआ ? ॥८२॥

आत्मन्यस्य समुच्छ्रितीकृतगुणस्याहोतरामौचिती
यद्गात्रान्तरवर्जनादजनयद्रुजानिरेष द्विषाम् ।
भूयोऽहं क्रियते स्म येन च हृदा स्कन्धो न यश्चानमत्
तन्मर्माणि दलं दलं समिदलङ्कर्मीणबाणव्रजः ॥८३॥

"इसमें एकत्रित हुए गुणों के लिए यह उचित ही था कि रण में उद्योग-युक्त बाणवाले इस राजा ने अपने शत्रुओं के अन्य अवयवों को छोड़कर हृदयों और कंधों के मर्मों के टुकड़े टुकड़े कर डाले क्योंकि हृदय बार बार औद्धत्य करता था और कंधे झुके नहीं थे ॥८३॥

दूरं गौरगुणैरहंकृतिभृतां जैत्राङ्ककारे चर-
त्येतद्दोर्यशसि प्रयाति कुमुदं बिभ्यन्न निद्रां निशि ।
धम्मिल्ले तव मल्लिकासुमनसां माल्यं भिया लीयते
पीयूषस्रवकैतवाद्धृतदरः शीतद्युतिः स्विद्यति ॥८४॥

"इसकी बाहुओं के—श्वेत गुण के अहंकार से युक्त वस्तुओं को जीतने-वाले–यश के, योद्धा के समान, सब जगत् में प्रसार करने पर भीत कुमुद रात्रि में निद्रा प्राप्त नहीं करता, मल्लिका के फूलों की माला इससे डरकर तुम्हारे केश-पाशों की चोटी में अपने को छिपा लेती है और चन्द्रमा डरकर अमृत रिसने के बहाने पसीना छोड़ देता है । ८४॥

एतद्गन्धगजस्त्रपाम्भसि भृशं कण्ठान्तमज्जत्तनुः
फेनैः पाण्डुरितः स्वदिक्करिजयक्रीडायशःस्पर्धिभिः ।
दन्तद्वन्द्वजलानुबिम्बनचतुर्दन्तः कराम्भोवमि-
व्याजादभ्रमुवल्लभेन विरहं निर्वापयत्यग्नुते ॥८५॥

"इसका गंध-गज अपनी सूँड के अग्रभाग से उड़े हुए जल के छींटों से समुद्र के ऐरावत के विरह से उत्पन्न हुए—शोक की शान्ति करता है। वह प्यास के कारण गले तक जल में डूब रहा है। अन्य हाथियों के साथ जय-क्रीड़ा में उपार्जित किये गये यश की दीप्ति से स्पर्धा करनेवाले झागों की शिखर से वह श्वेत हो गया है। दोनों दाँतों का प्रतिबिम्ब जल में पड़ने से उसके दाँत चार मालूम होते हैं" ॥८५॥

अथैतदुर्वीपतिवर्णनाद्भुतं न्यमीलदास्वादयितुं हृदीव सा।
मधुस्रजा नैषधनामजापिनी स्फुटीभवद्ध्यानपुरःस्फुरन्नला ॥८६॥

उस समय दमयन्ती ने नेत्र बन्द कर लिये मानों वह उस राजा के अद्भुत गुणों पर हृदय में विचार कर रही हो। फिर हाथ में मधूक-माला लेकर वह नल का नाम चुपचाप जपने लगी और नल उसकी आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो गया ॥८६॥

प्रशंसितुं संसदुपान्तरञ्जिनं श्रिया जयन्तं जगतीश्वरं जिनम्।
गिरः प्रतस्तार पुरावदेव ता दिनान्तसन्ध्यासमयस्य देवता ॥८७॥

दिनान्त—संध्या—समय की देवता सरस्वती पहले की तरह सभा को दोनों तरफ रंजन करनेवाले तथा शोभा से बुद्ध को जीतनेवाले एक राजा का वर्णन करने के लिए फिर मधुर वाणी बोली— ॥८७॥

तथाधिकुर्वा रुचिरे! चिरेप्सिता यथोत्सुकः सम्प्रति सम्प्रतीच्छति।
अपाङ्गरङ्गस्थललास्यलम्पटाः कटाक्षधारास्तव कीकटाधिपः ॥८८॥

"सुन्दरी, तुम इस तरह का प्रबन्ध करो कि मगध देश का स्वामी तुम्हारे कटाक्षों का उत्सुक होकर अपाङ्गरूपी रंग-भूमि में नृत्य करनेवाली तुम्हारी कटाक्ष-धारा अब अंगीकार करे ॥८८॥

इदंयशांसि द्विषतः सुधारुचः किमङ्कमेतद्विषतः किमाननम्।
यशोभिरस्याखिललोकधाविभिर्विभीषिता धावति तामसी मसी ॥८९॥

"सब लोकों को आक्रान्त करते इसके यशों के द्वारा डराई गई कृष्णपक्ष की रात्रिरूपी मसी क्या इसके यश से द्वेष करनेवाले चन्द्रमा के—कलंक के

पास चली गई है ? अथवा क्या इसके शत्रुओं के मुखों में जा लगी है ? ॥८९॥

इदं नृपप्रार्थिभिरुज्झितोऽर्थिभिर्मणिप्ररोहेण विवृध्य रोहणः ।
कियद्दिनैरम्बरमावरिष्यते मुधा मुनिर्विन्ध्यमरुन्ध भूधरम् ॥९०॥

"इस बड़े दानी राजा के याचकों से छोड़ा गया रोहण पर्वत मणियों के अंकुरों की उत्पत्ति से वृद्धि को प्राप्त होकर थोड़े ही दिन में आकाश को ढँक लेगा इस कारण अगस्त्य मुनि के द्वारा विंध्य पर्वत का रोकना वृथा हो जायगा ॥९०॥

भूशक्रस्य यशांसि विक्रमभरेणोपार्जितानि क्रमा-
देतस्य स्तुमहे महेभरदनस्पर्धीनि कैरक्षरैः ।
लिम्पद्भिः कृतकं कृतोऽपि रजतं राज्ञां यशःपारदै-
रस्य स्वर्णगिरः प्रतापदहनैः स्वर्णं पुनर्निर्मितः ॥९१॥

"पराक्रम के भार से क्रम-पूर्वक उपार्जित किये गये इस—पृथ्वी के इन्द्र—के यशों का किन शब्दों से वर्णन किया जाय ? वे यश ऐरावत के दाँतों के साथ स्पर्धा करने वाले हैं, अन्य राजाओं के यश रूप पारे से लिप्त होने के कारण मेरु पर्वत झूठी चाँदी हो गया था लेकिन इसकी प्रतापाग्नि ने उसे फिर सुवर्ण बना दिया ॥९१॥

यद्भर्तुः कुरुतेऽभिषेणनमयं शक्रो भुवः सा ध्रुवं
दिग्दाहैरिव भस्मभिर्मघवता वृष्टैर्धृतोद्धूलना ।
शम्भोर्मा वत सान्ध्यिवेलनटनं भाजि व्रतं द्रागिति
क्षोणी नृत्यति मूर्तिरष्टवपुषोऽसृष्टिग्वृसिन्ध्याधिया ॥९२॥

"वह पृथ्वी, जिसके नृप के सामने यह राजा सेना लेकर जाता है, इस तरह मटियाली हो जाती है मानो इन्द्र से किये गये दिग्दाह की भस्म से होती हो। अष्टमूर्ति शिव की एक मूर्ति पृथिवी संग्राम में रुधिर-वृष्टि को सायं संध्या समझ कर झटपट नृत्य आरम्भ कर देती है और सोचती है कि सन्ध्या काल में शम्भु के नृत्य का नियम भङ्ग न हो ॥९२॥

प्रागेतद्वपुरामुखेन्दु सृजतः स्रष्टुः समस्तत्विषां
कोशः सोप[illegible]ऽयमनल्पायितः ।

निःशेषद्युतिमण्डलव्ययवशादीपल्लभैरेष वा
शेषः केशमयः किमन्धतमसस्तोमैस्ततो निर्मितः ॥९३॥

"पहले सीमा-रहित संसार के निर्माण में जो ब्रह्मा का दीप्ति का सञ्चय थोड़ा नहीं हुआ था वही सब इस राजा का चन्द्र-मुख तक शरीर बनाने में व्यय हो गया। क्या इसका बाकी बचा हुआ केशमय भाग पूरी दीप्ति के नाश होने से सुलभ हुए अन्धकार से बनाया गया है ॥९३॥

तत्तद्दिग्जैत्रयात्रोद्धुरतुरगखुराग्रोद्धतैरन्धकारं
निर्वाणारिप्रतापानलजमिव सृजत्येष राजा रजोभिः।
भूगोलच्छायमायामयगणितविदुन्नेयकायो भियाभू-
देतत्कीर्तिप्रतानैर्विधुभिरिव युधे राहुराहूयमानः ॥९४॥

"यह राजा सब दिशाओं के जीतने में उत्साह शील तथा अत्यन्त बली घोड़ों के खुरों से उठी हुई धूल से अन्धकार उत्पन्न करता है। वह अन्धकार शत्रुओं की बुझी हुई प्रतापाग्नि से उत्पन्न हुआ मालूम होता है। इसके यश-विस्तार रूप बहुत से चन्द्रमाओं के द्वारा मानो युद्ध के लिए ललकारा गया राहु डर से भूमण्डल की छाया के बहाने अपना शरीर छुपा लेता है जिसकी तर्कना ज्योतिषी[1] कर सकते हैं ॥९४॥

आस्ते दामोदरीयामियमुदरदरीं यावलम्ब्य त्रिलोकी
सम्मातुं शक्नुवन्ति प्रथिमभरवशादत्र नैतद्यशांसि।
तामेतां पूरयित्वा निरगुरिव मधुध्वंसिनः पाण्डुपद्म-
छद्मापन्नानि तानि द्विपदशनसनाभीनि नाभीपथेन ॥९५॥

"तीनों लोक विष्णु की जठर-कन्दरा के आश्रय में रहते हैं। इसके यश इन तीनों लोकों में अत्यन्त महत्त्व के कारण समाने के लिए समर्थ नहीं है।

१—ग्रहण के समय राहु चन्द्रमा का ग्रास कर लेता है पर ज्योतिष के अनुसार पृथ्वी की छाया चन्द्रमा पर पड़ती है। यहाँ उत्प्रेक्षा की गई है कि इस राजा के श्वेत यश के रूप में बहुत से चन्द्रमा को देख कर राहु डर गया और उसने ऐसा रूप धारण किया कि जिसकी तर्कना ज्योतिषी ही कर सकते हैं।

इस कारण हाथीदाँत के सदृश अत्यन्त श्वेत यश तीनों लोकों को पूरा करके नाभि से उत्पन्न हुए श्वेत कमल के बहाने विष्णु की नाभि के मार्ग से बाहर निकल आये हैं ॥९५॥

अस्यासिर्भुजगः स्वकोशसुषिराकृष्टः स्फुरत्कृष्णिमा
कम्पोन्मीलदरालवलनस्तेषां भिये भूभुजाम्।
सङ्ग्रामेषु निजाङ्गुलीमयमहासिद्धौषधीवीरुधः
पर्वास्ये विनिवेश्य जाङ्गुलिकता यैर्नाम नालम्बिता ॥९६॥

"इसका खड्ग रूप भुजङ्ग राजाओं में भय पैदा करता है क्योंकि उन्होंने संग्रामों में अपनी उँगली रूप सिद्ध महौषध की लता की ग्रन्थि को मुख में रख कर गारुडिकता[1] प्राप्त नहीं की है। खड्ग म्यान रूपी बाँबी से निकाला गया है, उसका चमकता काला रङ्ग है और वह पकड़ कर फिराने से टेढ़ा होकर जाता है ॥९६॥

यः पृष्ठं युधि दर्शयत्यरिभटश्रेणीषु यो वक्रता-
मस्मिन्नेव बिभर्ति यश्च किरति क्रूरध्वनिं निष्ठुरः।
दोषं तस्य तथाविधस्य भजतश्चापस्य गृह्णन् गुणं
विख्यातः स्फुटमेक एष नृपतिः सीमा गुणग्राहिणाम् ॥९७॥

"जो युद्ध में शत्रु-सैनिकों को पीठ दिखाता है, अपने ऊपर ही वक्र हो जाता है तथा निष्ठुर होकर क्रूर ध्वनि करता है ऐसे दोष-पूर्ण धनुष की प्रत्यंचा धारण करनेवाला यह राजा धनुषधारियों में अग्रगण्य होने की दृष्टि से बड़ा प्रसिद्ध है ॥९७॥

अस्यारिप्रकरः शरश्च नृपतेः सङ्ख्ये पतन्तावुभौ
सीत्कारञ्च न सम्मुखौ रचयतः कम्पञ्च न प्राप्नुतः।
तद्युक्तं न पुनर्निवृत्तिरुभयोर्जागर्ति यन्मुक्तयो-
रेकस्तत्र भिनत्ति मित्रमपरश्चामित्रमित्यद्भुतम् ॥९८॥

1—जिसने मुख में औषध नहीं रक्खी है उसे ही सर्प मारता है। जिसने शस्त्र छोड़ कर दीनता से मुख पर उँगली नहीं रक्खी है उसे इसका खड्ग मारता है।

"इस राजा के शत्रु और बाण दोनों क्रम से सामने आकर और युद्ध में गिरकर न सीत्कार करते हैं और न कम्प को प्राप्त करते हैं। मुक्त[1] होने से जो इनका प्रत्यागमन नहीं होता वो ठीक ही है पर आश्चर्य है—वैरी तो मित्र[2] का और वाण अमित्र का उच्छेद करते हैं ॥९८॥

धूलीभिर्दिवसन्धयन् वधिरयन्नाशाः खुराणां रवै-
र्वातं संयति खञ्जयन् जवजवैः स्तोतॄन् गुणैर्मूकयन्।
धर्माराधनसन्नियुक्तजगता राज्ञाऽमुनाधिष्ठितः
सान्द्रोत्फालमिषाद्विगायति पदा स्प्रष्टुं तुरङ्गोऽपि गाम् ॥९९॥

"इस राजा ने जगत् को धर्म की आराधना में लगाया है। यह राजा जिसपर आरूढ होता है वह घोड़ा भी खुरों की रज से आकाश को अंधा करता है; खुरों के शब्दों से दिगन्त में रहनेवाले मनुष्यों को बहरा करता है, संग्राम में वेग से वायु को अपंग बनाता है तथा गुणों से बन्दियों को मूक कर देता है। ऐसा घोड़ा निरंतर छलाँग मारने के बहाने चरणों से पृथ्वी का स्पर्श करने से घृणा करता है ॥९९॥

एतेनोत्कृत्तकण्ठप्रतिसुभटनटारब्धनाट्याद्भुतानां
कष्टं द्रष्टैव नाभूद्भुवि समरसमालोकिलोकास्पदेऽपि।
अश्वैरस्वैरवेगैः कृतखुरखुरलीमङ्क्षुविक्षुद्यमान-
क्ष्मापृष्ठोत्तिष्ठदन्धङ्करणरणधुरारेणुधारान्धकारात् ॥१००॥

"यद्यपि संग्राम-भूमि में बहुत से दर्शक थे तथापि इस राजा से गरदन कटे गये रिपु-वीररूपी नटों से आरब्ध हुए आश्चर्यदायक नृत्य का देखनेवाला कोई नहीं था क्योंकि बड़े तेज घोड़ों के खुरों से मैदान की सतह शीघ्र चूर-चूर होने पर उठी हुई अंधा करनेवाली—रण के आरम्भ की धूल के प्रवाह ने सबको अन्धा कर दिया था ॥१००॥

१—शत्रु संसार से मोक्ष और बाण धनुष से च्युति प्राप्त करते हैं।
२—यहाँ मित्र का अर्थ सूर्य है। शत्रु रण में मरकर सूर्य-मण्डल के द्वारा स्वर्ग में जाते हैं।

उन्मीलल्लीलनीलोत्पलदलदलनामोदमेदस्विपूर-
क्रोडक्रीडद्द्विजालीगरुदुदितमरुत्स्फालवाचालवीचिः ।
एतेनाखानि शाखानिवहनवहरित्पर्णपूर्णद्रुमाली-
व्यालीढोपान्तशान्तव्यथपथिकदृशां दत्तरागस्तडागः ॥१०१॥

"इस राजा ने ऐसा सरोवर बनाया है जिसकी तरंगें विलास-युक्त नीलोत्पलों के पत्तों के विकास से उत्पन्न हुए परिमल के पुष्ट प्रवाह के उत्संग में क्रीड़ा करती हंसादि पक्षियों की पंक्ति के पक्षों से उत्पन्न वायु की आँधी से शब्दायमान हैं और जिसने शाखाओं के समूहों तथा नये हरे पत्तों से पूर्ण वृक्षों की पंक्तियों से व्याप्त तीर-प्रदेश से व्यथा शान्त होनेवाले पथिकों की दृष्टि को संतोष दिया है ॥१०१॥

वृद्धो वार्धिरसौ तरङ्गवलिभं बिभ्रद्वपुः पाण्डुरं
हंसालीपलितेन यष्टिकलितस्तावद्वयोवंहिमा ।
बिभ्रचन्द्रिकया च कं विकचया योग्यस्फुरत्सङ्गतं
स्थाने स्नानविधायिधार्मिकशिरोनत्यापि नित्यादृतः ॥१०२॥

"इसका बनाया हुआ तालाब वृद्ध है। उसमें तरंगें हैं; हंसों की पंक्ति से प्रवाह श्वेत है; परिमाण जानने के लिए बीच में यष्टि गाड़ी गई है; बहुत से अनेक जातियों के पक्षी हैं तथा उज्ज्वल चाँदनी के योग्य संगति के कारण निर्मल जल है। वृद्ध में सिलवटें आ जाती हैं। शरीर बुढ़ापे से सफेद हो जाता है; शिथिल शरीर के सहारे के लिए वह दण्ड ले लेता है; सौ वर्ष के समीप की अवस्था में पहुँच जाता है तथा केश-हीन चाँद से मुक्त शिर में ... होता रहता है। स्नान करने वाले धार्मिकों के द्वारा शिर झुकाकर उस ... आदर करना उचित ही है ॥१०२॥

तस्मिन्नेतेन यूना सह विहर पयःकेलिवेलासु बाले !
नालेनास्तु त्वदक्षिप्रतिफलनाभिदा तत्र नीलोत्पलानाम् ।
तत्पाथो देवतानां विशतु तव तनुच्छायमेवाधिकारे
तत्फुल्लाम्भोजराज्ये भवतु च भवदीयाननस्याभिषेकः ॥१०३॥

"बाले, इस सरोवर में तुम इस युवक के साथ क्रीड़ा करो। वहाँ जल-क्रीड़ा के अवसर पर नील कमलों का और अपने नेत्रों के प्रतिविम्ब का भेद कमल-दण्ड को दिखाने दो। उसके जल के देवता का अधिकार तुम्हारी देह के प्रतिविम्ब को ही मिले। उसके खिले हुए कमलों के राज्य में तुम्हारे मुख का अभिषेक हो ॥१०३॥

एतत्कीर्तिविवर्तधौतनिखिलत्रैलोक्यनिर्वासितै-
विश्रान्तिः कलिता कथासु जगतां श्यामैः समग्रैरपि।
जज्ञे कीर्तिमयादहो भयभरैरस्मादकीर्तिः पुनः
सा यन्नास्य कथापथेऽपि मलिनच्छाया ववन्ध स्थितिम् ॥१०४॥

"भुवनों की सब काली वस्तुओं ने कथाओं में आश्रय अङ्गीकार किया है। काली वस्तुएँ इसकी कीर्ति के परिणाम से धवल हुई पूरी त्रिलोकी से निकाल दी गई हैं। इस कीर्तिमय राजा से अकीर्ति डर गई क्योंकि मलिन अकीर्ति ने जहाँ तक इसकी पहुँच थी वहाँ तक भी आश्रय नहीं लिया ॥१०४॥

अथावदद्भीमसुतेङ्गितात् सखी जनैरकीर्तिर्यदि वास्य नेष्यते।
मयापि सा तत् खलु नेष्यते परं सभाश्रवःपूरतमालवल्लिताम् ॥१०५॥

एक सखी ने, दमयन्ती के इस राजा की तरफ इशारे से, सरस्वती से कहा—हे वाणि, यदि लोग इसकी अकीर्ति नहीं चाहते हैं तो मैं भी सचमुच इसकी अकीर्ति नहीं चाहती हूँ पर वह सभा के कर्णाभरण की तमाल-लता को अवश्य प्राप्त होगी अर्थात् सभा उसे अवश्य सुनेगी ॥१०५॥

अस्य क्षोणिपतेः परार्धपरया लक्षीकृताः सङ्ख्यया
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणतिमिरप्रख्याः किलाकीर्तयः।
गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरा-
न्मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधे रोधसि ॥१०६॥

"हे वाणि, अष्टम स्वर को अङ्गीकार करके बन्ध्या के उदर से उत्पन्न हुए मूकों के समूह इस राजा की—परार्ध से भी अधिक लाखों से गिनी गई तथा जात्यन्धों से देखे गए अन्धकार के समान—अकीर्ति को निःसन्देह कच्छपी के दूध से उत्पन्न हुए समुद्र के तट पर गाते हैं" ॥१०६॥

तदक्षरैः सस्मितविस्मिताननां निपीय तामीक्षणभङ्गीभिः सभाम् ।
इहास्य हास्यं किमभून्न वेति तं विदर्भजा भूपमपि न्यभालयत् ॥१०७॥

सभा में इस राजा का हास्य हुआ या नहीं—यह जानने के लिए दमयन्ती ने इसे उदासीनता से दृष्टि सम्मुख करके देखा । पहले हास-रस से उत्पन्न हुए नेत्रों के कटाक्षों से सभा की ओर सादर देख लिया था । सभा में सबके मुख आश्चर्य से चकित थे ॥१०७॥

नलान्यवीक्षां विदधे दमस्वसुः कनीनिकागः खलु नीलिमालयः ।
चकार सेवां शुचिरक्ततोचितां मिलन्नपाङ्गः सविधे तु नैषधे ॥१०८॥

दमयन्ती की काली पुतली ने नल से अन्य राजा के देखने का अपराध किया पर अपाङ्ग ने पास ही बैठे नल को देख कर धवल[1] तथा रक्तता के योग्य सेवा की ॥१०८॥

दृशा नलस्य श्रुतिचुम्बिनेषुणा करेऽपि चक्रच्छलनम्रकार्मुकः ।
स्मरः पराङ्गैरनुकल्प्य धन्वितां जनीमनङ्गः स्वयमार्दयत्ततः ॥१०९॥

फिर स्वयं अङ्ग-रहित होने के कारण नल के कानों तक पहुँचते कटाक्ष रूप बाण से कामदेव ने नल के अवयवों से धन्वी होकर दमयन्ती को पीड़ा दी । कामदेव ने नल के हाथ में रेखा-रूप चक्र के बहाने नम्र हुआ धनुष धारण किया था ॥१०९॥

उत्कण्टका विलसदुज्ज्वलपत्रराजिरामोदभागनपरागतराऽतिगौरी ।
रुद्रक्रुधस्तदरिकामधिया नले सा वासार्थितामधृत काञ्चनकेतकीव ॥११०॥

सुनहरी केतकी के समान दमयन्ती ने, मानो महादेव के क्रोध के कारण, उनके शत्रु कामदेव की बुद्धि से नल में आश्रय लिया । दमयन्ती रोमाञ्च युक्त, शोभा-सहित, उज्ज्वल बेल-बूँटे वाली, परिमल युक्त, सानुराग तथा गौर-वर्ण थी और केतकी कण्टक-युक्त उज्ज्वल श्वेत पत्तों की पंक्ति से युक्त, आमोद-युक्त, पराग-युक्त तथा गौर-वर्ण थी ॥११०॥

१—अपाङ्ग धवल तथा रक्त होता है । उसने केवल नल को देख कर सेवा की जैसा स्वामिभक्त और अनुरक्त सेवक करता है ।

तन्नालीकनले चलेतरमनाः साम्यान्मनागप्यभू-
　　दप्यग्रे चतुरः स्थिताञ्च चतुरा पातुं दृशा नैषधान् ।
आनन्दाम्बुनिधौ निमज्ज्य नितरां दूरं गता तत्तला-
　　लङ्कारीभवनाज्जनाय ददती पातालकन्याभ्रमम् ॥१११॥

सच्चे नल में निश्चल मन वाली दमयन्ती आगे बैठे हुए भी चार झूठे नलों को उसके समान होने पर भी कटाक्षों से देखने भी बिलकुल प्रवृत्त नहीं हुई। वह आनन्द-रूप समुद्र में डूब कर हर्ष की परम काष्ठा को प्राप्त हो गई तथा आनन्द समुद्र के नल का अलङ्कार होने से लोगों को पाताल-कन्या का भ्रम पैदा करने लगी। १११॥

सर्वस्वं चेतसस्तां नृपतिरपि दृशे प्रीतिदायं प्रदाय
　　प्रापत्तद्दृष्टिमिष्टातिथिममरदुरापामपाङ्गोत्तरङ्गाम् ।
आनन्दान्ध्येन वन्ध्यानकृत तदपराकूतपातान् स रत्याः
　　पत्या पीयूषधारावलनविरचितेनाशुगेनाशु लीढः ॥११२॥

नल ने भी अपने चित्त की सर्वस्व दमयन्ती को अपने नेत्र को संतोष-जनित दान देकर (=कटाक्ष से सादर देखकर) इन्द्रादि से दुर्लभ—अपांग में अत्यन्त चंचल—उसकी दृष्टि को ही प्रिय अभ्यागत प्राप्त किया। इसके अनन्तर कामदेव के द्वारा सुधारूप दमयन्ती के गरदन झुकाकर देखने से कटाक्ष रूप बाण से शीघ्र विद्ध हुए नल ने दमयन्ती की दृष्टि के अन्य कटाक्षों को आनन्द से अंधा होकर निष्फल किया ॥११२॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
　　श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तस्य द्वादश एष मातृचरणाम्भोजालिमौलेर्महा-
　　काव्येऽयं व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥११३॥

कविराजों की पंक्ति के मुकुटों के अलंकार रूप हीरे श्री हीर नामक पिता तथा मामल्ल देवी नामक माता ने जिस जितेन्द्रिय श्री हर्ष को जन्म दिया और जिसके शिर ने मातृ चरण-कमलों की भ्रमर के समान आराधना की उसके महा-

काव्य--नल-चरित्र--में स्वभाव से सुन्दर बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥११३॥

त्रयोदशः सर्गः

कल्पद्रुमान् परिमला भृङ्गमाला-
मात्माश्रयामखिलनन्दनशाखिवृन्दात् ।
तां राजकादपगमय्य विमानधुर्या-
निन्युर्नलाकृतिधरानथ पञ्च वीरान् ॥१॥

शिविका-वाहक दमयन्ती को राजाओं के समूह से हटाकर नल-वेशधारी पाँच वीरों के पास ले गये जैसे मनोहर गंध, परिमल पर आश्रित भ्रमर-पंक्ति को नन्दन-वन के समस्त वृक्षों से हटाकर, कल्पवृक्षों के पास ले जाती है ॥१॥

साक्षात्कृताखिलजगज्जनताचरित्रा
तत्राधिनाथमधिकृत्य दिवस्तथा सा ।
ऊचे यथा स च शचीपतिरभ्यधायि
प्राकाशि तस्य न च नैषधकायमाया ॥२॥

उस समय सब लोकों की जनता का चरित्र साक्षात् करने वाली सरस्वती ने इस प्रकार इन्द्र के उद्देश्य से कहा कि इन्द्र का वर्णन तो हो गया पर नल का वेष धारण करने की माया प्रकट नहीं हुई ॥२॥

ब्रूमः किमस्य वरवर्णिनि ! वीरसेनोद्भूतिं द्विषद्वलविजित्वरपौरुषस्य।
सेनाचरीभवदिभाननदानवारिवासेन यस्य जनिताऽसुरभीरणश्रीः ॥३॥

[इन्द्र के पक्ष में] हे वरवर्णिनि, मैं इसके वीरों की सेना के ऐश्वर्य का क्या वर्णन करूँ ? इसने अपने बल नामक शत्रु को पराक्रम से जीत लिया है। इसके संग्राम की लक्ष्मी ने गणेश तथा नारायण को सैनिक बनाकर असुरों को भयभीत कर दिया है ॥३॥

[नल के पक्ष में] हे वरवर्णिनि, इसकी वीरसेन से उत्पत्ति के विषय में मैं क्या कहूँ ? इसका पराक्रम अपने शत्रुओं के समूहों का जीतनेवाला है।

इसके संग्राम की लक्ष्मी सेना में भरती हुए हाथियों के मुखों से रिसते हुए मद के संसर्ग से सुगन्धित हो गयी है ॥३॥

शुभ्रांशुहारगणहारिपयोधराङ्क-
चुम्बीन्द्रचापखचितद्युमणिप्रभाभिः ।
अन्वास्यते समिति चामरवाहिनीभि-
र्यात्रासु चैष बहुलाभरणार्चिताभिः ॥४॥

[इन्द्र के पक्ष में] चन्द्रमा, हर के गण, कार्तिकेय तथा मेघ-गणों को स्पर्श करनेवाले इन्द्र धनुष से आकाश में अत्यन्त सुशोभित होनेवाली सूर्य किरणों से देदीप्यमान तथा अत्यन्त लाभ-जनक असुर-युद्धों में कीर्ति-शालिनी देव-सेनाएँ युद्ध-यात्राओं में तथा शोभा-यात्राओं में सदा इस देवराज इन्द्र का अनुसरण करती हैं ॥४॥

[नल के पक्ष में] शुभ्र किरणों से युक्त मोतियों की मालाओं से चित्ताकर्षक स्तनों पर इन्द्रधनुष की शोभा से सूर्य-प्रभा के समान शोभा धारण करनेवाली और नाना प्रकार के अभारणों से अलंकृत चँवर-डुलाने वाली सुन्दरियाँ राज-सभा में तथा जुलूसों में सदा इस महाराजा नल की सेवा किया करती हैं ॥४॥

क्षोणीभृतामतुलकर्कशविग्रहाणामुद्दामदर्पहरिकुञ्जरकोटिभाजाम् ।
पक्षच्छिदामयमुदग्रबलो विधाय मग्नं विपज्जलनिधौ जगदुज्जहार ॥५॥

[इन्द्र के पक्ष में] इस उदग्र पौरुषवाले देवता ने करोड़ों अत्यन्त उद्भट सिंहों तथा हाथियों को रखनेवाले तथा अत्यन्त उच्च और कर्कश देहवाले पर्वतों के पंख काट कर आपत्ति के समुद्र में मग्न हुए जगत् को बाहर निकाला है ॥५॥

[नल के पक्ष में] इस उदग्र पौरुषवाले राजा ने युद्ध में अद्वितीय श्वेत घोड़ों को मारने वाले तथा करोड़ों अत्यन्त उद्भट सिंहों तथा हाथियों के रखनेवाले शत्रु-राजाओं के सहायकों का नाश कर के आपत्ति के समुद्र में मग्न हुए जगत् को बाहर निकाला है ॥५॥

भूमीभृतः समिति जिष्णुमपव्यपायं
जानीहि न त्वमघवन्तममुं कथञ्चित्।
गुप्तं घटप्रतिभटस्तनि ! बाहुनेत्रं
नालोकसेऽतिशयमद्भुतमेतदीयम् ॥६॥

[इन्द्र के पक्ष में] हे घटों के स्पर्धी स्तनवाली, तुम इसे संग्राम में पर्वतों के जीतने वाले इन्द्र को छोड़ अन्य किसी को मत जानो। इसके वज्र का कभी नाश नहीं होता। क्या तुम इसकी यह अद्भुत बात नहीं देखती हो कि इसके असंख्य नेत्र हैं जो किसी तरह छिपा लिए गये हैं ॥६॥

[नल के पक्ष में] हे घटों के स्पर्धी स्तन वाली, यह विचार मत करो कि यह किसी प्रकार पापी है यह राजाओं को जीतनेवाला है और युद्ध से भागता नहीं है। इसकी आश्चर्यजनक बाहुओं और नेत्रों को क्या तुम किसी बहानों से नहीं देखोगी ॥६॥

लेखा नितम्बिनि ! बलादिसमृद्धराज्य-
प्राज्योपभोगपिशुना दधते सरागम्।
एतस्य पाणिचरणं तदनेन पत्या
सार्द्धं शचीव हरिणा मुदमुद्वहस्व ॥७॥

[इन्द्र के पक्ष में] हे नितम्बिनी, बल आदि के सम्पूर्ण राज्य के पूरे उपभोग को नहीं सहन करते हुए देवता इसके हाथों और चरणों[1] को अनुराग सहित धारण करते हैं। इस कारण इन्द्र के साथ शची के समान मोद प्राप्त करो ॥७॥

[नल के पक्ष में] हे नितम्बिनी, इसके अरुण हाथ तथा चरण, सेना आदि से समृद्ध राज्य के उपभोग की सूचक रेखाओं से युक्त हैं। इस कारण इस पति के साथ उसी हर्ष को प्राप्त होओ जैसे शची इन्द्र के साथ होती है ॥७॥

१—हाथ में हाथ लेते हैं और नमस्कार के लिए चरणों को धारण करते हैं।

आकर्ण्य तुल्यमखिलां सुदती लगन्ती-
माखण्डलेऽपि च नलेऽपि च वाचमेताम् ।
रूपं समानमुभयत्र विगाहमाना
श्रोत्रान्न निर्णयमवापदसौ न नेत्रात् ॥८॥

दमयन्ती ने इन सब वचनों को सुना जो इन्द्र में तथा नल में एक से युक्त होते थे तथा दोनों में एक सा रूप देखा तब वह अपने नेत्रों या कानों से कुछ निर्णय नहीं कर सकी ॥८॥

शक्रः किमेष निषधाधिपतिः स वेति
दोलायमानमनसं परिभाव्य भैमीम् ।
निर्दिश्य तत्र पवनस्य सखायमस्यां
भूयोऽसृजद्भगवती वचसः स्रजं सा ॥९॥

क्या यह इन्द्र है ? या क्या यह नल है ? इस प्रकार दमयन्ती को दोलायमान देख कर भगवती सरस्वती ने अग्नि के उद्देश्य से फिर वचनों की माला बनाई ॥९॥

एष प्रतापनिधिरुद्गतिमान् सदाऽयं
किं नाम नार्जितमनेन धनञ्जयेन ।
हेम प्रभूतमधिगच्छ शुचेरमुष्मान्
नास्यैव कस्यचन भास्वररूपसम्पत् ॥१०॥

[अग्नि के पक्ष में] यह प्रतापनिधि उष्ण का स्पर्श-स्थान है । यह सदा ऊपर जाता है । इस धनञ्जय ने क्या प्राप्त नहीं किया है ? इससे तुम प्रभूत सोने प्राप्त करो । इसके समान देदीप्यमान किसी की भी रूप संपत्ति नहीं ॥१०॥

[नल के पक्ष में] यह क्षात्र तेज का स्थान है । इसका सदा उदय होता है । इस धनञ्जय ने क्या प्राप्त नहीं किया है ? इससे तुम प्रभूत सोने प्राप्त करो । इसके समान देदीप्यमान किसी की भी रूप-सम्पत्ति नहीं ॥१०॥

अत्यर्थहेतिपटुताकवलीभवत्तत्तत्पार्थिवाधिकरणप्रभवाऽस्य भूतिः।
अभ्यङ्गरागजननाय महेश्वरस्य सञ्जायते रुचिरकर्णि! तपस्विनोऽपि॥११॥

[अग्नि के पक्ष में] हे रुचिर कर्ण वाली, इसकी ज्वालाओं के आवेश का प्राप्त हुई पृथिवी की भिन्न भिन्न वस्तुओं से उत्पन्न हुई भस्म तपस्वी शिव के अङ्गराग के काम आती है ॥११॥

[नल के पक्ष में] हे रुचिर कर्ण वाली, इसकी बाहुओं के अनन्त पौरुष के प्राप्त हुए भिन्न भिन्न राजाओं की बड़ी बड़ी सेनाओं से उत्पन्न हुई सम्पत्ति बड़े बड़े धनियों तथा मुनियों को ईर्ष्या उत्पन्न करती है ॥११॥

एतन्मुखा विबुधसंसदसावशेषा
माध्यस्थ्यमस्य यमतोऽपि महेन्द्रतोऽपि।
एनं महस्विनमुपेहि सदारुणोच्चै-
र्येनामुना पितृमुखि! ध्रियते करश्रीः॥१२॥

[अग्नि के पक्ष में] हे पिता के समान मुखवाली दमयन्ती, यह पूरी देव-सभा का मुख है। यम और इन्द्र के बीच[1] में इसका स्थान है। तुम इस तेजस्वी को स्वामी बनाओ जो सदा कान्ति की अत्यन्त अरुण शोभा धारण करता है ॥१२॥

[नल के पक्ष में] हे पिता के समान मुख वाली दमयन्ती, यह विद्वत्सभा का प्रधान है। इन्द्र और यम से भी अधिक पक्षपात-रहित है। तुम इस तेजस्वी को स्वामी बनाओ। इसके सुन्दर हाथों की शोभा करती है ॥१२॥

नैवाल्पमेधसि पटो रुचिमत्त्वमस्य
मध्येसमिन्निवसतो रिपवस्तृणानि।
उत्थानवानिह पराभवितुं तरस्वी
शक्यः पुनर्भवति केन विरोधिनायम्॥१३॥

१—यम दक्षिण का और इन्द्र पूर्व का दिक्पाल है। अग्नि कोण का दिक्पाल अग्नि है।

[अग्नि के पक्ष में] यह अत्यन्त समर्थ है इस कारण काठ पर इसकी शक्ति कम नहीं है। जब यह काष्ठ के मध्य में निवास करता है तब तृण इसके शत्रु हो जाते हैं यह बड़ा वेगवान् और ऊपर उठनेवाला है। कौन विरोधी इसका पराभव कर सकते हैं ? ॥१३॥

[नल के पक्ष में] अत्यन्त समर्थ होने के कारण अल्प बुद्धिवालों को यह पसंद नहीं करता। जब यह युद्ध में विद्यमान होता है तब शत्रु तृण के समान हो जाते हैं। इस उन्नति करने वाले और वेग वाले का पराभव पृथ्वी पर कौन कर सकता है ? ॥१३॥

साधारणीं गिरमुषर्बुधनैषधाभ्या-
मेतां निपीय न विशेषमवाप्तवत्या।
ऊचे नलोऽयमिति तं प्रति चित्तमेकं
ब्रूते स्म चान्यदनलोऽयमितीदमीयम् ॥१४॥

अग्नि तथा नल में साधारण वाणी को सुनकर दमयन्ती ने उन दोनों के बीच में कोई तारतम्य नहीं जाना। एक बार तो चित्त ने कहा कि यह नल है पर उसी समय कहा कि यह (अ+नल) नल नहीं है ॥१४॥

एतादृशीमथ विलोक्य सरस्वती तां
सन्देहचित्रभयचित्रितचित्तवृत्तिम्।
देवस्य सूनुमरविन्दविकासिरश्मे-
रुद्दिश्य दिक्पतिमुदीरयितुं प्रचक्रे ॥१५॥

सन्देह, आश्चर्य तथा भय से युक्त चित्त-वृत्ति वाली दमयन्ती को देखकर सरस्वती ने अन्य दिक्पाल यम के विषय में कहना आरम्भ किया ॥१५॥

दण्डं बिभर्त्ययमहो जगतस्ततः स्यात्
कम्पाकुलस्य सकलस्य न पङ्कपातः।
स्ववैद्ययोरपि मदव्ययदायिनीभि-
रेतस्य रुग्भिरमरः किमु कश्चिदस्ति ॥१६॥

[यम के पक्ष में] यह दण्ड धारण करता है इस कारण सब संसार भय

से काँपता है और पाप करने से बचता है। चिकित्सा में समर्थ स्वर्ग के वैद्यों के भी गर्व को क्षीण करने वाले इस के रोगों से कौन नहीं मरता है ? ॥१६॥

[नल के पक्ष में] यह शासन करता है इस कारण सब संसार भय से काँपता है और पाप करने से बचता है। सौन्दर्य से प्रसिद्ध अश्विनीकुमारों के गर्व को क्षीण करनेवाली इसके शरीर की कान्ति से युक्त कोई देवता है क्या ? ॥१६॥

मित्रप्रियोपजननं प्रति हेतुरस्य
संज्ञा श्रुतासुहृदयं न जनस्य कस्य।
छायेरगस्य च न कुत्रचिदध्यगायि
तप्तं यमेन नियमेन तपोऽमुनैव ॥१७॥

[यम के पक्ष में] इसके जन्म के प्रति संज्ञा नामक सूर्य-पत्नी कारण सुनी जाती है लेकिन छाया कहीं भी इसके जन्म की हेतु नहीं सुनी। यह किसके प्राण नहीं हर लेता है ? इसी यम ने नियम से तप किया था ॥१७॥

[नल के पक्ष में] इसका नाम सुनने से मित्रों को इष्ट की प्राप्ति होती है। यह किसका मित्र नहीं है ? इसके जैसे शरीर की कान्ति कहीं नहीं देखी गई। इसने यम और नियम से तप किया है ॥१७॥

किं च प्रभावनमिताखिलराजतेजा
देवः पिताम्बरमणी रमणीयमूर्तिः।
उत्क्रान्तिदा कमनु न प्रतिभाति शक्तिः
कृष्णत्वमस्य च परेषु गदान् नियोक्तुः ॥१८॥

[यम के पक्ष में] इसके अतिरिक्त इसका पिता रमणीय-मूर्ति सूर्य है जो अपनी प्रभा से चन्द्रमा के सब तेज का तिरस्कार करता है इसकी मरण देने वाली शक्ति किस पर समर्थ नहीं होती है ? यह दूसरों पर रोगों की प्रेरणा करता है—यह इसकी अप्रतिष्ठा का सूचक है ॥१८॥

[नल के पक्ष में] इसके अलावा इसका पिता ऐसा राजा था जिसने अपने पौरुष से अन्य सब राजाओं की शक्ति को परास्त कर दिया था। उसकी

और वस्त्रों और रत्नों से रमणीय था। इसकी शक्ति किस शत्रु को मरण-द नहीं होती ? यह अपनी गदा से शत्रुओं पर प्रहार करता है इस कारण यह कृष्ण है ॥१८॥

एकः प्रभावमयमेति परेतराजौ
तज्जीवितेशधियमत्र निधत्स्व मुग्धे !।
भूतेषु यस्य खलु भूरियमस्य वश्य-
भावं समाश्रयति दस्रसहोदरस्य ॥१९॥

[यम के पक्ष में] मुग्धे, प्रेतों की पंक्ति में सिर्फ यही प्रभाव रखता है। इस कारण यह मनुष्यों के जीवनों का स्वामी है। अश्विनीकुमारों के भ्राता इस यम के अधीन सब भूत हैं ॥१९॥

[नल के पक्ष में] शत्रुओं के तथा अन्य राजाओं के साथ युद्ध में केवल इसका ही प्रभाव रहता है। इसे अपने जीवन का स्वामी समझो। पाँच भूतों वाली सब पृथ्वी अश्विनी कुमारों के तुल्य सौन्दर्य वाले इसके वश में रहती है ॥१९॥

गुम्फो गिरां समननैषधयोः समानः
शङ्कामनेकनलदर्शनजातशङ्के ।
चित्ते विदर्भवसुधाधिपतेः सुताया
यन्निर्ममे खलु तदेष पिपेष पिष्टम् ॥२०॥

यम और नल के विषय में समान वाणी ने दमयन्ती के चित्त में शङ्का पैदा की। उससे केवल पिष्ट-पेषण हुआ क्योंकि अनेक नल होने से उसके मन में शङ्का पहले से मौजूद थी ॥२०॥

तत्रापि तत्रभवती भृशसंशयालो-
रालोक्य सा विधिनिषेधनिवृत्तिमस्याः ।
पाथःपतिं प्रति धृताभिमुखाङ्गुलीक-
पाणिः क्रमोचितमुपाक्रमताभिधातुम् ॥२१॥

यम के ऊपर भी संशय करने वाली दमयन्ती से "हाँ" या "न" के उत्तर

का अभाव देख कर पूज्य सरस्वती ने वरुण की ओर उँगली करके हाथ आगे बढ़ा कर कहना आरम्भ किया ॥२१॥

या सर्वतोमुखतया व्यवतिष्ठमाना
यादोरणैर्जयति नैकविदारकाया ।
एतस्य भूरितरवारिनिधिश्चमूः सा
यस्याः प्रतीतिविषयः परतो न रोधः ॥२२॥

[वरुण के पक्ष में] इसकी सेना बहुत से समुद्रों से युक्त है। उसका दूसरा[1] तीर दृष्टि-गोचर नहीं होता। वह जल से व्यवस्थित है। उसमें जल-जन्तुओं के शब्द होते हैं और बहुत से कूप हैं ॥२२॥

[नल के पक्ष में] इसकी सेना में बहुत से खड्ग हैं। वह सब लोक में मुख्य है। उसमें बाहु-युद्ध होते हैं तथा बहुत से योधा हैं। इसका शत्रु के द्वारा रुकना ज्ञान-गोचर नहीं है। इसका सेना-मुख सब को व्याप्त करता है ॥२२॥

नासीरसीमनि घनध्वनिरस्य भूयान्
कुम्भीरवान् समकरः सहदानवारिः ।
उत्पद्मकाननसखः सुखमातनोति
रत्नैरलङ्करणभावमितैर्नदीनः ॥२३॥

[वरुण के पक्ष में] समुद्र जलमय सेना के मुख-विभाग में स्थित होकर अपने देह में उत्पन्न रत्न आदि के द्वारा इसको अत्यन्त सुख देता है। समुद्र का बड़ा घना शब्द है, बड़ा परिणाम है। उसमें मगर, मच्छ तथा विष्णु रहते हैं। पास के वन में कमल खिलते हैं ॥२३॥

[नल के पक्ष में] बहुत से हाथी इसको सेना-मुख के विभाग में अनायास शब्द करते हैं। उनकी ध्वनि मेघ के समान है। उनके विशाल मद-जल सहित शुंडा दण्ड हैं। उनके मुख विन्दुओं से तथा अलङ्कारों के रत्नों से युक्त हैं ॥२३॥

१—सेना और समुद्रों के मिल जाने से दूसरा तीर नहीं दीखता।

स्यन्दनैः प्रवहणैः प्रतिकूलपातं
का वाहिनी न तनुते पुनरस्य नाम।
तस्या विलासवति ! कर्कशताश्रिता या
ब्रूमः कथं बहुतयासिकता वयं ताः ॥२४॥

[वरुण के पक्ष में] हे विलासवति, इसकी कौन सी नदी वेग-पूर्ण जहाँ से तीर तक नहीं जाती ? इसकी रेती की प्रचुरता का हम किस प्रकार वर्णन करें जिस पर सैकड़ों केकड़ें विश्राम लेते हैं ? ॥२४॥

[नल के पक्ष में] हे विलासवति, इसकी कौन सी सेना रथों के साथ घोड़ों से युक्त होकर शत्रुओं पर आक्रमण नहीं करती है ? हम इसके सिपाहियों का क्या वर्णन करें क्योंकि वे असंख्य हैं और हजारों वेगवान् सफेद घोड़े उनके साथ हैं ? ॥२४॥

शोणं पदप्रणयिनं गुणमस्य पश्य
किञ्चास्य सेवनपरैव सरस्वती सा।
एनं भजस्व सुभगे ! भुवनाधिनाथं
किं वा भजन्ति तमिमं कमलाशया न ॥२५॥

[वरुण के पक्ष में] सुभगे, इस भुवन (=जल) के अधीश्वर का तुम वरण करो। यह गुण-प्रधान है और सोन नदी इसके चरणों की सेवा करती है। इसके अतिरिक्त सरस्वती नदी भी इसकी सेवा में अनुरक्त है। जल के कौन से सरोवर इसकी सेवा नहीं करते ? ॥२५॥

[नल के पक्ष में] सुभगे, पृथ्वी के इस स्वामी का तुम वरण करो। इसके चरणों के अरुण रङ्ग को देखो। केवल यही ऐसा है जिसकी सेवा सरस्वती करती है। धन की आशा से कौन इसको शरण में नहीं जाता ? ॥२५॥

शङ्कालताततिमनेकनलावलम्बां
वाणी नवर्धयतु तावदभेदिकेयम्।
भीमोद्भवां प्रति नले च जलेश्वरे च
तुल्यं तथापि यदवर्धयदत्र चित्रम् ॥२६॥

क्या सरस्वती से कही गई यह वाणी अनेक नलों के सम्बन्ध में संशय-लताओं की पंक्ति को बढ़ाने में समर्थ नहीं होगा ? यह विषय का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं करती है क्या ? इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है पर इसने नल और बरुण के मन में भी साथ साथ दमयन्ती के विषय में संशय-लता की परम्परा की वृद्धि की ॥२६॥

बालां विलोक्य विबुधैरपि मायिभिस्तै-
रच्छद्मितामियमलीकनलीकृतस्वैः ।
आह स्म तां भगवती निषधाधिनाथं
निर्दिश्य राजपरिषत्परिवेषभाजम् ॥२७॥

अपने को झूठा नल बनाने वाले माया पूर्ण देवता भी दमयन्ती को धोखा नहीं दे सके—यह देख कर सरस्वती ने—जो राजाओं की सभा से परिवेष के समान घिरा हुआ था—उस नल के विषय में दमयन्ती से कहा— ॥२७॥

अत्याजिलब्धविजयप्रसरस्त्वया किं
विज्ञायते रुचिपदं न महीमहेन्द्रः ।
प्रत्यर्थिदानवशताहितचेष्टयासौ
जीमूतवाहनधियं न करोति कस्य ? ॥२८॥

[नल के पक्ष में] क्या तुम मही के महेन्द्र नल को नहीं जानती हो ? इसने घोर संग्राम में बहुत विजय प्राप्त की है। यह कान्ति का आकर है। याचकों के प्रति दानशीलता तथा अनुकूल व्यापार के कारण इसे जीमूत-वाहन के समान कौन नहीं समझता ? ॥२८॥

[इन्द्र के पक्ष में] क्या तुम इस सुन्दर तथा परिहास-प्रिय इन्द्र को नहीं पहचानती हो ? इसने घोर संग्राम में बहुत विजय प्राप्त की है। सैकड़ों शत्रु-दैत्यों की ओर इसकी प्रतिकूल चेष्टा के कारण क्या कोई ऐसा है जिसे यह इन्द्र न मालूम होता हो ? ॥२८॥

येनामुना बहुविगाढपुरेश्वराध्वराज्याभिषेकविकसन्महसा बुभूवे ।
आवर्जनं तमनु ते ननु ! साधु नामग्राहं मया नलमुदीरितमेवमत्र ॥२९॥

[नल के पक्ष में] इसने इन्द्र के त्रिलोकी-प्रतिपालन के मार्ग का पूरा पूरा अध्ययन किया है। राज्य के अभिषेक से इसकी उज्ज्वलता विकास को प्राप्त हुई है। दमयन्ती, इन पाँचों के बीच में मुझसे नाम लेकर बतलाये गये नल के विषय में तुम्हारा अङ्गीकार ही शुभ होगा ॥२९॥

[अग्नि के पक्ष में—] इसकी कान्ति इन्द्र के यज्ञों के घी में सराबोर होने से बढ़ी है जिनमें यह बहुधा डूब जाता है। अग्नि का तुम्हारे द्वारा स्वीकार होना प्रशंसा-जनक होगा ॥२९॥

यच्चण्डिमारणविधिव्यसनं च तत्त्वं
बुद्ध्वाशयाश्रितममुष्य च दक्षिणत्वम्।
सैषानले सहजरागभरादमुष्मिन्
नात्मानमर्पयितुमर्हसि धर्मराजे ॥३०॥

[नल के पक्ष में] इसकी रण में क्रूरता तथा व्यसन तथा इसके मन की सरलता— सब को बुद्धि से जान कर—धर्म से शोभायमान इस नल के साथ अकृत्रिम अनुराग के बाहुल्य के कारण तुम अपना योग करो ॥३०॥

[यम के पक्ष में] कोपने, उसके प्राणियों के प्राण हरने का व्यसन तथा उसकी दिशा[१] से दक्षिणत्व जान कर तुम यम को अपने को दो—जो नल नहीं है ॥३०॥

किं ते तथा मतिरमुष्य यथाशयः स्यात्
त्वत्पाणिपीडनविनिर्मितयेऽनपाशः।
कान्मानवानवति नो भुवनं चरिष्णून्
नासावमुत्र नरता भवतीति युक्तम् ॥३१॥

[नल के पक्ष में] क्या तुम्हारी यह बुद्धि है कि इसका हृदय तुम्हारे साथ विवाह करने की आशा से रहित न हो? यह संसार में रहने वाले किस मनुष्य की रक्षा नहीं करता है? यह उचित नहीं है कि इसको तुम नहीं चाहो ॥३१॥

१—अर्थात् यम केवल दक्षिण दिशा का स्वामी है पर दक्षिण (= उदार) नहीं है।

[वरुण के पक्ष में] क्या तुम्हारी यह बुद्धि है कि तुम्हारा कर-ग्रहण करने के लिए उसका कर पाश से रहित हो ? किस जल-मार्ग से जाते हुए मनुष्य की रक्षा वह नहीं करता है ? यह उचित नहीं है कि उसको तुम नहीं चाहो ॥३१॥

श्लोकादिह प्रथमतो हरिणा द्वितीया-
द्धूमध्वजेन शमनेन समं तृतीयात् ।
तुर्याच्च तस्य वरुणेन समानभावं
सा जानती पुनरवादि तया विमुग्धा ॥३२॥

पहले श्लोक से इन्द्र के, दूसरे से अग्नि के, तीसरे से यम के तथा चौथे से वरुण के साथ नल का समान भाव देखने से अत्यन्त भ्रान्त हुई दमयन्ती से सरस्वती ने फिर कहा— ॥३२॥

त्वं याऽर्थिनी किल नले न शुभाय तस्याः
क स्यान्निजार्पणममुष्य चतुष्टये ते ।
इन्द्रानलार्यमतनूजपयःपतीनां
प्राप्यैकरूप्यमिह संसदि दीप्यमाने ॥३३॥

तुम नल को चाहती हो । फिर सामने बैठे हुए इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण को अपने को देना क्या तुम्हारी भलाई के लिए होगा ? किसी तरह नहीं । एक सा रूप धारण करके वे इस सभा में शोभायमान हैं ॥३३॥

देवः पतिर्विदुषि ! नैष धराजगत्या
निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या ।
नायं नलः खलु तवातिमहानलाभो
यद्येनमुज्झसि वरः कतरः परस्ते ॥३४॥

[इन्द्र के पक्ष में] हे विदुषि, यह पृथ्वी-लोक का पति नहीं है स्वर्ग का पति है । यह देवता है । तुम इसका वरण नहीं करती हो इसमें तुमको निश्चय नहीं है । यह नल नहीं है किन्तु तुमको भ्रान्ति से नल के

दीखता है। इसका तेज सब से अधिक है। यदि तुम इसको छोड़ दोगी तो तुम्हारी बड़ी हानि होगी। फिर अन्य कौन तुम्हारा वर होगा? ॥३४॥

[अग्नि के पक्ष में] यह देवता है। मेष वाहन होने से यह यात्रा में सब देशों में जाता है। यह आग्नेय दिशा का पति है। इसके साथ तुम क्यों वरण नहीं करती हो? यह नल नहीं है किन्तु अनल है। तृणों से अत्यन्त तेजस्वी दीखता है। यदि इसे छोड़ दोगी तो तुम्हारा अन्य कौन सा वर है? ॥३४॥

[यम के पक्ष में] यह देवता है। दक्षिण दिशा का पति है! इस कारण—(अपने वाहन) महिष के पालक—इसका निश्चय करके क्यों इसका वरण नहीं करती हो? यह नल नहीं है पर प्राणियों को ग्रहण करने वाला है। इससे तुमको अत्यन्त महान् प्राण का लाभ होगा। यदि इसे छोड़ दोगी तो तुम्हारा वर वरुण होगा ॥३४॥

[वरुण के पक्ष में] यह पृथिवी में उत्पन्न औषधों की गति—उदक—का पति है। देवता है। इसका तुम निर्णय क्यों नहीं करती हो तथा इसका वरण क्यों नहीं करती हो? यह नल नहीं है किन्तु वरुण है। इसकी नल के समान बहुत बड़ी आभा है जिससे यह तुम को नल की आभा धारण करने वाला प्रतीत होता है। यदि इसे छोड़ती हो तो कौन वर सुखकारी होगा? ॥३४॥

[नल के पक्ष में] हे विदुषि, इस देवता को तुम नल क्यों नहीं समझती हो और इसे अपना पति क्यों नहीं बनाती हो? यह निश्चय है कि यह तृण-विशेष नहीं है। अगर तुम इसे अङ्गीकार नहीं करोगी तो तुम्हारी बड़ी हानि होगी। फिर कौन तुम्हारा पति होगा? ॥३४॥

इन्द्राग्निदक्षिणदिगीश्वरपाशिभिस्तां
वाचं नले तरलिताऽथ समां प्रमाय।
सा सिन्धुवेणिरिव वाडववीतिहोत्रं
लावण्यभूः कमपि भीमसुताऽऽप तापम् ॥३५॥

नल के विषय में कहे गये वचनों को इन्द्र, अग्नि, यम तथा वरुण के वर्णन करने वाले समझ कर लावण्य-निधि दमयन्ती ने व्याकुल होकर बड़ा संताप किया जैसे गङ्गा-सागर-सङ्गम बड़वानल को प्राप्त करता है ॥३५॥

साप्तुं प्रयच्छति न पक्षचतुष्टये तां
तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे ।
श्रद्धां दधे निषधराड्विमतौ मताना-
मद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः ॥३६॥

नल-विषयक सन्देह हो जाने पर जब अपनी प्राप्ति की आशा से आये हुए इन्द्रादि चारों देवताओं में दमयन्ती को नल होने का निश्चय न हो सका तब पञ्चम स्थान पर बैठे हुए वास्तविक नल में भी उस दमयन्ती ने नल होने की श्रद्धा उसी प्रकार नहीं की जिस प्रकार सत्य विषयक सन्देह होने पर भी न्याय मीमांसा, सांख्य और बौद्ध इन चारों दर्शनों में सत्य-विषयक का निश्चय न पाकर, अविवेकी पुरुष अद्वैत प्रतिपादक परम-सत्य वेदान्त दर्शन की सत्यता में भी श्रद्धा नहीं करते ॥३६॥

कारिष्यते परिभवः कलिना नलस्य
तां द्वापरस्तु सुतनूमदुनोत्पुरस्तात् ।
भैमीनलोपयमनं पिशुनौ सहेते
न द्वापरः किल कलिश्च युगे जगत्याम् ॥३७॥

कलियुग नल का पराभव करेगा । द्वापर (=सन्देह) ने दमयन्ती को कलि से पहले ही पीड़ा दी । द्वापर और कलि दोनों दुष्ट युग भूलोक में दमयन्ती और नल के विवाह को सहन नहीं कर सकते ॥३७॥

उत्कण्ठयन् पृथगिमां युगपन्नलेषु
प्रत्येकमेषु परिमोहयमाणबाणः ।
जानीवहे निजशिलीमुखशीलिसङ्ख्या-
साफल्यमाप स तदा यदि पञ्चबाणः ॥३८॥

दमयन्ती को प्रत्येक के लिए तथा एक ही साथ जुदी जुदी उत्कण्ठा से

हुए-मोह-जनक बाण युक्त कामदेव ने समझा कि मेरे बाणों की पाँच संख्या सफल हुई ॥३८॥

देवानियं निषधराजरुचस्त्यजन्ती
रूपादरज्यत नले न विदर्भसुभ्रूः ।
जन्मान्तराधिगतकर्मविपाकजन्मै-
वोन्मीलति क्वचन कस्यचनानुरागः ॥३९॥

दमयन्ती रूप-सौन्दर्य से नल में अनुरक्त नहीं हुई क्योंकि उसने नल के समान कान्ति वाले देवताओं को त्याग दिया। जन्मान्तर में किये हुए कर्म के विपाक से उत्पन्न हुए किसी प्राणी का अनुराग किसी प्राणी में उत्पन्न हो ही जाता है ॥३९॥

क्व प्राप्यते स पतगः परिपृच्छ्यते यः
प्रत्येमि तस्य हि पुरेव नलं गिरेति ।
सस्मार सस्मरमतिः प्रति नैषधीयं
तत्रामरालयमरालमरालकेशी ॥४०॥

"मुझे वह हंस कहाँ मिलेगा जिससे मैं विश्वास से पूछूँ ? उसकी वाणी से ही मैं पहले की तरह नल का निश्चय करूँगी।" इस तरह अधीर बुद्धि वाली कुटिल-केशी दमयन्ती ने मन में विचार कर नल से सम्बन्ध रखने वाले स्वर्गवासी हंस का स्मरण किया ॥४०॥

एकैकमैक्षत मुहुर्महतादरेण
भेदं विवेद न च पञ्चसु कञ्चिदेषा ।
शङ्काशतं वितरता हरता पुनस्त-
दुन्मादिनेव मनसेयमिदं तदाह ॥४१॥

दमयन्ती ने बहुत आदर से फिर एक एक को देखा लेकिन उन पाँचों में उसे जरा सा भी भेद नहीं दीखा। कभी तो मन में, सैकड़ों शङ्काएँ पैदा हो गईं, कभी वे जाती रहीं। तब उसने उन्मादिनी की तरह कहा— ॥४१॥

अस्ति द्विचन्द्रमतिरस्ति जनस्य तत्र
भ्रान्तौ दृगन्तचिपिटीकरणादिरादिः।
स्वच्छोपसर्पणमपि प्रतिमाभिमाने
भेदभ्रमे पुनरमीषु न मे निमित्तम् ॥४२॥

कभी कभी लोगों को भ्रान्ति हो जाती है कि चन्द्रमा दो हैं पर इसका कारण यह है कि लोग आँखों के कोनों को उँगली से दबाते हैं। दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थ के समीप जाने से मुख के प्रतिबिम्ब का ज्ञान भी भ्रान्त हो जाता है। यहाँ तो एक ही नल पाँच रूपों में दिखाई देता है पर इसका कोई कारण[1] नहीं है ॥४२॥

किं वा तनोति मयि नैषध एव काय-
व्यूहं विधाय परिहासमसौ विलासी।
विज्ञानवैभवभृतः किमु तस्य विद्या
सा विद्यते न तुरगाशयवेदितेव ॥४३॥

अथवा यह विलासी नल ही शरीर समूह निर्माण करके क्या मेरे साथ परिहास करता है? विशिष्ट ज्ञान के कला-ग्रन्थों का वैभव धारण करते नल में घोड़ों का आशय जानने के समान यह विद्या नहीं है क्या? ॥४३॥

एको नलः किमयमन्यतमः किमैलः
कामोऽपरः किमु किमु द्वयमाश्विनेयौ।
किं रूपधेयभरसीमतया समेषु
तेष्वेव नेह नलमोहमहं वहे वा ॥४४॥

क्या उनमें से एक नल है? क्या दूसरा पुरूरवा है? क्या तीसरा कामदेव है, क्या अन्य दोनों अश्विनी-कुमार हैं? ये अत्यन्त सौन्दर्य की परमकाष्ठा से एक से हैं इस कारण क्या मैं इनके नल होने के विषय में सन्देह नहीं कर रही हूँ? ॥४४॥

१—दमयन्ती का विचार था कि उसको प्रत्यक्ष भ्रम हो गया है जिससे एक नल पाँच रूपों में दीखता है।

पूर्वं मया विरहनिःसहयापि दृष्टः
सोऽयं प्रियस्तत इतो निषधाधिराजः।
भूयः किमागतवती मम सा दशेयं
पश्यामि यद्विलसितेन नलानलीकान् ॥४५॥

मैंने वियोग से विह्वल होकर अपने प्रिय नल को सब दिशाओं में पहले भी देखा था। क्या मेरी फिर वही दशा हो गई जिसके सामर्थ्य से असत्य नलों को देख रही हूँ? ॥४५॥

मुग्धा दधामि कथमित्थमथापशङ्कां
सङ्क्रन्दनादिकपटः स्फुटमीदृशोऽयम्।
देव्याऽनयैव रचिता हि यथा तथैषां
गाथा यथा दिगधिपानपि ताः स्पृशन्ति ॥४६॥

अथवा मैंने मोह वश होकर इस तरह की अनेक शङ्काएँ क्यों धारण कीं? यह सचमुच इन्द्र आदि देवताओं की माया है क्योंकि सरस्वती ने भी इनके सम्बन्ध में ऐसी ऐसी गाथा कही जो इन्द्र आदि दिक्पालों का भी स्पर्श करती है ॥४६॥

एतन्मदीयमतिवञ्चकपञ्चकस्थे
नाथे कथं नु मनुजस्य चकास्तु चिह्नम्।
लक्ष्माणि तानि किममी न वहन्ति हन्त!
बर्हिर्मुखा धुतरजस्तनुतामुखानि ॥४७॥

मेरी बुद्धि को भ्रम में डालने वाले पाँचों के बीच में स्थित मेरे प्राणेश में मनुष्य का चिन्ह कैसे प्रकट हो? यह बड़ा खेद है कि इन देवताओं के शरीर रज के संस्पर्श से रहित नहीं है जिससे इनका देवता होना प्रकट हो ॥४७॥

याचे नलं किममरानथवा तदर्थं
नित्यार्चनादपि ममाफलितैरलं तैः।
कन्दर्पशोषणशिलीमुखपातपीत-
कारुण्यनीरनिधिगह्वरघोरचित्तैः ॥४८॥

क्या मैं देवताओं से नल देने की प्रार्थना करूँ ? अथवा नल की प्राप्ति के लिए नित्य पूजा करने पर भी फल न देते हुए देवताओं को रहने दूँ ! कामदेव के शोषण नामक बाण की चोट से उनकी कृपा का समुद्र सूख गया है तथा उनके चित्त गुहा के समान बड़े भयानक हो गये हैं ॥४८॥

ईशा ! दिशां नलभुवं प्रतिपद्य लेखा
वर्णश्रियं गुणवतामपि वः कथं वा।
मूर्खान्धकूपपतनादिव पुस्तकाना-
मस्तं गतं बत परोपकृतिव्रतत्वम् ॥४९॥

हे दिक्पाल देवताओ, जैसे अन्धे मूर्ख रूपी कूपों में गिर पड़ने से, लेखनी से अक्षरों की शोभा प्राप्त करके भी शुद्ध पुस्तकों की उपकारिता नष्ट हो जाती है उसी तरह नल की रूप-शोभा प्राप्त करके भी आप—गुणवानों—का परोपकार-व्रत कैसे नष्ट हुआ ? ॥४९॥

यस्येश्वरेण यदलेखि ललाटपट्टे
तत् स्यादयोग्यमपि योग्यमपास्य तस्य।
का वासनाऽस्तु विभृयामिह यां हृदाऽहं
नार्कातपैजलजमेति हिमैस्तु दाहम् ॥५०॥

ईश्वर ने जिस प्राणी के ललाट में उचित छोड़ कर जो अनुचित भी लिखा है वह अवश्य होगा। मैं किस युक्ति को हृदय में धारण करूँ ? कमल सूर्य के आतप से नहीं पर हिम से दाह को प्राप्त होता है ! ॥५०॥

इत्थं यथेह मद्भाग्यमनेन मन्ये
कल्पद्रुमोऽपि स मया खलु याच्यमानः।
सङ्कोचसंज्वरदलाङ्गुलिपल्लवाग्र-
पाणीभवन्भवति मां प्रति बद्धमुष्टिः ॥५१॥

यहाँ मैं जैसी भाग्यहीन हूँ सो इस से समझती हूँ कि कल्पवृक्ष भी, जब मैं नल को माँगती हूँ, तो मेरी ओर कृपण हो जाता है। उसके हाथ—किसलयों के अग्रभाग के उँगली के समान दल ज्वर से सङ्कोच करने लगते हैं ॥५१॥

देव्याः करे वरणमाल्यमथार्पये वा
यो वैरसेनिरिह तत्र निवेशयेति ।
सैषा मया मखभुजां द्विषती कृता स्यात्
स्वस्मै तृणाय तु विहन्मि न बन्धुरत्नम् ॥५२॥

अथवा—"सच्चे नल को तुम जानती हो, इससे उसको यह माला पहनाओ"—यों कह कर यदि मैं सरस्वती के हाथ में वरण-माला दे दूँ तो देवताओं के साथ उसका वैर हो जायगा और मैं तृण के समान अपने लिए बन्धु रत्न को कैसे छोड़ दूँगी ? ॥५२॥

यः स्यादमीषु परमार्थनलः स माला-
मङ्गीकरोतु वरणाय ममेति चैनाम् ।
तं प्रापयामि यदि तत्तु विसृज्य लज्जां
कुर्वे कथं जगति शृण्वति ही विडम्बः ॥५३॥

"इन पाँचों के बीच में जो सच्चा नल हो वह मेरे वरण के लिए माला अङ्गीकार करे"—यों कह कर इस माला को उनके बीच में सच्चे नल के पास पहुँचाऊँ तो फिर लज्जा कैसे छोड़ूँ ? इसमें उपहास होगा क्योंकि सब सभा मेरे शब्द सुन रही है ॥५३॥

इतरनलतुलाभागेष शेषः सुधाभिः
स्नपयति मम चेतो नैषधः कस्य हेतोः ।
प्रथमचरमयोर्वा शब्दयोर्वर्णसख्ये
विलसति चरमेऽनुप्रासभासां विलासः ॥५४॥

अन्य नलों के तुल्य होकर भी यह सब से पिछला पाँचवाँ नल क्यों मेरे चित्त को अमृत से नहला रहा है ? अथवा प्रथम तथा अन्तिम शब्दों में वर्ण-साम्य होने पर भी अन्तिम पद में ही अनुप्रास की छटाओं के चमत्कार का विशेष अनुभव होता है ॥५४॥

इति मनसि विकल्पनुन्यतः सन्त्यजन्ती

क्वचिदपि दमयन्ती निर्णयं नाससाद ।

मुखमथ परितापास्कन्दितानन्दमस्या-
मिहिरविरचितावस्कन्दमिन्दुं निनिन्द ॥५५॥

इस प्रकार मन में उत्पन्न हुए विकल्पों का त्याग करके दमयन्ती किसी के विषय में कुछ निश्चय न कर सकी। फिर उसका मुख, जिसका आनन्द परिताप से ढँक गया था, सूर्य से पराभव किये गये चन्द्रमा की निन्दा करने लगा ॥५५॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
स्वादूत्पादभृति त्रयोदशतयाऽऽदेश्यस्तदीये महा-
काव्येऽयं व्यरमन्नलस्य चरिते सर्गो रसाम्भोनिधिः ॥५६॥

कविराजों की पंक्ति के मुकुटों के अलङ्कार रूप हीरे श्री हीर नामक पिता तथा मामल्ल देवी नामक माता ने जिस जितेन्द्रिय श्री हर्ष को जन्म दिया उसके—अत्यन्त मधुर नवीन अर्थ से युक्त—महाकाव्य नैषध चरित में रस का समुद्र तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥५६॥

चतुर्दशः सर्गः ।

अथाधिगन्तुं निषधेश्वरं सा प्रसादनामाद्रियतामराणाम्।
यतः सुराणां सुरभिर्नृणां तु सा वेधसाऽसृज्यत कामधेनुः ॥१॥

फिर दमयन्ती ने नल को प्राप्त करने के लिए देवताओं का आदर-पूर्वक परितोष किया क्योंकि विधाता ने देवताओं की अभिलाषा पूर्ण करने के लिए तो कामधेनु की और मनुष्यों की अभिलाषा पूर्ण करने के लिए देवताओं के परितोष की सृष्टि की है ॥१॥

प्रदक्षिणप्रक्रमणालवालविलेपधूपावरणाम्बुसेकैः ।
इष्टञ्च मृष्टञ्च फलं सुवाना देवा हि कल्पद्रुमकाननं नः ॥२॥

देवता हमारे लिए कल्पद्रुमों का वन है जिनमें अभिलषित और स्व

युक्त फल उत्पन्न होते हैं। चारों ओर प्रदक्षिणा ही उनका थाँवला है तथा चन्दन आदि का लेप और धूप आदि का समर्पण ही पानी की सिंचाई है ॥२॥

श्रद्धामयीभूय सुपर्वणस्तान् ननाम नामग्रहणाग्रकं सा।
सुरेषु हि श्रद्दधतां नमस्या सर्वार्थसिध्यङ्गमिथः समस्या ॥३॥

दमयन्ती ने श्रद्धामयी होकर देवताओं को नाम ले लेकर नमस्कार किया क्योंकि जिनकी देवताओं में श्रद्धा उनका नमस्कार ही सर्वार्थ-सिद्धि के अङ्गों की साधक सामग्री है ॥३॥

यत्तान् निजे सा हृदि भावनाया बलेन साक्षादकृताखिलस्थान्।
अभूदभीष्टप्रतिभूः स तस्या वरं हि दृष्टा ददते परं ते ॥४॥

दमयन्ती ने सर्व-व्यापक इन्द्र आदि देवताओं को ध्यान के बल से अपने हृदय में प्रत्यक्ष किया। उस साक्षात्कार ने ही दमयन्ती के अभीष्ट की जमानत की क्योंकि दर्शन किये हुए देवता अभीष्ट वर अवश्य देते हैं ॥४॥

सभाजनं तत्र ससर्ज तेषां सभाजने पश्यति विस्मिते सा।
आमुच्यते यत्सुमनोभिरेवं फलस्य सिद्ध्यै सुमनोभिरेव ॥५॥

उसने स्वयम्वर में अकस्मात् पूजा से विस्मित हुए सभ्यों के सामने देवताओं का प्रीति-पूर्वक आराधन किया। अभीष्ट के दान के लिए देवता उसी तरह हर्षित होते हैं जैसे फल आने को हों तब फूल खिलते हैं ॥५॥

वैशद्यहृद्यैर्म्रदिमाभिरामैरामोदिभिस्तानथ जातिजातैः।
आनर्च गीत्यन्वितषट्पदैः सा स्तवप्रसूनस्तबकैर्नवीनैः ॥६॥

फिर वह नवीन स्तव रूप फूलों के गुच्छों से उनकी पूजा करने लगी जो बड़े सुकुमार तथा नये थे। स्तव विशद होने से मनोरञ्जक, हर्ष-दायक, जाति छन्द आदि के अनुसार श्लोकों में बनाये गये तथा गति के साथ षट्पद श्लोकों से युक्त थे। गुच्छे पवित्र और शुद्ध होने से मनोरञ्जक, सुन्दर-गन्ध-युक्त, मालती के पुष्पों से बनाये गये तथा गान करते भ्रमरों से युक्त थे ॥६॥

हृत्पद्मसद्मन्यधिवास्य बुद्ध्या दध्यावथैतानियमेकताना।
सुपर्वणां हि स्फुटभावना या सा पूर्वरूपं फलभावनायाः ॥७॥

पूजा के अनन्तर उसने अनन्य वृत्ति से अपने हृदय-कमल में बुद्धि से आवाहन करके इन्द्र आदि को धारण किया क्योंकि देवताओं का ध्यान बल से प्रत्यक्षता ही कार्य-सिद्धि का पहला रूप है ॥७॥

भक्त्या तयैव प्रससाद तस्यास्तुष्टं स्वयं देवचतुष्टयं तत्।
स्वेनानलस्य स्फुटतां यियासोः फूत्कृत्यपेक्षा कियती खलु स्यात् ॥८॥

उसके गुणों से पहले ही तुष्ट हुए इन्द्र आदि देवता उसकी थोड़ी सी भक्ति से ही फिर प्रसन्न हो गये क्योंकि अपने आप प्रकट होने वाली अग्नि क्या फूँक की अपेक्षा करती है ? ॥८॥

प्रसादमासाद्य सुरैः कृतं सा सस्मार सारस्वतसूक्तिसृष्टेः।
देवा हि नान्यद्वितरन्ति किन्तु प्रसद्य ते साधुधियं ददन्ते ॥९॥

देवताओं की प्रसन्नता प्राप्त करके दमयन्ती सरस्वती की सुन्दर उक्तियों का स्मरण करने लगी क्योंकि देवता चाहे और कुछ नहीं दें पर प्रसन्न होकर सुन्दर बुद्धि तो दे ही देते हैं ॥९॥

शेषं नलं प्रत्यमरेण गाथा या या समार्था खलु येन येन।
तां तां तदन्येन सहालगन्तीं तदा विशेषं प्रतिसन्दधे सा ॥१०॥

शेष अर्थात् पाँचवें नल के सम्बन्ध में जो जो कथाएँ इन्द्र आदि देवों के साथ तुल्यता रखती थीं उनको नल के ऊपर न लगाकर इन्द्र आदि देवों के साथ उनका योग किया ॥१०॥

एकैकवृत्तेः प्रतिलोकपालं पतिव्रतात्वं जगृहुर्दिशां याः।
वेद स्म गाथा मिलितास्तदासावाशा इवैकस्य नलस्य वश्याः ॥११॥

उस समय दमयन्ती ने जाना कि जुदे जुदे श्लोक प्रत्येक दिक्पाल के प्रति दिशाओं के पातिव्रत के सम्बन्ध में थे क्योंकि वे दिशाएँ उनमें से ही किस एक के अधीन थीं पर साथ पढ़ने से उनसे केवल नल का अर्थ निकलता था क्योंकि सब दिशाएँ मिल कर केवल नल के अधीन थीं ॥११॥

या पाशिनैवाशनिपाणिनैव गाथा यमेनैव समाग्निनैव।
तामेव मेने मिलितां नलस्य सैषा विशेषाय तदा नलस्य ॥१२॥

अब उसे सूझ पड़ा कि इन्द्र, अग्नि, यम तथा वरुण पर क्रम से प्रत्येक श्लोक प्रयुक्त किया गया था पर जोड़ने से वे सब श्लोक नल में लगते थे। उनमें से प्रत्येक श्लोक पृथक् होकर देवताओं को लक्ष्य करता था, नल को नहीं ॥१२॥

निश्चित्य शेषं तमसौ नरेशं प्रमोदमेदस्वितरान्तराऽभूत्।
देव्या गिरां भावितभङ्गिराख्यच्चित्तेन चिन्तार्णवयादसेयम् ॥१३॥

जब दमयन्ती ने पाँचों में सब से पिछले को राजा नल निश्चय किया तब वह अत्यन्त हर्षित हुई। इसके अनन्तर सरस्वती के वचनों का आशय जानकर चिन्ता के समुद्र में डूबते हुए मन से उसने कहा—॥१३॥

सा भङ्गिरस्याः खलु वाचि काऽपि यद्भारती मूर्तिमतीयमेव।
श्लिष्टं निगद्याद्दत वासवादीन् विशिष्य मे नैषधमप्यवादीत् ॥१४॥

"मूर्तिमती सरस्वती देवी ने निश्चय-पूर्वक असामान्य रचना से वाणी प्रकट की जिसने उभय-संबद्ध वचन कहकर इन्द्र आदि का आदर किया तथा नल का विशेष वर्णन किया ॥१४॥

जग्रन्थ सेयं मदनुग्रहेण वचःस्रजः स्पष्टयितुं चतस्रः।
द्वे ते नलं लक्षयितुं क्षमेते ममैव मोहोऽयमहो महीयान् ॥१५॥

सरस्वती ने मुझपर अनुग्रह करके नल को स्पष्ट जताने के लिए चार वचनों की मालाएँ बनाईं। उनमें से[1] दो मालाएँ नल को प्रकट करती हैं। यह आश्चर्य है कि अब तक मुझे मोह ने घेर रक्खा था ॥१५॥

श्लिष्यन्ति वाचो यदमूरमुष्याः कवित्वशक्तेः खलु ते विलासाः।
भूपालली‌लाः किल लोकपालाः समाविशन्ति व्यतिभेदिनोऽपि ॥१६॥

"सरस्वती की वाणी से जो अनेक अर्थ होते हैं वे कवित्व शक्ति के विलास के द्योतक हैं क्योंकि नल से भिन्न होने पर भी ये लोकपाल भूपाल का आकार धारण करते हैं ॥१६॥

त्यागं महेन्द्रादिचतुष्टयस्य किमभ्यनन्दत्क्रमसूचितस्य।
किं प्रेरयामास नले च तन्मां सा सूक्तिरस्या मम कः प्रमोहः ॥१७॥

१—सर्ग १३ श्लो० २९ तथा ३०।

"एक दूसरे के क्रम से दिखाये गये इन्द्र आदि चारों के परित्याग को क्या सरस्वती ठीक समझती है ? क्या उसकी व्याख्या ने नल में मेरी प्रेरणा की। ओ हो ! मुझ पर कितना मोह छा गया था" ॥१७॥

परस्य दारान् खलु मन्यमानैरस्पृश्यमानाममरैर्धरित्रीम् ।
भक्त्यैव भर्त्तुश्चरणौ दधानां नलस्य तत्कालमपश्यदेषा ॥१८॥

दमयन्ती ने देखा कि पर-पत्नी समझ कर इन्द्र आदि ने पृथ्वी का स्पर्श नहीं किया। वह भक्ति से अपने भर्ता नल के चरणोंको धारण करती थी ॥१८॥

सुरेषु नापश्यदवैक्षताक्ष्णोर्निमेषमुर्वीभृति सम्मुखी सा।
इह त्वमागत्य नले मिलेति संज्ञानदानादिव भाषमाणम् ॥१९॥

दमयन्ती ने बुद्धि-पूर्वक देख कर जाना कि देवताओं में निमेष नहीं है पर नल में है जो मानो उससे इशारे से कह रहा है कि हे दमयन्ती, तुम यहाँ आओ और नल के साथ संयोग करो ॥१९॥

नाबुद्ध बाला विबुधेषु तेषु क्षोदं क्षितेरैक्षत नैषधे तु।
पत्ये सृजन्त्याः परिरम्भमुर्व्याः सम्भूतसम्भेदमसंशयं सा ॥२०॥

दमयन्ती ने देखा कि देवताओं पर पृथ्वी की धूल नहीं लग रही थी पर नल के ऊपर लग रही थी जो पति का आलिङ्गन करती हुई पृथ्वी के संसर्ग से लगी थी ॥२०॥

स्वेदः स्वदेहस्य वियोगतापं निर्वापयिष्यन्निव संसिसृक्षोः।
हीराङ्कुरश्चारुणि हेमनीव नले तयालोकि न दैवतेषु ॥२१॥

दमयन्ती ने नल के ऊपर पसीना देखा, देवताओं पर नहीं, जो उत्तम सुवर्ण पर हीरे के झोल के समान मालूम होता था मानो दमयन्ती का आलिङ्गन चाहने वाले नल के शरीर के वियोग-ताप को शमन करता हो ॥२१॥

सुरेषु मालाममलामपश्यन्नले तु बाला मलिनीभवन्तीम्।
इमां किमासाद्य नलोऽद्य मूर्ध्नीं श्रद्धास्यते मामिति चिन्तयेवा ॥२२॥

दमयन्ती ने देखा कि देवताओं की माला निर्मल थी पर नल की माला

मुरझा चली थी शायद इस चिन्ता से कि आज अत्यन्त सुकुमार दमयन्ती को प्राप्त करके क्या नल मेरा आदर करेगा ? ॥२२॥

श्रियं भजन्तां कियदस्य देवाश्छाया नलस्यास्ति तथापि नैषाम् ।
इतीरयन्तीव तया निरैक्षि सा नैषधे न त्रिदशेषु तेषु ॥२३॥

"देवता नल की कान्ति कहाँ तक प्राप्त करेंगे क्योंकि उनमें नल की कान्ति की छाया भी नहीं है—" इस प्रकार मानो कहती हुई दमयन्ती ने कान्ति को नल में देखा, देवताओं में नहीं ॥२३॥

चिह्नैरमीभिर्नलसंविदस्याः संवादमाप प्रथमोपजाता ।
सा लक्षणव्यक्तिभिरेव देवप्रसादमासादितमाप्यबोधि ॥२४॥

नल के विषय में पहले ही उत्पन्न हुई दमयन्ती की बुद्धि इन चिन्हों से निश्चित हुई । इसके बाद दमयन्ती ने लक्षण प्रकट होने से जाना कि देवता प्रसन्न हो गये हैं ॥२४॥

नले निधातुं वरणस्रजं तां स्मरः स रामां त्वरयत्यथैनाम् ।
अपत्रपा तां निषिषेध तेन द्वयानुरोधं तुलितं दधौ सा ॥२५॥

फिर कामदेव ने वरण की माला नल को पहनाने के लिए दमयन्ती से अनुरोध किया परन्तु लज्जा ने उसका निवारण किया । दमयन्ती ने दोनों का अनुरोध एक सा समझा ॥२५॥

स्रजा समालिङ्गयितुं प्रियं सा रसादधत्तैव बहुप्रयत्नम् ।
स्तम्भत्रपाभ्यामभवत्तदीये स्पन्दस्तु मन्दोऽपि न पाणिपद्मे ॥२६॥

दमयन्ती ने प्रीति-पूर्वक माला को नल का आलिङ्गन कराने के लिए बहुत प्रयत्न किया लेकिन उसका कर-कमल स्तम्भ तथा लज्जा के कारण जरा भी चलायमान नहीं हुआ ॥२६॥

तस्या हृदि व्रीडमनोभवाभ्यां दोलाविलासं समवाप्यमाने ।
स्थितं धृतैणाङ्ककुलातपत्रे शृङ्गारमालिङ्गदधीश्वरश्रीः ॥२७॥

राजा की शोभा ने दमयन्ती के हृदय में स्थित शृङ्गार रस का आश्रय

लिया। वह चन्द्र कुलोत्पन्न नल रूपी आतपत्र से युक्त था तथा लज्जा और कामदेव के बीच में झूले की तरह क्रीड़ा करता था ॥२७।

करः स्रजा सज्जतरस्तदीयः प्रियोन्मुखः सन् विरराम भूयः।
प्रियाननस्याऽर्द्धपथं ययौ च प्रत्याययौ चातिचलः कटाक्षः ॥२८॥

उसके हाथ में कण्ठ में गेरने की माला सजी हुई थी। वह हाथ नल के सामने जाने का उद्योग करके लज्जा के कारण फिर निवृत्त हो गया तथा दमयन्ती का अत्यन्त चञ्चल कटाक्ष नल के मुख के आधे रास्ते जाकर फिर लौट आया ॥२८॥

तस्याः प्रियं चित्तमुपेतमेव प्रभूबभूवाक्षि न तु प्रयातुम्।
सत्यः कृतः स्पष्टमभूत् तदानीं तयाक्ष्णि लज्जेति जनप्रवादः ॥२९॥

उसका चित्त तो नल के पास पहुँच ही गया था पर उसके नेत्र नल के पास जाने में समर्थ नहीं हुए। लज्जा नेत्रों में रहती है—यह कहावत दमयन्ती को सच्ची मालूम हुई ॥२९॥

कथं कथञ्चिन्निषधेश्वरस्य कृत्वाऽऽस्यपद्मं दरवीक्षितश्रि।
वाग्देवताया वदनेन्दुबिम्बं त्रपावती साऽकृत सामिदृष्टम् ॥३०॥

शर्मीली दमयन्ती ने नल के मुख-कमल के सौन्दर्य को किसी तरह कटाक्ष से देख कर सरस्वती के मुख का चन्द्र-बिम्ब लज्जा से आधा देखा ॥३०॥

अजानतीवेदमवोचदेनामाकूतमस्यास्तदवेत्य देवी।
भावस्त्रपोर्मिप्रतिसीरया ते न दीयते लक्षयितुं ममाऽपि ॥३१॥

दमयन्ती का आशय जान कर भी अनजान सी होकर सरस्वती दमयन्ती से बोली—"दमयन्ती, लज्जा की लहर के पर्दे के कारण तुम्हारा आशय मेरी समझ में भी नहीं आता है" ॥३१॥

देव्याः श्रुतौ नेति नलार्धनाम्नि गृहीत एव त्रपया निपीता।
अथाङ्गुलीरङ्गुलिभिर्मृशन्ती दूरं शिरः सा नमयाञ्चकार ॥३२॥

१—शृङ्गार रस रूपी सम्राट् दमयन्ती के हृदय रूप सिंहासन पर नल रूपी छत्र की छाया में झूले पर था। लज्जा और कामदेव दोनों झूले के धक्का देने वाले थे।

तब सरस्वती के कान में नल का आधा नाम लेते ही दमयन्ती लज्जा से व्याप्त हो गई और उसने अपनी उँगलियाँ आपस में मसल कर सिर झुका लिया ॥३२॥

करे विधृत्येश्वरया गिरां सा पान्था पथीन्द्रस्य कृता विहस्य ।
वामेति नामैव बभाज सार्थं पुरन्ध्रिसाधारणसंविभागम् ॥३३॥

सरस्वती मुसकुराहट से हाथ पकड़ कर उसे इन्द्र के पास ले गई तब दमयन्ती ने स्त्रियों के "वामा" इस साधारण नाम को सार्थक किया अर्थात् वह वक्र हो गई ॥३३॥

विहस्य हस्तेऽथ विकृष्य देवी नेतुं प्रयाताऽभि महेन्द्रमेताम् ।
भ्रमादिथं दत्तमिवाहिदेहे ततश्चमत्कृत्यं करं चकर्ष ॥३४॥

सरस्वती कुछ हँस कर दमयन्ती को अपने हाथ से खींच कर इन्द्र की ओर ले जाने लगी तब दमयन्ती ने चौंक कर अपना हाथ इस तरह खींच लिया मानों वह भ्रम से सर्प के ऊपर पड़ गया हो ॥३४॥

भैमीं निरीक्ष्याभिमुखीं मघोनः स्वाराज्यलक्ष्मीरभृताभ्यसूयाम् ।
दृष्ट्वा ततस्तत्परिहारिणीं तां व्रीडं विडौजःप्रवणाभ्यपादि ॥३५॥

स्वर्ग के राज्य की—इन्द्र में अत्यन्त अनुरक्त—लक्ष्मी इन्द्र के सामने दमयन्ती को देख कर ईर्ष्या करने लगी पर जब उसने देखा कि दमयन्ती ने इन्द्र को त्याग दिया तब वह लज्जित हुई ॥३५॥

त्वत्तः श्रुतं नेति नले मयातः परं वदस्वेत्युदिताथ देव्या ।
ह्रीमन्मथद्वैरथरङ्गभूमी भैमी दृशा भाषितनैषधाऽभूत् ॥३६॥

"दमयन्ती, मैंने तुम्हारे मुख से नल के विषय में "न" सुना था इस कारण जो अन्य तुम्हारा अभीष्ट हो उसे बतलाओ"—इस तरह सरस्वती ने कहा तब दमयन्ती ने दृष्टि से नल की तरफ इशारा किया। उस समय दमयन्ती लज्जा और कामदेव के दो रथों के युद्ध की रङ्गभूमि में थी ॥३६॥

हसत्सु भैमीं दिविषत्सु पाणौ पाणिं प्रणीयाप्सरसां रसात् सा ।
आलिङ्ग्य व्रीडाऽसृता [illegible] युगां भूपालदिक्पालकुलाध्वमध्यम् ॥३७॥

सरस्वती ने दमयन्ती का आलिंगन करके नल के तथा दिक्पालों के आगे के मार्ग के बीच में लेजाकर उसे दुर्गा की सवारी की तरह खड़ा कर दिया। उस समय इन्द्र आदि देवता अप्सराओं के हाथ में हाथ रखकर हँस रहे थे ॥३७॥

आदेशितामप्यवलोक्य मन्दं मन्दं नलस्यैव दिशा चलन्तीम्।
भूयः सुरानर्द्धपथादथासौ तानेव तां नेतुमना नुनोद ॥३८॥

दमयन्ती को धीरे धीरे नल की तरफ बिना कहे जाती देखकर सरस्वती ने रास्ते के बीच में से उन देवताओं के पास फिर ले जाने की इच्छा से उसे लौटाथा ॥३८॥

मुखाब्जमावर्त्तनलोलनालं कृत्वालिहुंहुंरवलक्ष्यलक्ष्यम्।
भीमोद्भवा तां नुनुदेऽङ्कपालीं देव्या नवोढेव दृढां विवोढुः ॥३९॥

मुख-कमल फेरकर तथा कण्ठ-दण्ड रूपी नाल को मोड़कर सखियों ने नल के पास जाने से रोकने को हूं हूं किया तब दमयन्ती ने सरस्वती का आलिंगन छोड़ दिया जैसे नई बहू अपने पति का आलिंगन छोड़ देती है ॥३९॥

देवी कथञ्चित् खलु तामदेवद्रीचीं भवन्तीं स्मितसिक्तसृक्का।
आह स्म मां प्रत्यपि ते पुनः का शङ्का शशाङ्कादधिकास्यबिम्बे ! ॥४०॥

सरस्वती ने—जिसके होठों पर मुसकुराहट आ गई थी—दमयन्ती से कहा जो किसी प्रकार भी देवताओं की तरफ जाना नहीं चाहती थी—"हे चन्द्रमा की अपेक्षा अधिक शोभायमान मुख वाली, क्या मुझपर भी तुमको विश्वास नहीं है ? ॥४०॥

एषामकृत्वा चरणप्रणाममेषामनुज्ञामनवाप्य सम्यक्।
सुपर्ववैरे तव वैरसेनिं वरीतुमीहा कथमौचितीयम् ॥४१॥

"इन्द्रादि के चरणों को प्रणाम किये बिना तथा उनकी अनुमति लिये बिना देवताओं से विरोध होने पर तुम्हारी नल से विवाह करने की चेष्टा कैसे उचित है ?" ॥४१॥

इतीरिते विश्वसितां पुनस्तामादाय पाणौ दिविषत्सु देवी।
कृत्वा प्रणम्रां वदति स्म सा तान् भक्तेयमर्हत्यधुनानुकम्पाम् ॥४२॥

इन बातों के सुनने से विश्वास करती हुई दमयन्ती से सरस्वती ने हाथ पकड़ कर देवताओं को नमस्कार करवाया और उनसे कहा—"यह दमयन्ती आप की भक्त है। यह आप की कृपा के योग्य है ॥४२॥

युष्मान् वृणीते न वहून् सतीयं शेषावमानाच्च भवत्सु नैकम्।
तद्वः समेतान् नृपमेनमंशान् वरीतुमन्विष्यति लोकपालाः! ॥४३॥

"हे लोकपालो, यह पतिव्रता दमयन्ती, आप बहुत हैं इस कारण, आप को पति के रूप से अंगीकार नहीं करती और आप में से एक को इस कारण स्वीकार नहीं करती कि अन्यों का अपमान होगा। इस कारण वह इस राजा को—जो आप के ही एकत्रित हुए अंशों से निर्मित हुआ है—वरने का विचार करती है ॥४३॥

भैम्या स्रजः सञ्जनया पथि प्राक् स्वयम्वरं सञ्जनयांवभूव।
सम्भोगमालिङ्गनयास्य वेधाः शेषं तुकं हन्तुसियद्यतध्वे ॥४४॥

"हे लोकपालो, बहुत दिन हुए तभी रास्ते में नल के साथ उसकी माला[1] के सम्वन्ध के कारण तथा नल के आलिंगन से संभोग[2] के कारण विधाता ने दमयन्ती का स्वयंवर कर दिया। अब रहा क्या है जिसको उलटने के लिए आप उद्योग करते हैं ? ॥४४॥

वर्णाश्रमाचारपथात् प्रजाभिः स्वाभिः सहैवास्खलते नलाय।
प्रसेदुषो वेदशवृत्तभङ्ग्या दित्सैव कीर्त्तेर्भुवमानयद्वः ॥४५॥

"अथवा अपनी प्रजाओं के साथ साथ वर्णों और आश्रमों के आचार से कभी अलग न होने वाले नल को कीर्ति देने के लिए ही उसके उत्साह के इस आचरण से प्रसन्न होकर आप पृथिवी पर आये हैं" ॥४५॥

इति श्रुतेऽस्या वचसेव हास्यात् कृत्वा सलास्याधरमास्यविम्बम्।
भ्रूविभ्रमाकूतकृताभ्यनुज्ञेष्वेतेषु तां साथ नलाय निन्ये ॥४६॥

सरस्वती के वचन सुनकर जब देवताओं ने मुख-चन्द्र में ओष्ठ को चञ्चल

१—सर्ग ६ श्लो० ४९। २—सर्ग ६ श्लोक ५२।

करके स्मित प्रकट किया तथा भ्रू-विभ्रम से अपनी अनुमति देदी तब सरस्वती दमयन्ती को नल के पास ले गई ।.४६॥

मन्दाक्षनिस्पन्दतनोर्मनोभूदुष्प्रेरमप्यानयति स्म तस्याः ।
मधूकमालामधुरं करं सा कण्ठोपकण्ठं वसुधासुधांशोः ॥४७॥

सरस्वती उसके मधूक माला से सुन्दर हाथ को भूमि के चन्द्रमा के कंठ के पास ले गई । वह लज्जा के कारण निश्चल खड़ी थी और उसका हाथ कामदेव भी नहीं हिला सकता था ॥४७॥

अथाभिलिख्येव समर्प्यमाणां राजिं निजस्वीकरणाक्षराणाम् ।
दूर्वाङ्कुराढ्यां नलकण्ठनाले वधूर्मधूकस्रजमुत्ससर्ज ॥४८॥

तब दमयन्ती ने दूर्वा के अंकुरों से युक्त मधूक-माला नल के कंठ में इस तरह डाली मानो अपने स्वीकार में लिखे हुए पत्रों की पंक्ति हो ॥४८॥

तां दूर्वया श्यामलयातिवेलं शृङ्गारभासन्निभया सुशोभाम् ।
मालां प्रसूनायुधपाशभासं कण्ठेन भूभृद्विभरांबभूव ॥४९॥

नल ने श्याम तथा शृंगार रस की कान्ति के तुल्य दूर्वा से शोभित माला को कंठ में धारण किया—जो कामदेव के पाश के समान मालूम हुई ॥४९॥

दूर्वाग्रजाग्रत्पुलकावलिं तां नलाङ्गसङ्गाङ्कुशमुल्लसन्तीम् ।
मानेन मन्ये नमितानना सा सासूयमालोकत पुष्पमालाम् ॥५०॥

मैं समझता हूँ कि मान से मुख नीचा कर के दमयन्ती ने ईर्ष्या के साथ पुष्प-माला को देखा । उस माला में दूर्वाङ्कुर ही रोमांच थे तथा वह नल के अङ्ग के संसर्ग से अत्यन्त शोभायमान थी ।.५०॥

कापि प्रमोदास्फुटनिर्जिहानवर्णेव या मङ्गलगीतिरासाम् ।
सैवाननेभ्यः पुरसुन्दरीणामुच्चैरुलूलुध्वनिरुच्चचार ॥५१॥

नगर की सुन्दर स्त्रियों के मुखों से ऊँचा उलूलु स्वर (=हुर्रा) निकला जो उनका एक प्रकार का मंगलगीत था और जिसके अक्षर मानो हर्ष के कारण असंबद्ध थे ॥५१॥

सा निर्मले तस्य मधूकमाला हृदि स्थिता च प्रतिबिम्बिता च ।
कियत्यसद्या कियती च ... ...लोकि ॥५२॥

नल के हृदय पर स्थित और प्रतिबिम्बित हुई मधूक-माला कुछ ऊपर पड़े हुए और कुछ भीतर घुसे हुए कामदेव के बाणों की लड़ के समान मालूम हुई ॥५२॥

रोमाणि सर्वाण्यपि बालभावाद्वरश्रियं वीक्षितुमुत्सुकानि ।
तस्यास्तदा कण्टकिताङ्गयष्टेरुद्ग्रीविकादानमिवान्वभूवन् ॥५३॥

दमयन्ती का शरीर रोमाञ्चित हो गया था और उसके बाल, बालकों के समान, नल की शोभा देखने के उत्सुक होकर खड़े हो गये थे ॥५३॥

रोमाङ्कुरैर्दन्तुरिताखिलाङ्गी रम्याधरा सा सुतरां विरेजे ।
शरव्यदण्डैः श्रितमण्डनश्रीः स्मारी शरोपासनवेदिकेव ॥५४॥

रमणीक अधर वाली दमयन्ती रोमांकुरों से ऊँचे नीचे अवयव होने के कारण कामदेव के बाणों की अभ्यास-शाला के समान मालूम हुई जो निशान लगाने के डण्डों से शोभा युक्त हो ॥५४॥

चेष्टा व्यनेशन्निखिलास्तदास्याः स्मरेषुवातैरिव ता विधूताः ।
अभ्यर्थ्य नीतः कलिना मुहूर्त्तं लाभाय तस्या बहु चेष्टितुं वा ॥५५॥

उस समय उसकी सब चेष्टाएँ नष्ट हो गईं मानो कामदेव के बाणों की वायु से उड़ा दी गई हों अथवा उसकी प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार से उद्योग करने को क्षण मात्र के लिए कलियुग उन्हें ले गया हो ॥५५॥

तन्न्यस्तमाल्यस्पृशि यन्नलस्य स्वेदं करे पञ्चशरश्चकार ।
भविष्यदुद्वाहमहोत्सवस्य हस्तोदकं तज्जनयाम्बभूव ॥५६॥

कामदेव ने दमयन्ती की गेरी हुई माला को बार-बार छूने वाले नल के हाथ में जो पसीना उत्पन्न किया वह होने वाले विवाह-महोत्सव के कन्यादान का जल था ॥५६॥

तूलेन तस्यास्तुलना मृदोस्तत् कम्प्रास्तु सा मन्मथवाणवातैः ।
चित्रीयितं तत्तु नलो यदुच्चैरभूत् स भूभृत् पृथुवेपथुस्तैः ॥५७॥

दमयन्ती अत्यन्त सुकुमार होने के कारण रूई के समान थी इस कारण उसका कामदेव के बाणों की वायु से कम्पित होना ठीक था पर पृथ्वी का राजा नल भी बहुत काँपने लगा—यह आश्चर्य है ! ॥५७॥

दृशोरपि न्यस्तमिवास्त राज्ञां रागाद्दृगम्बुप्रतिबिम्बि माल्यम्।
नृपस्य तत्पीतवतोरिवाद्गणोः आलम्ब्यमालम्बनयुक्तमन्तः ॥५८॥

पुष्पों की माला, निराश हुए राजाओं के अश्रुओं में प्रतिबिम्बित होकर, उनके नेत्रों में गड़ गई मालूम हुई क्योंकि नेत्र लाल हो गये थे पर नल के नेत्र खुले थे इस कारण उन्होंने माला का पान किया ॥५८॥

स्तम्भस्तथालम्भितमां नलेन भैमीकरस्पर्शमुदः प्रसादः।
कन्दर्पलक्ष्यीकरणार्पितस्य स्तम्भस्य दम्भं स चिरं यथापत् ॥५९॥

दमयन्ती के हाथ के स्पर्श से उत्पन्न हुए हर्ष का प्रसाद रूप स्तम्भ नल ने प्राप्त किया और वह कामदेव के निशाना लगाने के लिए लगाये गये खम्भ के समान मालूम हुआ ॥५९॥

उत्सृज्य साम्राज्यमिवाथ भिक्षां तारुण्यमुल्लङ्घ्य जरामिवारात्।
तं चारुमाकारमुपेक्ष्य यान्तं निजां तनूमाददिरे दिगीशाः ॥६०॥

फिर दिक्पालों ने सुन्दर नल के झूठे आकार को छोड़ कर नल के सामने ही अपने शरीरों को इस तरह अङ्गीकार किया जैसे कोई राजा चक्रवर्ती पद को छोड़ कर भिक्षा ग्रहण करे अथवा तारुण्य का उल्लंघन करके वृद्धावस्था में जाय ॥६०॥

मायानलत्वं त्यजतो निलीनैः पूर्वैरहंपूर्विकया मघोनः।
भीमोद्भवासात्त्विकभावशोभादिदृक्षयेवाविरभावि नेत्रैः ॥६१॥

नल के झूठे रूप को छोड़ने वाले इन्द्र के पहले छुपाये गये नेत्रों को—दमयन्ती के रोमाञ्च आदि की शोभा देखने के लिए—हमाहमी शीघ्र प्रकट हो गई ॥६१॥

गोत्रानुकूलत्वभवे विवाहे तत्प्रातिकूल्यादिव गोत्रशत्रुः।
पुरश्चकार प्रवरं वरं यं सायन् सखायं ददृशे तया सः ॥६२॥

गोत्र-शत्रु[1] इन्द्र ने जिसे मित्र की हैसियत से आगे रक्खा था तथा जो

1—इन्द्र गोत्र-शत्रु कहाता है क्योंकि इसने गोत्रों अर्थात् पर्वतों के पङ्ख काटे थे।

स्वर्ग से स्वयम्वर के लिए भूमि पर आया था उस [1]प्रवर को दमयन्ती ने देखा जो अब तक दीखता नहीं था। वर और वधू के गोत्रों[2] के अनुकूल होने पर ही विवाह होता है। इन्द्र का कोई गोत्र नहीं था क्योंकि वह देवता था तथा साथ ही साथ वह गोत्र-शत्रु भी था। इससे वह प्रवर को साथ लाया था ॥६२॥

स्वकामसम्मोहमहान्धकारनिर्वापमिच्छन्निव दीपिकाभिः।
उद्गत्वरीभिश्छुरितं वितेने निजं वपुर्वायुसखः शिखाभिः ॥६३॥

अग्नि ने अपने शरीर को ऊपर जाती हुई ज्वालाओं से व्याप्त किया। वह मानो दीपिकाओं से अपने काम के अविवेक रूप अन्धकार की शान्ति चाहता था ॥६३॥

पत्यौ वृते भीमजया न वह्नावह्ना स्वमह्नाय निजुह्नुवे यः।
जनादपत्रप्य स ह्रा सहायस्तस्य प्रकाशोऽभवदप्रकाशः ॥६४॥

अग्नि का सखा प्रकाश दिन में फीका पड़ गया मानो उसने सभासदों के सामने लज्जा के कारण झटपट अपने को छिपा लिया क्योंकि दमयन्ती ने अग्नि के अतिरिक्त अन्य को पसन्द किया था ॥६४॥

सदण्डमालक्तकनेत्रचण्डं तमःकिरं कायमधत्त कालः।
तत्कालमन्तःकरणं नृपाणामध्यासितुं कोप इवोपनम्रः ॥६५॥

यम ने महावर से रँगे वस्त्र के समान लाल नेत्रों से भयङ्कर तथा अन्धकार प्रकट करता हुआ दण्डधारी देह धारण किया मानो वह तत्काल निराश हुए राजाओं के अन्तःकरण में स्थान पाने के लिए आया हुआ काल हो ॥६५॥

दृग्गोचरोऽभूदथ चित्रगुप्तः कायस्थः उच्चैर्गुण एतदीयः।
ऊर्ध्वं तु पत्रस्य मषीद एको मषेर्ददच्चोपरि पत्रमन्यः ॥६६॥

यम का बड़ा गुणी कायस्थ-सेवक चित्रगुप्त प्रकट हुआ जिसका श्याम

1—प्रवर इन्द्र के मित्र थे। यह एक गोत्र के प्रवर्तक भी थे।
2—गोत्र = कुल या वंश की संज्ञा जो उसके किसी मूल पुरुष के अनुसार होती है।

वर्ण था और जो छिपा हुआ था। वह ताल-पत्रों पर स्याही से लिखता था और यम के उस पर हस्ताक्षर होते थे ॥६६॥

तस्यां मनोबन्धविमोचनस्य कृतस्य तत्कालमिव प्रचेताः।
पाशं दधानः करबद्धवासं विभुर्बभावाप्यमवाप्य देहम् ॥६७॥

फिर दिक्पाल वरुण जलमय देह प्राप्त करके शोभायमान हुआ। उसके हाथ में पाश था जो दमयन्ती के विषय में उस समय डाला हुआ मन का बन्धन था ॥६७॥

सहद्वितीयः स्त्रियमभ्युपेयादेवं स दुर्बुध्य नयोपदेशम्।
अन्यां सभार्य्यः कथमृच्छतीति जलाधिपोऽभूदसहाय एव ॥६८॥

"स्त्री के पास दूसरे के साथ जाना चाहिए"—इस नीति के उपदेश को दुष्ट समझ कर वरुण विना किसी सहायक के शोभायमान हुआ क्योंकि उसने उपदेश का यह अर्थ समझा कि अन्य स्त्री के पास अपनी स्त्री के साथ जाना चाहिए ॥६८॥

देव्यापि दिव्याऽनु तनुः प्रकाशीकृता मुदश्चक्रभृतः सृजन्ती।
अनिह्नुतैस्तामवधार्य चिह्नैस्तद्वाचि वाला शिथिलादृताऽभूत् ॥६९॥

फिर सरस्वती ने विष्णु को हर्ष देने वाली दिव्य मूर्ति धारण की। तब प्रकट हुए चिन्हों से उसे जान कर दमयन्ती ने उसके वचनों में आश्चर्य नहीं किया ॥६९॥

विलोकके नायकमेलकेऽस्मिन् रूपान्यताकौतुकदर्शिभिस्तैः।
बाधा वतेन्द्रादिभिरिन्द्रजालविद्याविदां वृत्तिवधाव्यधायि ॥७०॥

नायकों के सम्मेलन के देखते ही अन्य रूप धारण करने का कौतुक दिखाने वाले इन्द्र आदि ने इन्द्र-जाल दिखाने वालों की जीविका अङ्गीकार करके उन्हें पीड़ा पहुँचाई ॥७०॥

विलोक्य तावाप्तदुरापकामौ परस्परप्रेमरसाभिरामौ।
अथ प्रभुः प्रीतमना बभाषे जाम्बूनदोर्वीधरसार्वभौमः ॥७१॥

मेरु के चक्रवर्ती तथा समर्थ इन्द्र ने अपनी अपनी अभिलाषा प्राप्त करने

हे तथा परस्पर प्रेम रस से रमणीय दमयन्ती और नल को देख कर प्रीति-पूर्वक —॥७१॥

वैदर्भि ! दत्तस्तव तावदेष वरो दुरापः पृथिवीश एव ।
दूत्यं तु यत्त्वं कृतवानमायं नल ! प्रसादस्त्वयि तन्ममायम् ॥७२॥

"दमयन्ती, मैंने पहले ही बड़े बड़े तपों से भी दुष्प्राप्य नल तुमको दे दिया। हे नल, तुमने दमयन्ती के सम्बन्ध में हमारे दूत का काम कपट-रहित होकर किया इसका तुमको यह वरदान है कि ॥७२॥

प्रत्यक्षलक्ष्यामवलम्ब्य मूर्त्तिं हुतानि यज्ञेषु तवोपभोक्ष्ये ।
संशेरतेऽस्माभिरवीक्ष्य भुक्तं मखं हि मन्त्राधिकदेवभावे ॥७३॥

"नल, प्रत्यक्ष दीख पड़ने वाली मूर्ति धारण करके तुम्हारे यज्ञों में दी हुई आहुतियों को हम ग्रहण करेंगे क्योंकि साक्षात् रूप से हमारे द्वारा यज्ञों का उपभोग न देखकर मीमांसकादि विद्वानों को मन्त्र-रूपात्मक देवताओं के अतिरिक्त हमारी सत्ता में सन्देह ही बना रहता है ॥७३॥

भवानपि त्वद्दयितापि शेषे सायुज्यमासादयतं शिवाभ्याम् ।
प्रेत्यासि कीदृग्भवतेति चिन्ता सन्तापमन्तस्तनुते हि जन्तोः ॥७४॥

"नल, तुम और तुम्हारी रानी दोनों अन्त-समय शिव-पार्वती के साथ सायुज्य प्राप्त करोगे क्योंकि मरण होने पर मैं क्या हूँगा—यह चिन्ता प्राणियों के अन्तःकरण में सन्ताप उत्पन्न करती है ॥७४॥

तवोपवाराणसि नामचिह्नं वासाय पारेसि पुरं पुरास्ति ।
निर्वातुमिच्छोरपि तत्र भैमीसम्भोगसङ्कोचभियाधिकाशि ॥७५॥

"नल, मोक्ष चाहने वाले तुम्हारे निवास के लिए काशी के पास असि नदी के तीर पर तुम्हारे नाम से प्रसिद्ध नगर होगा क्योंकि अगर तुम काशी में मोक्ष की कामना से रहोगे तो दमयन्ती के सहवास का सुख घट जायगा" ॥७५॥

धूमावलिश्मश्रु ततः सुपर्वा मुखं मखास्वादविदां तमूचे ।
कामं मदीक्षामयकामधेनोः पयायतामभ्युदयस्त्वदीयः ॥७६॥

फिर धूमावलि रूप दाढ़ी वाले तथा यज्ञ-रस का पान करने वाले अग्नि ने

नल से कहा—"नल, तुम्हारी समृद्धि मेरे देखने मात्र से ही कामधेनु के दूध के समान अपरिमित हो ! ॥७६॥

या दाहपाकौपयिकी तनुर्मे भूयात् त्वदिच्छावशवर्त्तिनी सा।
तया पराभूततनोरनङ्गात् तस्याः प्रभुः सन्नधिकस्त्वमेधि ॥७७॥

"नल, दाह और पाप के कारण मेरी मूर्ति तुम्हारी इच्छा के वश में रहे ! उसके स्वामी होकर तुम मेरी मूर्ति से ही पराभूत हुए कामदेव से अधिक होओ ॥७७॥

अस्तु त्वया साधितमन्नमीनरसादि पीयूषरसातिशायि।
यद्भूप ! विद्मस्तव सूपकारक्रियासु कौतूहलशालि शीलम् ॥७८॥

"नल, तुम्हारे द्वारा राँधा गया अन्न, मछली, रस आदि अमृत के स्वाद से भी अच्छा हो क्योंकि राजन्, तुम्हारे रसोई बनाने में कौतुक-पूर्ण स्वभाव को हम जानते हैं" ॥७८॥

वैवस्वतोऽपि स्वत एव देवस्तुष्टस्तमाचष्ट धराधिराजम्।
वरप्रदानाय तवावदानैश्चिरं मदीया रसनोद्धुरेयम् ॥७९॥

यम भी अपने आप सन्तुष्ट होकर नल से बोला—"नल, तुम्हारे दान आदि के कारण मेरी जिह्वा तुम्हें वर देने के लिए बहुत दिन से उत्कण्ठित है ॥७९॥

सर्वाणि शस्त्राणि तवाङ्गचक्रैराविर्भवन्तु त्वयि शत्रुजैत्रे।
अवाप्यमस्मादधिकं न किञ्चिज्जागर्ति वीरव्रतदीक्षितानाम् ॥८०॥

"नल, सब शस्त्र अङ्गों के साथ तुम को प्रकट हों ! तुम शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते रहो ! वीरों के व्रत में दीक्षित हुए शूरों को इससे अधिक प्राप्त करने के लिए कुछ नहीं है ॥८०॥

कृच्छ्रं गतस्यापि दशाविपाकं धर्मान्न चेतः स्खलतु त्वदीयम्।
अमुष्य्रतः पुण्यमनन्यभक्तेः स्वहस्तवास्तव्य इव त्रिवर्गः ॥८१॥

"नल, यदि तुम्हारा अत्यन्त कष्ट की दशा में पतन हो जाय तो भी तुम्हारा चित्त धैर्य से चलायमान न हो क्योंकि धर्म के अनन्य भक्त तथा पाप से अलग

वाले मनुष्य के हाथ में धर्म, अर्थ और काम सदा रहते हैं" ॥८१॥

सिताञ्चितां वाचमवोचदेनं प्रसन्नचेता नृपतिं प्रचेताः ।
प्रदाय भैमीमधुना वरौ तु ददामि तद्यौतककौतुकेन ॥८२॥

सन्तुष्ट हुए वरुण राजा नल से स्मित युक्त वाणी बोले—"नल, मैं दम-
को तुम्हें देकर दहेज के कौतुक से दो वर देता हूँ— ॥८२॥

यत्राभिलाषस्तव तत्र देशे नन्वस्तु धन्वन्यपि तूर्णमर्णः ।
आपो वहन्तीह हि लोकयात्रां यथा न भूतानि तथाऽपराणि ॥८३॥

"नल, मरुस्थल तक जहाँ तुम्हें जल की अभिलाषा होगी वहाँ उसी देश
तुम्हारी इच्छा से ही जल शीघ्र आ जायगा क्योंकि इस लोक में पाँचों भूतों
बीच में जिस तरह जल लोक-यात्रा को धारण करता है उस तरह अन्य भूत
नहीं करते ॥८३॥

प्रसारितापः शुचिभानुनास्तु मरुः समुद्रत्वमपि प्रपद्य ।
भवन्मनस्कारलवोद्गमेन क्रमेलकानां निलयः पुरेव ॥८४॥

"नल, जिसका ताप ग्रीष्म के सूर्य के साथ साथ बढ़ता है ऐसा मरु देश
भी तुम्हारी अभिलाषा के लेश से ही समुद्र हो जायगा और फिर पहले के समान
ऊँटों का निवास हो जायगा ॥८४॥

अम्लानिरामोदभरश्च दिव्यः पुष्पेषु भूयाद्भवदङ्गसङ्गात् ।
दृष्टं प्रसूनोपमया मयान्यन्न धर्मशर्मोभयकर्मठं यत् ॥८५॥

"नल, तुम्हारे अङ्ग के सङ्ग से पुष्पों में अम्लानि और स्वर्गीय परिमल
हो। पुष्प के समान पुण्य और सुख देने में समर्थ अन्य वस्तु मैंने नहीं
देखी" ॥८५॥

वाग्देवतापि स्मितपूर्वमुर्वीसुपर्वराजं रभसाद्बभाषे ।
त्वत्प्रेयसीसम्मदमाचरन्त्या मत्तो न किञ्चिद्ग्रहणोचितं ते ॥८६॥

फिर सरस्वती ने भी मुस्कुराहट से कहा—"नल, तुम्हारी प्रिया को मैंने
दे दिया है। क्या तुम मुझसे कुछ ग्रहण नहीं करोगे ? ॥८६॥

अर्थो विनैवार्थनयोपसीदन्नाल्पोऽपि धीरैरवधीरणीयः ।
मान्येन मन्ये विधिना वितीर्णः स प्रीतिदायो बहु मन्तुमर्हः ॥८७॥

"प्रार्थना के विना ही पास आये हुए थोड़े से फल की भी विद्वानों को अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। माननीय भाग्य से प्रीति-पूर्वक दिये गये अल्प दान को भी बहुत मानना उचित है ॥८७॥

अवामावामार्द्धे सकलमुभयाकारघटनाद्-
द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं भवति यत्।
तदन्तर्मन्त्रं मे स्मरहरमयं सेन्दुममलं
निराकारं शश्वज्जप नरपते ! सिध्यतु स ते ॥८८॥

"दक्षिण भाग में पुरुष तथा वाम भाग में स्त्री होने से दो प्रकार का पर दोनों आकारों के संयोग से सम्पूर्ण (अर्थात् एक-व्यक्ति-रूप अर्द्धनारीश्वर) होकर जो—भगवत् शब्द से वाच्य-रूप होता है उस—चन्द्रमा के एक कला-मात्र परिमाण से युक्त निर्दोष निराकार, शिवात्मक—रूप का चित्त में सर्वथा स्मरण करो और मेरे मन्त्र (ओं ह्रीं ओं) का सदा जप करो। राजन्, वह मन्त्र तुमको सिद्ध हो ॥८८॥

सर्वाङ्गीणरसामृतस्तिमितया वाचा स वाचस्पतिः
स स्वर्गीयमृगीदृशामपि वशीकाराय मारायते।
यस्मै यः स्पृहयत्यनेन स तदेवाप्नोति किं भूयसा
येनायं हृदये कृतः सुकृतिना मन्मन्त्रचिन्तामणिः ॥८९॥

"यह मेरा चिन्तामणि नामक मन्त्र है। जो पापहीन साधक इसे चित्त में धारण करेगा वह सब रसों से व्याप्त सुधा से आर्द्र वाणी से वाचस्पति हो जायगा। वह स्वर्ग की मृगाक्षियों को वश में करने के लिए भी कामदेव के समान हो जायगा। वह पुरुष जो फल चाहेगा वह इस मन्त्र से अवश्य प्राप्त करेगा। अधिक कहने से क्या लाभ ! ॥८९॥

पुष्पैरभ्यर्च्य गन्धादिभिरपि सुभगैश्चारुहंसेन मां चे-
न्निर्यान्तीं मन्त्रमूर्तिं जयति मयि मतिं न्यस्य मय्येव भक्तः।
तत्प्राप्ते वत्सरान्ते शिरसि करमसौ यस्य कस्यापि धत्ते
सोऽपि श्लोकानकाण्डे रचयति रुचिरान् कौतुकं दृश्यमस्याः ॥९०॥

"जो साधक मुझ हंस-वाहिनी मन्त्र-मूर्ति का अत्यन्त सुकुमार और ...वत पुष्पों से पूजा करके तथा अन्य विषयों से बुद्धि हटा कर सर्वात्मा से ...सेवा करके इसे जपेगा वह एक वर्ष के अन्त में जिस किसी के सिर पर हाथ ...वह भी अकस्मात् सुन्दर और निर्दोष श्लोकों की रचना करने लगेगा। ...सका कौतुक देखने योग्य है ॥९०॥

गुणानामास्थानीं नृपतिलकनारीतिविदितां
रसस्फीतामन्तस्तव च तव वृत्ते च कवितुः।
भवित्री वैदर्भीमधिकमधिकण्ठं रचयितुं
परीरम्भक्रीडाचरणशरणामन्वहमहम् ॥९१॥

"नृप-तिलक, सौन्दर्य आदि गुणों की आश्रय-भूत दमयन्ती ही नारी —इस तरह से विख्यात तथा अन्तःकरण में अनुराग से परिपुष्ट दमयन्ती को ...रे कण्ठ में प्रति दिन आलिङ्गन-लीला के अनुष्ठान में अनुरक्त करने के ...र में जितना हो सकेगा उतना उद्योग करूँगी और प्रसाद आदि गुणों की ...श्रय गौड़ी प्रभृति रीतियों में प्रसिद्ध तथा भीतर शृङ्गार आदि रस से परिपुष्ट ...र्भी रीति को तुम्हारा चरित्र वर्णन करने वाले कवि के कण्ठ में प्रति दिन ...लङ्कार तथा वक्रोक्ति-विलास के पूरे ज्ञान से युक्त करने का पूर्ण रीति से ...ोग करूँगी ॥९१॥

भवद्वृत्तस्तोतुर्मदुपहितकण्ठस्य कवितु-
र्मुखात् पुण्यैः श्लोकैस्त्वयि घनमुदेयं जनमुदे।
ततः पुण्यश्लोकः क्षितिभुवनलोकस्य भविता
भवानाख्यातः सन् कलिकलुषहारी हरिरिव ॥९२॥

"जो कवि मुझसे प्रेरित होकर तुम्हारे चरित्र का वर्णन करेगा उसके मुख ...म्हारे विषय में शुद्ध श्लोक प्रचुरता से निकलेंगे जिनसे लोगों को हर्ष होगा। ...के अनन्तर तुम पृथ्वी के भुवनों के लोगों के कलि-युग-सम्बन्धी पातकों का ...श करके विष्णु के समान पुण्यश्लोक नाम से विख्यात होगे" ॥९२॥

१—असमास या अल्प-समास-युक्त रचना।

देवी च ते च जगदुर्जगदुत्तमाङ्ग-
रत्नाय ते कथय कं वितराम कामम् ।
किञ्चित् त्वया न हि पतिव्रतया दुरापं
भस्मास्तु यस्तव वत व्रतलोपमिच्छुः ॥९३ ॥

फिर सरस्वती ने तथा देवताओं ने कहा—"दमयन्ती, तुम त्रिलोकी के शिर की रत्न हो। हम तुम्हें क्या अभीष्ट दें ? तुम पतिव्रता हो इस कारण कोई वस्तु तुम्हें दुष्प्राप्य नहीं है तो भी जो तुम्हारा पतिव्रत भङ्ग करना चाहेगा वह भस्म हो जायगा ॥९३॥

कूटकायमपहाय नो वपुर्बिभ्रतस्त्वमसि वीक्ष्य विस्मिता ।
आत्मनाकृतिमतो मनीषितां विद्यया हृदि तवाप्युदीयताम् ॥९४॥

"दमयन्ती, तुम हमें देख कर आश्चर्य करती हो कि हमने अपना शरीर धारण कर लिया और माया से नल का शरीर छोड़ दिया। तुम्हारे हृदय में भी स्वेच्छा-शरीर प्राप्त करने की विद्या उत्पन्न हो !" ॥९४॥

इत्थं वितीर्य वरमम्बरमाश्रयत्सु तेषु क्षणादुदलसद्विपुलः प्रणादः ।
उत्तिष्ठतां परिजनालपनैर्नृपाणां स्वर्वासिवृन्दहतदुन्दुभिनादसान्द्रः ॥९५॥

नल और दमयन्ती को वर देकर सरस्वती और इन्द्र आदि देवता स्वर्ग जाने को तैयार हुए। तब क्षण भर में ही उठते हुए राजाओं की सेवकों के साथ बातचीत से बड़ा शब्द हुआ जो देवताओं से बजाये गये नगाड़ों से और भी घना हो गया ॥९५॥ .

न दोषं विद्वेषादपि निरवकाशं गुणमये
वरेण प्राप्तास्त्रे न समरसमारम्भसदृशम् ।
जगुः पुण्यश्लोकं प्रतिनृपतयः किन्तु विदधुः
स्वनिश्वासैर्भैमीहृदयमुदयन्निर्भरदयम् ॥९६॥

प्रतिकूल राजा मत्सर होने पर भी नल को दोष न दे सके क्योंकि वह अत्यन्त गुणी और पवित्र था तथा दोष के लिए उसमें अवकाश नहीं था। उन्होंने बल-पूर्वक युद्ध करने के इरादे से परुष भाषण भी नहीं किया क्योंकि

ने वर से दिव्य अस्त्र प्राप्त कर लिये थे। लेकिन उन्होंने अपने निःस्वार्थो दमयन्ती के हृदय को कृपा-पूर्ण बना दिया ॥९६॥

भूभृद्भिर्लम्भिताऽसौ करुणरसनदीमूर्त्तिमद्देवतात्वं
तातेनाभ्यर्थ्य योग्याः सपदि निजसखीर्दापयामास तेभ्यः।
वैदर्भ्यास्तेऽप्यलाभात् कृतगमनमनःप्राणवाञ्छां विजघ्नुः
सख्याः संशिक्ष्य विद्याः सततधृतवयस्यानुकाराभिराभिः ॥९७॥

राजाओं के द्वारा करुण-रस की नदी की मूर्तिमती देवता हुई दमयन्ती तत्काल अपने पिता के पास गई और अपनी उत्तम सखियों को उन्हें दिलवा दिया। राजाओं ने ऐसी सखियों को प्राप्त किया जो बराबर दमयन्ती का अनुकरण करती थीं और जिन्होंने उससे ही उसकी सब विद्या सीखी थी। इस कारण उन राजाओं ने—दमयन्ती उनकी न हुई इस वजह से—अपना जीवन समाप्त करने का इरादा छोड़ दिया ॥९७॥

अहह सह मघोना श्रीप्रतिष्ठासमाने
निलयमभि नलेऽथ स्वं प्रतिष्ठासमाने।
अपतदमरभर्त्तुर्मूर्त्तिबद्धेव कीर्त्ति-
र्गलदलिमधुबाष्पा पुष्पवृष्टिर्नभस्तः ॥९८॥

जब प्रतिष्ठा और शोभा में इन्द्र के समान नल अपनी राजधानी को रवाना होने को था तब स्वर्ग से पुष्प-वृष्टि हुई जो मानो इन्द्र की शरीर-धारिणी कीर्ति थी। वह—जिन पर भ्रमर गिर रहे थे ऐसे—फूलों का मधुरूप अश्रु[1] टपका रही थी ॥९८॥

स्वस्यामरैर्नृपतिमंशमगुं त्यजद्भि-
रंशच्छिदाकदनमेव तदाध्यगामि।
उल्का स्म पश्यति निवृत्य निवृत्य यान्ती
वाग्देवतापि निजविभ्रमधाम भैमीम् ॥९९॥

उस समय अपने शरीरों के अंश नल को छोड़ते हुए देवताओं को किसी

1—इन्द्र को त्याग दिया था इस कारण इन्द्र की कीर्ति अश्रु टपका रही थी।

अवयव के कटने के समान दुःख हुआ। स्वर्ग में जाती हुई उत्कंठित सरस्वती ने बार-बार गर्दन फेरकर दमयन्ती को देखा जो उसके विलासों का स्थान थी ॥९९॥

सानन्दं तनुजाविवाहनमहे भीमः स भूमीपति-
वैदर्भीनिषधेश्वरौ नृपजनानिष्टोक्तिनिर्मृष्टये।
स्वानि स्वानि धराधिपाश्च शिबिराण्युद्दिश्य यान्तः क्रमा-
देको द्वौ बहवश्चकार सृजतः स्मातेनिरे मङ्गलम् ॥१००॥

अपनी कन्या के पाणिग्रहण के महोत्सव में राजा भीमने, निराश राजाओं के दोषारोपण मिटाने के लिए दमयन्ती और नल दोनों ने तथा बहुत से राजाओं ने जिनमें से प्रत्येक अपने कैंप में जा रहा था—बार बार आनन्द-पूर्वक मंगल किया ॥१००॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
यातस्तस्य चतुर्दशः शरदिजज्योत्स्नाच्छसूक्तेर्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥१०१॥

कविराजों की पंक्ति के मुकुटों के अलंकार रूप हीरे श्रीहीर नामक पिता और तथा मामल्लदेवी नामक माता ने जिस जितेन्द्रिय श्रीहर्ष को जन्म दिया और जिसकी उक्ति शरत्काल की चाँदनी के समान निर्मल है उसके महाकाव्य नैषध-चरित में स्वभाव से सुन्दर चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१०१॥

पञ्चदशः सर्गः।

अथोपकार्यां निषधावनीपतिर्निजामयासीद्वरणस्रजाञ्चितः।
वसूनि वर्षन् सुबहूनि बन्दिनां विशिष्य भैमीगुणकीर्तनाकृताम् ॥१॥

फिर वरण की माला से पूजित नल अपने डेरे में गया और जाते समय

उन्ने बन्दियों को तथा जो विशेष रूप से दमयन्ती के गुणों का कीर्तन करते थे उनको बहुत सा धन दिया ॥१॥

तथा पथि त्यागमयं वितीर्णवान् यथाऽतिभाराधिगमेन मागधैः।
तृणीकृतं रत्ननिकायमुच्चकैश्चिकाय लोकश्चिरमुञ्छमुत्सुकः ॥२॥

राजा नल ने मार्ग में इस प्रकार धन वितरण किया कि उसके अत्यन्त भार से मागध रत्नों के समूह को तिनके के समान छोड़ गये तथा अन्य लोग उसे तत्परता से इस तरह लेने के लिए प्रवृत्त हो गये जैसे किसानों से छोड़ा गया अन्न खेतों में पड़ा हो ॥२॥

अस्य न स्यात् सदसि स्त्रियान्वयात् कुतोऽतिरूपः सुखभाजनं जनः।
ईदृशी तत्कविवन्दिवर्णनैरवाकृता राजकरञ्जिलोकवाक् ॥३॥

खुली हुई सभा में स्त्री लेने से क्या इसे लज्जा नहीं है ? अत्यन्त रूपवान् मनुष्य कैसे सुखी हो सकता है ? ऐसी ऐसी बातें निराश राजाओं के खुशामदी कह रहे थे जो कवियों और बन्दियों के वर्णन के कारण सुनाई नहीं देती थीं ॥३॥

अदोषतामेव सतां विवृण्वते द्विषां मृषादोषकणाधिरोपणाः ।
न जातु सत्ये सति दूषणे भवेदलीकमाधातुमवद्यमुद्यमः ॥४॥

शत्रुओं के द्वारा जो सच्चे न हों ऐसे छोटे छोटे दोषों का आरोपण सज्जनोंकी निर्दोषता सूचित करता है क्योंकि यदि दोष सच्चा होगा तो झूठा दोष आरोपण करने के लिए कोई उद्योग नहीं करेगा ॥४॥

विदर्भराजोऽपि समं तनूजया प्रविश्य हृष्यन्नवरोधमात्मनः ।
शशंस देवीमनुजातसंशयां प्रतीच्छ जामातरमुत्सुके ! नलम् ॥५॥

राजा भीम भी हर्षित होकर राज-कुमारी के साथ रनवास में गया और संशय-युक्त रानी से बोला—"हे उत्सुके, तुम नल को जामाता स्वीकार करो ॥५॥

तनुत्विषा यस्य तृणं स मन्मथः कुलश्रिया यः पविताऽस्मदन्वयम्।
त्रयीधवमौलके वरं सुता परं वेद विवेकुमीदृशम् ॥६॥

"नल के शरीर की कान्ति के सामने कामदेव तिनके के समान है। उसके कुल की कान्ति से हमारा कुल भी पवित्र होगा। तीनों लोकों के नायकों के सम्मेलन में ऐसे वर को छाँटना केवल हमारी कुमारी ही जानती है ॥६॥

सृजन्तु पाणिग्रहमङ्गलोचिता मृगीदृशः! स्त्रीसमयस्पृशः क्रियाः।
श्रुतिस्मृतीनां तु वयं विदध्महे विधीनिति स्माह च निर्ययौ च सः ॥७॥

"मृगाक्षी स्त्रियाँ विवाह रूप मंगल के योग्य, स्त्रियों के आचार के अनुसार, टेहलों का आरम्भ करें। हम वेदों और स्मृतियों की विधि के अनुसार सब कार्य करेंगे।" यों कहकर राजा भीम बाहर चला गया ॥७॥

निरीय भूपेन निरीक्षिताननो शशंस मौहूर्तिकसंसदंशकम्।
गुणैरशेषैरुदयास्तनिस्तुषं तदा स दातुं तनयां प्रचक्रमे ॥८॥

राजा ने रनवास से लौटकर ज्योतिषियों की सभा की ओर देखा तब उसने विवाह की लग्न बतलाई। राजा भीम ने उसी लग्न में नल को कन्या देना निश्चित किया। वह लग्न सब गुणों से युक्त तथा उदय-अस्त आदि दोषों से रहित था ॥८॥

अथावदद् दूतमुखः स नैषधं कुलञ्च बाला च समानुकम्प्यताम्।
स पल्लवत्वद्य मनोरथाङ्कुरश्चिरेण नस्त्वच्चरणोदकैरिति ॥९॥

फिर राजा ने दूत के द्वारा नल को संदेश भेजा कि आप मेरे कुल को तथा कन्या का कृपा कर के अंगीकार करें, हमारे मनोरथ रूप अंकुर आज आप के चरणोदक से बहुत काल के अनन्तर पल्लवित हों! ॥९॥

तथोत्थितं भीमवचःप्रतिध्वनिं निपीय दूतस्य स वक्त्रगह्वरात्।
व्रजामि वन्दे चरणौ गुरोरिति ब्रुवन् प्रदाय प्रजिघाय तं बहु ॥१०॥

नल ने दूत के मुखरूप कन्दरा से भीम के वचनों की प्रतिध्वनि का पान कर के उसे बहुत कुछ इनाम देकर वापिस किया और कहा—"हे दूत, मैं भी जाता हूँ और जाकर अपने श्वशुर के चरणों को नमस्कार करूँगा ॥१०॥

निपीतदूतालपितस्ततो नलं विदर्भभर्ताऽऽगमयाम्बभूव सः।
[illegible] धृतादरः ॥११॥

दूत का वचन सादर सुनकर राजा भीम सम्मान पूर्वक नल की प्रतीक्षा करने लगा जैसे रात्रि के अवसान में मुर्गे की वाणी सुननेवाला चक्रवाक सूर्य की प्रतीक्षा करता है ॥११॥

क्वचित् तदालेपनदानपण्डिता कमप्यहङ्कारमगात् पुरस्कृता।
अलम्भि तुङ्गासनसन्निवेशनादपूपनिर्माणविदग्धयादरः ॥१२॥

उस समय उबटना करने में कुशल स्त्री राजा के द्वारा सम्मान-पूर्वक नियुक्त होने पर अभिमान करने लगी। पुए बनानेमें चतुर स्त्री उच्च आसन पर स्थित होने से अपना गौरव समझने लगी ॥१२॥

मुखानि मुक्तामणितोरणोद्गतैर्मरीचिभिः पान्थविलासमाश्रितैः।
पुरस्य तस्याखिलवेश्मनामपि प्रमोदहासच्छुरितानि रेजिरे ॥१३॥

उस नगर के सब घरों के मुख प्रमोद-हास से मिश्रित होकर मोतियों तथा मणियों के तोरणों से उठी हुई—पथिकों का[1] विलास धारण करती हुई—किरणों से शोभायमान हुए ॥१३॥

पथामनीयन्त तथाधिवासनान्मधुव्रतानामपि दत्तविभ्रमाः।
वितानतामातपनिर्भयास्तदा पटच्छिदाकालिकपुष्पजाः स्रजः ॥१४॥

कपड़े की लीरों से बनाई गईं—असमय में उत्पन्न हुए—पुष्पों की मालाएँ उस समय मार्ग के वितान को प्राप्त हुईं। वे अत्यन्त परिमल से भ्रमरों को भी भ्रम पैदा करती थीं तथा उनको गर्मी से म्लान होने का डर नहीं था ॥१४॥

विभूषणैः कञ्चुकिता बभुः प्रजा विचित्रचित्रैः स्नपितत्विषो गृहाः।
बभूव तस्मिन् मणिकुट्टिमैः पुरे वपुः स्वमुर्व्यां परिवर्तितोपमम् ॥१५॥

उस नगर में लोग अलङ्कारों से शोभायमान हुए तथा घर अनेक वर्णों के चित्रों से उज्ज्वल हुई कान्ति से शोभायमान हुए। घरों के फर्श मणि-बद्ध होने के कारण नगर में पृथ्वी का रूप ही बदला हुआ मालूम होता था ॥१५॥

१—आशय यह है कि मुक्ता-मणियों के उत्कर्ष तथा तोरणों के अत्यन्त उच्च होने से किरणें, पथिकों के समान, दूर तक जाती थीं।

तदा निसस्वानतमां घनं घनं ननाद तस्मिन्नितरां ततं ततम् ।
अवापुरुच्चैः सुषिराणि राणितामसानमानद्धमियत्तयाऽध्वनीत् ॥१६॥

उस नगर में झञ्जीरों ने खूब शब्द किया । वीणा आदि बाजों ने भी खूब शब्द किया । वंशी आदि ने भी खूब शब्द किया और तबले ने भी इतना शब्द किया कि जिसका परिमाण नहीं था ॥१६॥

विपञ्चिराच्छादि न वेणुभिर्न ते प्रणीतगीतैर्न च तेऽपि झर्झरैः ।
न ते हुडुक्केन न सोऽपि ढक्कया न मर्दलैः सापि न तेऽपि ढक्कया ॥१७॥

वीणा की ध्वनि को वंशी की ध्वनि ने आच्छादित नहीं किया, न वंशी की ध्वनि को गायकों ने, न गायकों को खञ्जरी ने, न खञ्जरी के शब्द को मृदङ्ग ने, न मृदङ्ग की ध्वनि को नगाड़े ने और न नगाड़े की ध्वनि को ढोल ने और न ढोल की ध्वनि को नगाड़े ने आच्छादित किया ॥१७॥

विचित्रवादित्रनिनादमूर्च्छितः सुदूरचारी जनतामुखारवः ।
ममौ न कर्णेषु दिगन्तदन्तिनां पयोधिपूरप्रतिनादमेदुरः ॥१८॥

अनेक प्रकार के बाजों के शब्द से बढ़ाया गया, दूर दूर के लोगों का मुख-शब्द समुद्र के प्रवाह में प्रति-शब्द से पुष्ट होकर दिगन्त के हाथियों के कानों में नहीं समाया ॥१८॥

उदस्य कुम्भीरथ शातकुम्भजाश्चतुष्कचारुत्विषि वेदिकोदरे ।
यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजां पुरन्ध्रिवर्गः स्नपयाम्बभूव ताम् ॥१९॥

तब नाना वर्ण के बेल बूँटों से सुन्दर कान्ति वाली वेदिका के बीच में स्त्रियों ने सोने के घड़े उठा कर तथा कुल के आचार के अनुसार मंगल-गीत गाकर दमयन्ती को स्नान कराया ॥१९॥

विजित्य दास्यादिव वारिहारितामवापितास्तत्कुचयोर्द्वयेन ताः ।
शिखामवाक्षुः सहकारशाखिनस्त्रपाभरम्लानिमिवानतैर्मुखैः ॥२०॥

दमयन्ती के दोनों कुचों से जीते जाने के कारण घड़े मानो दास बनाकर जलवाही बनाये गये थे । उन्होंने मुख नीचा करके आम की शिखा को लज्जा से हुई म्लानि के समान धारण किया ॥२०॥

असौ मुहुर्जातजलाभिषेचना क्रमाद्दुकूलेन सितांशुनोज्ज्वला ।
द्वयस्य वर्षाशरदां तदातनीं सनाभितां साधु बबन्ध सन्ध्यया ॥२१॥

बार बार जल से अभिषेक करने के बाद सफेद रेशम के दुकूल से भूषित होकर दमयन्ती उस समय वर्षा और शरद् के बीच की सन्धि के समान शोभायमान हुई ॥२१॥

पुरा प्रभिन्नाम्बुदढुर्दिनीकृतां निनिन्द चन्द्रद्युतिसुन्दरीं दिवम् ।
शिरोरुहौघेण घनेन वर्षता कचिद्दुकूलेन सितांशुनोज्ज्वला ॥२२॥

केश-पाश रूप मेघ से जल बरसाती तथा सितांशु के दुकूल से उज्ज्वल दमयन्ती उस समय आकाश के समान हुई जो वर्षा में अत्यन्त घने मेघों से जल बरसाने लगता है पर शरद् के आरम्भ में चन्द्रमा की द्युति से सुन्दर हो जाता है ॥२२॥

विरेजिरे तच्चिकुरोत्कराः किराः क्षणं गलन्निर्मलवारिविप्रुषाम् ।
तमःसुहृच्चामरनिर्जयार्जिताः सिता वमन्तः खलु कीर्तिमौक्तिकाः ॥२३॥

निर्मल जल की बूँदों को क्षण भर गिराते उसके केश-पाश ऐसे मालूम हुए मानों अत्यन्त श्याम चामरों को जीत कर संगृहीत की हुई श्वेत कीर्ति रूप मोती उगलते हों ॥२३॥

म्रदीयसा स्नानजलस्य वाससा प्रमार्जनेनाधिकमुज्ज्वलीकृता ।
अदभ्रमभ्राजत साऽश्मशाणनात् प्रकाशरोचिःप्रतिमेव हेमजा ॥२४॥

कोमल तौलिया से स्नान-जल पोंछने पर दमयन्ती अधिक उज्वल हुई जैसे देवताओं की स्वर्ण की प्रतिमा सान के पत्थर पर घिसने से अधिक दीप्तिमती हो जाती है ॥२४॥

तदा तदङ्गस्य बिभर्त्ति विभ्रमं विलेपनामोदमुचः स्फुरद्रुचः ।
दरस्फुटत्काञ्चनकेतकीदलात् सुवर्णमभ्यस्यति सौरभं यदि ॥२५॥

यदि सुवर्ण कुछ खिले हुए—सुनहरी केतकी के—पुष्पों की पंखड़ियों से सुगन्ध की शिक्षा लेगा तो वह विलेपन का आमोद प्रकट करने वाले तथा चमकते दीप्त अवयवों से दमयन्ती के शरीर की शोभा धारण कर सकेगा ॥२५॥

अवापितायाः शुचिवेदिकान्तरं कलासु तस्याः सकलासु पण्डिताः।
क्षणेन सख्यश्चिरशिक्षणैः स्फुटं प्रतिप्रतीकं प्रतिकर्म निर्ममुः ॥२६॥

सब कलाओं में कुशल सखियाँ पवित्र वेदी के बीच में दमयन्ती के प्रत्येक अवयव को बहुत काल के अभ्यास के अनुसार भूषित करने लगीं ॥२६॥

विनापि भूषामवधिः श्रियामियं व्यभूषि विज्ञाभिरदर्शि चाधिका।
न भूषयैषाऽतिचकास्ति किन्तु साऽनयेति कस्यास्तु विचारचातुरी ॥२७॥

भूषणों के बिना भी कान्ति की सीमा को प्राप्त हुई दमयन्ती को चतुर सखियों ने विभूषित किया जिससे वह पहले से अधिक सुन्दर दीखने लगी लेकिन इस पर कौन विचार करेगा कि वह भूषणों से अधिक शोभायमान है या भूषण उससे अधिक शोभायमान हैं ॥२७॥

विधाय बन्धूकपयोजपूजने कृतां विधोर्गन्धफलीबलिश्रियम्।
निनिन्द लब्धाधरलोचनार्चनं मनःशिलाचित्रकमेत्य तन्मुखम् ॥२८॥

दमयन्ती का अधरों और लोचनों से रमणीय मुख लाल मैनसिलका मांगलिक तिलक प्राप्त कर के बन्धूक तथा नीले कमल दोनों से पूजा करने के बाद चन्द्रमा की [1]चम्पे की कली से पूजा करने की कान्ति की निन्दा करने लगा ॥२८॥

महीमघोनां मदनान्धतातमीतमःपटारम्भणतन्तुसन्ततिः।
अबन्धि तन्मूर्द्धजपाशमञ्जरी कयापि धूपग्रहधूमकोमला ॥२९॥

किसी सखी ने दमयन्ती के केश-पाश पर फूलों की मंजरी लपेट दी थी जो धूप ग्रहण करने से कोमल हो गई थी। उसके केश-पाश यहाँ उपस्थित राजाओं की कामान्धता रूप रात्रि के अंधकार रूप वस्त्र के निर्माण करने में डोरे[1] के समान थे ॥२९॥

पुनःपुनः काचन कुर्वती कचच्छटाधिया धूपजधूमसंयमम्।
सखी स्मितैस्तर्किततन्निजभ्रमा बबन्ध तन्मूर्धजचामरं चिरात् ॥३०॥

१—यहाँ मुख की समानता चन्द्रमा से, तिलक की चंपा से, अधरों की बन्धूक से तथा नेत्रों की कमल से की गई है।

१—आशय यह है कि उसके केश-पाश देखकर राजा विवेक-शून्य हो जाते थे।

यह बहुत समय के बाद हुआ कि एक सखी, जो केश-पाश की भ्रान्ति से बार बार धूप के धूएँ को बाँधती थी, सखियों की मुसकुराहट से अपना भ्रम जानकर दमयन्ती के चामररूप केश-पाश बाँधने लगी ॥३०॥

वलस्य कृष्टेव हलेन भाति या कलिन्दकन्या घनभङ्गभङ्गुरा ।
तदार्पितैस्तां करुणस्य कुड्मलैर्जहास तस्याः कुटिला कचच्छटा ॥३१॥

उसके करुण वृक्ष की कलियों से युक्त कुटिल केशों की छटा बलभद्र के हल से आकृष्ट हुई घनी तरङ्गों से ऊँची नीची यमुना के समान शोभायमान हुई ॥३१॥

धृतैतया हाटकपट्टिकालिके बभूव केशाम्बुदविद्युदेव सा ।
मुखेन्दुसम्बन्धवशात् सुधाजुषः स्थिरत्वमूहे नियतं तदायुषः ॥३२॥

उसके ललाट पर धारण किया गया सोने का पाटिया केश-पाश रूप मेघों की बिजली के समान मालूम हुआ। उसके चन्द्र-मुख के सम्बन्ध से अमृत की सेवा करती हुई बिजली की आयु में स्थिरता हो गई—यह मैं तर्कना करता हूँ ॥३२॥

ललाटिकासीमनि चूर्णकुन्तला बभुः स्फुटं भीमनरेन्द्रजन्मनः ।
मनःशिलाचित्रकदीपसम्भवा भ्रमीभृतः कज्जलधूमवल्लयः ॥३३॥

ललाटिका की सीमा पर दमयन्ती के घूँघर वाले बाल लाल मैनसिल के तिलक रूप दीप से उत्पन्न काजल के धूम की टेढ़ी जाती हुई श्रेणी के समान शोभायमान हुए ॥३३॥

अपाङ्गमालिङ्ग्य तदीयमुच्चकैरदीपि रेखा जनिताञ्जनेन या ।
अपाति सूत्रं तदिव द्वितीयया वयःश्रिया वर्धयितुं विलोचने ॥३४॥

काजल से उत्पन्न हुई रेखाने उसके अपांग का स्पर्श कर के अत्यन्त शोभा धारण की। ऐसा मालूम हुआ मानो उसके तारुण्य की लक्ष्मी ने नेत्र बढ़ाने के लिए डोरा डाला ॥३४॥

अनङ्गलीलाभिरपाङ्गधाविनः कनीनिकानीलमणेः पुनः पुनः ।
तदीयसंक्रमणेन ध्वनिना स्वपद्धतिः सा किमरञ्जि नाञ्जनैः ॥३५॥

वह रेखा काजल की नहीं थी। कटाक्ष—विक्षेप रूप काम-विलासों से बार-बार अपांग का स्पर्श करनेवाली पुतली रूप नीलम की अत्यन्त काली किरणों ने क्या अपने जाने का मार्ग रँग लिया था ? ॥३५॥

असेविषातां सुषुमां विदर्भजादृशाववाप्याञ्जनरेखयाऽन्वयम्।
भुजद्वयज्याकिणपद्धतिस्पृशोः स्मरेण बाणीकृतयोः पयोजयोः॥३६॥

अंजन की रेखा से सम्बन्ध प्राप्त करके दमयन्ती के नेत्र कामदेव के द्वारा बाण बनाये गये नीले कमलों की शोभा को प्राप्त करते थे और कामदेव की भुजाओं में प्रत्यंचा से उत्पन्न हुए घाव के [1]निशानों का स्पर्श करते थे ॥३६॥

तदक्षितत्कालतुलागसा नखं निखाय कृष्णस्य मृगस्य चक्षुषी।
विधिर्यदुद्धर्तुमियेष तत्तयोरदूरवर्तिक्षतता स्म शंसति ॥३७॥

काले हिरनों की आँखों के पास का क्षत सूचित करता था कि विधाता अपना नख गड़ाकर उनकी आँखें निकालना चाहता है क्योंकि सृष्टि के समय उन्होंने दमयन्ती के नेत्रों के तुल्य होने का अपराध किया था ॥३७॥

विलोचनाभ्यामतिमात्रपीडिते वतंसनीलाम्बुरुहद्वयीं खलु।
तयोः प्रतिद्वन्द्विधियाऽधिरोपयाम्बभूवतुर्भीमसुताश्रुती ततः ॥३८॥

नेत्रों के कान तक आने के कारण उनसे पीड़ित किये गये दमयन्ती के कानों ने नेत्रों के साथ स्पर्धा करने वाले जानकर दो नीले कमल अपने ऊपर भूषण की तरह लगाये ॥३८॥

धृतं वतंसोत्पलयुग्ममेतया व्यराजदस्यां पतिते दृशाविव।
मनोभुवान्ध्यं गमितस्य पश्यतः स्थिते लगित्वा रसिकस्य कस्यचित् ॥३९॥

कानों के ऊपर धरे हुए भूषण के दोनों कमल दमयन्ती को देखते हुए किसी रसिक के नेत्रों के समान शोभायमान हुए जो कामदेव के द्वारा अन्धा कर दिया गया था पर उसके दोनों नेत्र दमयन्ती के ऊपर गिर कर स्थिर हो गये थे ॥३९॥

१—यहाँ अञ्जन-रेखा की समानता घाव से तथा नेत्रों की नीलोत्पल के बाणों से हैं।

विदर्भपुत्रीश्रवणावतंसिकामणीमहःकिंशुककार्मुकोदरे ।
उदीतनेत्रोत्पलबाणसम्भृतिर्नलं परं लक्ष्यमवैक्षत स्मरः ॥४०॥

कामदेव ने केवल नल को अपना निशाना बनाया। उसके पास दमयन्ती के नेत्र-कमल रूप बाण थे तथा उसके कर्णफूलों के रत्नों की कान्ति रूप धनुष के उदर में बाणों की सामग्री थी ॥४०॥

अनावरत् तथ्यमृषाविचारणां तदाननं कर्णलतायुगेन किम् ।
बबन्ध जित्वा मणिकुण्डले विधू द्विचन्द्रबुद्ध्या कथितावसूयकौ ॥४१॥

क्या उसके मुख ने दो चन्द्रमाओं के भ्रम से उसके साथ ईर्ष्या करने वाले मणि कुण्डल रूप चन्द्रमाओं को जीतकर कर्ण-लता से बाँध दिया और इसका अनुसन्धान नहीं किया कि ईर्ष्या का अभियोग सच्चा है या झूँठा ? ॥४१॥

अवादि भैमी परिधाप्य कुण्डले वयस्ययाभ्यामभितः समन्वयः ।
तदाननेन्दोः प्रियकामजन्मनि श्रयत्ययं दौरुधुरीं धुरं ध्रुवम् ॥४२॥

कोई सखी कुण्डल कान में पहना कर दमयन्ती से बोली—"दमयन्ती, इन कुण्डलों से तुम्हारे मुख-चन्द्र का दोनों ओर उत्तम सम्बन्ध नल के काम की उत्पत्ति में दुरुधरा[१] योग के भार का निश्चय-पूर्वक आश्रय करेगा" ॥४२॥

निवेशितं यावकरागदीप्तये लगत्तदीयाधरसीम्नि सिक्थकम् ।
रराज तत्रैव निवस्तुमुत्सुकं मधूनि निर्धूय सुधासधर्मिणि ॥४३॥

उसके होठों पर महावर का रङ्ग चमकाने के लिए लगाया गया मोम मधु[२] को छोड़ अमृत के समान अधर में रहने के लिए उत्कण्ठित होकर उसके नीचे के होठ की सीमा में चिपक गया ॥४३॥

स्वरेण वीणेत्यविशेषणां पुरास्फुरत् तदीया खलु कण्ठकन्दली ।
अवाप्य तन्त्रीरथ सप्त मौक्तिकासरानराजत् परिवादिनी स्फुटम् ॥४४॥

१—चन्द्रमा के इधर उधर गुरु तथा शुक्र हों तब दुरुधरा योग होता है। जैसे इस योग में उत्पन्न हुआ पुत्र वृद्धि को प्राप्त होता है उसी तरह तुम्हारे कुण्डला-युक्त मुख-चन्द्र के दर्शन से नल के काम की वृद्धि होगी।

२—मोम मधु के साथ ही इकट्ठा होता है।

उसकी कण्ठ-कन्दली अत्यन्त मधुर स्वर के कारण पहले विशेषण-रहित वीणा मालूम हुई पर अलङ्कार के समय सात मोतियों के हार रूप सात तन्त्री पाकर सात तार की वीणा के समान मालूम हुई ॥४४॥

उपास्यमानाविव शिक्षितुं ततो मृदुत्वमप्रौढमृणालनालया।
रराजतुर्माङ्गलिकेन संगतौ भुजौ सुदत्या वलयेन कम्बुनः ॥४५॥

मङ्गल के कारण रचे गये शङ्ख के कङ्कणों से युक्त दमयन्ती की भुजाएँ ऐसी शोभायमान हुईं मानो अप्रौढ़ मृणाल-नाल उसकी भुजाओं से सुकुमारता सीखने को उपासना करते हों ॥४५॥

पदद्वयेऽस्या नवयावरञ्जना जनैस्तदानीमुदनीयतार्पिता।
चिराय पद्मौ परिरभ्य जाग्रती निशीव विश्लिष्य नवा रविद्युतिः ॥४६॥

उस समय उसके दोनों चरणों में रची गई महावर उदय के समय उत्पन्न हुई सूर्य की कान्ति समझी गई जो बहुत काल तक दो कमलों का आलिङ्गन करके रात्रि के आने पर उनसे जुदी हो गई थी ॥४६॥

कृतापराधः सुतनोरनन्तरं विचिन्त्य कान्तेन समं समागमम्।
स्फुटं सिषेवे कुसुमेषुपावकः सरागचिह्नश्चरणौ न यावकः ॥४७॥

वह महावर नहीं थी। पहले दमयन्ती का अपराध करने वाली कामदेव की जलती हुई अग्नि अब नल के साथ समागम देखकर उसकी चरण-सेवा करने के लिए आई थी ॥४७॥

स्वयं तदङ्गेषु गतेषु चारुतां परस्परेणैव विभूषितेषु च।
किमूचिरेऽलङ्करणानि तानि तद्वृथैव तेषां करणं बभूव यत् ॥४८॥

भूषणों के बिना ही दमयन्ती के अङ्ग सुन्दर थे। वे एक दूसरे को भूषित करते थे इस कारण भूषणों ने क्या किया ? उनका बनाना वृथा हुआ ॥४८॥

क्रमाधिकामुत्तरमुत्तरं श्रियं पुपोष यां भूषणचुम्बनैरियम्।
पुरः पुरस्तस्थुषि रामणीयके तया बबाधेऽवधिबुद्धिधोरणिः ॥४९॥

सौन्दर्य का प्रत्येक उत्तरोत्तर रूप जो उसने भूषणों के सम्बन्ध से पाया था क्रम से उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा था जिससे उसने नया सौन्दर्य बार बार सामने आने के कारण अवधि की शृङ्खला तोड़ दी ॥४९॥

मणीसनाभौ मुकुरस्य मण्डले बभौ निजास्यप्रतिविम्बदर्शिनी ।
विधोरदूरं स्वमुखं विधाय सा निरूपयन्तीव विशेषमेतयोः ॥५०॥

रत्नों के तुल्य—अत्यन्त शुद्ध—दर्पण के मण्डल में अपने मुख का प्रतिबिम्ब [देखती] हुई दमयन्ती ऐसी मालूम हुई मानो वह अपने मुख को प्रतिबिम्ब रूप [चन्]द्र के पास ले जाकर उन दोनों का तारतम्य देखती हो ॥५०॥

जितस्तदास्येन कलानिधिर्दधे द्विचन्द्रधीसाक्षिकमायकायताम् ।
तथापि जिग्ये युगपत् सखीयुगप्रदर्शितादर्शबहूभविष्णुना ॥५१॥

उसके मुख से जीता गया चन्द्रमा माया से शरीर धारण करके जिनको [भ्र]म में दो चन्द्रमा देखने की आदत है उनको दीखने लगा लेकिन दो [सखि]यों के द्वारा साथ साथ दिखलाये गये दर्पणों में अपने अनेक रूपों से क्या [उस]के मुख ने चन्द्रमा को जीत लिया था ? ॥५१॥

[स]ालियुग्मार्पितदर्पणद्वये तदास्यमेकं बहु चान्यदम्बुजम् ।
[हि]मेषु निर्वाप्य निशासमाधिभिस्तदीयसालोक्यमितं व्यलोक्यत ॥५२॥

सखियों ने जो दो दर्पण सामने रखखे उनमें क्या एक ही दमयन्ती का [मुख] था तथा अन्य[2] कमल थे ? हिम के बीच में निशा की समाधि में अपना [जी]वन समाप्त करके कमल उसके मुख के तुल्य होते देखे गये ॥५२॥

पलाशदामेतिमिलच्छिलीमुखैर्वृता विभूषामणिरश्मिकार्मुकैः ।
अलक्षि लक्षैर्धनुषामसौ तदा रतीशसर्वस्वतयाऽभिरक्षिता ॥५३॥

वह अपने भूषणों के रत्नों की प्रभा रूप धनुषों से घिरी हुई थी । उसे [पला]श के फूलों की माला समझ कर जो भौंरे आते थे वे ही बाण थे । वह [काम]देव का सर्वस्व थी इस कारण हजारों धनुष उसकी रक्षा करते मालूम होते [थे] ॥५३॥

विशेषतीर्थैरिव जह्नुनन्दिनी गुणैरिवाजानिकरागभूमिता ।
जगाम भाग्यैरिव नीतिरुज्ज्वलैर्विभूषणैस्तत् सुषमा महार्घताम् ॥५४॥

1—यहाँ सखियों के मुखों के प्रतिबिम्बों से आशय है

दमयन्ती की सहज शोभा विभूषणों से अत्यन्त श्रेष्ठ हो गई जैसे गङ्गा ने तीर्थों से, सहज अनुराग गुणों से तथा नीति भाग्यों से हो जाती है ॥५४॥

नलात् स्ववैश्वस्त्यमनाप्तुमानता नृपस्त्रियो भीममहोत्सवागताः।
तदङ्घ्रिलाक्षामदधन्त मङ्गलं शिरःसु सिन्दूरमिव प्रियायुषे ॥५५॥

जो भीम के महोत्सव में आये थे उन राजाओं की स्त्रियाँ नल के द्वारा अपना वैधव्य बचाने के लिए दमयन्ती को प्रणाम करती थीं। वे अपने पतियों की आयु के लिए माङ्गलिक सिन्दूर के समान अपने सिरों पर उनके चरणों की महावर लगाती थीं ॥५५॥

अमोघभावेन सनाभितां गताः प्रसन्नगीर्वाणवराक्षरस्रजाम्।
ततः प्रणम्याधिजगाम सा ह्रिया गुरुर्गुरुब्रह्मपतिव्रताशिषः ॥५६॥

फिर गुरू आदि के चरणों को प्रणाम करके शरमीली दमयन्ती ने माता पिता का, ब्राह्मणों का और पतिव्रता स्त्रियों का आशीर्वाद पाया जो प्रसन्न हुए देवताओं के वरों की वर्ण-माला के तुल्य था ॥५६॥

तथैव तत्कालमथानुजीविभिः प्रसाधनासञ्जनशिल्पपारगैः।
निजस्य पाणिग्रहणक्षणोचिता कृता नलस्यापि विभोर्विभूषणा ॥५७॥

उसी समय उसी प्रकार गहनों से सजाने के शिल्प के विशेषज्ञ सेवकों ने अपने स्वामी नल को भी विवाह-काल के योग्य भूषणों से सजाया ॥५७॥

नृपस्य तत्राधिकृताः पुनः पुनर्विचार्य तान् बन्धमवापिपन् कचान्।
कलापलीलोपनिधिर्गरुत्त्यजः स यैरपालापि कलापिसम्पदः ॥५८॥

इस काम में लगे हुए मनुष्यों ने बार बार विचार कर राजा के केश बाँधे क्योंकि उन्होंने पङ्ख छोड़ने वाले मोरों की कलाप-लीला रूपी धरोहर को लेकर स्वीकार नहीं किया था ॥५८॥

पतत्रिणां द्राघिमशालिना धनुर्गुणेन संयोगजुषां मनोभुवः।
कचेन तस्यार्जितमार्जनश्रिया समेत्य सौभाग्यमलम्भि कुड्मलैः ॥५९॥

उसके सौन्दर्य से प्रभावित—घुले हुए केश-पाश पर लगे हुए फूलों

...ने कामदेव के बाणों की शोभा पाई जो उसके धनुष[1] की चिर-परिष्कृत ...में जोड़ दिये गये थे ॥५९॥

अनर्घ्यरत्नौघमयेन मण्डितो रराज राजा मुकुटेन मूर्द्धनि।
वनीपकानां स हि कल्पभूरुहस्ततो विमुञ्चन्निव मञ्जुमञ्जरीम् ॥६०॥

सिर पर अमूल्य रत्नों से बनाये गये मुकुटों से शोभायमान राजा याचकों ...न का दान देने से ऐसा मालूम हुआ मानो कल्पवृक्ष रत्नांकुरों की पर...ञ्ज दान करता हो ॥६०॥

नलस्य भाले मणिवीरपट्टिकानिभेन लग्नः परिधिर्विधोर्वभौ।
तदा शशाङ्काधिकरूपतां गते तदानने मातुमशक्नुवन्निव ॥६१॥

रत्नों से जड़ी हुई वीर-पुरुषों के ललाट में बाँधने की सुवर्ण-पट्टिका के ...नल के ललाट में चन्द्रमा का परिवेष शोभायमान हुआ जो मानो उस ...चन्द्रमा की अपेक्षा अधिक सुन्दर होने के कारण उसका पूरा मुख घेरने ...में समर्थ नहीं हुआ ॥६१॥

...भ्रू भैम्याः खलु मानसौकसं जिघांसतो धैर्यभरं मनोभुवः।
...भ्रु तद्वृत्तलचित्ररूपिणी धनुःसमीपे गुलिकेव सङ्गता ॥६२॥

...भौंहों के पास नल का तिलक धनुष के पास तैयार रक्खी हुई गोली के ...मालूम हुआ। वह उसी कामदेव की गोली थी जो दमयन्ती के धैर्य ...हंस को मारना चाहता था ॥६२॥

...चुम्बि या चन्दनविन्दुमण्डली नलीयवक्त्रेण सरोजतर्जिना।
...यं श्रिता काचन तारकासखी कृता शशाङ्कस्य तयाङ्कवर्त्तिनी ॥६३॥

...गुण से कमल को जीतने वाले चन्द्र रूपी मुख पर गोल चन्दन का तिलक ...या गया। उसने चन्द्रमा के मध्य में स्थित किसी सुन्दर तारे की शोभा ...की ॥६३॥

यावदग्निभ्रममेत्युदूढतां नलस्य भैमीति हरेर्दुराशया।
...विन्दुरिन्दुः प्रहितः किमस्य सा न वेति भाले पठितुं लिपीमिव ॥६४॥

१—यहाँ केश-पाश की धनुष की डोरी के, कलियों की बाणों के तथा नल की ...साथ समानता है।

"जब तक दमयन्ती अग्नि की प्रदक्षिणा नहीं करेगी तब तक नल के साथ उसका विवाह नहीं हो सकता"—यह सोचकर—नल के भाल में दमयन्ती लिखी है या नहीं—इस चिन्ता से निराश हुए इन्द्र ने क्या विधाता की लिखी अक्षर-पंक्ति बाँचने के लिए चन्दन-तिलक के रूप में चन्द्रमा को भेजा ? ॥६४॥

कपोलपालीजनिजानुबिम्बयोः समागमात् कुण्डलमण्डलद्वयी।
नलस्य तत्कालमवाप चित्तभूरथस्फुरच्चक्रचतुष्कचारुताम् ॥६५॥

उस समय नल के गोल कुण्डलों ने कपोलों की सतह पर अपना प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण कामदेव के रथ के चार पहियों की शोभा धारण की ॥६५॥

श्रितास्य कण्ठं गुरुविप्रवन्दनाद्विनम्रमौलेश्चिबुकाग्रचुम्बिनी।
अवाप मुक्तावलिरास्यचन्द्रमःस्रवत्सुधातुन्दिलबिन्दुवृन्दताम् ॥६६॥

नल के कण्ठ में पड़ी हुई मोतियों की हार-लता गुरुओं तथा ब्राह्मणों को प्रणाम करने के लिए शिर नीचा करने में ठोड़ी के अग्रभाग का स्पर्श करने से उसके मुख-चन्द्र से गिरती हुई सुधा के बड़े बड़े बिन्दुओं के समूहों के समान मालूम हुई ॥६६॥

यतोऽजनि श्रीर्बलवान् बलं द्विषन् बभूव यस्याजिषु वारणेन सः।
अपूपुरत् तान् कमलार्थिनो घनान् समुद्रभावं स बभार तद्भुजः ॥६७॥

नल की भुजा समुद्र के समान थी। उसी से लक्ष्मी उत्पन्न हुई। उसके ही शत्रु निवारण करने से संग्राम में से शत्रु-सैन्य भाग गया। तब नल बलवान् हो गया। उसने ही निरन्तर लक्ष्मी की प्रार्थना करनेवाले याचकों को सन्तुष्ट किया। समुद्र से लक्ष्मी का प्रादुर्भाव हुआ। समुद्र के ही हाथी ऐरावत से इन्द्र युद्ध में बलवान् हुआ। समुद्र जलार्थी मेघों की याचना पूर्ण करता है ॥६७॥

कृतार्थयन्नर्थिजनाननारतं बभूव तस्यामरभूरुहः करः।
तदीयमूले निहितं द्वितीयवद्ध्रुवं दधे कङ्कणमालवालताम् ॥६८॥

याचकों की प्रार्थना पूर्ण करने से उसका हाथ कल्पवृक्ष हुआ और उसकी कलाई पर पड़े हुए दोनों कंकण वृक्षों के आसपास बने पानी के पात्र मालूम हुए ॥६८॥

...न दोर्मण्डनमण्डलीजुषोः स वज्रमाणिक्यसितारुणत्विषोः ।
...णे वर्षन् दशदिङ्मुखोन्मुखौ यशःप्रतापाववनीजयार्जितौ ॥६९॥

बाहु-भूषण पर आश्रित वज्र और मानक की क्रम से श्वेत तथा अरुण ...ति के बहाने नल ने दशों दिशाओं में फैलते हुए तथा पृथ्वी को जीतने से ...र्जित किये यश और प्रताप को प्रकाशित किया ॥६९॥

...ने समस्तापघनावलम्बिनां विभूषणानां मणिमण्डले नलः ।
...रूपरेखामवलोक्य निष्फलीचकार सेवाचणदर्पणार्पणाम् ॥७०॥

नल ने अपने सब अंगों पर पहने गये विभूषणों के घने मणि-मण्डल में ...ने आकार की शोभा देखकर प्रसिद्ध सेवकों के द्वारा अर्पण किये गये दर्पणों ... निष्फल कर दिया ॥७०॥

...व्यलोकि लोकेन न केवलं चलन्मुदा तदीयाभरणार्पणाद्युतिः ।
...दर्शि विस्फारितरत्नलोचनैः परस्परेणेव विभूषणैरपि ॥७१॥

निरन्तर हर्ष पाते हुए लोगों ने ही नल के अवयवों पर पहनाये गये ...भूषणों की कान्ति केवल नहीं देखी किन्तु रत्नरूप लोचन फैलानेवाले अचेतन ...भूषणों ने भी एक दूसरे की कान्ति देखी ॥७१॥

...ऽनु वार्ष्णेयनियन्तृकं रथं युधि क्षितारिक्षितिभृज्जयद्रथः ।
...ः पृथासूनुरिवाधिरूढवान् स जन्ययात्रामुदितः किरीटवान् ॥७२॥

फिर नल वार्ष्णेय नामक सारथि से युक्त रथ पर किरीट नामक अर्जुन के ...मान आरूढ़ हुआ । नल ने युद्ध में शत्रु-राजाओं के जयदाता रथ भगा दिये ...तथा वह बरात में बहुत प्रसन्न था और मुकुट पहन रहा था । अर्जुन ने ...पने शत्रु जयद्रथ को रण में मारा था और वह युद्ध की यात्रा में हृष्ट ...रहा था ॥७२॥

...विदर्भनाम्नस्त्रिदिवस्य वीक्षितुं रसोदयादप्सरसस्तमुज्ज्वलम् ।
...हाद्गृहादेत्य धृतप्रसाधना व्यराजयन्राजपथानथाधिकम् ॥७३॥

विदर्भ नामक स्वर्ग की सुन्दर नारी रूप अप्सराएँ उज्ज्वल नल को देखने ...के लिए अनुराग के कारण अलंकार धारण करके और घरों से आकर अत्यन्त ...नीक सड़कों पर शोभायमान हुईं ॥७३॥

अजानती कापि विलोकनोत्सुका समीरधूतार्द्धमपि स्तनांशुकम् ।
कुचेन तस्मै चलतेऽकरोत् पुरः पुराङ्गना मङ्गलकुम्भसम्भृतिम् ॥७४॥

नल के देखने की उत्सुक तथा वायु से हटाये गये स्तन के वस्त्र को नहीं जानती कोई स्त्री बरात के आगे जाते हुए नल के आगे कुच से मंगल कुम्भ का शकुन करने लगी ॥७४॥

सखीं नलं दर्शयमानयाङ्कतो जवादुदस्तस्य करस्य कङ्कणे ।
विषज्य हारैस्त्रुटितैरतर्कितैः कृतं कयापि क्षणलाजमोक्षणम् ॥७५॥

किसी स्त्री ने हाथ से सखी को नल दिखाने में उत्संग से जल्दी उठाये गये हाथ के कंकण से लगकर टूटे हुए हारों से बिना जाने ही क्षणमात्र मुक्ताफलों के समान धान्य फेंके ॥७५॥

लसन्नखादर्शमुखाम्बुजस्मितप्रसूनवाणीमधु पाणिपल्लवम् ।
यियासतस्तस्य नृपस्य जज्ञिरे प्रशस्तवस्तूनि तदेव यौवतम् ॥७६॥

स्त्रियों का समूह जाते हुए नल के शुभ-सूचक मंगल द्रव्य के समान हुआ क्योंकि उनके नख-दर्पण, मुख कमल, मुसुकुराहट पुष्प, वाणी मधु और हाथ पल्लव थे ॥७६॥

करस्थताम्बूलजिघत्सुरेकिका विलोकनैकाग्रविलोचनोत्पला ।
मुखे निचिक्षेप मुखद्विराजता-रुषेव लीलाकमलं विलासिनी ॥७७॥

किसी विलासिनी स्त्री ने—जिसके नेत्र-कमल एकाग्र होकर नल को देख रहे थे—हाथ में लिए ताम्बूल को खाने की इच्छा से हाथ पर रक्खे हुए लीला-कमल को मुख में रख लिया मानो उस पर क्रोध किया कि वह सौन्दर्य में उसके मुख की समानता करता है ॥७७॥

कयापि वीक्षाविघ्नस्कलोचने समाज एवोपपतेः समीयुषः ।
घनं सविघ्नं परिरम्भसाहसैस्तदा तदालोकनमन्वभूयत ॥७८॥

उस समय किसी स्त्री ने उपपति के साहस-पूर्ण आलिङ्गन को नल के दर्शन में बड़ा विघ्न समझा । वह उस भीड़ में ही अपनी प्रिया से मिल गया क्योंकि सब लोग नल की ओर देखने के कारण व्यग्र हो रहे थे ॥७८॥

हे आते जाते थे। वाहक अपनी चेष्टा से ही उसका आशय जानकर पालकी त्र ले गये ॥११२॥

भूयोऽपि भूपमपरं प्रति भारती तां
त्रस्यच्चमूरुचलचक्षुषमाचचक्षे ।
एतस्य काशिनृपतेस्त्वमवेक्ष्य लक्ष्मी-
मक्ष्णोः सुखं जनय खञ्जनमञ्जुनेत्रे ! ॥११३॥

डरे हुए हिरन के समान चंचल नेत्रवाली दमयन्ती से सरस्वती ने फिर —"हे खंजन के समान सुन्दर नेत्रवाली, तुम इस काशिराज के शरीर की त देखकर नेत्रों को सुख दो ॥११३॥

एतस्य सावनिभुजः कुलराजधानी
काशी भवोत्तरणधर्मतरिः स्मरारेः ।
यामागता दुरितपूरितचेतसोऽपि
पापं निरस्य चिरजं विरजीभवन्ति ॥११४॥

"काशी संसार-समुद्र तरने के लिए महादेव की धर्म-नौका है। यह इस की कुल-राजधानी है। काशी में आकर बड़े-बड़े पापी भी अपने चिर-संचित पाप को दूर करके शुद्ध हो जाते हैं ॥११४॥

आलोक्य भाविविधिकर्तृकलोकसृष्टि-
कष्टानि रोदिति पुरा कृपयैव रुद्रः ।
नामेच्छयेति मिषमात्रमधत्त यत्तां
संसारतारणतरीमसृजत् पुरीं सः ॥११५॥

"महादेव ब्रह्मा की बनाई हुई लोक सृष्टि के होने वाले दुःख देखकर करुणा के कारण रो दिये थे। जब पूछा गया तब उन्होंने बहाने से कि तुमने मेरा नाम नहीं रक्खा था इसी वजह से मैं रोता हूँ। उन्हीं देव (=रुद्र=रोने वाले) ने इस पुरी को संसार समुद्र से पार जाने के लिए बनाया है ॥११५॥

वाराणसी निविशते न वसुन्धरायां
तत्र स्थितिर्मखभुजां भुवने निवासः ।

तत्तीर्थमुक्तवपुषामत एव मुक्तिः
स्वर्गात् परं पदमुदेतु मुदे तु कीदृक् ॥११६॥

"काशी पृथ्वी पर नहीं है। उसमें रहना स्वर्ग में रहना है। इसी कारण उसके तीर्थों में शरीर छोड़ने वालों को मोक्ष[1] मिलता है। अन्य किस प्रकार मनुष्यों के आमोद के लिए स्वर्ग से बढ़कर पद मिल सकता है ? ॥११६॥

सायुज्यमृच्छति भवस्य भवाब्धियाद-
स्तां पत्युरेत्य नगरीं नगराजपुत्र्याः।
भूताभिधानपटुमद्यतनीसवाप्य
भीमोद्भवे ! भवति भावमिवास्तिधातुः ॥११७॥

"दमयन्ती, संसार—समुद्र के जन्तु इस नगरी में आकर सत्यका उपदेश करने में समर्थ महादेव के साथ एकता को प्राप्त होते हैं जैसे "अस्" धातु भूतकाल के अर्थ में लुङ् विभक्ति प्राप्त करके भू हो जाती है ॥११७॥

निर्विश्य निर्विरति काशिनिवासि भोगान्
निर्माय नर्म च मिथो मिथुनं यथेच्छम्।
गौरीगिरीशघटनाधिकमेकभावं
शर्मोर्मिकञ्चुकितमञ्चति पञ्चतायाम् ॥११८॥

"काशी में रहने वाले स्त्री-पुरुष आपस में अनुराग—सहित भोगों का अनुभव करके तथा यथेच्छ वचन-विहार आदि की क्रीड़ा करके प्राणान्त के समय पार्वती और शिवकी आधे आधे अंग की एकता से भी अधिक सुख-परंपरा से युक्त शिव के साथ पूर्ण एकता को प्राप्त होते हैं ॥११८॥

न श्रद्दधासि यदि तन्मम मौनमस्तु
कथ्या निजाप्ततमयैव तवानुभूत्या।
न स्यात् कनीयसितरा यदि नाम काश्या
राजन्वती मुदिरमण्डनधन्वना भूः ॥११९॥

"दमयन्ती, यदि तुम मेरे वचनों पर विश्वास नहीं करती हो तो मैं चुप

१ काशी में मरने से जीव मोक्ष प्राप्त होता है जो स्वर्ग से बढ़कर है।

पर तुम्हीं अपनी आन्तरिक भावना से कहो कि मेघ मंडल का भूषण-धनुष धारण करने वाले इन्द्रकी राजधानी अमरावती काशी से हीन नहीं है क्या? ॥११९॥

ज्ञानाधिकासि सुकृतान्यधिकाशि कुर्याः
कार्थं किमन्यकथनैरपि यत्र मृत्योः।
एकं जनाय सतताभयदानमन्य-
द्धन्ये ! वहत्यमृतसत्रमवारितार्थि ॥१२०॥

"हे पुण्यवती दमयन्ती, तुम्हारा ज्ञान बड़ा उत्कृष्ट है। तुम काशी में पुण्य करो। अधिक कहने से क्या लाभ? काशी में मृत्यु होने से लोगों को अभयदान मिलता है जो अमर होने का आश्रय है। वहाँ भागीरथी रूप दूसरा भी साधन है जो याचकों का कभी निवारण नहीं करता ॥१२०॥

भूभर्तुरस्य रतिरेधि मृगाक्षि ! मूर्ता
सोऽयं तवास्तु कुसुमायुध एव मूर्तः।
भातं च ताविव पुरा गिरिशं विराद्ध-
माराद्धुमाशु पुरि तत्र कृतावतारौ ॥१२१॥

"हे मृगनयनी, इस राजा की तुम साक्षात् रति होओ और यह राजा साक्षात् कामदेव हो ! तुम दोनों कामदेव और रति के समान शोभायमान होओ जिससे मालूम हो कि पहले क्रोधित हुए महादेव को शीघ्र प्रसन्न करने के लिए काशी में कामदेव और रति ने अवतार लिया है ॥१२१॥

कामानुशासनशते सुतरामधीती सोऽयं रहो नखपदैर्महतु स्तनौ ते।
अद्रिजाचरणकुङ्कुमपङ्करागसङ्कीर्णशङ्करशशाङ्ककलङ्ककारैः ॥१२२॥

"दमयन्ती, इस राजाने कामदेव के सैकड़ों अनुशासनों का अध्ययन किया है। ये नखों के निशानों से तुम्हारे स्तनों को मंडित करे ! ये निशान पार्वती के चरणों के केशर की रक्तता से मिले हुए शंकर की चन्द्रकला के साथ स्पर्धा करेंगे ॥१२२॥

पृथ्वीश एष नुदतु त्वदनङ्गताप-
मालिङ्ग्य कीर्तिचयचामरचारुचापः ।
सङ्ग्रामसङ्गतविरोधिशिरोधिदण्ड-
खण्डिक्षुरप्रसरसंप्रसरन् प्रतापः ॥१२३॥

"इस राजा का आलिंगन करके अपने मदन ज्वर का शीघ्र नाश होने दो। इसका धनुष कीर्त्ति—समूह रूपी चामरों से सुन्दर है तथा संग्राम में भिड़े हुए वैरियों की गर्दनों को काटने वाले—छुरे की तरह पैनी धार के—शरों से इसका प्रताप बहुत बढ़ गया है ॥१२३॥

वक्षस्त्वदुग्रविरहादपि नास्य दीर्णं वज्रायते पतनकुण्ठितशत्रुशस्त्रम् ।
तत्कन्दकन्दलतया भुजयोर्न तेजोवह्निर्नमत्यरिवधूनयनाम्बुनापि ॥१२४॥

"तुम्हारे उग्र विरह से भी विदीर्ण न होनेवाला इसका वक्षःस्थल वज्र के समान है। इस पर गिरकर शत्रुओं के शस्त्र भौंतरे पड़ जाते हैं। इसके वज्र के तुल्य वक्षःस्थल से निकली हुई भुजाओं से उत्पन्न हुई प्रतापाग्नि शत्रुओं की के नेत्र-वाष्प से शान्त नहीं होती ॥१२४॥

किं न द्रुमा जगति जाग्रति लक्षसंख्या-
स्तुल्योपनीतपिककाकफलोपभोगाः ।
स्तुत्यस्तु कल्पविटपी फलसम्प्रदानं
कुर्वन् स एष विबुधानमृतैकवृत्तीन् ॥१२५।

"जो कोकिलों और काकों को फलों से एकसी जीवन-वृत्ति देते हैं ऐसे लाखों वृक्ष क्या संसार में नहीं हैं ? परन्तु केवल अमृत से जीनेवाले देवताओं को अपने फल देने के कारण कल्पवृक्ष स्तुति के योग्य है ॥१२५॥

अस्मै करं प्रवितरन्तु नृपा न कस्मा-
दस्यैव तत्र यदभूत् प्रतिभूः कृपाणः ।

१—पंडितों और मूर्खों को दान देनेवाले तो अचेतन वृक्षों के समान बहुत से राजा हैं पर यह काशिराज नहीं माँगनेवाले याज्ञिक आदि को भी दान देता है, इस कारण यह कल्पवृक्ष है ।

दैवाद्यदा प्रवितरन्ति न ते तदैव
नेदं कृपा निजकृपाणकरग्रहाय ॥१२६॥

"सब राजा इसे कर क्यों न दें क्योंकि खड्ग ही इसकी जमानत करता है। जब राजा कर नहीं देते हैं तब हाथ में कृपाण लेने के लिए इसकी उग्र प्रवृत्ति होती है ॥१२६॥

एतद्बलैः क्षणिकतामपि भूखुराग्र-
स्पर्शायुषां रयरसादसमापयद्भिः।
दृक्पेयकेवलनभःक्रमणप्रवाहै-
र्वाहैरलुप्यत सहस्रदृगर्वगर्वः ॥१२७॥

"इसकी सेना के घोड़ों ने इन्द्र के घोड़े का गर्व नष्ट कर दिया है। वे वेग के कारण खुर के अग्रभाग से भी क्षण भर पृथ्वी नहीं छूते हैं। उनके केवल आकाश में जाने की परंपरा सावधानता पूर्वक देखने लायक है" ॥१२७॥

तद्वर्णनासमय एव समेतलोक-
शोभावलोकनपरा तमसौ निरासे।
मानी तया गुणविदा यदनादृतोऽसौ
तद्भूभृतां सदसि दुर्यशसेव मम्लौ ॥१२८॥

काशिराज के वर्णन के समय नये आये हुए राजाओं की शोभा देखती हुई दमयन्ती ने उसे अस्वीकार किया। राज-सभा में गुण-ग्राहिणी दमयन्ती के द्वारा अनादर होने से वह राजा इस तरह काला पड़ गया जैसे कोई दुर्यश हुआ हो ॥१२८॥

सानन्तानाप्य तेजःसखनिखिलमरुत्पार्थिवान् दिष्टभाज-
श्चित्तेनाशाजुषस्तान् सममसमगुणान् मुञ्चती गूढभावा।
पारेवाग्वर्तिरूपं पुरुषमनु चिदम्भोधिमेकं शुभाङ्गी
निःसीमानन्दमासीदुपनिषदुपमा तत्परीभूय भूपः ॥१२९॥

जिस प्रकार परम रहस्यमयी और शुभ अंगों से युक्त उपनिषद् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, तथा मन एवं नित्य पदार्थ सामान्य

(जाति), विशेष तथा समवाय और पंच संख्या-युक्त कर्म तथा गुणों का निषेध कर के अवाङ्‌ मनस-गोचर, चैतन्य-घन, असीम आनन्दमय, परम-पुरुष (पर ब्रह्म) रूपी एक मात्र अद्वैत तत्त्व को लक्ष्य कर के उसका प्रतिपादन करती है और इस प्रकार ब्रह्म-परक ही अपने को प्रदर्शित करती है उसी प्रकार नल में गूढ़ प्रीति रखनेवाली तथा सुन्दर अंगों वाली उस दमयन्ती ने भी चित्त में विवाह की आशा लेकर स्वयंवर में पधारने वाले, तेजस्वी, अनुपम गुणशाली, असंख्य नरेन्द्रों एवं देवताओं का निराकरण करके अवर्णनीय रूप-वाले ज्ञानसागर, परमोत्साह-संपन्न एकमात्र नल को ही अपने प्रणय का लक्ष्य बनाया और उसी में अपनी प्रीति-निष्ठा प्रदर्शित की । अतः वह भीम-पुत्री दमयन्ती उपनिषद् के समान थी ॥१२९॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
शृङ्गारामृतशीतगावयमगादेकादशस्तन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः॥१३०॥

कविराजों की पंक्ति के मुकुटों के अलंकार रूप हीरे श्री हीर नामक पिता तथा मामल्ल देवी नामक माता ने जिस जितेन्द्रिय श्री हर्ष को जन्म दिया उसके शृंगार रूपी अमृत के चन्द्र सुन्दर नल-चरित महाकाव्य में स्वभाव से सुन्दर ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१३०॥

द्वादशः सर्गः ।

प्रियाह्रियालम्ब्य विलम्बमाविला विलासिनः कुण्डिनमण्डनायितम् ।
समाजमाजग्मुरथो रथोत्तमास्तमासमुद्रादपरेऽपरे नृपाः ॥१॥

इसके अनन्तर अन्यान्य विलासी राजा दिगन्तों से कुण्डिन पुर को भूषित करने वाली स्वयंवर सभा में आये । वे अपनी प्रियाओं के सम्मुख लज्जा के कारण विलंब होने से व्याकुल थे तथा उनके पास उत्तम रथ थे ॥१॥

ततः स भैम्या वधृते वृते नृपैर्विनिःश्वसद्भिः सदसि स्वयंवरः ।
चिरागतैस्तर्कितताद्विरागितैः स्फुरद्भिरानन्दमहार्णवैर्नवैः ॥२॥

उस सभामें दमयन्ती का स्वयंवर जारी था । वहाँ पहले आये राजा तो दमयन्ती का अपने में विराग हो जाने के कारण लम्बे लम्बे साँस छोड़ रहे थे र जो नए आये थे वे पहले राजाओं की ओर दमयन्ती की उदासीनता देख र आनन्द के अगाध समुद्र मालूम होते थे ॥२॥

चलत्पदस्तत्पदयन्त्रणेङ्गितस्फुटाशयामासयति स्म राजके ।
श्रमं गता यानगतावपीयमित्युदीर्य धुर्यः कपटाज्जनीं जनः ॥३॥

शिविका दंड-वाहकों ने दमयन्ती को राजाओं के समूह के बीच में खड़ा किया । दमयन्ती के चरण के इशारे से उन्होंने उसका आशय जान लिया था । पर पालकी में बैठकर कर चलने पर भी श्रम होता है—यह बहाना किया ॥३॥

नृपानुपक्रम्य विभूषितासनान् सनातनी सा सुषुवे सरस्वती ।
विहारमारभ्य सरस्वतीः सुधासरःस्वतीवार्द्रतनूरनूत्थिताः ॥४॥

सनातनी सरस्वती ने आसनों को अलंकृत करते हुए राजाओं को दिखा कर कहा । उसकी वाणी अमृत समुद्रमें विहार करने से अत्यन्त आर्द्र होगई थी और बिना विलंब के ही वहाँ से निकली थी ॥४॥

वृणीष्व वर्णेन सुवर्णकेतकीप्रसूनवर्णाहतुपर्णमाहतम् ।
निजामयोध्यामपि पावनीमयं भवन्मयो ध्यायति नावनीपतिः ॥५॥

"सुनहरी केतकी के फूल से अधिक गौरव ऋतुपर्ण राजा के साथ तुम विवाह करो । यह राजा तुममें चित्त लगाने के कारण अपनी पवित्र अयोध्या को भी भूल गया है ॥५॥

न पीयतां नाम चकोरजिह्वया कथञ्चिदेतन्मुखचन्द्रचन्द्रिका ।
इमां किमाचामयसे न चक्षुषी चिरं चकोरस्य भवन्मुखस्पृशी ॥६॥

"दमयन्ती, तुम चकोर की जिह्वा से ऋतुपर्ण के मुख-चन्द्र की चन्द्रिका का किसी प्रकार पान करो । तुम अपने मुख में स्थित चकोर के नेत्रों को सदा चन्द्रमा की इस चांदनी का पान क्यों नहीं कराती हो ? ॥६॥

अपां विहारे तव हारविभ्रमं करोतु नीरे पृषदुत्करस्तरन्।
कठोरपीनोच्चकुचद्वयीतटत्रुटत्तरः सारवसारवोर्मिजः ॥७॥

"दमयन्ती, सरयू की लहरों के—तुम्हारे अत्यन्त कठिन तथा उच्च स्तनों के आसपास अत्यन्त विशीर्ण हुए और पानी में तैरते हुए—बुलबुले जल-विहार में तुम्हारे हारका विभ्रम धारण करें ! ॥७॥

अखानि सिन्धुः समपूरि गङ्गया कुले किलास्य प्रसभं स भंत्स्यते।
विलङ्घ्यते चास्य यशःशतैरहो सतां महत्सम्मुखधावि पौरुषम् ॥८॥

"इसके वंश में सगर-पुत्रों के द्वारा समुद्र खोदा गया और भगीरथ के द्वारा गंगा से भरा गया। इसके वंश में ही बल पूर्वक रामचन्द्र के द्वारा उसका बंधन किया जायगा। उसी को अब इसका व्यापक यश आक्रान्त कर रहा है। बड़े आदमियों का पौरुष बड़ों के सामने ही जाता है ॥८॥

एतद्यशःक्षीरधिपूरगाहि पतत्यगाधे वचनं कवीनाम्।
एतद्गुणानां गणनाङ्कपातः प्रत्यर्थिकीर्तीः खटिकाः क्षिणोति ॥९॥

"कवियों के शब्द इसके यश रूपी क्षीर-समुद्र के प्रवाह में डूब कर अगाध[1] स्थान में जा पड़ते हैं। इसके गुणों की गणना वैरियों के यश रूपी खड़िया का नाश करती है ॥९॥

भास्वद्वंशकरीरतां दधदयं वीरः कथं कथ्यता-
मध्युष्टापि हि कोटिरस्य समरे रोमाणि सत्त्वाङ्कुराः।
नीतः संयति वन्दिभिः श्रुतिपथं यन्नामवर्णावली-
मन्त्रः स्तम्भयति प्रतिक्षितिभृतां दोस्तम्भकुम्भीनसान् ॥१०॥

"दमयन्ती, सूर्य-वंश के अंकुर तथा वयः-संधिमें वर्तमान इस ऋतुपर्ण राजा की प्रशंसा कैसे की जाय क्योंकि युद्धमें साढ़े तीन करोड़ रोम इसकी शूरता के अंकुर का काम देते हैं। इसके नाम के अक्षर रूपी मंत्र युद्ध में

१—इसके गुण इतने हैं कि उनका गिनना अशक्य है। जैसे लम्बा सवाल करने से खड़िया घिस जाती है उसी तरह इसके गुणों की गणना इसके वैरियों के यश को संसार में घेर देती है।

[न]दियों के द्वारा शत्रु राजाओं के कान में आने पर उनकी—सर्पों के समान—
[द]ण्डरूप बाहुओं का स्तम्भन करते हैं ॥१०॥

ताद्दग्दीर्घविरिञ्चिवासरविधौ जानामि यत्कर्तृतां
शङ्के यत्प्रतिबिम्बमम्बुधिपयःपूरोदरे वाडवः ।
व्योमव्यापिविपक्षराजकयशस्ताराः पराभावुकः
कासामस्य न स प्रतापतपनः पारं गिरां गाहते ॥११॥

"दमयन्ती, इस राजा का प्रताप रूपी सूर्य किस वाणी के पार नहीं पहुँच [ग]या है ? यह शत्रु-राजाओं के आकाश-व्यापी तारा रूप यशों का तिरस्कर्ता है। [ब्र]ह्मा का इतना लम्बा दिन बनाने में इस सूर्य का [१]हाथ है। मैं समझती हूँ कि [स]मुद्र-जल के प्रवाह के बीच में बड़वानल इसके प्रताप रूपी सूर्य का प्रतिबिम्ब है ॥११॥

द्वेष्याकीर्तिकलिन्दशैलसुतया नद्यास्य यद्दोर्द्वयी-
कीर्तिश्रेणिमयी समागममगाद्गङ्गा रणप्राङ्गणे ।
तत्तस्मिन् विनिमज्य बाहुजभटैरारम्भि रम्भापरी-
रम्भानन्दनिकेतनन्दनवनक्रीडादराडम्बरः ॥१२॥

"इस राजा की दोनों बाहुओं से उत्पन्न हुई कीर्ति परम्परा गङ्गा है। [श]त्रुओं के पलायन से उत्पन्न हुई अकीर्ति यमुना है। उन दोनों में संग्राम-[भू]मि में संयोग हुआ। तब क्षत्रिय योद्धा स्नान करके देह छोड़कर रम्भा के [सा]थ आलिङ्गन के स्थान नन्दन-वन में क्रीड़ा के लिए चले गये" ॥१२॥

इति श्रुतिस्वादिततद्गुणस्तुतिः सरस्वतीवाङ्मयविस्मयोत्थया ।
शिरस्तिरःकम्पनयैव भीमजा न तं मनोरन्वयमन्वमन्यत ॥१३॥

दमयन्ती ने ऋतुपर्ण के गुणों की स्तुति का स्वाद कानों से ले लिया पर

१—सूर्य ही दिन बनाता है पर ब्रह्मा का दिन इतना लम्बा है कि साधारण [सू]र्य उसे नहीं बना सकता। वह ऋतुपर्ण के शौर्य के सूर्य से बनाया गया मालूम [हो]ता है।

सरस्वती की वाणी से उत्पन्न हुए आश्चर्य से शिर हिलाकर ऋतुपर्ण को अङ्गीकार नहीं किया ॥१३॥

युवान्तरं सा वचसामधीश्वरा स्वरामृतन्यक्कृतमत्तकोकिला ।
शशंस संसक्तकरैव तद्दिशा निशाकरज्ञातिमुखीमिमां प्रति ॥१४॥

फिर अपने स्वर-रूपी अमृत से मत्त कोकिल का तिरस्कार करने वाली सरस्वती चन्द्रमुखी दमयन्तीसे जिस दिशा में एक अन्य युवक बैठा था उस तरफ हाथ का इशारा करके उसका वर्णन करने लगी ॥१४॥

न पाण्ड्यभूमण्डनमेणलोचने ! विलोचनेनापि नृपं पिपाससि ।
शशिप्रकाशाननमेनमीक्षितुं तरङ्गयाऽपाङ्गदिशा दृशोस्त्विषः ॥१५॥

"हे मृगाक्षी, क्या तुम नेत्रों से पांड्य देश के चूड़ामणि इस राजा का पान नहीं करोगी ? चन्द्रमा के समान प्रसन्न मुख वाले इस राजा को देखने के लिए तुम नेत्रों की किरणों को अपांग के देश से चलाओ ॥१५॥

भुवि भ्रमित्वाऽनवलम्बमम्बरे विहर्तुमभ्यासपरम्परापरा ।
अहो ! महावंशममुं समाश्रिता सकौतुकं नृत्यति कीर्तिनर्तकी ॥१६॥

"दमयन्ती, इस महाकुलीन राजा के आश्रित होकर कीर्ति रूप नर्तकी कुतूहल से नाचती है । वह पहले पृथ्वी पर भ्रमण कर चुकी है और अब बिना विलम्ब के आकाश में विहार करने का अभ्यास करती है ॥१६॥

इतो भिया भूपतिभिर्वनं वनादटद्भिरुच्चैरटवीत्वमीयुषी ।
निजापि साऽवापि चिरात्पुनः पुरी पुनः स्वमध्यासि विलासमन्दिरम् ॥१७॥

"इसके भय से वन से वन में घूमते हुए राजाओं ने अरण्य होती हुई अपनी पुरी को भी चिरकाल के बाद फिर वन की बुद्धि से प्राप्त किया और वहाँ फिर अपना विलास-मन्दिर बनाया ॥१७॥

आसीदासीमभूमीवलयमलयजालेपनेपथ्यकीर्तिः
सप्ताकूपारपारीसदनजनघनोद्गीतचापप्रतापः ।
वीरादस्मात् परः कः पदयुगयुगपत्पातिभूपातिभूय-
स्तूप[illegible]लेन्दुः ॥१८॥

"दमयन्ती, इस वीर से उत्कृष्ट और कौन है ? इसकी कीर्ति समुद्र की सीमा सहित भूमंडल के चन्दन के अङ्गराग रूप भूषण के समान हैं। सातो समुद्रों के तीर पर रहने वाले लोग इसके प्रताप का गान करते हैं। इसके चरणों में एक साथ गिरते राजाओं के असंख्य चूड़ा रत्न रूप ताराओं की किरणों के विस्तार में नख रूपी चन्द्र अत्यन्त आनन्द प्राप्त करते हैं ॥१८॥

भङ्गाकीर्तिमषीमलीमसतमप्रत्यर्थिसेनाभट-
श्रेणीतिन्दुककाननेषु विलसत्यस्य प्रतापानलः।
तस्मादुत्पतिताः स्फुरन्ति जगदुत्सङ्गे स्फुलिङ्गाः स्फुटं
भालोद्भूतभवाक्षिभानुहुतभुग्जम्भारिदम्भोलयः ॥१९॥

"इसकी प्रतापाग्नि पराजय से उत्पन्न हुई अकीर्ति रूप मषी से अत्यन्त मलीन शत्रु-सैनिकों तथा शूरों की श्रेणी रूप तिन्दुक-काननों में विलास करती है। भाल में उत्पन्न महादेव का तीसरा नेत्र, अग्नि, सूर्य तथा इन्द्र का वज्र— ये इसकी प्रतापाग्नि से निकले हुए चिनगारे हैं जो संसार के मध्य में चमकते हैं ॥१९॥

एतद्दन्तिबलैर्विलोक्य निखिलामालिङ्गिताङ्गीं भुवं
सङ्ग्रामाङ्गणसीम्नि जङ्गमगिरिस्तोमभ्रमाधायिभिः।
पृथ्वीन्द्रः पृथुरेतदुग्रसमरप्रेक्षोपनम्रामर-
श्रेणीमध्यचरः पुनः क्षितिधरक्षेपाय धत्ते धियम् ॥२०॥

"दमयन्ती, इसके उग्र संग्राम देखने के लिए आये हुए देवताओं के बीच में देवत्व को प्राप्त हुआ राजा पृथु फिर पर्वत उखाड़ने का इरादा करता है क्योंकि युद्ध के मैदान के अहाते में यहाँ से वहाँ जाते तथा चलायमान पर्वतों की भ्रान्ति पैदा करते हाथियों की सेना ने भूमि का सब प्रदेश प्राप्त कर लिया है" ॥२०॥

आशंस दासीङ्गितविद्विदर्भजामितो ननु स्वामिनि ! पश्य कौतुकम्।
अमुष्य सौधाग्रनटे पटाञ्चले चलेऽपि काकस्य पदार्पणग्रहः ॥२१॥

तब दमयन्ती का अभिप्राय जानने वाली एक दासी ने कहा—"स्वामिनी,

जरा यह तमाशा तो देखिए—राजमहल के ऊपर फहराती हुई चञ्चल पताका की झालर पर अपना पंजा रखने के लिए एक कौआ बार-बार उद्योग कर रहा है" ॥२१॥

ततस्तदप्रस्तुतभाषितोत्थितैः सदस्तदश्वेति हसैः सदःसदाम्।
स्फुटाऽजनि म्लानिरतोऽस्य भूपतेः सिते हि जायेत शितेः सुलक्ष्यता॥२२॥

दासी के अप्रस्तुत वचन से सभ्य हँसने लगे जिससे सभा सफेद हो गई। इस राजा का रंग काला पड़ गया। सफेद वस्तुओं में काला वर्ण सुगमता से प्रकट हो जाता है ॥२२॥

ततोऽनु देव्या जगदे महेन्द्रभूपुरन्दरं सा जगदेकवन्द्यया।
तदार्जवावर्जिततर्जनीकया जनी कयाचित् परचित्स्वरूपया॥२३॥

उस समय जगत् की एक ही पूजनीय, श्रेष्ठ चित्स्वरूपवाली तथा दुर्ज्ञेय सरस्वती ने महेन्द्र देश के स्वामी की तरफ अपनी उँगली उठाकर दमयन्ती से कहा— ॥२३॥

स्वयंवरोद्वाहमहे वृणीष्व हे ! महेन्द्रशैलस्य महेन्द्रमागतम्।
कलिङ्गजानां स्वकुचद्वयश्रिया कलिं गजानां शृणु तत्र कुम्भयोः॥२४॥

"दमयन्ती, स्वयंवर के उत्सव में आये हुए महेन्द्र शैल के स्वामी को तुम पसंद करो। वहाँ तुम अपने दोनों कुचों की लक्ष्मी के साथ कलिंग देश में उत्पन्न हुए हाथियों के कुंभों की कलह सुनना ॥२४॥

अयं किलायात इतीरिपौरवाग्भयाद्ययादस्य रिपुर्वृथा वनम्।
श्रुतस्तदुत्स्वापगिरस्तदक्षराः पठद्भिरत्रासि शुकैर्वनेऽपि सः॥२५॥

"सुना जाता है कि–राजा आया–यों कहनेवाले पुरजनों की वाणी से भय-भीत होकर इसके रिपु वन में भाग गये। यह भी वृथा हुआ क्योंकि वहाँ भी निद्रा में वे इन्हीं शब्दों के प्रलाप से डर जाते थे और तोते इनको सुनकर नकल करते थे ॥२५॥

इतस्त्रसद्विद्रुतभूभृदुज्झिता प्रियाऽथ दृष्टा वनमानवीजनैः।
शशंस पृष्टाद्भुतमात्मदेवजं शशित्विषः शीतलशीलतां किल॥२६॥

"इससे डरकर भागे हुए राजाओं से छोड़ी गईं प्रियाएँ भीलनियों ने देखीं। जब भीलनियों ने उनके देश की अद्भुत बात पूछी तब रानियों ने कि हमारे यहाँ के चन्द्रमा की चाँदनी शीतल होती है ॥२६॥

इतोऽपि किं वीरयसे न कुर्वतो नृपान् धनुर्बाणगुणैर्वशंवदान्।
गुणेन शुद्धेन विधाय निर्भरं तमेनमुर्वीवलयोर्वशी वशम् ॥२७॥

"दमयन्ती, क्या तुम इस राजासे अधिक दूर नहीं हो ? यह राजा तो धनुष, बाण और प्रत्यंचा की सामग्री से शत्रुओं को वश में करता है लेकिन उर्वशी से भी अधिक सुन्दर होने के कारण इसको सौन्दर्यादि गुणों से अनायास ही वश में कर लोगी ॥२७॥

एतद्भीतारिनारी गिरिबिलविगलद्वासरा निःसरन्ती
स्वक्रीडाहंसमोहग्रहिलशिशुभृशप्रार्थितोन्निद्रचन्द्रा।
आक्रन्दद्भूरि यत्तन्नयनजलमिलच्चन्द्रहंसानुबिम्ब-
प्रत्यासत्तिप्रहृष्यत्तनयविहसितैराश्वसीन्न्यश्वसीच्च ॥२८॥

"इससे डरे हुए शत्रुओं की स्त्रियाँ पर्वतों की कन्दराओं में अपने दिन बिताती हैं। रात्रि में कंदराओं से बाहर निकलती हैं। तब बालक अपने क्रीड़ा-हंस की भ्रांति से चन्द्रमा माँगते हैं। उनके आग्रह के कारण स्त्रियाँ बहुत रोती हैं। फिर बहुत से आँसुओं में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब देखकर बालक प्रसन्न होते हैं तब उनको तसल्ली होती है ॥२८॥

अस्मिन् दिग्विजयोद्यते पतिरयं मे स्तादिति ध्यायिनी
कम्पं सात्त्विकभावमञ्चति रिपुक्षोणीन्द्रदारा धरा।
अस्यैवाभिमुखं निपत्य समरे यास्यद्भिरूर्ध्वं निजः
पन्था भास्वति दृश्यते बिलमयः प्रत्यर्थिभिः पार्थिवैः ॥२९॥

"दमयन्ती, जब यह राजा दिग्विजय करने के लिए तैयार होता है तब शत्रु राजाओं की प्रिया पृथिवी—यह राजा मेरा पति हो—यह चिन्ता करती सात्त्विक भावों के बीच में कंप को प्राप्त होती है। युद्ध में इसके सामने

शस्त्रों से मरकर ऊपर जाते हुए शत्रु राजाओं को सूर्य–मण्डल[१] के बीच में अपना रास्ता देख पड़ता है ॥२९॥

विद्राणे रणचत्वरादरिगणे त्रस्ते समस्ते पुनः
कोपात् कोऽपि निवर्तते यदि भटः कीर्त्या जगत्युद्भटः।
आगच्छन्नपि सम्मुखं विमुखतामेवाधिगच्छत्यसौ
द्रागेतच्छुरिकारयेण ठणिति च्छिन्नापसर्पच्छिराः ॥३०॥

"डरे हुए तथा लड़ाई के मैदान से भागे हुए सब शत्रुओं में से कोई बड़े यशवाला योद्धा क्रोध कर के यदि फिर लौटता है तो वह इसके सामने आकर ही विमुख हो जाता है क्योंकि शीघ्र ही इसकी छुरी की धार से कट कर उसका शिर जमीन पर लोटने लगता है" ॥३०॥

ततस्तदुर्वीन्द्रगुणाद्भुतादिव स्ववक्त्रपद्मेऽङ्गुलिनालदायिनी।
विधीयतामाननमुद्रणेति सा जगाद वैदग्ध्यमयेङ्गितैव ताम् ॥३१॥

तब मानों उस राजा के अद्भुत गुणों के आश्चर्य से अपने मुख-कमल के ऊपर उँगली रूप नाल रखकर चतुरता से युक्त चेष्टावाली दमयन्ती ने सरस्वती से कहा कि मौन रहो ॥३१॥

अनन्तरं तामवदन्नृपान्तरं तदध्वदृक्तारतरङ्गरङ्गणा।
तृणीभवत्पुष्पशरं सरस्वती स्वतीव्रतेजःपरिभूतभूतलम् ॥३२॥

इसके अनन्तर अन्य वर्णनीय राजा की ओर दृष्टि की तरगों की गति करनेवाली सरस्वती ने दमयन्ती से अन्य नृप का वर्णन किया जिसने अपने तीव्र तेज से भू मण्डल को वश में कर लिया था तथा जिसके सामने कामदेव एक तृण के बराबर भी नहीं था ॥३२॥

तदेव किन्तु क्रियते न का क्षतिर्यदेष तद्दूतमुखेन काङ्क्षति।
प्रसीद काञ्चीमयमाच्छिनत्तु ते प्रसह्य काञ्चीपुरभूपुरन्दरः ॥३३॥

"यह कांचीपुर का राजा तुम्हारे पास भेजे गये दूत के सन्देश से जो चाहता है वही तुम क्यों नहीं करती हो ? इससे तुम्हारी क्या हानि है ! तुम

१ जो रण में सम्मुख होकर मरते है वे सूर्य मण्डल भेदकर स्वर्ग को जाते हैं।

म्र होकर इसे अपनी कांची (=मेखला) शिथिल करने दो ॥३३॥

मयि स्थितिर्नम्रतयैव लभ्यते दिगेव तु स्तब्धतया विलङ्घ्यते ।
इतीव चापं दधदाशुगं क्षिपन्नयं नयं सम्यगुपादिशद्द्विषाम् ॥३४॥

"धनुष लेकर और शत्रुओं पर बाण चलाकर यह राजा उनसे यह नीति कहता मालूम होता है—हे शत्रुओ, मेरे पास नम्र होकर आओ। अविनीत होने से तो तुम लोगों को दिगंतरों में जाना पड़ेगा ॥३४॥

अदःसमित्सम्मुखवीरयौवतत्रुटद्भुजाकम्बुमृणालहारिणी ।
द्विषद्गणस्त्रैणदृगम्बुनिर्झरे यशोमरालावलिरस्य खेलति ॥३५॥

"इस राजा की कीर्तिरूप हंस-पंक्ति शत्रु समूहों की स्त्रियों के आँसुओं के प्रवाह में खेलती है। युद्ध मे इसके सामने आये वीरों की स्त्रियों की शंखों की टूटी चूडियाँ ही मृणाल हैं जिनको यह भक्षण करती है ॥३५॥

सिन्दूरद्युतिमुग्धमूर्धनि धृतस्कन्धावधिश्यामिके
व्योमान्तःस्पृशि सिन्धुरेऽस्य समरारम्भोद्धुरे धावति ।
जानीमो नु यदि प्रदोषतिमिरव्यामिश्रसन्ध्याधिये
वाऽस्तं यान्ति समस्तबाहुजभुजातेजःसहस्रांशवः ॥३६॥

'दमयन्ती, युद्ध का आरम्भ करने के लिए उद्युक्त हुए इसके हाथी दौड़ते हैं तब प्रदोष के अंधकार से मिली हुई संध्या की भ्रान्ति से सब क्षत्रियों की भुजाओं के तेजरूपी सूर्य अस्त हो जाते हैं-यह हम समझते हैं। संध्या की भ्रान्ति इस कारण होती है कि हाथी का मस्तक सिन्दूर की कान्ति से मनोहर होता है उसके कन्धे तक काजल का लेप लगा रहता है तथा ऊँचा वह इतना होता है कि आकाश का स्पर्श करले ॥३६॥

हित्वा दैत्यरिपोरुरः स्वभवनं शून्यत्वदोषस्फुटा-
सीदन्मर्कटकीटकृत्रिमसितच्छत्रीभवत्कौस्तुभम् ।
उज्झित्वा निजसद्म पद्ममपि तद्व्यक्तावनद्धीकृतं
लूतातन्तुभिरन्तरद्य भुजयोः श्रीरस्य विश्राम्यति ॥३७॥

"लक्ष्मी आज इसकी भुजाओं के बीच में विश्राम करती है। उसने अपना

भवन—विष्णु का वक्षःस्थल—छोड़ दिया है और अपना भवन—कमल—भी छोड़ दिया है। विष्णु के वक्षःस्थल का कौस्तुभ लक्ष्मी के छोड़ने से शून्य होने के दोष के कारण इकट्ठी हुई मकड़ियों के जाले के समान लगता है और कमल मकड़ियों के सूत्र से बँधा मालूम होता है ॥३७॥

सिन्धोर्जैत्रमयं पवित्रमसृजत् तत्कीर्तिपूर्ताद्भुतं
यत्र स्नान्ति जगन्ति सन्ति कवयः के वा न वाचंयमाः।
यद्बिन्दुश्रियमिन्दुरञ्चति जलं चाविश्य दृश्येतरो
यस्यासौ जलदेवतास्फटिकभूर्जागर्ति यागेश्वरः ॥३८॥

"इसने समुद्र के जीतनेवाले पवित्र कीर्तिरूप सरोवर का एक आश्चर्य पैदा किया है जिसमें तीनों लोक स्नान करते हैं। इसका वर्णन नहीं हो सकता इस कारण इसके विषय में कौन से कवि मौन नहीं हैं? चन्द्रमा तो इस सरोवर का एक बिन्दु है। इसके जल में प्रवेश करके तथा अदृश्य रहकर कैलाश पर्वत स्फटिक के शिव लिंगरूप जल-देवता का स्थान ग्रहण करता है ॥३८॥

अन्तःसन्तोषवाष्पैः स्थगयति न दृशस्ताभिराकर्णयिष्य-
न्नङ्गेनानस्तिरोमा रचयति पुलकश्रेणिमानन्दकन्दाम्।
न क्षोणीभङ्गभीरुः कलयति च शिरःकम्पनं तन्न विद्मः
शृण्वन्नेतस्य कीर्तीः कथमुरगपतिः प्रीतिमाविष्करोति ॥३९॥

"शेषनाग अपने नेत्रों से इसके गुण सुनकर आनन्दाश्रुओं के कारण नेत्र बन्द नहीं करता है और न अपने शरीर पर आनन्द-कन्द रोमांच-पंक्ति की रचना करता है क्योंकि उसके रोम नहीं हैं। वह संतोष के कारण शिर भी नहीं हिलाता है क्योंकि उसे डर है कि यदि मैं शिर हिलाऊँगा तो पृथिवी गिर जायगी। इस कारण इसकी कीर्ति सुनकर शेषनाग अन्तःकरण में उत्पन्न हुई प्रीति किस प्रकार प्रकट करता है—यह हमें नहीं मालूम ॥३९॥

आचूडाग्रममज्जयज्जयपटुर्यच्छल्यदण्डानयं
संरम्भे रिपुराजकुञ्जरघटाकुम्भस्थलेषु स्थिरान्।
सा सेवास्य पृथुः प्रसीदसि तया नास्मै कुतस्त्वत्कुच-
स्पर्शोत्सवेषु सेतुतान् वृत्तवते दण्डान् प्रचण्डानपि ॥४०॥

"युद्ध होने पर जय में चतुर राजा ने शत्रु-राजाओं की गज-घटा के कुंभ-स्थलों पर दूर तक गढ़ने से स्थिर हुए लोहे के शरों को पूँछ तक पहुँचा कर उनका मद दूर कर के तुम्हारी बड़ी सेवा की इस कारण तुम क्यों न प्रसन्न होओ क्योंकि वे कुम्भ-स्थल तुम्हारे कुचों की समानता के अभिलाषी थे, इससे उनको कठिन दण्ड दे दिया गया" ॥४०॥

स्मितश्रिया सृक्कणि लीयमानया वितीर्णया तद्गुणशर्मणेव सा ।
उपाहसत् कीर्त्यमहत्त्वमेव तं गिरां हि पारे निषधेन्द्रवैभवम् ॥४१॥

उसकी कीर्ति वर्णन के योग्य थी पर नल को कीर्ति वर्णन के योग्य नहीं थी इस कारण दमयन्ती ने मानों उसके गुण सुनने से उत्पन्न हुए सुख से प्राप्त हुई तथा ओष्ठ-प्रान्त में विलीन हुई मुसकुराहट की शोभा से उस राजा का यथार्थ में उपहास किया ॥४१॥

निजाक्षिलक्ष्मीहसितैणशावकामसाऽवभाणीदपरं परन्तपम् ।
पुरैव तद्दिग्वलनश्रियां भुवा भ्रुवा विनिर्दिश्य सभासभाजितम् ॥४२॥

फिर अपने नेत्रों की कान्ति से हिरन के बच्चे को जीतने वाली सरस्वती सभा से पूजित दूसरे राजाको अपनी भौंह से पहले ही दिखाकर दमयन्ती से बोली—॥४२॥

कृपा नृपाणामुपरि क्वचिन्न ते नतेन हा हा शिरसा रसादृशाम् ।
भवन्तु तावत् तव लोचनाञ्चला निपेयनेपालनृपालपालयः ॥४३॥

"दमयन्ती, यह बड़ा कष्ट है कि तुम्हारी इन राजाओं में से किसी पर भी कृपा नहीं है । ये लज्जा से शिर झुका कर पृथिवी को देख रहे हैं। लेकिन तुम्हारे नेत्रों के अपांग नेपाल देश के दर्शनीय राजा का पान करने के लिए भ्रमर हों । ॥४३॥

ऋजुत्वमौनश्रुतिपारगामिता यदीयमेतत् परमेव हिंसितुम् ।
अतीव विश्वासविधायि चेष्टितं बहुर्महानस्य स दाम्भिकः शरः ॥४४॥

"नैपाल देश के राजा के बहुत से बड़े-बड़े बाण [1]दांभिक हैं। ये शत्रु का

१—दाम्भिक अपने मनुष्य के साथ अनुकूल बर्ताव करने वाला, अच्छे व्यवहार वाला, मितभाषी, वेद-पारगामी तथा विश्वास उत्पन्न करने वाला होता है।

विनाश करने वाले, सीधे जाने वाले, शब्द-रहित, कान तक पहुँचने वाले तथा प्राण लेने वाले हैं ॥४४॥

रिपूनवाप्यापि गतोऽवकीर्णितामयं न यावज्जनरञ्जनव्रती।
भृशं विरक्तानपि रक्तवत्तरान् निकृत्य यत् तानसृजासृजद्युधि ॥४५॥

"इस राजा का व्रत है कि मैं सबका [1]रञ्जन करूँ इस कारण शत्रुओं को प्राप्त करके भी इसने अपना व्रत भङ्ग नहीं किया क्योंकि इसे देखकर विरक्त हुए शत्रुओं को बाणों से छेद कर इसने उनका रक्त-रंजन कर दिया ॥४५॥

पतत्येतत्तेजोहुतभुजि कदाचिद्यदि तदा
पतङ्गः स्यादङ्गीकृततमपतङ्गापदुदयः।
यशोऽमुष्यैवोपार्जयितुमसमर्थेन विधिना
कथञ्चित् क्षीराम्भोनिधिरपि कृतस्तत्प्रतिनिधिः ॥४६॥

"यदि सूर्य कभी इसके तेज रूपी अग्नि में गिर पड़े तो उसकी पतंगों की सी दशा हो। किसी प्रकार भी इसका यश उत्पन्न करने के लिए असमर्थ हुए ब्रह्मा ने बड़े-बड़े क्षीर-समुद्रों को इसके यश का प्रतिनिधि बनाया है ॥४६॥

यावत्पौलस्त्यवास्तूभवदुभयहरिल्लोमरेखोत्तरीये
सेतुप्रालेयशैलौ चरति नरपतेस्तावदेतस्य कीर्तिः।
यावत् प्राक्प्रत्यगाशापरिवृढनगरारम्भणस्तम्भमुद्रा-
वद्री सन्ध्यापताकारुचिरचितशिखाशोणशोभावुभौ च ॥४७॥

"दमयन्ती, सेतु और हिमाचल जहाँ तक हैं यहाँ तक इसका यश भ्रमण करता है। ये सेतु और हिमाचल रावण और कुबेर की गृह-भूमि हैं और क्रम से दक्षिण और उत्तर दिशाओं में हैं। इनके श्याम और श्वेत होने से यश इनकी रोमावली और उत्तरीय धारण करता है। पूर्व और पश्चिम के स्वामी— इन्द्र और वरुण के दोनों नगरों का आरम्भ बतलाते—स्तम्भ के समान— पर्वतों तक यह फैलता है। इन पर्वतों के शिखरों पर प्रातःकाल तथा सायंकाल की—ध्वजाओं के समान—संध्याओं की कान्ति से लाल रंग की सुन्दरता आ जाती है ॥४७॥

१—प्रसन्न करना; रंगना।

युद्ध्वा चाभिमुखं रणस्य चरणस्यैवाद्सीयस्य वा
व्युद्ध्वान्तः स्वपरान्तरं निपततामुन्मुच्य वाणावलीः।
छिन्नं वावनतीभवन्निजभियः खिन्नं भरेणाथ वा
राज्ञाऽनेन हठाद्विलोठितमभूद्भूमावरीणां शिरः ॥४८॥

"इस राजा ने हठ से शत्रुओं के शिरों को भूमि पर लोटने दिया। ये वाणों की पंक्ति बरसाकर युद्ध करके रण भूमि में गिर पड़े थे या अन्तःकरण अपने और उसके बीच में तारतम्य देखकर वाण छोड़कर इसके चरणों में पड़ थे। उनके शिर खण्डित होकर या तो नीचे पड़े थे या भय के भार से झुक गये थे ॥४८॥

न तूणादुद्धारे न गुणघटने नाश्रुतिशिखं
समाकृष्टौ दृष्टिर्न वियति न लक्ष्ये न च भुवि।
नृणां पश्यत्यस्य क्वचन विशिखान् किन्तु पतित-
द्विषद्वक्षःश्वभ्रैरनुमितिरमून् गोचरयति ॥४९॥

"युद्ध का तमाशा देखने वाले मनुष्यों की दृष्टि इसके बाणों को किसी भी देख नहीं सकती है—न तरकस से निकाले जायँ तब, न प्रत्यंचा में लगाये तब, न कानतक खेंचे जाँय तब। न आकाश में जाँय तब, न पृथ्वी पर, निशाने पर। किन्तु गिरे हुए बहुत से शत्रुओं क वक्षःस्थल के प्रहारों से का अनुमान होता है" ॥४९॥

दमस्वसुश्चित्तमवेत्य हासिका जगाद देवीं कियदस्य वक्ष्यसि।
भण प्रभूते जगति स्थिते गुणैरिहाप्यते सङ्कटवासयातना ॥५०॥

एक हँसोड़ नौकरानी दमयन्ती का आशय जानकर सरस्वती से कहने लगी—देवि, इनका तुम कितना वर्णन करोगी? तुम इस तरह क्यों न कहो कि गुणों से पूर्ण संसार इतना बड़ा है तो भी इस राजा में संकट से समाने के गुण वेदना प्राप्त करते हैं" ॥५०॥

दासीह किमप्यसङ्गतं ततोऽपि नीचेयमतिप्रगल्भते।
सभा साधुरितीरिणः कुधा न्यषेधदेतत्क्षितिपानुगान् जनः ॥५१॥

राजा के नौकरों को लोगों ने क्रोध से इस तरह कह कर रोका—"य अच्छी सभा है ! इस में एक दासी चाहे जो कुछ कह देती है—उचित हो य नहीं; अब दासी से भी नीची यह चेटी प्रगल्भता की सीमा को पहुँच गई है इस तरह सभा में कहीं नहीं होता" ॥५१॥

अथान्यमुद्दिश्य नृपं कृपामयी मुखेन तद्दिङ्मुखसम्मुखेन सा ।
दमस्वसारं वदति स्म देवता गिरामिलाभूवदतिस्मरश्रियम् ॥५२॥

फिर कृपामयी सरस्वती ने एक अन्य राजा की तरफ मुँह कर के दमयन्ती से कहा । उस राजा की शोभा पुरूरवा के समान कामदेव से बढ़कर थी ॥५२॥

विलोचनेन्दीवरवासवासितैः सितैरपाङ्गाध्वगचन्द्रिकाञ्चलैः ।
त्रपामपाकृत्य निभान्निभालय क्षितिक्षितं मालयमालयं रुचः ॥५३॥

"दमयन्ती, नयनरूपी नीलोत्पलों में स्थिति होने से सुरभित तथा अपां रूपी मार्ग में भ्रमण करनेवाली—चाँदनी के समान—दीप्ति की श्वेत किरणों किसी बहाने—लज्जा छोड़कर—मलयपर्वत के कान्तिमान राजा को देखो ॥५३

इमं परित्यज्य परं रणादरिः स्वमेव भग्नः शरणं मुधाविशत् ।
न वेत्ति यत्रातुमितः कृतस्मयो न दुर्गया शैलभुवाऽपि शक्यते ॥५४॥

"युद्ध से भागा हुआ घमंडी शत्रु इसे छोड़कर अपने घर वृथा जाता क्योंकि वह नहीं जानता कि विषम पर्वतों के दुर्ग भी इस राजा से उसकी रक्षा नहीं कर सकते ॥५४॥

अनेन राज्ञाऽर्थिषु दुर्भगीकृतो भवन् घनध्वानजरत्नमेदुरः ।
तथा विदूराद्रिरदूरतां गमी यथा स गामी तव केलिशैलताम् ॥५५॥

"इसका वरण करने से प्रसिद्ध [1]विदुराचल बढ़ता बढ़ता तुम्हारे समीप आ जायगा और तुम्हारा क्रीड़ा-पर्वत होगा क्योंकि इस राजा के कारण याचक उसके पास पहुँचते नहीं इससे व्यय न होने के कारण नये मेघों के शब्दों से उत्पन्न हुए रत्नों से वह बड़ा परिपुष्ट हो गया है ॥५५॥

१—रोहण पर्वत ।

नम्रप्रत्यर्थिपृथ्वीपतिमुखकमलम्लानताभृङ्गजात-
छायान्तःपातचन्द्रायितचरणनखश्रेणिरैणेयनेत्रे ! ।
दृप्तारिप्राणवातामृतरसलहरीभूरिपानेन पीनं
भूलोकस्यैष भर्ता भुजभुजगयुगं सांयुगीनं बिभर्ति ॥५६॥

"हे हिरन के बच्चे के समान नेत्र वाली, यह भूगोल का भर्ता राजा दो रण-भुजाओं को दो सर्पों के समान धारण करता है। नम्र हुए शत्रुओं के कमलों की म्लानता रूप भ्रमर-शोभा से इसके नख चन्द्र के समान मालूम हैं। इसकी भुजाएँ घमण्डी शत्रुओं की प्राण-वायु रूप अमृत-रस की तरङ्गों पान करने से अत्यन्त पुष्ट हो गई हैं ॥५६॥

अध्याहारः स्मरहरशिरश्चन्द्रशेषस्य शेष-
स्याहेर्भूयः फणसमुचितः काययष्टीनिकायः ।
दुग्धाम्भोधेर्मुनिचुलुकनत्रासनाशाभ्युपायः
कायव्यूहः क्व जगति न जागर्त्यदः कीर्तिपूरः ॥५७॥

"इसकी कीर्ति का प्रवाह किस लोक में प्रकाशित नहीं होता ? महादेव के पर चन्द्रमा की एक कला को यह पन्दरह कलाओं से पूर्ण करता है क्योंकि मा में दोनों एक से हैं। शेषनाग के हजारों फनों से मुकाबला करने के यह शरीर-यष्टियों का समूह है तथा—अगस्त्य के चुल्लू से पीने के भय नाश करने के लिए बड़ा भारी साधन—यह दुग्ध के समुद्र का काय-व्यूह ॥५७॥

राज्ञामस्य शतेन किं कलयतो हेतिं शतघ्नीं कृतं
लक्षैर्लक्षभिदो दशैव जयतः पद्मानि पद्मैरलम् ।
कर्तुं सर्वपरच्छिदः किमपि नो शक्यं परार्धेन वा
तत्सङ्ख्यापगमं विनाऽस्ति न गतिः काचिद्गतैतद्द्विषाम् ॥५८॥

"जो शतघ्नी धारण करता है उसका सौ राजा क्या कर सकते हैं ? जो

१—चन्द्रमा के कलङ्क से समानता की गई है।

अपने लक्ष्य का भेद करने में कभी चूकता नहीं है उसका लक्ष (=लाख) भी क्या कर सकते हैं ? जो दृष्टि से ही पद्म (=कमल) को जीत लेता उसका पद्म-संख्या के शत्रु क्या कर सकते हैं। इस कारण इसके शत्रुओं के लिए इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है कि वे संख्या से परे हो जायँ" ॥५८॥

वयस्ययाऽऽकूतविदा दमस्वसुः स्मितं वितत्याभिदधेऽथ भारती।
इतः परेषामपि पश्य याचतां भवन्मुखेन स्वनिवेदनत्वराम् ॥५९॥

फिर दमयन्ती का अभिप्राय जानने वाली एक सखी ने हँस कर सरस्वती से कहा—"भारती, तुम अन्य राजाओं को भी देखो जो तुम से अपना वर्णन सुनने के लिए अधीर हो रहे हैं" ॥५९॥

कृताऽत्र देवीं वचनाधिकारिणी त्वमुत्तरं दासि ! ददासि का सती।
इतीरिणस्तन्नृपपारिपार्श्विकान् स्वभर्तुरेव भ्रुकुटिर्न्यवर्तयत ॥६०॥

उनके स्वामी की भ्रकुटी इस तरह कहते हुए परिचरों का निषेध करने लगी—"अविनीत दासी, सरस्वती ही वर्णन करने की अधिकारिणी है। तुम बोलने वाली कौन हो" ॥६०॥

धराधिराजं निजगाद भारती तदुन्मुखेषद्वलिताङ्गसूचितम्।
दमस्वसारं प्रति सारवत्तरं कुलेन शीलेन च राजसूचितम् ॥६१॥

तब सरस्वती ने एक राजा के विषय में दमयन्ती से कहा जो जन्म और चरित्र के कारण राजाओं में श्रेष्ठ और बलिष्ठ था और जिसे उसकी तरफ जरा आगे बढ़ कर सरस्वती ने दमयन्ती को दिखा दिया था ॥६१॥

कुतः कृतैवं नवलोकमागतं प्रति प्रतिज्ञाऽनवलोकनाय वा।
अपीयमेनं मिथिलापुरन्दरं निपीय दृष्टिः शिथिलास्तु ते वरम् ॥६२॥

"दमयन्ती, तुमने स्वयम्बर के लिए आये हुए नेताओं की तरफ नहीं देखने की प्रतिज्ञा क्यों की है ? कम से कम इस मिथिला नगरी के स्वामी का पान करके अपनी दृष्टि को शिथिल हो जाने दो ॥६२॥

न पाहि पाहीति यदब्रवीरमुं ममौष्ठ ! तेनैवमभूदिति क्रुधा।
रुषाश्रिता [illegible] विरोधिमूर्धभिर्विदश्य दन्तैर्निजमोष्ठमास्यते ॥६३॥

"इसके शत्रुओं के शिर संग्राम-भूमि में अपना होठ दाँतों से काट कर
ते हैं—हे ओष्ठ, तुमने इस राजा के सामने—रक्षा करो, रक्षा करो—नहीं
ा इसी कारण हमारा मरण हुआ ॥६३॥

भुजेऽपसर्पत्यपि दक्षिणे गुणं सहेषुणाऽऽदाय पुरःप्रसर्पिणे ।
धनुःपरीरम्भमिवास्य सम्मदान्महाहवे दित्सति वामबाहवे ॥६४॥

"बड़े भारी युद्ध में दक्षिण भुजा बाण के साथ प्रत्यञ्चा लेकर कान की
ओ जाती है तब सामने जाती हुई वाम बाहु को धनुष हर्ष से आलिङ्गन[2]
ना चाहता है ॥६४॥

अस्योर्वीरमणस्य पार्वणविधुद्वैराज्यसज्जं यशः
सर्वाङ्गोज्ज्वलशर्वपर्वतसितश्रीगर्वनिर्वासि यत् ।
तत्कम्बुप्रतिबिम्बितं किमु शरत्पर्जन्यराजिश्रियः
पर्यायः किमु दुग्धसिन्धुपयसां सर्वानुवादः किमु ॥६५॥

"इस राजा का यश पूर्ण चन्द्रमा के साथ सम्मिलित राज करने को तैयार
। यह सब अंगों में उज्ज्वल कैलास की श्वेत कान्ति के गर्व का दूर करनेवाला
। क्या यह शंख का प्रतिबिम्ब है ? शरद् के मेघों की पंक्ति की शोभा का
याय है ? क्षीर समुद्र के दुग्ध की सब प्रकार से पुनरुक्ति है ! ॥६५॥

निस्त्रिंशत्रुटितारिवारणघटाकुम्भास्थिकूटाऽवट-
स्थानस्थायुकमौक्तिकोत्करकिरः कैरस्य नायं करः ।
उन्नीतश्चतुरङ्गसैन्यसमरत्वङ्गत्तुरङ्गक्षुर-
क्षुण्णासु क्षितिषु क्षिपन्निव यशःक्षोणीजबीजव्रजम् ॥६६॥

"किस ने इस राजा का हाथ नहीं देखा जो तलवार से काटे गये शत्रुओं
के हाथियों के कुम्भों की हड्डियों के गड्ढे में पड़े हुए मोतियों को बखेरता है
और हाथी, पैदल, रथ तथा घोड़ों से युक्त सेनाओंवाले युद्धों में जाते हुए

१—आशय यह है कि यह राजा युद्ध में कानतक खींचने से धनुष को गोल
...बाण छोड़ता हुआ ही दृष्टि पड़ता है ।

घोड़ों के खुरों से खोदी गई भूमि में यशरूपी वृक्षों को उत्पन्न करनेवाले बीजों को मानों बोता है ॥६६॥

अर्थिभ्रंशबहूभवत्फलभरव्याजेन कुब्जायितः
सत्यस्मिन्नतिदानभाजि कथमप्यास्तां स कल्पद्रुमः।
आस्ते निर्व्ययरत्नसम्पदुदयोदग्रः कथं याचक-
श्रेणीवर्जनदुर्यशोनिबिडितव्रीडस्तु रत्नाचलः ॥६७॥

"कल्पवृक्ष केवल कल्पित वस्तु देता है पर यह राजा अत्यन्त दानी होने के कारण अकल्पित भी देता है। इस कारण कल्पवृक्ष याचकों के न होने से जब भी व्यय न होने के कारण एकत्रित हुए फलों के भार के बहाने अत्यन्त झुककर किसी तरह बड़े कष्ट से रहता है पर रत्नाचल[1] याचकों से परित्याग होने के कारण उत्पन्न हुई अपकीर्ति से लज्जा घनी होने के कारण रत्न-संपत्ति बढ़ने से ऊँचे शिखरवाला होकर कैसे रह सकता है ?" ॥६७॥

सृजामि किं विघ्नमिदं नृपस्तुताविति ङ्गितैः पृच्छति तां सखीजने।
स्मिताय वक्त्रं यदवक्रयद्वधूस्तदेव वैमुख्यमलक्षि तन्नृपे ॥६८॥

दमयन्ती की एक सखी ने इशारे से पूछा कि हम इसकी प्रशंसा में विघ्न डालें क्या ? तब अपना अभिप्राय जताने के लिए हँसकर दमयन्ती ने अपना मुँह टेढ़ा कर लिया जिससे उस राजा की तरफ विराग प्रकट हो गया ॥६८॥

दृशास्य निर्दिश्य नरेश्वरान्तरं मधुस्वरा वक्तुमधीश्वरा गिराम्।
अनूपयामास विदर्भजाश्रुती निजास्यचन्द्रस्य सुधाभिरुक्तिभिः ॥६९॥

फिर मधुर स्वरवाली सरस्वती ने वर्णन करने के लिए नेत्र से अन्य राजा को दिखाकर दमयन्ती के कानों को अपने मुख-चन्द्र की सुधारूप युक्तियों से पूर्ण किया ॥६९॥

स कामरूपाधिप एष हा त्वया न कामरूपाधिक ईक्ष्यतेऽपि यः।
त्वमस्य सा योग्यतमाऽपि वल्लभा सुदुर्लभा यत्प्रतिमल्लभा परा ॥७०॥

"यह कामरूप देश का स्वामी है और सौन्दर्य में कामदेव से भी बढ़कर

[1]—रत्नाचल में मेघों के गर्जन के समय रत्न पैदा होते हैं।

। कष्ट है कि तुम इसकी तरफ देखती भी नहीं ! तुम इसकी सब से योग्य या हो । ऐसी अन्य स्त्री नहीं मिलेगी जो तुम्हारी अपेक्षा सुन्दर हो ॥७०॥

अकर्णधाराशुगसम्भृतां गतां गतैररित्रेण विनाश्य वैरिभिः ।
विधाय यावत्तरणेर्भिदामहो ! निमज्य तीर्णः समरे भवार्णवः ॥७१॥

"इसके शत्रु युद्ध में मरकर सूर्य-मंडल का भेद कर के संसार-समुद्र के र चले गये हैं—यह आश्चर्य है ! उनके पास कवच नहीं था और उनके रीर के प्रत्येक अवयव पर बाणों ने प्रहार किया था ॥७१॥

यदस्य भूलोकभुजो भुजोष्मभिस्तपर्तुरेव क्रियतेऽरिवेश्मनि ।
प्रपां न तत्रारिवधूस्तपस्विनी ददातु नेत्रोत्पलवासिभिर्जलैः ॥७२॥

"इस राजा की बाहुओं के प्रताप से शत्रुओं के घरों में उनके ाप से सन्ताप होने के कारण ग्रीष्म ऋतु हो जाती है इस कारण दीन शत्रु-स्त्रियाँ नेत्र-कमलों के अश्रुओं से क्या प्याऊ नहीं बनाती हैं ? ॥७२॥

एतद्दत्तासिघातस्रवदसृगसुहृद्वंशसार्द्रेन्धनैत-
दोरुद्दामप्रतापज्वलदनलमिलद्धूमधूमभ्रमाय ।
एतद्दिग्जैत्रयात्रासमसमरभरं पश्यतः कस्य नासी-
देतन्नासीरवाजिव्रजखुररजोराजिराजिस्थलीषु ॥७३॥

"संग्राम-भूमि में इसकी—दिशाओं में विजय प्राप्त करने वाली—सेना के अतुल समर-भार को देखते हुए किस मनुष्य ने इसकी सेना के आगे जाते घोड़ों के खुरों से उड़ाई गई धूल को इसकी बाहुओं के तीक्ष्ण प्रताप को देदीप्यमान अग्नि के धूम का बाहुल्य नहीं समझा ? वह अग्नि इसके—तलवार के आघातों से रुधिर गिराते—शत्रु रूप बाँसों के गीले ईंधन से प्रज्वलित होती है ॥७३॥

क्षीरोदन्वदपाः प्रमथ्य मथितादेशेऽमरैर्निर्मिते
स्वाक्रम्यं सृजतस्तदस्य यशसः क्षीरोदसिंहासनम् ।
केषां नाजनि वा जनेन जगतामेतत्कवित्वामृत-
स्रोतःप्रीतिपिपासुकर्णकलशीभाजाभिषेकोत्सवः ॥७४॥

"ऐसे कौन से भुवन हैं जिनके निवासियों ने इस राजा के यश का अभिषेक नहीं किया ? क्षीर-समुद्र के जल को मथ कर देवताओं ने सुदृढ़ कर दिया तब यश ने उसमें अपने बैठने को सिंहासन बनाया। निवासियों के पास प्यास से कर्ण रूपी दो कलश थे जो इसकी स्तुति में बनी हुई कविता रूपी सुधा के प्रवाह[1] में डूब गये थे ॥७४॥

समिति पतिनिपाताकर्णनद्रागदीर्ण-
प्रतिनृपतिमृगाक्षीलक्षवक्षःशिलासु ।
रचितलिपिरिवोरस्ताडनन्यस्तहस्त-
प्रखरनखरटङ्कैरस्य कीर्तिप्रशस्तिः ॥७५॥

"इस राजा की कीर्ति की प्रशंसा संग्राम में स्वामियों का मरण सुनने से तत्काल विदीर्ण न हुईं—हजारों मृगाक्षी स्त्रियों की—छाती रूप शिलाओं पर पीटने के लिए धरे गये हाथों के नख रूपी टाँकों से लिखी गई है" ॥७५॥

विधाय ताम्बूलपुटीं कराङ्कगां बभाण ताम्बूलकरङ्कवाहिनी ।
दमस्वसुर्भावमवेत्य भारतीं नयाऽनया वक्त्रपरिश्रमं शमम् ॥७६॥

एक ताम्बूल-वाहिनी दमयन्ती का भाव जान कर ताम्बूल अपने हाथ में लेकर सरस्वती से बोली—"देवी, तुम पान खाकर अपने मुख का श्रम तो दूर कर लो" ॥७६॥

समुन्मुखीकृत्य बभार भारती रतीशकल्पेऽन्यनृपे निजं भुजम् ।
ततस्त्रसद्बालपृषद्विलोचनां शशंस संसज्जनरञ्जनीं जनीम् ॥७७॥

सरस्वती ने कामदेव के तुल्य अन्य राजा की तरफ अपना हाथ लम्बा किया और फिर डरे हुए हिरन के बच्चे के समान नेत्र वाली तथा सभ्यों का रञ्जन करने वाली दमयन्ती को उसे दिखा कर कहा— ॥७७॥

१—यहाँ यश के अभिषेक का वर्णन है। यश ने क्षीरसमुद्र में अपना सिंहासन बनाया। अभिषेक के लिए पानी से भरा कलश चाहिए। लोगों ने अपने दोनों कानों को कलश बनाया जो यश की स्तुति में बनी कविता सुनने के अभ्यस्त थे।

अयं गुणौघैरनुरज्यदुत्कलो भवन्मुखालोकरसोत्कलोचनः।
स्पृशन्तु रूपामृतवापि! नन्वमुं तवापि दृक्तारतरङ्गभङ्गयः ॥७८॥

"हे सौन्दर्य रूप अमृत की सरसी, यही वह राजा है जिसमें अनेक गुणों के कारण उत्कल की भूमि अनुरक्त है। इसके नेत्र तुम्हारा मुख देखने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हैं। इस कारण तुम्हारी भी दृष्टि की उज्ज्वल तरङ्गों की लहरें इसका स्पर्श करें ॥७८॥

अनेन सर्वार्थिकृतार्थताकृताऽऽहृतार्थिनौ कामगवीसुरद्रुमौ।
मिथःपयःसेचनपल्लवाशने प्रदाय दानव्यसनं समाप्नुतः ॥७९॥

"कामधेनु और कल्पवृक्ष आपस में एक दूसरे को क्रम से दूध और पल्लव देकर दान के व्यसन को समाप्त कर लेते हैं क्योंकि इस राजा ने सब याचकों को अभीष्ट दान देकर कृतार्थ कर दिया है ॥७९॥

नृपः कराभ्यामुदतोलयन्निजे नृपानयं यान् पततः पदद्वये।
तदीयचूडाकुरुविन्दरश्मिभिः स्फुटेयमेतत्करपादरञ्जना ॥८०॥

"यह राजा जिन—अपने दोनों चरणों पर गिरते हुए—नम्र राजाओं को हाथों से कृपा करके उठाता था उनके मुकुट-माणिक्य की लाल शोभा से शायद इसके हाथ पैर लाल हो गये हैं ॥८०॥

यत् कस्यामपि भानुमान् न ककुभि स्थेमानमालम्बते
जातं यद्वनकाननैकशरणप्राप्तेन दावाग्निना।
एषैतद्भुजतेजसा विजितयोस्तावत्तयोरौचिती
धिक् तं बाडवमम्भसि द्विषि भिया येन प्रविष्टं पुनः ॥८१॥

"सूर्य किसी दिशा में स्थिर नहीं होता है। दावाग्नि केवल अत्यन्त गहन कानन में शरण प्राप्त कर के रहती है। इसकी भुजाओं के तेज ने सूर्य और दावानल को जीत लिया है इस कारण उनके लिए यह ठीक ही था लेकिन बड़वानल को धिक्कार है जो इससे डर कर अपने सहज शत्रु—जल—में प्रविष्ट हो गई है ॥८१॥

अमुष्योर्वीभर्तुः प्रसृमरचमूसिन्धुरभवै-
रवैमि प्रारब्धे वमथुभिरवश्यायसमये।

न कम्पन्तामन्तः प्रतिनृपभटा म्लायतु न त-
द्वधूवक्त्राम्भोजं भवतु न स तेषां कुदिवसः ॥८२॥

"इस राजा के—रण में जाते हुए—सेना के हाथियों की सूँड़ों की जल-बिन्दुओं से हिम ऋतु आ जाने पर क्या शत्रु राजाओं के सैनिक हृदय में कंपित नहीं हुए ? क्या उनकी रमणियों के मुख कमल म्लान नहीं हुए ! क्या वह दिन सब के लिए अशुभ नहीं हुआ ? ॥८२॥

आत्मन्यस्य समुच्छ्रितीकृतगुणस्याहोतरामौचिती
यद्गात्रान्तरवर्जनादजनयद्भुजानिरेष द्विषाम् ।
भूयोऽहं क्रियते स्म येन च हृदा स्कन्धो न यश्चानमत्
तन्मर्माणि दलं दलं समिदलङ्कर्मीणबाणव्रजः ॥८३॥

"इसमें एकत्रित हुए गुणों के लिए यह उचित ही था कि रण में उद्योग-युक्त बाणवाले इस राजा ने अपने शत्रुओं के अन्य अवयवों को छोड़कर हृदयों और कंधों के मर्मों के टुकड़े टुकड़े कर डाले क्योंकि हृदय बार बार औद्धत्य करता था और कंधे झुके नहीं थे ॥८३॥

दूरं गौरगुणैरहंकृतिभृतां जैत्राङ्ककारे चर-
त्येतदोर्यशसि प्रयाति कुमुदं बिभ्यन्न निद्रां निशि ।
धम्मिल्ले तव मल्लिकासुमनसां माल्यं भिया लीयते
पीयूषस्रवकैतवाद्धृतदरः शीतद्युतिः स्विद्यति ॥८४॥

"इसकी बाहुओं के—श्वेत गुण के अहंकार से युक्त वस्तुओं को जीतने-वाले—यश के, योद्धा के समान, सब जगत् में प्रसार करने पर भीत कुमुद रात्रि में निद्रा प्राप्त नहीं करता, मल्लिका के फूलों की माला इससे डरकर तुम्हारे केश-पाशों की चोटी में अपने को छिपा लेती है और चन्द्रमा डरकर अमृत रिसाने के बहाने पसीना छोड़ देता है ॥८४॥

एतद्गन्धगजस्तृषाम्भसि भृशं कण्ठान्तमज्जत्तनुः
फेनैः पाण्डुरितः स्वदिक्करिजयक्रीडायशःस्पर्धिभिः ।
दन्तद्वन्द्वजलानुबिम्बनचतुर्दन्तः कराम्भोवमि-
[illegible] ॥८५॥

"इसका गंध-गज अपनी सूँड के अग्रभाग से उड़े हुए जल के छींटों से समुद्र के ऐरावत के विरह से उत्पन्न हुए—शोक की शान्ति करता है। वह प्यास के कारण गले तक जल में डूब रहा है। अन्य हाथियों के साथ जय-क्रीड़ा में उपार्जित किये गये यश की दीप्ति से स्पर्धा करनेवाले झागों की शिखर से वह श्वेत हो गया है। दोनों दाँतों का प्रतिबिम्ब जल में पड़ने से उसके दाँत चार मालूम होते हैं" ॥८५॥

अथैतदुर्वीपतिवर्णनाद्भुतं न्यमीलदास्वादयितुं हृदीव सा।
मधुस्रजा नैषधनामजापिनी स्फुटीभवद्ध्यानपुरःस्फुरन्नला ॥८६॥

उस समय दमयन्ती ने नेत्र बन्द कर लिये मानों वह उस राजा के अद्भुत गुणों पर हृदय में विचार कर रही हो। फिर हाथ में मधूक-माला लेकर वह नल का नाम चुपचाप जपने लगी और नल उसकी आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो गया ॥८६॥

प्रशंसितुं संसदुपान्तरञ्जिनं श्रिया जयन्तं जगतीश्वरं जिनम्।
गिरः प्रतस्तार पुरावदेव ता दिनान्तसन्ध्यासमयस्य देवता ॥८७॥

दिनान्त—संध्या—समय की देवता सरस्वती पहले की तरह सभा को दोनों तरफ रंजन करनेवाले तथा शोभा से बुद्ध को जीतनेवाले एक राजा का वर्णन करने के लिए फिर मधुर वाणी बोली— ॥८७॥

तथाधिकुर्वा रुचिरे! चिरेप्सिता यथोत्सुकः सम्प्रति सम्प्रतीच्छति।
अपाङ्गरङ्गस्थललास्यलम्पटाः कटाक्षधारास्तव कीकटाधिपः ॥८८॥

"सुन्दरी, तुम इस तरह का प्रबन्ध करो कि मगध देश का स्वामी तुम्हारे कटाक्षों का उत्सुक होकर अपाङ्गरूपी रंग-भूमि में नृत्य करनेवाली तुम्हारी कटाक्ष-धारा अब अंगीकार करे ॥८८॥

इदंयशांसि द्विषतः सुधारुचः किमङ्कमेतद्विषतः किमाननम्।
यशोभिरस्याखिललोकधाविभिर्विभीषिता धावति तामसी मसी ॥८९॥

"सब लोकों को आक्रान्त करते इसके यशों के द्वारा डराई गई कृष्णपक्ष की रात्रिरूपी मसी क्या इसके यश से द्वेष करने वाले—चन्द्रमा के—कलंक के

पास चली गई है? अथवा क्या इसके शत्रुओं के मुखों में जा लगी है? ॥८९॥

इदं नृपप्रार्थिभिरुज्झितोऽर्थिभिर्मणिप्ररोहेण विवृध्य रोहणः।
कियद्दिनैरम्बरमावरिष्यते मुधा मुनिर्विन्ध्यमरुन्ध भूधरम् ॥९०॥

"इस बड़े दानी राजा के याचकों से छोड़ा गया रोहण पर्वत मणियों के अंकुरों की उत्पत्ति से वृद्धि को प्राप्त होकर थोड़े ही दिन में आकाश को ढँक लेगा इस कारण अगस्त्य मुनि के द्वारा विंध्य पर्वत का रोकना वृथा हो जायगा ॥९०॥

भूशक्रस्य यशांसि विक्रमभरेणोपार्जितानि क्रमा-
देतस्य स्तुमहे महेभरदनस्पर्धीनि कैरक्षरैः।
लिम्पद्भिः कृतकं कृतोऽपि रजतं राज्ञां यशःपारदै-
रस्य स्वर्णगिरः प्रतापदहनैः स्वर्णं पुनर्निर्मितः ॥९१॥

"पराक्रम के भार से क्रम-पूर्वक उपार्जित किये गये इस—पृथ्वी के इन्द्र—के यशों का किन शब्दों से वर्णन किया जाय? वे यश ऐरावत के दाँतों के साथ स्पर्धा करने वाले हैं, अन्य राजाओं के यश रूप पारे से लिप्त होने के कारण मेरु पर्वत झूठी चाँदी हो गया था लेकिन इसकी प्रतापाग्नि ने उसे फिर सुवर्ण बना दिया ॥९१॥

यद्भर्तुः कुरुतेऽभिषेणनमयं शक्रो भुवः सा ध्रुवं
दिग्दाहैरिव भस्मभिर्मघवता वृष्टैर्धृतोद्धूलना।
शम्भोर्मा बत सान्धिवेलनटनं भाजि व्रतं द्रागिति
क्षोणी नृत्यति मूर्तिरष्टवपुषोऽसृष्टिग्वृसिन्ध्याधिया ॥९२॥

"वह पृथ्वी, जिसके नृप के सामने यह राजा सेना लेकर जाता है, इस तरह मटियाली हो जाती है मानो इन्द्र से किये गये दिग्दाह की भस्म से होती हो। अष्टमूर्ति शिव की एक मूर्ति पृथिवी संग्राम में रुधिर-वृष्टि को सायं संध्या समझ कर झटपट नृत्य आरम्भ कर देती है और सोचती है कि सन्ध्या काल में शम्भु के नृत्य का नियम भङ्ग न हो ॥९२॥

प्रागेतद्वपुरामुखेन्दु सृजतः स्रष्टुः समस्तत्त्विषां
कोशः [illegible]लायितः।

निःशेषद्युतिमण्डलव्ययवशादीषल्लभैरेष वा
शेषः केशमयः किमन्धतमसस्तोमैस्ततो निर्मितः ॥९३॥

"पहले सीमा-रहित संसार के निर्माण में जो ब्रह्मा का दीप्ति का सञ्चय थोड़ा नहीं हुआ था वही सब इस राजा का चन्द्र-मुख तक शरीर बनाने में व्यय हो गया। क्या इसका बाकी बचा हुआ केशमय भाग पूरी दीप्ति के नाश होने से सुलभ हुए अन्धकार से बनाया गया है ॥९३॥

तत्तद्दिग्जैत्रयात्रोद्धुरतुरगखुराग्रोद्धतैरन्धकारं
निर्वाणारिप्रतापानलजमिव सृजत्येष राजा रजोभिः।
भूगोलच्छायमायामयगणितविदुन्नेयकायो भियाभू-
देतत्कीर्तिप्रतानैर्विधुभिरिव युधे राहुराहूयमानः ॥९४॥

"यह राजा सब दिशाओं के जीतने में उत्साह-शील तथा अत्यन्त बली घोड़ों के खुरों से उठी हुई धूल से अन्धकार उत्पन्न करता है। वह अन्धकार शत्रुओं की बुझी हुई प्रतापाग्नि से उत्पन्न हुआ मालूम होता है। इसके यश-विस्तार रूप बहुत से चन्द्रमाओं के द्वारा मानो युद्ध के लिए ललकारा गया राहु डर से भूमण्डल की छाया के बहाने अपना शरीर छुपा लेता है जिसकी तर्कना ज्योतिषी[1] कर सकते हैं ॥९४॥

आस्ते दामोदरीयामियमुदरदरीं यावलम्ब्य त्रिलोकी
सम्मातुं शक्नुवन्ति प्रथिमभरवशादत्र नैतद्यशांसि।
तामेतां पूरयित्वा निरगुरिव मधुध्वंसिनः पाण्डुपद्म-
छद्मापन्नानि तानि द्विपदशनसनाभीनि नाभीपथेन ॥९५॥

"तीनों लोक विष्णु की जठर-कन्दरा के आश्रय में रहते हैं। इसके यश इन तीनों लोकों में अत्यन्त महत्त्व के कारण समाने के लिए समर्थ नहीं है।

१—ग्रहण के समय राहु चन्द्रमा का ग्रास कर लेता है पर ज्योतिष के अनुसार पृथ्वी की छाया चन्द्रमा पर पड़ती है। यहाँ उत्प्रेक्षा की गई है कि इस राजा के श्वेत यश के रूप में बहुत से चन्द्रमा को देख कर राहु डर गया और उसने ऐसा रूप धारण किया कि जिसकी तर्कना ज्योतिषी ही कर सकते हैं।

इस कारण हाथीदाँत के सदृश अत्यन्त श्वेत यश तीनों लोकों को पूरा करके नाभि से उत्पन्न हुए श्वेत कमल के बहाने विष्णु की नाभि के मार्ग से बाहर निकल आये हैं ॥९५॥

अस्यासिर्भुजगः स्वकोशसुषिराकृष्टः स्फुरत्कार्ष्णिमा
कम्पोन्मीलदरालकेलिवलनस्तेषां भिये भूभुजाम् ।
सङ्ग्रामेषु निजाङ्गुलीमयमहासिद्धौषधीवीरुधः
पर्वास्ये विनिवेश्य जाङ्गुलिकता यैर्नाम नालम्बिता ॥९६॥

"इसका खड्ग रूप भुजङ्ग राजाओं में भय पैदा करता है क्योंकि उन्होंने संग्रामों में अपनी उँगली रूप सिद्ध महौषध की लता की ग्रन्थि को मुख में रख कर गारुडिकता[१] प्राप्त नहीं की है। खड्ग म्यान रूपी बाँबी से निकाला गया है, उसका चमकता काला रङ्ग है और वह पकड़ कर फिराने से टेढ़ा होकर जाता है ॥९६॥

यः पृष्ठं युधि दर्शयत्यरिभटश्रेणीषु यो वक्रता-
मस्मिन्नेव बिभर्ति यश्च किरति क्रूरध्वनिं निष्ठुरः ।
दोषं तस्य तथाविधस्य भजतश्चापस्य गृह्णन् गुणं
विख्यातः स्फुटमेक एष नृपतिः सीमा गुणग्राहिणाम् ॥९७॥

"जो युद्ध में शत्रु-सैनिकों को पीठ दिखाता है, अपने ऊपर ही वक्र हो जाता है तथा निष्ठुर होकर क्रूर ध्वनि करता है ऐसे दोष-पूर्ण धनुष की प्रत्यंचा धारण करनेवाला यह राजा धनुषधारियों में अग्रगण्य होने की दृष्टि से बड़ा प्रसिद्ध है ॥९७॥

अस्यारिप्रकरः शरश्च नृपतेः सङ्ख्ये पतन्तावुभौ
सीत्कारञ्च न सम्मुखौ रचयतः कम्पञ्च न प्राप्नुतः ।
तद्युक्तं न पुनर्निवृत्तिरुभयोर्जागर्ति यन्मुक्तयो-
रेकस्तत्र भिनत्ति मित्रमपरश्चामित्रमित्यद्भुतम् ॥९८॥

१—जिसने मुख में औषध नहीं रक्खी है उसे ही सर्प मारता है। जिसने शस्त्र छोड़ कर दीनता से मुख पर उँगली नहीं रक्खी है उसे इसका खड्ग मारता है।

"इस राजा के शत्रु और बाण दोनों क्रम से सामने आकर और युद्ध में मरकर न सीत्कार करते हैं और न कम्प को प्राप्त करते हैं। मुक्त[1] होने से जो नका प्रत्यागमन नहीं होता सो ठीक ही है पर आश्चर्य है—वैरी तो मित्र[2] का और बाण अमित्र का उच्छेद करते हैं ॥९८॥

धूलीभिर्दिवमन्धयन् बधिरयन्नाशाः खुराणां रवै-
र्वातं संयति खञ्जयन् जवजवैः स्तोतॄन् गुणैर्मूकयन् ।
धर्माराधनसन्नियुक्तजगता राज्ञाऽमुनाधिष्ठितः
सान्द्रोत्फालमिषाद्विगायति पदा स्प्रष्टुं तुरङ्गोऽपि गाम् ॥९९॥

"इस राजा ने जगत् को धर्म की आराधना में लगाया है। यह राजा जिसपर आरूढ होता है वह घोड़ा भी खुरों की रज से आकाश को अंधा करता है; खुरों के शब्दों से दिगन्त में रहनेवाले मनुष्यों को बहरा करता है, संग्राम में वेग से वायु को अपंग बनाता है तथा गुणों से बन्दियों को मूक कर देता है। ऐसा घोड़ा निरंतर छलाँग मारने के बहाने चरणों से पृथ्वी का स्पर्श करने से घृणा करता है ॥९९॥

एतेनोत्कृत्तकण्ठप्रतिसुभटनटारब्धनाट्याद्भुतानां
कष्टं द्रष्टैव नाभूद्भुवि समरसमालोकिलोकास्पदेऽपि ।
अश्वैरस्वैरवेगैः कृतखुरखुरलीमङ्क्षुविक्षुद्यमान-
क्ष्मापृष्ठोत्तिष्ठदन्धङ्करणरणधुरारेणुधारान्धकारात् ॥१००॥

"यद्यपि संग्राम-भूमि में बहुत से दर्शक थे तथापि इस राजा से गरदन कटे गये रिपु-वीररूपी नटों से आरब्ध हुए आश्चर्यदायक नृत्य का देखनेवाला कोई नहीं था क्योंकि बड़े तेज घोड़ों के खुरों से मैदान की सतह शीघ्र चूर-चूर होने पर उठी हुई अंधा करनेवाली—रण के आरम्भ की धूल के प्रवाह ने सबको अन्धा कर दिया था ॥१००॥

१—शत्रु संसार से मोक्ष और बाण धनुष से च्युति प्राप्त करते हैं।
२—यहाँ मित्र का अर्थ सूर्य है। शत्रु रण में मरकर सूर्य-मण्डल के द्वारा स्वर्ग में जाते हैं।

उन्मीलल्लीलनीलोत्पलदलदलनामोदमेदस्विपूर-
क्रोडक्रीडद्द्विजालीगरुदुदितमरुत्स्फालवाचालवीचिः ।
एतेनाखानि शाखानिवहनवहरित्पर्णपूर्णद्रुमाली-
व्यालीढोपान्तशान्तव्यथपथिकदृशां दत्तरागस्तडागः ॥१०१॥

"इस राजा ने ऐसा सरोवर बनाया है जिसकी तरंगें विलास-युक्त नीलोत्पलों के पत्तों के विकास से उत्पन्न हुए परिमल के पुष्ट प्रवाह के उत्संग में क्रीड़ा करती हंसादि पक्षियों की पंक्ति के पक्षों से उत्पन्न वायु की आँधी से शब्दायमान हैं और जिसने शाखाओं के समूहों तथा नये हरे पत्तों से पूर्ण वृक्षों की पंक्तियों से व्याप्त तीर-प्रदेश से व्यथा शान्त होनेवाले पथिकों की दृष्टि को संतोष दिया है ॥१०१॥

वृद्धो वार्धिरसौ तरङ्गवलिभं बिभ्रद्वपुः पाण्डुरं
हंसालीपलितेन यष्टिकलितस्तावद्वयोवंहिमा ।
बिभ्रच्चन्द्रिकया च कं विकचया योग्यस्फुरत्सङ्गतं
स्थाने स्नानविधायिधार्मिकशिरोनत्यापि नित्यादृतः ॥१०२॥

" इसका बनाया हुआ तालाब वृद्ध है । उसमें तरंगें हैं; हंसों की पंक्ति से प्रवाह श्वेत है; परिमाण जानने के लिए बीच में यष्टि गाड़ी गई है; बहुत से अनेक जातियों के पक्षी हैं तथा उज्ज्वल चाँदनी के योग्य संगति के कारण निर्मल जल है । वृद्ध में सिलवटें आ जाती हैं । शरीर बुढ़ापे से सफेद हो जाता है; शिथिल शरीर के सहारे के लिए वह दण्ड ले लेता है; सौ वर्ष के समीप की अवस्था में पहुँच जाता है तथा केश-हीन चाँद से मुक्त शिर में कंप होता रहता है । स्नान करने वाले धार्मिकों के द्वारा शिर झुकाकर उस का आदर करना उचित ही है ॥१०२॥

तस्मिन्नेतेन यूना सह विहर पयःकेलिवेलासु बाले !
नालेनास्तु त्वदक्षिप्रतिफलनाभिदा तत्र नीलोत्पलानाम् ।
तत्पाथो देवतानां विशतु तव तनुच्छायमेवाधिकारे
[illegible]म्भोजराज्ये भवतु च [illegible]याननस्याभिषेकः ॥१०३॥

"बाले, इस सरोवर में तुम इस युवक के साथ क्रीड़ा करो। वहाँ जल-क्रीड़ा के अवसर पर नील कमलों का और अपने नेत्रों के प्रतिबिम्ब का भेद कमल-दण्ड को दिखाने दो। उसके जल के देवता का अधिकार तुम्हारी देह के प्रतिबिम्ब को ही मिले। उसके खिले हुए कमलों के राज्य में तुम्हारे मुख का अभिषेक हो ॥१०३॥

एतत्कीर्तिविवर्तधौतनिखिलत्रैलोक्यनिर्वासितै-
विश्रान्तिः कलिता कथासु जगतां श्यामैः समग्रैरपि।
जज्ञे कीर्तिमयादहो भयभरैरस्मादकीर्तिः पुनः
सा यन्नास्य कथापथेऽपि मलिनच्छाया बबन्ध स्थितिम् ॥१०४॥

"भुवनों की सब काली वस्तुओं ने कथाओं में आश्रय अङ्गीकार किया है। काली वस्तुएँ इसकी कीर्ति के परिणाम से धवल हुई पूरी त्रिलोकी से निकाल दी गई हैं। इस कीर्तिमय राजा से अकीर्ति डर गई क्योंकि मलिन अकीर्ति ने जहाँ तक इसकी पहुँच थी वहाँ तक भी आश्रय नहीं लिया ॥१०४॥

अथावदद्भीमसुतेङ्गितात् सखी जनैरकीर्तिर्यदि वास्य नेष्यते।
मयापि सा तत् खलु नेष्यते परं सभाश्रवःपूरतमालवल्लिताम् ॥१०५॥

एक सखी ने, दमयन्ती के इस राजा की तरफ इशारे से, सरस्वती से कहा—हे वाणि, यदि लोग इसकी अकीर्ति नहीं चाहते हैं तो मैं भी सचमुच इसकी अकीर्ति नहीं चाहती हूँ पर वह सभा के कर्णाभरण की तमाल-लता को अवश्य प्राप्त होगी अर्थात् सभा उसे अवश्य सुनेगी ॥१०५॥

अस्य क्षोणिपतेः परार्धपरया लक्षीकृताः सङ्ख्यया
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणतिमिरप्रख्याः किलाकीर्तयः।
गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरा-
न्मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधे रोधसि ॥१०६॥

"हे वाणि, अष्टम स्वर को अङ्गीकार करके बन्ध्या के उदर से उत्पन्न हुए मूकों के समूह इस राजा की—परार्ध से भी अधिक लाखों से गिनी गई तथा जात्यन्धों से देखे गए अन्धकार के समान—अकीर्ति को निःसन्देह कच्छपी के दूध से उत्पन्न हुए समुद्र के तट पर गाते हैं" ॥१०६॥

तदक्षरैः सस्मितविस्मिताननां निपीय तासीक्षणभङ्गीभिः सभाम् ।
इहास्य हास्यं किमभून्न वेति तं विदर्भजा भूपमपि न्यभालयत् ॥१०७॥

सभा में इस राजा का हास्य हुआ या नहीं—यह जानने के लिए दमयन्ती ने इसे उदासीनता से दृष्टि सम्मुख करके देखा। पहले हास-रस से उत्पन्न हुए नेत्रों के कटाक्षों से सभा की ओर सादर देख लिया था। सभा में सबके मुख आश्चर्य से चकित थे ॥१०७॥

नलान्यवीक्षां विदधे दमस्वसुः कनीनिकागः खलु नीलिमालयः ।
चकार सेवां शुचिरक्ततोचितां मिलन्नपाङ्गः सविधे तु नैषधे ॥१०८॥

दमयन्ती की काली पुतली ने नल से अन्य राजा के देखने का अपराध किया पर अपाङ्ग ने पास ही बैठे नल को देख कर धवल[1] तथा रक्तता के योग्य सेवा की ॥१०८॥

दृशा नलस्य श्रुतिचुम्बिनेषुणा करेऽपि चक्रच्छलनम्रकार्मुकः ।
स्मरः पराङ्गैरनुकल्प्य धन्वितां जनीमनङ्गः स्वयमार्दयत्ततः ॥१०९॥

फिर स्वयं अङ्ग-रहित होने के कारण नल के कानों तक पहुँचते कटाक्ष रूप बाण से कामदेव ने नल के अवयवों से धन्वी होकर दमयन्ती को पीड़ा दी। कामदेव ने नल के हाथ में रेखा-रूप चक्र के बहाने नम्र हुआ धनुष धारण किया था ॥१०९॥

उत्कण्टका विलसदुज्ज्वलपत्रराजिरामोदभागनपरागतराऽतिगौरी ।
रुद्रक्रुधस्तदरिकामधिया नले सा वासार्थितामधृत काञ्चनकेतकीव ॥११०॥

सुनहरी केतकी के समान दमयन्ती ने, मानो महादेव के क्रोध के कारण, उनके शत्रु कामदेव की बुद्धि से नल में आश्रय लिया। दमयन्ती रोमाञ्च-युक्त, शोभा-सहित, उज्ज्वल बेल-बूँटे वाली, परिमल युक्त, सानुराग तथा गौर-वर्ण थी और केतकी कण्टक-युक्त उज्ज्वल श्वेत पत्तों की पंक्ति से युक्त, आमोद-युक्त, पराग-युक्त तथा गौर-वर्ण थी ॥११०॥

१—अपाङ्ग धवल तथा रक्त होता है। उसने केवल नल को देख कर देसी सेवा की जैसी स्वामिभक्त और अनुरक्त सेवक करता है।

तन्नालीकनले चलेतरसनाः साम्यान्मनागप्यभू-
दप्यग्रे चतुरः स्थितान्न चतुरा पातुं दृशा नैषधान् ।
आनन्दाम्बुनिधौ निमज्ज्य नितरां दूरं गता तत्तला-
लङ्कारीभवनाज्जनाय ददती पातालकन्याभ्रमम् ॥१११॥

सच्चे नल में निश्चल मन वाली दमयन्ती आगे बैठे हुए भी चार झूठे नलों को उसके समान होने पर भी कटाक्षों से देखने भी बिलकुल प्रवृत्त नहीं हुई। वह आनन्द-रूप समुद्र में डूब कर हर्ष की परम काष्ठा को प्राप्त हो गई तथा आनन्द समुद्र के नल का अलङ्कार होने से लोगों को पाताल-कन्या का भ्रम पैदा करने लगी। १११॥

सर्वस्वं चेतसस्तां नृपतिरपि दृशे प्रीतिदायं प्रदाय
प्रापत्तद्दृष्टिमिष्टातिथिममरदुरापामपाङ्गोत्तरङ्गाम् ।
आनन्दान्ध्येन वन्ध्यानकृत तदपराकूतपातान् स रत्याः
पत्या पीयूषधारावलनविरचितेनाशुगेनाशु लीढः ॥११२॥

नल ने भी अपने चित्त की सर्वस्व दमयन्ती को अपने नेत्र को संतोष-जनित दान देकर (=कटाक्ष से सादर देखकर) इन्द्रादि से दुर्लभ—अपांग में अत्यन्त चंचल—उसकी दृष्टि को ही प्रिय अभ्यागत प्राप्त किया। इसके अनन्तर कामदेव के द्वारा सुधारूप दमयन्ती के गरदन झुकाकर देखने से कटाक्ष रूप बाण से शीघ्र बिद्ध हुए नल ने दमयन्ती की दृष्टि के अन्य कटाक्षों को आनन्द से अंधा होकर निष्फल किया ॥११२॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तस्य द्वादश एष मातृचरणाम्भोजालिमौलेर्महा-
काव्येऽयं व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥११३॥

कविराजों की पंक्ति के मुकुटों के अलंकार रूप हीरे श्री हीर नामक पिता तथा मामल्ल देवी नामक माता ने जिस जितेन्द्रिय श्री हर्ष को जन्म दिया और जिसके सिर ने मातृ चरणकमलों की भ्रमर के समान आराधना की उसके महा-

काव्य—नल-चरित्र—में स्वभाव से सुन्दर बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥११३॥

त्रयोदशः सर्गः

कल्पद्रुमान् परिमला भृङ्गमाला-
मात्माश्रयामखिलनन्दनशाखिवृन्दात् ।
तां राजकादपगमय्य विमानधुर्या-
निन्युर्नलाकृतिधरानथ पञ्च वीरान् ॥१॥

शिविका-वाहक दमयन्ती को राजाओं के समूह से हटाकर नल-वेशधारी पाँच वीरों के पास ले गये जैसे मनोहर गंध, परिमल पर आश्रित भ्रमर-पंक्ति को नन्दन-वन के समस्त वृक्षों से हटाकर, कल्पवृक्षों के पास ले जाती है ॥१॥

साक्षात्कृताखिलजगज्जनताचरित्रा
तत्राधिनाथमधिकृत्य दिवस्तथा सा ।
ऊचे यथा स च शचीपतिरभ्यधायि
प्राकाशि तस्य न च नैषधकायमाया ॥२॥

उस समय सब लोकों की जनता का चरित्र साक्षात् करने वाली सरस्वती ने इस प्रकार इन्द्र के उद्देश्य से कहा कि इन्द्र का वर्णन तो हो गया पर नल का वेष धारण करने की माया प्रकट नहीं हुई ॥२॥

ब्रूमः किमस्य वरवर्णिनि ! वीरसेनोद्भूतिं द्विषद्बलविजित्वरपौरुषस्य ।
सेनाचरीभवदिभाननदानवारिवासेन यस्य जनिताऽसुरभीरणश्रीः ॥३॥

[इन्द्र के पक्ष में] हे वरवर्णिनि, मैं इसके वीरों की सेना के ऐश्वर्य का क्या वर्णन करूँ ? इसने अपने बल नामक शत्रु को पराक्रम से जीत लिया है। इसके संग्राम की लक्ष्मी ने गणेश तथा नारायण को सैनिक बनाकर असुरों को भयभीत कर दिया है ॥३॥

[नल के पक्ष में] हे वरवर्णिनि, इसकी वीरसेन से उत्पत्ति के विषय में मैं क्या कहूँ ? इसका पराक्रम अपने शत्रुओं के समूहों का जीतनेवाला है।

इसके संग्राम की लक्ष्मी सेना में भरती हुए हाथियों के मुखों से रिसते हुए मद के संसर्ग से सुगन्धित हो गयी है ॥३॥

शुभ्रांशुहारगणहारिपयोधराङ्क-
चुम्बीन्द्रचापखचितद्युमणिप्रभाभिः ।
अन्वास्यते समिति चामरवाहिनीभि-
र्यात्रासु चैष बहुलाभरणार्चिताभिः ॥४॥

[इन्द्र के पक्ष में] चन्द्रमा, हर के गण, कार्तिकेय तथा मेघ-गणों को स्पर्श करनेवाले इन्द्र धनुष से आकाश में अत्यन्त सुशोभित होनेवाली सूर्य किरणों से देदीप्यमान तथा अत्यन्त लाभ-जनक असुर-युद्धों में कीर्ति-शालिनी देव-सेनाएँ युद्ध-यात्राओं में तथा शोभा-यात्राओं में सदा इस देवराज इन्द्र का अनुसरण करती हैं ॥४॥

[नल के पक्ष में] शुभ्र किरणों से युक्त मोतियों की मालाओं से चित्ताकर्षक स्तनों पर इन्द्रधनुष की शोभा से सूर्य-प्रभा के समान शोभा धारण करनेवाली और नाना प्रकार के अभारणों से अलंकृत चँवर-डुलाने वाली सुन्दरियाँ राज-सभा में तथा जुलूसों में सदा इस महाराजा नल की सेवा किया करती हैं ॥४॥

क्षोणीभृतामतुलकर्कशविग्रहाणामुद्दामदर्पहरिकुञ्जरकोटिभाजाम् ।
पक्षच्छिदामयमुदग्रबलो विधाय मग्नं विपज्जलनिधौ जगदुज्जहार ॥५॥

[इन्द्र के पक्ष में] इस उदग्र पौरुषवाले देवता ने करोड़ों अत्यन्त उद्भट सिंहों तथा हाथियों को रखनेवाले तथा अत्यन्त उच्च और कर्कश देहवाले पर्वतों के पंख काट कर आपत्ति के समुद्र में मग्न हुए जगत् को बाहर निकालता है ॥५॥

[नल के पक्ष में] इस उदग्र पौरुषवाले राजा ने युद्ध में अद्वितीय श्वेत घोड़ों को मारने वाले तथा करोड़ों अत्यन्त उद्भट सिंहों तथा हाथियों के रखनेवाले शत्रु-राजाओं के सहायकों का नाश कर के आपत्ति के समुद्र में मग्न हुए जगत को बाहर निकाला है ॥५॥

भूमीभृतः समिति जिष्णुमपथ्यपायं
जानीहि न त्वमघवन्तममुं कथञ्चित्।
गुप्तं घटप्रतिभटस्तनि ! बाहुनेत्रं
नालोकसेऽतिशयमद्भुतमेतदीयम् ॥६॥

[इन्द्र के पक्ष में] हे घटों के स्पर्धी स्तनवाली, तुम इसे संग्राम में पर्वतों के जीतने वाले इन्द्र को छोड़ अन्य किसी को मत जानो। इसके वज्र का कभी नाश नहीं होता। क्या तुम इसकी यह अद्भुत बात नहीं देखती हो कि इसके असंख्य नेत्र हैं जो किसी तरह छिपा लिए गये हैं ॥६॥

[नल के पक्ष में] हे घटों के स्पर्धी स्तन वाली, यह विचार मत करो कि यह किसी प्रकार पापी है यह राजाओं को जीतनेवाला है और युद्ध से भागता नहीं है। इसकी आश्चर्यजनक बाहुओं और नेत्रों को क्या तुम किसी बहानों से नहीं देखोगी ॥६॥

लेखा नितम्बिनि ! बलादिसमृद्धराज्य-
प्राज्योपभोगपिशुना दधते सरागम्।
एतस्य पाणिचरणं तदनेन पत्या
सार्द्धं शचीव हरिणा मुदमुद्वहस्व ॥७॥

[इन्द्र के पक्ष में] हे नितम्बिनी, बल आदि के सम्पूर्ण राज्य के पूरे उपभोग को नहीं सहन करते हुए देवता इसके हाथों और चरणों[1] को अनुराग सहित धारण करते हैं। इस कारण इन्द्र के साथ शची के समान मोद प्राप्त करो ॥७॥

[नल के पक्ष में] हे नितम्बिनी, इसके अरुण हाथ तथा चरण, सेना आदि से समृद्ध राज्य के उपभोग की सूचक रेखाओं से युक्त हैं। इस कारण इस पति के साथ उसी हर्ष को प्राप्त होओ जैसे शची इन्द्र के साथ होती है ॥७॥

१—हाथ में हाथ लेते हैं और नमस्कार के लिए चरणों को धारण करते हैं।

आकर्ण्य तुल्यमखिलां सुदती लगन्ती-
माखण्डलेऽपि च नलेऽपि च वाचमेताम् ।
रूपं समानमुभयत्र विगाहमाना
श्रोत्रान्न निर्णयमवापदसौ न नेत्रात् ॥८॥

दमयन्ती ने इन सब वचनों को सुना जो इन्द्र में तथा नल में एक से युक्त होते थे तथा दोनों में एक सा रूप देखा तब वह अपने नेत्रों या कानों से कुछ निर्णय नहीं कर सकी ॥८॥

शक्रः किमेष निषधाधिपतिः स वेति
दोलायमानमनसं परिभाव्य भैमीम् ।
निर्दिश्य तत्र पवनस्य सखायमस्यां
भूयोऽसृजद्भगवती वचसः स्रजं सा ॥९॥

क्या यह इन्द्र है ? या क्या यह नल है ? इस प्रकार दमयन्ती को दोलायमान देख कर भगवती सरस्वती ने अग्नि के उद्देश्य से फिर वचनों की माला बनाई ॥९॥

एष प्रतापनिधिरुद्गतिमान् सदाऽयं
किं नाम नार्जितमनेन धनञ्जयेन ।
हेम प्रभूतमधिगच्छ शुचेरमुष्मान्
नास्यैव कस्यचन भास्वररूपसम्पत् ॥१०॥

[अग्नि के पक्ष में] यह प्रतापनिधि उष्ण का स्पर्श-स्थान है । यह सदा ऊपर जाता है । इस धनञ्जय ने क्या प्राप्त नहीं किया है ? इससे तुम प्रभूत सुवर्ण प्राप्त करो । इसके समान देदीप्यमान किसी की भी रूप संपत्ति नहीं है ॥१०॥

[नल के पक्ष में] यह क्षात्र तेज का स्थान है । इसका सदा उदय होता है । इस धनञ्जय ने क्या प्राप्त नहीं किया है ? इससे तुम प्रभूत सुवर्ण प्राप्त करो । इसके समान देदीप्यमान किसी की भी रूप-सम्पत्ति नहीं है ॥१०॥

अत्यर्थहेतिपटुताकवलीभवत्तत्तत्पार्थिवाधिकरणप्रभवाऽस्य भूतिः।
अभ्यङ्गरागजननाय महेश्वरस्य सञ्जायते रुचिरकर्णि! तपस्विनोऽपि॥११॥

[अग्नि के पक्ष में] हे रुचिर कर्ण वाली, इसकी ज्वालाओं के उग्र आवेश का ग्रास हुई पृथिवी की भिन्न भिन्न वस्तुओं से उत्पन्न हुई भस्म तपस्वी शिव के अङ्गराग के काम आती है ॥११॥

[नल के पक्ष में] हे रुचिर कर्ण वाली, इसकी बाहुओं के अनन्त पौरुष के ग्रास हुए भिन्न भिन्न राजाओं की बड़ी बड़ी सेनाओं से उत्पन्न हुई सम्पत्ति बड़े बड़े धनियों तथा मुनियों को ईर्ष्या उत्पन्न करती है ॥११॥

एतन्मुखा विबुधसंसदसावशेषा
माध्यस्थ्यमस्य यमतोऽपि महेन्द्रतोऽपि।
एनं महस्विनमुपेहि सदारुणोच्चै-
र्येनामुना पितृमुखि! ध्रियते करश्रीः ॥१२॥

[अग्नि के पक्ष में] हे पिता के समान मुखवाली दमयन्ती, यह पूरी देव-सभा का मुख है। यम और इन्द्र के बीच[1] में इसका स्थान है। तुम इस तेजस्वी को स्वामी बनाओ जो सदा कान्ति की अत्यन्त अरुण शोभा धारण करता है ॥१२॥

[नल के पक्ष में] हे पिता के समान मुख वाली दमयन्ती, यह निखिल विद्वत्सभा का प्रधान है। इन्द्र और यम से भी अधिक पक्षपात-रहित है। तुम इस तेजस्वी को स्वामी बनाओ। इसके सुन्दर हाथों की शोभा अत्यन्त है ॥१२॥

नैवाल्पमेधसि पटो रुचिमत्त्वमस्य
मध्येसमिन्निवसतो रिपवस्तृणानि।
उत्थानवानिह पराभवितुं तरस्वी
शक्यः पुनर्भवति केन विरोधिनायम् ॥१३॥

१—यम दक्षिण का और इन्द्र पूर्व का दिक्पाल है। अग्नि कोण का दिक्पाल अग्नि है।

[अग्नि के पक्ष में] यह अत्यन्त समर्थ है इस कारण काठ पर इसकी दीप्ति कम नहीं है। जब यह काष्ठ के मध्य में निवास करता है तब तृण इसके शत्रु हो जाते हैं यह बड़ा वेगवान् और ऊपर उठनेवाला है। कौन विरोधी इसका पराभव कर सकते हैं? ॥१३॥

[नल के पक्ष में] अत्यन्त समर्थ होने के कारण अल्प बुद्धिवालों को यह पसंद नहीं करता। जब यह युद्ध में विद्यमान होता है तब शत्रु तृण के समान हो जाते हैं। इस उन्नति करने वाले और वेग वाले का पराभव पृथ्वी पर कौन कर सकता है? ॥१३॥

साधारणीं गिरमुषर्बुधनैषधाभ्या-
मेतां निपीय न विशेषमवाप्तवत्या।
ऊचे नलोऽयमिति तं प्रति चित्तमेकं
ब्रूते स्म चान्यदनलोऽयमितीदमीयम् ॥१४॥

अग्नि तथा नल में साधारण वाणी को सुनकर दमयन्ती ने उन दोनों के बीच में कोई तारतम्य नहीं जाना। एक बार तो चित्त ने कहा कि यह नल है पर उसी समय कहा कि यह (अ+नल) नल नहीं है ॥१४॥

एतादृशीमथ विलोक्य सरस्वती तां
सन्देहचित्रभयचित्रितचित्तवृत्तिम्।
देवस्य सूनुमरविन्दविकासिरश्मे-
रुद्दिश्य दिक्पतिमुदीरयितुं प्रचक्रे ॥१५॥

सन्देह, आश्चर्य तथा भय से युक्त चित्त-वृत्ति वाली दमयन्ती को देखकर सरस्वती ने अन्य दिक्पाल यम के विषय में कहना आरम्भ किया ॥१५॥

दण्डं बिभर्त्ययमहो जगतस्ततः स्यात्
कम्पाकुलस्य सकलस्य न पङ्कपातः।
स्ववैद्ययोरपि मदव्ययदायिनीभि-
रेतस्य रुग्भिरमरः किमु कश्चिदस्ति ॥१६॥

[यम के पक्ष में] यह दण्ड धारण करता है इस कारण सब संसार भय

से काँपता है और पाप करने से बचता है। चिकित्सा में समर्थ स्वर्ग के वैद्यों के भी गर्व को क्षीण करने वाले इस के रोगों से कौन नहीं मरता है? ॥१६॥

[नल के पक्ष में] यह शासन करता है इस कारण सब संसार भय से काँपता है और पाप करने से बचता है। सौन्दर्य से प्रसिद्ध अश्विनीकुमारों के गर्व को क्षीण करनेवाली इसके शरीर की कान्ति से युक्त कोई देवता है क्या? ॥१६॥

मित्रप्रियोपजननं प्रति हेतुरस्य
संज्ञा श्रुतासुहृदयं न जनस्य कस्य।
छायेदृगस्य च न कुत्रचिदध्यगायि
तप्तं यमेन नियमेन तपोऽमुनैव ॥१७॥

[यम के पक्ष में] इसके जन्म के प्रति संज्ञा नामक सूर्य-पत्नी कारण सुनी जाती है लेकिन छाया कहीं भी इसके जन्म की हेतु नहीं सुनी। यह किसके प्राण नहीं हर लेता है? इसी यम ने नियम से तप किया था ॥१७॥

[नल के पक्ष में] इसका नाम सुनने से मित्रों को इष्ट की प्राप्ति होती है। यह किसका मित्र नहीं है? इसके जैसे शरीर की कान्ति कहीं नहीं देखी गई। इसने यम और नियम से तप किया है ॥१७॥

किं च प्रभावनमिताखिलराजतेजा
देवः पिताम्बरमणी रमणीयमूर्त्तिः।
उत्क्रान्तिदा कमनु न प्रतिभाति शक्तिः
कृष्णत्वमस्य च परेषु गदान् नियोक्तुः ॥१८॥

[यम के पक्ष में] इसके अतिरिक्त इसका पिता रमणीय-मूर्ति सूर्य है जो अपनी प्रभा से चन्द्रमा के सब तेज का तिरस्कार करता है इसकी मरण देने वाली शक्ति किस पर समर्थ नहीं होती है? यह दूसरों पर रोगों की प्रेरणा करता है—यह इसकी अप्रतिष्ठा का सूचक है ॥१८॥

[नल के पक्ष में] इसके अलावा इसका पिता ऐसा राजा था जिसने अपने पौरुष से अन्य सब राजाओं की शक्ति को परास्त कर दिया था। उसका

और वस्त्रों और रत्नों से रमणीय था। इसकी शक्ति किस शत्रु को मरणप्रद नहीं होती ? यह अपनी गदा से शत्रुओं पर प्रहार करता है इस कारण यह कृष्ण है ॥१८॥

एकः प्रभावमयमेति परेतराजौ
तज्जीवितेशधियमत्र निधत्स्व मुग्धे !।
भूतेषु यस्य खलु भूरियमस्य वश्य-
भावं समाश्रयति दस्रसहोदरस्य ॥१९॥

[यम के पक्ष में] मुग्धे, प्रेतों की पंक्ति में सिर्फ यही प्रभाव रखता है। इस कारण यह मनुष्यों के जीवनों का स्वामी है। अश्विनीकुमारों के भ्राता इस यम के अधीन सब भूत हैं ॥१९॥

[नल के पक्ष में] शत्रुओं के तथा अन्य राजाओं के साथ युद्ध में केवल इसका ही प्रभाव रहता है। इसे अपने जीवन का स्वामी समझो। पाँच भूतों वाली सब पृथ्वी अश्विनी कुमारों के तुल्य सौन्दर्य वाले इसके वश में रहती है ॥१९॥

गुम्फो गिरां समननैषधयोः समानः
शङ्कामनेकनलदर्शनजातशङ्के ।
चित्ते विदर्भवसुधाधिपतेः सुताया
यन्निर्ममे खलु तदेष पिपेष पिष्टम् ॥२०॥

यम और नल के विषय में समान वाणी ने दमयन्ती के चित्त में शङ्का पैदा की। उससे केवल पिष्ट-पेषण हुआ क्योंकि अनेक नल होने से उसके मन में शङ्का पहले से मौजूद थी ॥२०॥

तत्रापि तत्रभवती भृशसंशयालो-
रालोक्य सा विधिनिषेधनिवृत्तिमस्याः ।
पाथःपतिं प्रति धृताभिमुखाङ्गुलीक-
पाणिः क्रमोचितमुपाक्रमताभिधातुम् ॥२१॥

यम के ऊपर भी संशय करने वाली दमयन्ती से "हाँ" या "न" के उत्तर

का अभाव देख कर पूज्य सरस्वती ने वरुण की ओर उँगली करके हाथ आगे बढ़ा कर कहना आरम्भ किया ॥२१॥

या सर्वतोमुखतया व्यवतिष्ठमाना
यादोरणैर्जयति नैकविदारकाया ।
एतस्य भूरितरवारिनिधिश्चमूः सा
यस्याः प्रतीतिविषयः परतो न रोधः ॥२२॥

[वरुण के पक्ष में] इसकी सेना बहुत से समुद्रों से युक्त है। उसका दूसरा[1] तीर दृष्टि-गोचर नहीं होता। वह जल से व्यवस्थित है। उसमें जल-जन्तुओं के शब्द होते हैं और बहुत से कूप हैं ॥२२॥

[नल के पक्ष में] इसकी सेना में बहुत से खड्ग हैं। वह सब लोक में मुख्य है। उसमें बाहु-युद्ध होते हैं तथा बहुत से योधा हैं। इसका शत्रु के द्वारा रुकना ज्ञान-गोचर नहीं है। इसका सेना-मुख सब को व्याप्त करता है ॥२२॥

नासीरसीमनि घनध्वनिरस्य भूयान्
कुम्भीरवान् समकरः सहदानवारिः ।
उत्पद्मकाननसखः सुखमातनोति
रत्नैरलङ्करणभावमितैर्नदीनः ॥२३॥

[वरुण के पक्ष में] समुद्र जलमय सेना के मुख-विभाग में स्थित होकर अपने देह में उत्पन्न रत्न आदि के द्वारा इसको अत्यन्त सुख देता है। समुद्र का बड़ा घना शब्द है, बड़ा परिणाम है। उसमें मगर, मच्छ तथा विष्णु रहते हैं। पास के वन में कमल खिलते हैं ॥२३॥

[नल के पक्ष में] बहुत से हाथी इसकी सेना-मुख के विभाग में अनायास शब्द करते हैं। उनकी ध्वनि मेघ के समान है। उनके चिकने मद-जल सहित शुंडा दण्ड हैं। उनके मुख विन्दुओं से तथा अलङ्कारोचित रत्नों से युक्त हैं ॥२३॥

१—सेना और समुद्रों के मिल जाने से दूसरा तीर नहीं दीखता।

स·स्यन्दनैः प्रवहणैः प्रतिकूलपातं
का वाहिनी न तनुते पुनरस्य नाम।
तस्या विलासवति! कर्कशताश्रिता या
ब्रूमः कथं बहुतयासिकता वयं ताः॥२४॥

[वरुण के पक्ष में] हे विलासवति, इसकी कौन सी नदी वेग-पूर्ण प्रवाहों से तीर तक नहीं जाती? इसकी रेती की प्रचुरता का हम किस प्रकार वर्णन करें जिस पर सैकड़ों केकड़े विश्राम लेते हैं? ॥२४॥

[नल के पक्ष में] हे विलासवति, इसकी कौन सी सेना रथों के साथ साथ घोड़ों से युक्त होकर शत्रुओं पर आक्रमण नहीं करती है? हम इसके सिपाहियों का क्या वर्णन करें क्योंकि वे असंख्य हैं और हजारों वेगवान् सफेद घोड़े उनके साथ हैं? ॥२४॥

शोणं पदप्रणयिनं गुणमस्य पश्य
किञ्चास्य सेवनपरैव सरस्वती सा।
एनं भजस्व सुभगे! भुवनाधिनाथं
किं वा भजन्ति तमिमं कमलाशया न॥२५॥

[वरुण के पक्ष में] सुभगे, इस भुवन (=जल) के अधीश्वर का तुम वरण करो। यह गुण-प्रधान है और सोन नदी इसके चरणों की सेवा करती है। इसके अतिरिक्त सरस्वती नदी भी इसकी सेवा में अनुरक्त है। जल के कौन से सरोवर इसकी सेवा नहीं करते? ॥२५॥

[नल के पक्ष में] सुभगे, पृथ्वी के इस स्वामी का तुम वरण करो। इसके चरणों के अरुण रङ्ग को देखो। केवल यही ऐसा है जिसकी सेवा सरस्वती करती है। धन की आशा से कौन इसको शरण में नहीं जाता? ॥२५॥

शङ्कालताततिमनेकनलावलम्बां
वाणी नवर्धयतु तावदभेदिकेयम्।
भीमोद्भवां प्रति नले च जलेश्वरे च
तुल्यं तथापि यदवर्धयदत्र चित्रम्॥२६॥

क्या सरस्वती से कही गई यह वाणी अनेक नलों के सम्बन्ध में संशय-लताओं की पंक्ति को बढ़ाने में समर्थ नहीं होगा ? यह विषय का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं करती है क्या ? इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है पर इसने नल और वरुण के मन में भी साथ साथ दमयन्ती के विषय में संशय-लता की परम्परा की वृद्धि की ॥२६॥

बालां विलोक्य विबुधैरपि मायिभिस्तै-
रच्छद्मितामियमलीकनलीकृतस्वैः ।
आह स्म तां भगवती निषधाधिनाथं
निर्दिश्य राजपरिषत्परिवेषभाजम् ॥२७॥

अपने को झूठा नल बनाने वाले माया पूर्ण देवता भी दमयन्ती को धोखा नहीं दे सके—यह देख कर सरस्वती ने—जो राजाओं की सभा से परिवेष के समान घिरा हुआ था—उस नल के विषय में दमयन्ती से कहा— ॥२७॥

अत्याजिलब्धविजयप्रसरस्त्वया किं
विज्ञायते रुचिपदं न महीमहेन्द्रः ।
प्रत्यर्थिदानवशताहितचेष्टयासौ
जीमूतवाहनधियं न करोति कस्य ? ॥२८॥

[नल के पक्ष में] क्या तुम मही के महेन्द्र नल को नहीं जानती हो ? इसने घोर संग्राम में बहुत विजय प्राप्त की है । यह कान्ति का आकर है । याचकों के प्रति दानशीलता तथा अनुकूल व्यापार के कारण इसे जीमूत-वाहन के समान कौन नहीं समझता ? ॥२८॥

[इन्द्र के पक्ष में] क्या तुम इस सुन्दर तथा परिहास-प्रिय इन्द्र को नहीं पहचानती हो ? इसने घोर संग्राम में बहुत विजय प्राप्त की है । सैकड़ों शत्रु-दैत्यों की ओर इसकी प्रतिकूल चेष्टा के कारण क्या कोई ऐसा है जिसे यह इन्द्र न मालूम होता हो ? ॥२८॥

येनामुना बहुविगाढसुरेश्वराध्वराज्याभिषेकविकसन्महसा बुभूवे ।
आवर्जनं ननु तमसु ते महु ! साधु नामग्राहं मया नलमुदीरितमेवमत्र ॥२९॥

दिदृक्षुरन्या विनिमेषवीक्षणा नृणामयोग्यां दधती तनुश्रियम् ।
पदाग्रमात्रेण यदस्पृशन्मही न तावता केवलमप्सरोऽभवत् ॥७९॥

नल की ओर देखने की इच्छुक, निमेष-रहित नेत्र वाली तथा शरीर की अलौकिक शोभा धारण करने वाली कोई स्त्री उँगलियों से ही पृथ्वी का स्पर्श करती थी इस कारण वह अप्सरा[1] नहीं समझी गई ॥७९॥

विभूषणभ्रंसनशंसनार्पितैः करप्रहारैरपि धूननैरपि ।
असान्तमन्तः प्रसभं पुराऽपरा सखीषु सम्मापयतीव सम्मदम् ॥८०॥

अन्य स्त्री ने हृदय में नहीं समाते हर्ष को थपथपी से तथा हिलाने से अपनी सखियों में जबरदस्ती घुसेड़ा जिससे उनको चेतावनी हुई कि उनके भूषण गिर पड़े हैं ॥८०॥

वतंसनीलाम्बुरुहेण किं दृशा विलोकमाने विसनीवभूवतुः ।
अपि श्रुती दर्शनसक्तचेतसां न तेन ते शुश्रुवतुर्मृगीदृशाम् ॥८१॥

नल के दर्शन में लगी हुई स्त्रियों के कान भी क्या कर्ण-भूषण के नील-कमल रूप नेत्रों से नल को देखते देखते व्याकुल हो गये जिसमें उन्होंने भूषणों का गिरना नहीं सुना ? ॥८१॥

काश्चिन्निर्माय चक्षुःप्रसृतिचुलुकितं तास्वशङ्कन्त कान्ता
मौग्ध्यादाचूडमोघैर्निचुलितमिव तं भूषणानां मणीनाम् ।
साहस्रीभिर्निमेषाकृतमतिभिरयं दृग्भिरालिङ्गितः किं
ज्योतिष्टोमादियज्ञश्रुतिफलजगतीसार्वभौमभ्रमेण ॥८२॥

अपने बड़े बड़े नेत्रों से उत्सुकता-पूर्वक नल को देखती हुई कुछ स्त्रियों ने उसे स्वर्ग का अधीश्वर इन्द्र समझा । यह पद सोम तथा अन्य यज्ञों के फल से मिलता है—जैसा वेद में कहा है । उन्होंने सरलता से विचार किया—क्या यह निमेष-रहित हजार नेत्रों से आच्छादित है ? नल शिखा तक भूषणों के रत्न-समूहों से आच्छादित था ॥८२॥

१—अप्सरा जमीन को नहीं छूती है ।

भवन् सुद्युम्नः स्त्री नरपतिरभूद्यस्य जननी
तमुर्वश्याः प्राणानपि विजयमानस्तनुरुचा ।
हरारब्धक्रोधेन्धनमदनसिंहासनमसा-
वलङ्कर्मीणश्रीरुदभवदलङ्कर्त्तुमधुना ॥८३॥

स्त्रियाँ आपस में बातचीत करने लगीं—"अनुपम सौन्दर्य वाला नल शिव के क्रोध की अग्नि से जलाये गये कामदेव का सिंहासन अलंकृत करने के लिए निकला है। अपने शरीर की कान्ति से वह उर्वशी के प्रिय पुरूरवा से बढ़कर है जो उसे प्राणों के समान प्यारा था। राजा सुद्युम्न[1], जो स्त्री के रूप में बदल गया था, उसकी माता था ॥८३॥

अर्थी सर्वसुपर्वणां पतिरसावेतस्य यूनः कृते
पर्य्यत्याजि विदर्भराजसुतया युक्तं विशेषज्ञया ।
अस्मिन्नाम तया वृते सुमनसः सन्तोऽपि यन्निर्ज्जरा
जाता दुर्मनसो न सोढुमुचितास्तेषां तु साऽनौचिती ॥८४॥

"गुणों को पहचानने वाली दमयन्ती ने याचक तथा अनुरक्त इन्द्र को भी युवाओं के पूर्ण तारुण्य से युक्त नल के निमित्त छोड़ दिया। इस कारण चारों देवता शिष्ट होने पर भी दमयन्ती के नल से विवाह करने पर विषाद युक्त हुए—यह उन्होंने अनुचित किया और यह सहन करने के अयोग्य है ॥८४॥

अस्योत्कण्ठितकण्ठलोठिवरणस्रक्साक्षिभिर्दिग्भटैः
स्वं वक्षः स्वयमस्फुटन्न किमदः शस्त्रादपि स्फोटितम् ।
व्यावृत्योपनतेन हा शतमखेनाद्य प्रसाद्या कथम्
भैम्यां व्यर्थमनोरथेन च शची साचीकृतास्याम्बुजा ॥८५॥

"नल के चिर काल तक उत्कण्ठित हुए कण्ठ में पड़ी हुई वर-माला को प्रत्यक्ष देखने वाले इन्द्र आदि दिक्पालों ने अपने आप विदीर्ण नहीं हुए हृदय

१—सुद्युम्न राजा शिकार खेलने में वन में गया तब पार्वती के एक निवारित वन में प्रवेश करने से स्त्री हो गया। बुध उसे देख कर कामातुर हो गया और फिर उसने पुरूरवा को जन्म दिया।

ज्जा के कारण किसी अस्त्र से विदीर्ण क्यों नहीं किया ? आज दमयन्ती के
में व्यर्थ-मनोरथ होकर लौटे हुए और प्रणाम करने के लिए नम्र हुए
के द्वारा भी शची कैसे प्रसन्न होगी क्योंकि कोप के कारण उसका मुँह
हो गया है ? ॥८५॥

मा जानीत विदर्भजामविदुषीं कीर्तिं मुदः श्रेयसीं
सेयं भद्रमचीकरन्मघवता न स्वं द्वितीयां शचीम् ।
कः शच्या रचयाञ्चकार चरिते काव्यं स नः कथ्यता-
मेतस्यास्तु करिष्यते रसधुनीपात्रे चरित्रे न कैः ॥८६॥

"सखियो, क्या तुम नहीं जानती हो कि दमयन्ती—कीर्ति हर्ष से अधिक
—यह नहीं जानती ? यह ठीक ही हुआ कि दमयन्ती ने इन्द्र को उसे
नी दूसरी शची नहीं बनाने से इन्कार किया । शची के चरित्र पर किस
ने काव्य बनाया ? लेकिन रसों की नदी की वेणी रूप दमयन्ती के चरित्र
विषय में कौन काव्य नहीं बनावेगा ? ॥८६॥

वैदर्भीबहुजन्मनिर्मिततपःशिल्पेन देहश्रिया
नेत्राभ्यां स्वदते युवायमवनीवासः प्रसूनायुधः ।
गीर्वाणालयसार्वभौमसुकृतप्राग्भारदुष्प्रापया
योगं भीमजयानुभूय भजतामद्वैतमद्य त्विषाम् ॥८७॥

"सखियो, पृथ्वी का कामदेव यह युवक सौन्दर्य से हमारे नेत्रों को प्रसन्न
ता है । यह दमयन्ती के अनेक जन्मों में किये हुए तप का फल है । वह
आज दमयन्ती के साथ योग प्राप्त करके अद्वितीय कान्ति को प्राप्त हो !
यन्ती स्वर्ग के सार्वभौम इन्द्र को भी उसकी पुण्य राशि से प्राप्त नहीं
है ॥८७॥

स्त्रीपुंसव्यतिषञ्जनं जनयतः पत्युः प्रजानामभू-
दभ्यासः परिपाकिमः किमनयोर्दाम्पत्यसम्पत्तये ।
आसंसारपुरन्ध्रिपूरुषमिथःप्रेमार्पणक्रीडया-
[illegible] प्राकर्षि चेतोभुवः ॥८८॥

"स्त्री और पुरुष का विशेष रूप से सम्मेलन कराने वाले ब्रह्मा का अभ्यास उनकी दाम्पत्य सम्पत्ति के परिपाक से क्या निवृत्त हो गया ? संसार उत्पन्न हुआ तब से स्त्री-पुरुष में आपस में अनुराग पैदा करने का कौतुक कामदेव के द्वारा इनके परस्पर अनुराग की सृष्टि से पूरा हो गया ॥८८॥

ताभिर्दृश्यत एष यान् पथि महाज्यैष्ठीमहे मन्महे
यद्दृग्भिः पुरुषोत्तमः परिचितः प्रागङ्गमङ्गन्कृतः ।
सा स्त्रीराट् पतयालुभिः शितिसितैः स्यादस्य दृक्चामरैः
सस्ने माघमघातिघातियमुनागङ्गौघयोगे यथा ॥८९॥

"अत्यन्त प्रसिद्ध ज्येष्ठ पूर्णिमा के उत्सव में जिनके नेत्रों ने जन्मान्तर सवारी में जाते हुए पुरुषोत्तम को अनेक बार देखा है उन्हीं स्त्रियों ने पथ आते हुए नल को देखा । जिन स्त्रियों ने पाप-विनाशक गङ्गा-यमुना के सङ्ग में माघ मास में स्नान किया है वे ही नल के अति चञ्चल, काले तथा श्वेत दृष्टि रूप चामरों से स्त्रीराट् हुईं—यह मैं समझती हूँ ॥८९॥

वैदर्भीविपुलानुरागकलनात् सौभाग्यमत्राखिल-
क्षोणीचक्रशतक्रतौ निजगदे तद्वृत्तवृत्तक्रमैः ।
किञ्चास्माकनरेन्द्रभूसुभगतासम्भूतये लग्नकं
देवेन्द्रावरणप्रसादितशचीविश्राणिताशीर्वचः ॥९०॥

"दमयन्ती का गहन अनुराग नल की ओर होने के कारण वह अखिल क्षोणी-चक्र का इन्द्र हुआ—यह सौभाग्य दमयन्ती के पुरातन कर्मों के सम्बन्ध से हुआ । इन्द्र के अवरण से प्रसन्न हुई शची से दिया गया आशीर्वाद हमारे राजा की कुमारी के लिए सौभाग्य की जमानत करता है ॥९०॥

आसुत्राममपासनान्मखभुजां भैम्यैव राजव्रजे
तादर्थ्यागमनानुरोधपरया युक्तार्जि लज्जामृजा ।
आत्मानं त्रिदशप्रसादफलतां पत्ये विधायानया
ह्रीरोषापयशःकथानवसरः सृष्टः सुराणामपि ॥९१॥

"राजा लोग दमयन्ती के कारण ही आये थे इस कारण उनका सम्मान

ने वाली दमयन्ती ने देवताओं को—यहाँ तक कि इन्द्र तक को—अस्वी-
र करके उनकी अप्रतिष्ठा को उचित रूप से दूर कर दिया। उसने अपने
ति के सामने अपने को देवताओं से प्राप्त तथा उनकी कृपा से दिये हुए दान
हैसियत से समर्पण करके लज्जा, क्रोध तथा अप्रतिष्ठा की बातचीत के सब
वसरों को देवताओं के सम्बन्ध से भी दूर कर दिया" ॥९१॥

इत्यालेपुरनुप्रतीकनिलयालङ्कारसारश्रिया-
ऽहङ्कुर्वत्तनुरामणीयकममूरालोक्य पौरप्रियाः।
सानन्दाः कुरुविन्दसुन्दरकरस्यानन्दनं स्यन्दनं
तस्याध्यास्य यतः शतक्रतुहरित्क्रीडाद्रिमिन्दोरिव ॥९२॥

नागरिकों की स्त्रियाँ इस प्रकार आपस में कहने लगीं। वे नल के उस
न्दर्य को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुईं जिसमें प्रत्येक अवयव अलङ्कार की
मा से हमाहमीं करता था। उसके हाथ मानक के समान स्वच्छ थे और
र सुन्दर रथ में बैठकर जा रहा था जैसे चन्द्रमा मानक के समान स्वच्छ
रणों से नन्दन वन की सीमा पर उदयाचल को जाता है ॥९२॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
यातः पञ्चदशः कृशेतररसस्वादाविहायं महा-
काव्ये तस्य कृतौ नलीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥९३॥

कविराजों की पंक्ति के मुकुटों के अलङ्कार रूप हीरे श्री हरि नामक पिता
था मामल्लदेवी नामक माता ने जिस जितेन्द्रिय श्री हर्ष को जन्म दिया उसके
त्यन्त प्रभूत रस से अमृत रूप महाकाव्य नल-चरित में स्वभाव से सुन्दर
न्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥९३॥

षोडशः सर्गः।

वृतः प्रतस्थे स रथैरथो रथी गृहान् विदर्भाधिपतेर्धराधिपः।
पुरोधसं गौतममात्मवित्तमं द्विधा पुरस्कृत्य गृहीतमङ्गलः ॥१॥

रथ में चढ़ने के बाद रथों से घिरा हुआ राजा नल विदर्भ-राज के महलों की ओर रवाना हुआ। उसके ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ गौतम की पूजा करके उनको आगे किया तथा मंगल-वस्तुएँ ग्रहण करलीं ॥१॥

विभूषणांशुप्रतिबिम्बितैः स्फुटं भृशावदातैः स्वनिवासिभिर्गुणैः।
मृगेक्षणानां समुपासि चामरैर्विधूयमानैः स विधुप्रभैः प्रभुः ॥२॥

मृगाक्षी चामर-धारिणी स्त्रियाँ चन्द्रमा के समान श्वेत चामरों को झलकर नल की उपासना करती थीं और मालूम होता था मानो चामर उसके अत्यन्त उज्ज्वल गुण थे जो भूषणों में प्रतिबिम्बित हो रहे थे ॥२॥

परार्ध्यवेषाभरणैः पुरःसरैः समं जिहाने निषधावनीभुजि।
दधे सुनासीरपदाभिधेयतां स रूढिमात्राद्यदि वृत्रशात्रवः ॥३॥

उत्तम वेष तथा आभरण वाले अग्रगामियों के साथ नल रवाना हुआ उस समय यदि इन्द्र ने [1]सुनासीर पद को धारण किया तो केवल रूढ़ि मात्र से ॥३॥

नलस्य नासीरसृजां महीभुजां किरीटरत्नैः पुनरुक्तदीपया।
अदीपि रात्रौ वरयात्रया तया चमूरजोमिश्रतमिस्रसम्पदा ॥४॥

रात्रि में नल की बरात, सेना से उठाई गई रज से मिले हुए अँधकार से व्याप्त होकर शोभायमान हुई जिसमें नल की सेना के आगे जाते हुए राजाओं के किरीट रत्नों के कारण दीपक व्यर्थ हो गये थे ॥४॥

विदर्भराजः क्षितिपाननुक्षणं शुभक्षणासन्नतरत्वसत्त्वरः।
दिदेश दूतान् पथि यान्यथोत्तरं चमूममुष्योपचिकाय तच्चयः ॥५॥

राजा भीम ने लग्न-समय के पास होने से शीघ्रता कर के जिन राजाओं को प्रत्येक क्षण दूत बनाकर बार बार भेजा उनकी भीड़ से मार्ग में नल की सेना की वृद्धि हो गई ॥५॥

१—जिसका सेना-मुख अच्छा हो उसे सुनासीर कहते हैं। इन्द्र सुनासीर कहलाता है। सुनासीर पद का प्रयोग इन्द्र की अपेक्षा नल में अधिक उपयुक्त था।

हरिद्विपद्वीपिभिरांशुकैर्नभो नभस्वदाध्मापनपीनितैरभूत् ।
तरस्वदश्वध्वजिनीध्वजैर्वनं विचित्रचीनाम्बरवल्लिवेल्लितम् ॥६॥

तेज घोड़ों की सेनाओं की वस्त्र निर्मित ध्वजाएँ भीतर वायु भर जाने से ...त्र के बने सिंह, हाथी तथा व्याघ्र के समान दीखने लगीं और उनसे सेनाओं ... ऊपर का आकाश अनेक वर्णों के चीनांशुकों की लताओं से वेष्टित वन के ...मान होगया ॥६॥

...भुवाऽऽह्वयन्तीं निजतोरणस्रजा गजालिकर्णानिलखेलया ततः ।
ददर्श दूतीमिव भीमजन्मनः स तत्प्रतीहारमहीं महीपतिः ॥७॥

तब राजा नल ने भीम की द्वार-भूमि को दमयन्ती की दूती के समान ...ा । वह द्वार पर बँधे हुए हाथियों के कान फड़फड़ाने से चलायमान हुई ...रण माला रूपी भौहों से उत्सुकता-पूर्वक बुलाती मालूम होती थी ॥७॥

...यैर्दलैः स्तम्भयुगस्य रम्भयोश्चकास्ति चण्डातकमण्डिता स्म सा ।
...प्रियासखीवास्य मनःस्थितिस्फुरत्सुखागतप्रश्नितूर्यनिःस्वना ॥८॥

अनुराग के कारण मन में नल को स्थिति से उल्लास को प्राप्त हुए स्वा-...त के प्रश्न को पूछती हुई तुरही के शब्द से युक्त वह द्वार-भूमि केले के दो ...स्तम्भों के—वायु से हिलते—पत्तों से लम्बे नीले घाँघरे से विभूषित दमयन्ती की ...सखी के समान मालूम होती थी ॥८॥

विनेतृभर्तृद्वयभीतिदान्तयोः परस्परस्मादनवाप्तवैशसः ।
अजायत द्वारि नरेन्द्रसेनयोः समागमः स्फारमुखारवोद्गमः ॥९॥

महल के सामने दोनों राजाओं की सेनाओं का ऐसा समागम हुआ जिसमें ...े अपने अपने शासकों के डर से शान्त थीं, आपस में किसी का मरण नहीं ...होता था तथा बड़ा शब्द कर रही थीं ॥९॥

निर्दिश्य वन्धूनित इत्युदीरितं दमेन गत्वार्धपथे कृतार्हणम् ।
विनीतमा द्वारत एव पद्गतां गतं तमैक्षिष्ट मुदा विदर्भराट् ॥१०॥

राजा नल बड़ा विनीत था और दरवाजे से ही रथ से उतर कर पैदल चल ...रहा था । भीम ने उसकी तरफ हर्ष देखा और दमयन्ती के भाई दम ने आधे

रास्ते में जाकर स्वागत किया तथा नातेदारों को दिखाकर—इस रास्ते से आइये—यों कहा ॥१०॥

अथायमुत्थाय विसार्य्य दोर्युगं मुदा प्रतीयेष तमात्मजन्मनः।
सुरस्रवन्त्या इव पात्रमागतं भृताभितोवीचिगतिः सरित्पतिः ॥११॥

फिर भीम ने प्रत्युत्थान करके दमयन्ती के वर नल का भुजाएँ पसार कर आलिङ्गन किया जैसे दोनों ओर से तरङ्ग ग्रहण करता हुआ समुद्र गङ्गा के प्रवाह को ग्रहण करता है ॥११॥

यथावदस्मै पुरुषोत्तमाय तां स साधुलक्ष्मीं बहुवाहिनीश्वरः।
शिवामथ स्वस्य शिवाय नन्दनां ददे पतिः सर्वविदे महीभृताम् ॥१२॥

बहुत से राजाओं के स्वामी और बहुत सी सेनाओं के पति राजा भीम ने सब विद्याओं के ज्ञाता और पुरुष-श्रेष्ठ नल को शरीर की सुन्दर कान्ति वाली अपनी कन्या विधि-पूर्वक दी जैसे समुद्र ने लक्ष्मी विष्णु को तथा हिमालय ने पार्वती शिव को दी थी ॥१२॥

असिस्वदद्यन्मधुपर्कमर्पितं तदव्यधात् तर्कमुदर्कदर्शिने।
यदेष पास्यन्मधु भीमजाधरं मिषेण पुण्याहविधिं तदा कृतम् ॥१३॥

नल ने भीम से दिये गये मधुपर्क को चाटा तब भविष्य देखने वाले लोगों को यह तर्कना हुई कि नल-दमयन्ती का अधर-मधुपान करेगा इस कारण उसने मधुपर्क चाटने के बहाने मङ्गल-पूर्वक पुण्याह[1] विधि की ॥१३॥

वरस्य पाणिः परघातकौतुकी वधूकरः पङ्कजकान्तितस्करः।
सुराज्ञि तौ तत्र विदर्भमण्डले ततो निबद्धौ किमु कर्कशैः कुशैः ॥१४॥

वर का हाथ शत्रुओं के मारने का कौतुक करता है और वधू का हाथ कमल की लक्ष्मी को चुराता है। इस कारण ही क्या राजा भीम के सुन्दर शासन से युक्त विदर्भ राष्ट्र में उन दोनों के हाथ कर्कश कुशाओं से बाँध दिये गये ? ॥१४॥

१—मंगल-कार्य के पहले, मुहूर्त के दिन पापग्रहों का प्रभाव मिटाने के लिए पुण्याह-विधि की जाती है। पुण्याह विधि से ही मंगल-कार्य तथा यह आरम्भ होते हैं।

विदर्भजायाः करवारिजेन यन्नलस्य पाणेरुपरि स्थितं किल।
विशङ्क्य सूत्रं पुरुषायितस्य तद्भविष्यतोऽस्मायि तदा तदालिभिः ॥१५॥

दमयन्ती का कर-कमल जो पाणिग्रहण के समय नल के पाणि के ऊपर स्थित हुआ तो उससे स्पष्ट हुआ कि उसने भावी 'विपरीत रति' नामक आसन की सूचना पहिले ही से दे दी। अतः कौतुक देखने के निमित्त समीप में स्थित दमयन्ती की सखियों ने इसकी सम्भावना करते ही जरा जरा मुस्करा दिया! विपरीत रति में स्त्री का पाणि ऊपर होता है और विवाह में वधू का कर, वर के कर के ऊपर होता है ॥१५॥

सखा यदस्मै किल भीमसंज्ञया स यक्षसख्याधिगतं ददौ भवः।
ददौ तदेष श्वशुरः सुरोचितं नलाय चिन्तामणिदाम कामदम् ॥१६॥

भीम नाम से मित्र हुए भीम अर्थात् महादेव ने भीम राजा को कुबेर के साथ मित्रता से प्राप्त हुई चिन्तामणियों की मालाएँ दी थीं। इनको राजा भीम ने नल को दिया ॥१६॥

बहोर्दुरापस्य वराय वस्तुनश्चितस्य दातुं प्रतिबिम्बकैतवात्।
बभौतरामन्तरवस्थितं दधद्यदर्थमभ्यर्थितदेयमर्थिने ॥१७॥

अत्यन्त शोभायमान चिन्तामणि हार, वर को देने के लिए सामने इकट्ठे किये गये अपरिमित तथा दुर्लभ द्रव्यों के प्रतिबिम्ब के बहाने, अर्थियों से याचना किये गये तथा उनको मिलने लायक सब वस्तुओं को अपने में धारण करता था ॥१७॥

असिं भवान्याः क्षतकासरासुरं वराय भीमः स्म ददाति भासुरम्।
ददे हि तस्मै धवनामधारिणे स शम्भुसम्भोगनिमग्नयानया ॥१८॥

भीम ने महिषासुर को मारने वाली दुर्गा की चमकती हुई तलवार वर को दी जो शिव के साथ सम्भोग में निमग्न हुई दुर्गा ने अपने पति का नाम धारण करने वाले-शम्भु के सेवक-भीम राजा को दी थी ॥१८॥

अधारि यः प्राङ्महिषासुरद्विषा कृपाणमस्मै तमदत्त कूकुदः।
अहारि तस्या हि पवार्धभञ्जिना स दक्षिणार्धेन पराङ्गदारणः ॥१९॥

महिषासुर से द्वेष करने वाली दुर्गा ने जिस खड्ग को धारण किया था उसे राजा भीम ने सत्कार-पूर्वक राजा नल को दिया क्योंकि शिव के वाम भाग में प्रविष्ट हुई दुर्गा के दक्षिण भाग ने शत्रुओं का नाश करने वाले इस खड्ग को त्याग दिया था ॥१९॥

उवाह यः सान्द्रतराङ्ककाननः स्वशौर्य्यसूर्य्योदयपर्वतव्रतम् ।
सनिर्भरः शाणनधौतधारया समूढसन्ध्यः क्षतशत्रुजासृजा ॥२०॥

वह खड्ग अपने प्रताप रूपी सूर्य का उदयाचल-स्वरूप था। खड्ग में अत्यन्त घने चित्र खिंचे हुये थे, सान पर चढ़ने से उसकी धार उज्ज्वल हो गई थी तथा वह क्षत हुए शत्रुओं के रुधिर से युक्त था। उदयाचल अपने उर्ध्व भाग में घने वन से युक्त था, उसमें झरना था तथा वह प्रातः सन्ध्या से युक्त था ॥२०॥

यमेन जिह्वा प्रहितेव या निजा तमात्मजां याचितुमर्थिना भृशम् ।
स तां ददेऽस्मै परिवारशोभिनीं करग्रहार्हामसिपुत्रिकामपि ॥२१॥

राजा भीम ने एक छूरी भी नल को दी जो दमयन्ती से अनुराग करने वाले यम ने भीम के पास याचना करने को अपनी जिह्वा के समान भेजी थी। वह चर्म-कोष से शोभायमान थी और उसकी मूठ उत्तम थी ॥२१॥

यदङ्गभूमी बभतुः स्वयोषितामुरोजपत्रावलिनेत्रकज्जले ।
रणस्थलस्थण्डिलशायिताव्रतैर्गृहीतदीक्षैरिव दक्षिणीकृते ॥२२॥

उस छुरी की मूठ के ऊपर के और नीचे के भाग ऐसे मालूम हुए मानो वे स्त्रियों के नेत्रों के काजल तथा स्तनों की पत्रावली थे जिनको लड़ाई के मैदान में वेदी के ऊपर शयन के व्रत की दीक्षा लेनेवाले शत्रुओं ने छुरी को दक्षिणा की तरह दिया था ॥२२॥

१—जो दीक्षा का उपदेश करता है उसे कुछ दक्षिणा दी जाती है। छुरी ने ही शत्रुओं को मारकर उन्हें लड़ाई के मैदान में चबूतरे पर शयन करने का उपदेश दिया इस कारण छुरी को काजल और पत्रावली की दक्षिणा दीगई क्योंकि शत्रुओं की विधवाएँ उनका उपयोग कर नहीं सकती थीं।

पुरैव तस्मिन् समदेशि तत्सुताभिकेन यः सौहृदनाटिनाग्निना ।
नलाय विश्राणयति स्म तं रथं नृपः सुलङ्घ्याद्रिसमुद्रकापथम् ॥२३॥

दमयन्ती में अनुराग होने के कारण स्नेह का नाटक दिखाने वाले अग्नि ने पहले जो रथ भीम के पास भेजा था उसे भीम ने नल को दे दिया । वह रथ ऊँचे ऊँचे पर्वत, समुद्र और विषम मार्गों को अनायास ही अतिक्रमण कर सकता था ॥२३॥

प्रसूतवत्ता नलकूबरान्वयप्रकाशितास्यापि महारथस्य यत् ।
कुबेरदृष्टान्तबलेन पुष्पकप्रकृष्टतैतस्य ततोऽनुमीयते ॥२४॥

भीम के द्वारा दिये हुये नल के महारथ की प्रसूतवत्ता (=पुष्पक से भी प्रकृष्ट सूत या सारथी का होना) उसी प्रकार स्पष्ट है जिस प्रकार कुबेर की प्रसूतवत्ता (=पितृत्व=नलकूबर नामक प्रकृष्ट पुत्र को जन्म देना) लोक में विख्यात है; और जिस प्रकार कुबेर की प्रकृष्टता (=गौरव) पुष्पक विमान से है उसी प्रकार कुबेर के ही दृष्टान्त से नल के महारथ की प्रकृष्टता (=गौरव तथा तीव्र वेग) पुष्पक से भी अधिक है ऐसा अनुमान सहज में ही हो सकता है ॥२४॥

महेन्द्रमुच्चैःश्रवसा प्रतार्य्य यन्निजेन पत्याऽकृत सिन्धुरन्वितम् ।
स तद्ददेऽस्मै हयरत्नमर्पितं पुराऽनुबन्धुं वरुणेन बन्धुताम् ॥२५॥

समुद्र ने उच्चैःश्रवा घोड़े से इन्द्र को ठगकर जो अश्व-रत्न वरुण को दिया था उसे भीम ने नल को दिया । वह वरुण ने मित्रता बढ़ाने के लिये भीम के पास भेजा था ॥२५॥

जवाद्वारीकृतदूरदृक्पथस्तथाक्षियुग्माय ददे मुदं न यः ।
ददद्दिदृक्षादरदासतां यथा तयैव तत्पांशुलकण्ठनालताम् ॥२६॥

जो घोड़ा लोगों के दोनों नेत्रों को उसके देखने की इच्छा के आदर का दास बनाकर बहुत से योजन दूर के नेत्र के मार्ग को अपने वेग से पास ही ले आने का अभ्यस्त था वह उनके नेत्रों को उतना हर्ष न दे सका जितना उत्कण्ठा ने दिया जिसके द्वारा उसके देखने की इच्छा फिर हुई ॥२६॥

दिवस्पतेरादरदर्शिनादरादढौकि यस्तं प्रति विश्वकर्मणा।
तमेकमाणिक्यमयं महोन्नतं पतद्ग्रहं ग्राहितवान् नलेन सः ॥२७॥

इन्द्र के दमयन्ती पर अनुराग के कारण भीम को आदर दिखाने वाले विश्वकर्मा ने जो ऊँची मानक की पीकदानी भीम को उपहार में भेजी थी उसे भीम ने नल को दिया ॥ २७ ॥

नलेन ताम्बूलविलासिनोज्झितैर्मुखस्य यः पूगकणैर्भृतो न वा।
इति व्यवेचि स्वमयूखमण्डलादुदञ्चदुच्चारुणचारुणश्रियात् ॥२८॥

उदय होते उन्नत सूर्य के समान सुन्दर किरणें फैलाती हुई पीकदानी को लोगों ने तांबूल के विलासी नलके द्वारा रस लेकर उगले हुए सुपारी के टुकड़ों से पूर्ण समझा ॥ २८ ॥

मयेन भीमं भगवन्तमर्चता नृपेऽपि पूजा प्रभुनाम्नि या कृता।
अदत्त भीमोऽपि स नैषधाय तां हरिन्मणेर्भोजनभाजनं महत् ॥२९॥

भगवान् शिव की पूजा करने वाले मायासुर ने शिव का नाम धारण करने वाले भीम की पूजा करके एक पन्ने की बड़ी थाली भेंट की जिसे भीम ने नल को दिया ॥ २९ ॥

छदे सदैवच्छविमस्य बिभ्रतां न केकिनां सर्पविषं विसर्पति।
न नीलकण्ठत्वमधास्यदत्र चेत् स कालकूटं भगवानभोक्ष्यत ॥३०॥

इस थाली की छवि सदा पंखों में धारण करने वाले मयूरों को सर्प का विष नहीं लगता। भगवान् महादेव अगर इसमें रखकर कालकूट पीते तो उनका गला नीला नहीं होता ॥ ३० ॥

विराध्य दुर्वाससमस्खलद्दिवः स्रजं त्यजन्नस्य किमिन्द्रसिन्धुरः।
अदत्त तस्मै स मदच्छलात् सदा यमभ्रमातङ्गतयैव वर्षुकम् ॥३१॥

राजा भीमने नल को मद के बहाने सुधा वर्षाता हुआ हाथी दिया जो मानों ऐरावत था। क्या वह दुर्वासा में क्रोध उत्पन्न करके उनके शाप से स्वर्ग से गिर पड़ा था क्योंकि उसने दुर्वासा की माला को भूमि पर फेंक दिया था? ॥ ३१ ॥

मदान्मदग्रे भवताऽथवा भिया हरं दिगन्तापि यात जीवत ।
इति स्म यो दिक्करिणः स्वकर्णयोर्विनैव वर्णस्रजमागतैर्गतैः ॥३२॥

वह हाथी कानों के फटफटाने से वर्ण माला के विना ही दिग्गजों से यों कहता मालूम होता था । "दिग्गजो, यदि तुम में बल का अभिमान है तो तुम मेरे आगे आओ नहीं तो डर कर दिगन्तों से भी दूर जाकर रहो ॥३२॥

बभार वीजं निजकीर्त्तये रदौ द्विषामकीर्त्यै खलु दानविप्लुषः ।
श्रवःश्रमैः कुम्भकुचां शिरःश्रियं मुदे मदस्वेदवतीमुपास्त यः ॥३३॥

वह हाथी (शुभ) दाँतों को अपनी कीर्ति का कारण और (काले) मद विन्दुओं को शत्रुओं की अकीर्ति समझकर धारण करता था । कान फट[1]-फटाने से वह शिर की शोभा रूप नायिका की, उसके हर्ष के लिए, सेवा करता था । वह शोभा कुम्भ रूप कुच तथा मदरूप स्वेद धारण करती थी ॥३३॥

न तेन बाहेषु विवाहदक्षिणीकृतेषु सङ्ख्यानुभवेऽभवत् क्षमः ।
न शातकुम्भेषु न मत्तकुम्भिषु प्रयत्नवान् कोऽपि न रत्नराशिषु ॥३४॥

भीम के द्वारा नल को दहेज में दिये गये घोड़ों की, सुवर्ण की वस्तुओं की, मत्त हाथियों की तथा रत्न-राशियों की संख्या जानने में कोई भी समर्थ नहीं हुआ ॥३४॥

करग्रहे वाम्यमधत्त यस्तयोः प्रसाद्य भैम्यातु च दक्षिणीकृतः ।
कृतः पुरस्कृत्य ततो नलेन स प्रदक्षिणस्तत्क्षणमाशुशुक्षणिः ॥३५॥

जो अग्नि उनके विवाह के विषय में वक्र था वह पीछे दमयन्ती की स्तुति से प्रसन्न होकर अनुकूल हो गया और नल ने उसके सामने दक्षिण की तरफ होकर प्रदक्षिणा की ॥३५॥

स्थिरा त्वमश्मेव भवेति मन्त्रवागनेशदाशास्य किमाशु तां ह्रिया ।
शिला चलेत् प्रेरणया नृणामपि स्थितेस्तु नाचालि बिडौजसापि सा ॥३६॥

"दमयन्ती, इस पत्थर पर तुम खड़ी होओ तथा इसके समान ही स्थिर

[1]—पंखा चलाने से आशय है।

होओ" इस तरह नलकी वाणी दमयन्ती को आशा दिलाकर क्या लज्जा से नष्ट हो गई ? शिला तो मनुष्यों के धक्के से ही अपने स्थान से चलायमान हो जाती है लेकिन दमयन्ती इन्द्र के कहने से भी अपनी स्थिति से चलायमान नहीं हुई ॥३६॥

प्रियांशुकग्रन्थिनिबद्धवाससं तदा पुरोधा विदधे विदर्भजाम् ।
जगाद विच्छिद्य पटं प्रयास्यतो नलादविश्वाससिवैष विश्ववित् ॥३७॥

उस समय पुरोहित ने दमयन्ती के वस्त्रकी नलके अंशुकके साथ गाँठ बाँधी। सर्वज्ञ पुरोहित कपड़ा फाड़कर चले जाने वाले नल का आगे होने वाला अविश्वास प्रकट करता मालूम हुआ ॥३७॥

ध्रुवावलोकाय तदुन्मुखभ्रुवा निर्दिश्य पत्याभिदधे विदर्भजा ।
किमस्य न स्यादणिमाक्षिसाक्षिकस्तथापि तथ्यो महिमाऽऽगमोदितः ॥३८॥

तब नल ने दमयन्ती की तरफ भौंहें करके उससे ध्रुवतारे देखने के लिए कहा। क्या यह छोटा-सा ध्रुव दमयन्ती के नेत्र- गोचर नहीं था ? तो भी वेद में कही गई महिमा सत्य करनी थी ॥३८॥

धवेन सादर्शि वधूररुन्धतीं सतीमिमां पश्य गतामिवाणुताम् ।
कृतस्य पूर्वं हृदि भूपतेः कृते तृणीकृतस्वर्गपतेर्जनादिति ॥३९॥

नलने अरुंधती के तारे को दिखा कर दमयन्ती से कहा—"तुम पतिव्रता अरुंधती को देखो।" हृदय में ही नृपको धारण करके इन्द्र को तृण के समान त्याग देने वाले व्यक्ति के सामने वह लज्जा से सूख कर तिनका हो गई है ॥३९॥

प्रसूनता तत्करपल्लवस्थितैरुडुच्छविव्योम्नि विहारिभिः पथि ।
मुखेऽमराणामनले रदावलेरभाजि लाजैरनयोज्झितैर्द्युतिः ॥४०॥

दमयन्ती के कर-पल्लवों में स्थित धान्य पुष्प मालूम हुए। उसके द्वारा अग्नि में फेंके गये धान्यों ने हाथ तथा अग्निके बीच के आकाश में नक्षत्र-शोभा प्राप्त की; तथा अग्नि में उन्हों ने दंत—पंक्ति की शोभा धारण की ॥४०॥

तया प्रतीष्टाहुतिधूमपद्धतिर्गता कपोले मृगनाभिशोभिताम् ।
ययौ दृशोरञ्जनतां श्रुतौ श्रिता तमालनीलीमलिकेऽलकविता ॥४१॥

दमयन्ती के द्वारा स्वीकार की गई आहुति की धूम-परंपरा कपोलों पर कस्तूरी की, नेत्रों पर अंजन की, कर्णों पर तमाल-पल्लव की और ललाट पर घूँघरवाले बालों की शोभा को प्राप्त हुई ॥४१॥

अपहृतः स्वेदभरः करे तयोस्त्रपाजुषोर्दानजलैर्मिलन्मुहुः ।
दृशोरपि प्रस्तुतमश्रु सात्त्विकं घनैः समाधीयत धूमलङ्घनैः ॥४२॥

दोनों लज्जालुओं के हाथ में वर्तमान पसीना बार-बार संकल्प के जल से मिल कर लुप्त हो जाता था तथा नेत्रों से गिरे हुए—काम—विकार से उत्पन्न-आँसू घने धूम के आक्रमण से उत्पन्न मालूम होते थे ॥४२॥

वहूनि भीमस्य वसूनि दक्षिणां प्रयच्छतः सत्त्वमवेक्ष्य तत्क्षणम् ।
जनेषु रोमाञ्चमितेषु मिश्रतां ययुस्तयोः कण्टककुड्मलश्रियः ॥४३॥

बहुत सी दक्षिणा देने वाले भीम की दान-शीलता देख कर अत्यन्त आश्चर्य से रोमांचित हुए लोगों के बीच में दमयन्ती और नल के रोमांच रूपी कलियों की शोभा छिप गई थी ॥४३॥

बभूव न स्तम्भविजित्वरी तयोः श्रुतिक्रियारम्भपरम्परात्वरा ।
न कम्पसम्पत्तिमलुम्पदग्रतः स्थितोऽपि वह्निः समिधा समेधितः ॥४४॥

वेद की क्रिया की परंपरा की त्वरा इन दोनों के स्तंभ को नहीं जीत सकी तथा ईंधन से बढ़ी हुई सामने जलती अग्नि भी इनके कम्प का नाश नहीं कर सकी ॥४४॥

दमस्वसुः पाणिममुष्य गृह्णतः पुरोधसा संविदधेतरां विधेः ।
महर्षिणेवाङ्गिरसेन साङ्गता पुलोमजामुद्वहतः शतक्रतोः ॥४५॥

पुरोहित ने दमयन्ती का कर-ग्रहण करने वाले नल की वैवाहिक विधि अंग सहित समाप्त की जैसे शची का पाणि-ग्रहण करने वाले इन्द्र की विधि बृहस्पति ने पूरी की थी ॥४५॥

सकौतुकागारमगात् पुरन्ध्रिभिः सहस्ररन्ध्रीकृतमीक्षितुं ततः ।
अधात् सहस्राक्षतनुत्रमित्रतामधिष्ठितं यत् खलु जिष्णुनामुना ॥४६॥

फिर नल दमयन्ती की स्त्रियों के द्वारा वर-वधू की चेष्टा देखने के लिए

हजारों छेदों से युक्त कौतुकागार घरमें गया जो जयशील नल से अधिष्ठित होने के कारण इन्द्र के कवच के समान मालूम होता था ॥४६॥

तथाशनाया निरशेषि नो ह्रिया न सम्यगालोकि परस्परक्रिया ।
विमुक्तसम्भोगमशायि सस्पृहं वरेण वध्वा च यथाविधि त्र्यहम् ॥४७॥

वर-वधू दोनों ने लज्जा के कारण पेट भर कर भोजन नहीं किया तथा आपस का व्यापार भी नहीं देखा । तीन दिन तक दोनों ने विधि के अनुसार, संभोग के बिना, स्पृहा-सहित शयन किया ॥४७॥

कटाक्षणाज्जन्यजनैर्निजप्रजाः क्वचित् परीहासमचीकरत्तराम् ।
धराप्सरोभिर्वरयात्रयागतानभोजयद्भोजकुलाङ्कुरः क्वचित् ॥४८॥

(राजा भीम के पूर्वज) भोज के वंश के अङ्कुर बालक दमने कहीं तो बरातियों के साथ अपनी प्रजा के द्वारा कटाक्षों से परिहास कराया और कहीं आये हुए बरातियों को पृथ्वी की अप्सराओं के द्वारा भोजन कराया ॥४८॥

स कञ्चिदूचे रचयन्तु तेमनोपहारमत्राङ्ग ! रुचेर्यथोचितम् ।
पिपासतः काश्चन सर्वतोमुखं तवार्पयन्तामपि काममोदनम् ॥४९॥

दमने एक बराती से कहा—"अच्छा, कुछ स्त्रियों को अपनी अभिलाषा के अनुसार सालिन लाने दो । कुछ तुम्हें पानी दें क्यों कि तुम प्यासे हो । तुम चाहो तो भात भी लाने दो"

(परिहास-पूर्ण आशय) "इन स्त्रियों को यहाँ अपने अवयवों के सौन्दर्य के अनुसार अपने हृदय को आकर्षण करने दो । तुम चुंबन के अभिलाषी हो इससे कुछ स्त्रियाँ जिस तरह हो सके अपना मुँह तुम्हें दें जो कामदेव को सुखदायक है ॥४९॥

मुखेन तेऽत्रोपविशत्वसाविति प्रयाच्य सृष्टानुमतिं खलाहसत् ।
वराङ्गभागः स्वमुखं मतोऽधुना स हि स्फुटं येन किलोपविश्यते ॥५०॥

"यह मेरी सखी (या यह पुरुष) यहाँ तुम्हारे मुख से (उपाय या अनुमति) से तुम्हारे साथ भोजन के लिए बैठे ।" ऐसी प्रार्थना करने पर 'मुख से उपवेश करें (अर्थात् सामने बैठें)' ऐसी अनुमति देने वाले बराती पर वह खूब हँसी ।

हँसी का कारण यह हुआ कि जिस साधन से ('उपविश्यते') घुसा जाता है वह तो वराङ्ग भाग (गुह्यदेश) है। लेकिन इसने तो अपने मुख को ही घुसवाने का साधन माना ॥५०॥

युवामिमे मे स्त्रितमे इतीरिणौ गले तथोक्ता निजगुच्छमेकिका।
न भास्यदस्तुच्छगलो वदन्निति न्यधत्त जन्यस्य ततः पराकृषत् ॥५१॥

"तुम दोनों मेरी उत्तम स्त्रियाँ[1] हो। तुम सरीखी स्त्रियाँ नहीं देखीं"— यों कहते हुए एक बराती के गले में एक स्त्री ने अपनी माला डाल दी और दूसरी ने उसे खेंच कर कहा—"तु यों कहते में क्या बकरे के समान नहीं लगते हो ? ॥५१॥

नलाग्र वालव्यजनं विधुन्वती दमस्य दास्या निभृतं पदेऽर्पितात्।
अहासि लोकैः सरटात् पटोज्झिनी भयेन जङ्घायतिलङ्घिरंहसः ॥५२॥

नलके ऊपर मोरपंखों का पंखा करती हुई किसी सुन्दरी के चरण के पास दम की दासी ने पीछे से आकर गिरगट छुपाकर छोड़ दिया। वह उसके पैर की पूरी लम्बाई में शीघ्र ऊपर चढ़ गया। उसके भय से स्त्रीने कपड़े उतार कर फेंक दिये तब लोग उसपर खूब हँसे ॥५२॥

पुरःस्थलाङ्गूलमदात् खला वृसीमुपाविशत् तत्र ऋजुर्वरद्विजः।
पुनस्तदुत्थाप्य निजामतेर्वदाऽहसच्च पश्चात् कृतपुच्छतत्प्रदा ॥५३॥

किसी धूर्त स्त्री ने ब्राह्मणों के बैठने के लिए आगे पूँछ रखकर जानवर की खाल बिछा दी। बरात का एक सीधा ब्राह्मण उसपर बैठ गया। तब उसे उठाकर और अपना अज्ञान दिखाकर पूँछ को पीछे करके वह ब्राह्मण पर खूब हँसी ॥५३॥

स्वयं कथाभिर्वरपक्षसुभ्रुवः स्थिरीकृतायाः पदयुग्ममन्तरा।
परेण पश्चान्निभृतं न्यधापयद्ददर्श चादर्शतलं हसन् खलु ॥५४॥

किसी परिहास-चतुर मनुष्यने नल की बरात की किसी सुन्दरी को बातों

1—बराती ने कहा था—युवा मि मे मे। यह बकरे के शब्द के समान मालूम हुआ।

में लगाकर उसके दोनों पैरों के बीच में गुप्तरूपसे अपने किसी मित्र के द्वारा दर्पण रखवा दिया और फिर हँसकर दर्पण की तरफ देखा ॥५४॥

अथोपचारोद्धुरचारुलोचना विलासनिर्वासितधैर्य्यसम्पदः ।
स्मरस्य शिल्पं वरवर्गविक्रिया विलोककं लोकमहासयन् मुहुः ॥५५॥

जिनके सुन्दर नेत्र प्रीति से देखने के उत्सुक हैं, जिन्होंने अपने विलासोंसे विलासियों की धैर्य-सम्पत्ति का त्याग करा दिया है, जो कामदेव की कारीगरी का नमूना है तथा जिन के दर्शन से बरातियों को काम विकार उत्पन्न होता है, उन स्त्रियों ने देखने वालों को बार-बार हँसाया ॥५५॥

तिरोवलद्वक्त्रसरोजनालया स्मिते स्मितं यत् खलु यूनि बालया ।
तया तदीये हृदये निखाय तद्व्यधीयत सम्मुखलक्ष्यवेधिता ॥५६॥

कोई युवक अनुराग-पूर्वक हँसा; तब एक स्त्री भी हँसी और उसने अपने मुख-कमल के कंठ-नाल को एक तरफ मोड़ कर सामने न होने पर भी अपनी मुसकुराहट को उसके हृदय में गढ़ाकर निशाना लगाया ॥५६॥

कृतं यदन्यत्करणोचितत्यजा दिदृक्षु चक्षुर्यदवारि बालया ।
हृदस्तदीयस्य तदेव कामुके जगाद वार्त्तामखिलां खलं खलु ॥५७॥

किसी बाला ने अपना कर्तव्य त्यागकर अप्रस्तुत व्यापार किया। उसकी जो आँख देखने की उत्सुक थी उसे उसने रोक लिया। इस बात से ही उसके हृदय का पूरा संदेश उसके कामुक को मालूम होगया ॥५७॥

जलं ददत्याः कलितानतेर्मुखं व्यवस्यता साहसिकेन चुम्बितम् ।
पदे पतद्वारिणि मन्दपाणिना प्रतीक्षितोऽन्येक्षणवञ्चनक्षणः ॥५८॥

जलदेने के कारण झुकी हुई स्त्री का मुख किसी साहसी कामुक ने यत्न करके चुम्बन कर लिया। जब वह चरणों पर पानी गेर रही थी तब उनपर धीरे धीरे हाथ लगा कर वह समाज के नेत्रों को धोखा देने के लिए दूसरा अवसर ढूँढने लगा ॥५८॥

युवानमालोक्य विदग्धशीलया स्वपाणिपाथोरुहनालनिर्मितः ।
[illegible] ॥५९॥

किसी चतुर सुन्दरी ने एक युवक को देख कर अपनी सब कलाओं की निधि—चन्द्र के समान—सखी के ऊपर कमल-नाल रूपी हाथों से परिवेष बनाया। यद्यपि वह ढीला था पर उसकी दृष्टिमें वह गाढ़ आलिंगन मालूम हुआ ॥५९॥

नतभ्रुवः स्वच्छनखानुबिम्बनच्छलेन कोऽपि स्फुटकम्पकण्टकः।
पयो ददत्याश्चरणे भृशं क्षतः स्मरस्य बाणैः शरणे न्यविक्षत ॥६०॥

कामदेव के बाणों से अत्यन्त पीड़ित तथा कम्प और रोमाञ्च प्रकट करने वाले किसी कामीने जल देती हुई किसी नीची भौंह वाली स्त्रीके चरणों में उसके नखों पर प्रतिबिम्ब के बहाने शरण ली ॥६०॥

मुखं यदस्मायि विभज्य सुभ्रुवा ह्रियं यदालम्ब्य नतस्यमासितम्।
अवादि वा यन्मृदु गद्गदं युवा तदेव जग्राह तदाप्तिलग्नकम् ॥६१॥

एक मनोहर बाला मुँह टेढ़ा करके हँसने लगी। फिर लज्जा से मुँह नीचा करके खड़ी हो गई। फिर टूटे फूटे मधुर शब्द कहने लगी। इन तीनों बातों से एक युवक ने समझा कि उसका प्राप्त करना निश्चित है ॥६१॥

विलोक्य यूना व्यजनं विधुन्वतीमवाप्तसत्त्वेन भृशं प्रसिष्विदे।
उदस्तकण्ठेन मृषोष्मनाटिना विजित्य लज्जां ददृशे तदाननम् ॥६२॥

एक युवक पंखा करती हुई एक स्त्रीको अकस्मात् देखकर सात्विक भाव से पसीने में तर हो गया। उसने गर्मी के बहाने गर्दन ऊँची उठाई तथा लज्जा छोड़कर उसके मुँह की तरफ देखा ॥६२॥

स तत्कुचस्पृष्टकचेष्टिदोर्लताचलद्दलाभव्यजनानिलाकुलः।
अवाप नानानलजालशृङ्खलानिबद्धनीडोद्भवविभ्रमं युवा ॥६३॥

वह युवक उस स्त्रीके कुचों का स्पर्श करने वाली बाहु-लताके चञ्चल पल्लव के तुल्य पंखे की वायु से आकुल होकर बहुत से सरकण्डों से बने पिंजरों में बन्द हुए पक्षी के विलास को प्राप्त हुआ ॥६३॥

अवच्छटा कापि कटाक्षणस्य सा तथैव भङ्गी वचनस्य काचन।
यया युवभ्यामनुनाथने मिथः कृशोऽपि दूतस्य न शेषितः श्रमः ॥६४॥

वहाँ कटाक्षों के विनिमय की ऐसी परम्परा तथा वक्रोक्ति आदि के वचनोंके

ऐसी रचना थी कि जिनके कारण युवकों और युवतियों की परस्पर प्रार्थना के विषय में दूतके जरा से प्रयास की आवश्यकता नहीं थी ॥६४॥

पपौ न कोऽपि क्षणमास्यमेलितं जलस्य गण्डूषमुदीतसम्मदः ।
चुचुम्ब तत्र प्रतिबिम्बितं मुखं पुरः स्फुरन्त्याः स्मरकार्मुकभ्रुवः ॥६५॥

कोई आनंदित हुआ युवक मुखसे लगी हुई अंजली में रक्खे हुए जल को बिल्कुल न पी सका पर उसने जलमें कामदेव के धनुष के समान भौंह वाली स्त्री के मुखके प्रतिबिम्बका चुम्बन किया ॥६५॥

हरिन्मणेर्भोजनभाजनेऽर्पिते गताः प्रकोपं किल वारयात्रिकाः ।
भृतं न शाकैः प्रवितीर्णमस्ति वस्त्विषेदमेवं हरितेति बोधिताः ॥६६॥

पन्नेकी थाली सामने रखने पर बराती बहुत रुष्ट हुए तब रनवास के लोगों ने कहा—"इसमें कच्चा शाक नहीं है, इसकी हरी कान्ति से ऐसा दीखता है" ॥६६॥

ध्रुवं विनीतः स्मितपूर्ववाग्युवा किमप्यपृच्छन्न विलोकयन्मुखम् ।
स्थितां पुरः स्फाटिककुट्टिमे वधूं तदङ्घ्रियुग्मावनिमध्यबद्धदृक् ॥६७॥

एक बड़ा विनीत युवक सामने खड़ी हुई स्त्रीसे हँसकर कुछ पुछने लगा पर उसके चेहरे की तरफ नहीं देखा। उसकी आँखें स्फटिक के फर्शपर उस स्त्रीके दोनों चरणों के बीच की जगह पर लगी हुई थीं ॥६७॥

अमी लसद्बाष्पमखण्डिताखिलं वियुक्तमन्योन्यममुक्तमार्दवम् ।
रसोत्तरं गौरमपीवरं रसादभुञ्जतामोदनमोदनं जनाः ॥६८॥

बरातियों ने बड़ी रसिकता से चाँवल खाये जो जरा गरम थे, टूटे नहीं थे, आपस में जुदे जुदे थे, तथा अत्यन्त कोमल, बड़े स्वादिष्ट, सफेद, महीन और सुगन्धित थे ॥६८॥

वयोवशस्तोकविकस्वरस्तनीं तिरस्तिरश्चुम्बति सुन्दरे दृशा ।
स्वयं किल स्रस्तमुरःस्थमम्बरं गुरुस्तनी ह्रीणतराऽपराऽऽददे ॥६९॥

तारुण्य के अधीन होने से जिसके स्तन-मंडल कुछ चमक रहे थे ऐसी स्त्री को एक युवक वक्र दृष्टि से देख रहा था तब एक भारी स्तन वाली स्त्रीने

अत्यन्त लज्जित होकर अपने आप ही स्थानसे कुछ-कुछ च्युत हुए अपने स्तनों के वस्त्र को ऊपर कर लिया ॥६९॥

यदादिहेतुः सुरभिः समुद्भवे भवेद्यदाज्यं सुरभिध्रुवं ततः ।
वधूभिरेभ्यः प्रवितीर्य पायसं तदोघकुल्यातटसैकतं कृतम् ॥७०॥

स्त्रियों ने मेहमानों को दूधभात देते समय उसे ऐसा बनाया कि वह घृत प्रवाह रूपी नदी के तट पर रेती सा मालूम हुआ । घी सुगन्धित था क्योंकि उसका मूलकारण सुरभि थी ॥७०॥

यदप्यपीता वसुधालयैः सुधा तदप्यदः स्वादु ततोऽनुमीयते ।
अपि क्रतूषर्बुधदग्धगन्धिने स्पृहां यदस्मै दधते सुधान्धसः ॥७१॥

यद्यपि मनुष्यों ने अमृत नहीं पिया है तो भी घी अमृत से अधिक स्वादिष्ट समझा जाता है क्योंकि अमृत पीने वाले देवता तक, यज्ञ की अग्नि से गंध नष्ट होने पर भी, घी की इच्छा करते हैं ॥७१॥

अबोधि नो ह्रीनिभृतं मदिङ्गितं प्रतीत्य वा नादृतवत्यसाविति ।
लुनाति यूनः स्म धियं कियद्गता निवृत्य बालादरदर्शनेषुणा ॥७२॥

इस बाला ने क्या लज्जा के कारण मेरी चेष्टा को नहीं समझा ? अथवा समझ कर भी उसका आदर नहीं किया ! इस तरह की—एक युवक—की बुद्धि को मार्ग में जाती हुई बाला ने लौटकर सादर कटाक्ष के बाण से नष्ट कर दिया ॥७२॥

न राजिकाराद्धमभोजि तत्र कैर्मुखेन सीत्कारकृता दधद्दधि ।
धुतोत्तमाङ्गैः कटुभावपाटवादकाण्डकण्डूयितमूर्धतालुभिः ॥७३॥

वहाँ काले तिल से बनाये दधि-मिश्रित व्यंजन को चरपरा होने के कारण किसने मुखसे सीत्कार करके नहीं खाया, अपने शिर को नहीं हिलाया तथा तालुको नहीं खुजाया ? ॥७३॥

वियोगिदाहाय कटूभवत्त्विषस्तुषारभानोरिव खण्डमाहृतम् ।
सितं मृदु प्रागथ दाहदायि तत् खलः सुहृत्पूर्वमिवाहितस्ततः ॥७४॥

वह व्यञ्जन सफेद था—पहले कोमल और बाद में चरपरा—मानों खल

किरण वाले चन्द्रमासे लाया गया अंश था जिसकी किरणें वियोगियों को जलाने के लिए तीक्ष्ण हो जाती हैं। वह कपटी मनुष्य के समान था जो पहले मित्र होता है पर बाद में शत्रु हो जाता है ॥७४॥

नवौ युवानौ निजभावगोपिनावभूमिषु प्राग्विहितभ्रमिक्रमः।
दृशोर्विधत्तः स्म यदृच्छया किल त्रिभागमन्योन्यमुखे पुनः पुनः ॥७५॥

वयःसन्धि में वर्तमान तथा अपना अनुराग छिपाने वाले किसी नये स्त्री-पुरुष ने अनेक प्रकार की वस्तुओं में नेत्रों को पहले निरर्थक भ्रमण कराकर फिर उनके तीसरे भाग अर्थात् कटाक्ष को आपस में एक दूसरे के मुँह पर बारबार रक्खा ॥७५॥

व्यधुस्तमां ते मृदुमांससाधितं रसादशित्वा मृदु तेमनं मनः।
निशाधवोत्सङ्गकुरङ्गजैरदः पलैः सपीयूषजलैः किमश्रपि ॥७६॥

महमान हिरन के माँस से राँधे गये मृदु सालन को प्रीति से खाकर मनमें सोचने लगे "यह सालन चन्द्रमा के उत्संग में वर्तमान हिरन के माँस में बनाया गया है क्या, क्योंकि इसमें अमृत का रस है ? ॥७६॥

परस्पराकूतजदूतकृत्ययोरनङ्गमाराद्धुमपि क्षणं प्रति।
निमेषणेनैव कियच्चिरायुषा जनेषु यूनोरुदपादि निर्णयः ॥७७॥

आपस की चेष्टाओं से ही दूती का काम करने वाले किसी तरुण स्त्री-पुरुषने कुछ देर तक नेत्र बन्द कर के लोगों के मन में यह निश्चय पैदाकर दिया कि कामदेव की पूजा का समय हो गया है ॥७७॥

अहर्निशा वेति रताय पृच्छति क्रमोष्णशीतान्नकरार्पणाद्विटे।
ह्रिया विदग्धा किल तन्निषेधिनी न्यधत्त सन्ध्यामधुरेऽधरेऽङ्गुलिम् ॥७८॥

किसी कामुक ने रतिके लिए दिन या रात्रि के क्रम से गरम और ठंडे अन्न के ऊपर हाथ रखकर किसी चतुर स्त्री से पूछा तब उसने लज्जा के कारण इशारे से ही निषेध करके सन्ध्या के समान मधुर अधर के ऊपर उँगली रक्खी ॥७८॥

कियत् त्यजन्नोदनमानयन् कियत् करस्य पप्रच्छ गतागतेन याम्।
अहं किमश्यामि किमश्यसीति सा व्यधत्त मन्त्रं किल रञ्जयाननम् ॥७९॥

एक मिहमान ने थाली में चावल तो छोड़ दिये, कुछ वह अपनी तरफ लाया। इस तरह हाथ के आगे आने और पीछे जाने से उसने एक स्त्री से पूछा कि मैं तुम्हारे पास आऊँगा या तुम मेरे पास आओगी। तब उसने लज्जा से सिर नीचा कर लिया ॥७९॥

यथामिषे जग्मुरनामिषभ्रमं निरामिषे चामिषमोहमूहिरे।
तथा विदग्धैः परिकर्मनिर्मितं विचित्रमेते परिहस्य भोजिताः ॥८०॥

बराती जिस प्रकार माँस में मांस-रहित अन्न का तथा अनामिष भोजन में माँस का भ्रम करें उसी प्रकार अत्यन्त कुशल रसोइयें बरातियों को अनेक द्रव्यों से विचित्र अन्न हँस कर देने लगे ॥८०॥

नखेन कृत्वाधरसन्निभां निभाद् युवा मृदुव्यञ्जनमांसफालिकाम्।
ददंश दन्तैः प्रशशंस तद्रसं विहस्य पश्यन् परिवेषिकाधरम् ॥८१॥

किसी बहाने से माँस के कोमल टुकड़े को नख से अधर का रूप देता हुआ कोई युवक उसे दाँतों से काटने लगा और उसकी प्रशंसा करने लगा। उस समय वह परिवेषिका के अधर को देख कर हँसा ॥८१।

अनेकसंयोजनया तदा कृतेर्निकृत्य निष्पिष्य च तादृगर्जनात्।
अमी कृताकालिकवस्तुविस्मयं जना बहु व्यञ्जनमभ्यवाहरन् ॥८२॥

बरातियों ने अनेक प्रकार के व्यंजनों का भोजन किया। बहुत सी वस्तुएँ कुऋतु की थीं। किसी को बहुत से मसाले मिलाकर विशेष रूप दिया गया था। किसी को काट कर और रस निचोड़ कर स्वादिष्ट बनाया गया था। इस पर सबको विस्मय होता था ॥८२॥

पिपासुरस्मीति विबोधिता मुखं निरीक्ष्य बाला सुहितेन वारिणः।
पुनः करे कर्त्तुमना गलन्तिकां हसात् सखीनां सहसा न्यवर्त्तत ॥८३॥

जल से तृप्त हुआ एक बराती एक बाला का मुँह देख कर कहने लगा कि मैं प्यासा हूँ। तब अभिप्राय नहीं समझने वाली बाला ने फिर हाथ में झारी लेनी चाही लेकिन अन्य चतुर सखियों के हँसने से झट उसने अपना उद्योग छोड़ दिया ॥८३॥

युवा समादित्सुरमत्रगं घृतं विलोक्य तत्रैणदृशोऽनुबिम्बनम् ।
चकार तन्नीविनिवेशिनं करं बभूव तच्च स्फुटकण्टकोत्करम् ॥८४॥

पात्र में रक्खे हुए घी को लेने के उत्सुक किसी युवक ने सामने खड़ी हुई मृगाक्षी का प्रतिबिम्ब घी में देखा । उसने प्रतिबिम्ब की नाभि पर अपना हाथ लगाया जिससे प्रतिबिम्ब रोमांचित हो गया ॥८४॥

प्रलेहजस्नेहकृतानुबिम्बनां चुचुम्ब कोऽपि श्रितभोजनच्छलः ।
मुहुः परिस्पृश्य कराङ्गुलीमुखैस्ततो नु रक्तैः स्वमवापितैर्मुखम् ॥८५॥

किसी बराती ने पुलाव खाना चाहा और उसके तेल पर जो स्त्री का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था उसका चुम्बन किया तथा अपनी उँगली के पोरुओं से बार-बार प्रतिबिम्ब स्पर्श किया जिससे उसके मुँह में जाने पर रक्त हो गया ॥८५॥

अराधि यन्मीनमृगाजपत्रिजैः पलैर्मृदु स्वादु सुगन्धि तेमनम् ।
अशाकि लोकैः कुत एव जेमितुं न तत्तु सङ्ख्यातुमपि स्म शक्यते ॥८६॥

मछली से तथा हिरन, बकरी और पक्षियों के मांस से मृदु, स्वाद तथा सुगंधित सालन इतनी तरह का था कि लोग उसे गिनने में असमर्थ थे; फिर खाने की तो बात ही क्या है ? ॥८६॥

कृतार्थनश्चाटुभिरिङ्गितैः परा परासि यः किञ्चनकुञ्चितभ्रुवा ।
क्षिपन्मुखे भोजनलीलयाङ्गुलीः पुनः प्रसन्नाननयाऽन्वकम्पि सः ॥८७॥

भौंहें कुछ टेढ़ी करके किसी स्त्री ने चेष्टाओं से तथा प्रिय वचन कहकर प्रार्थना करने वाले मेहमान को पहले अस्वीकार किया था पर उसे ग्रास के बहाने मुख में उँगली देता देखकर उसने फिर प्रसन्न होकर अनुग्रह किया ॥८७।

अकारि नीहारनिभं प्रभञ्जनादधूपि यच्चागुरुसारदारुभिः ।
निपीय भृङ्गारुकसङ्गि तत्र तैरवर्णि वारि प्रतिवारमीदृशम् ॥८८॥

जो सोने की झारी में रक्खा हुआ जलवायु के संयोग से बर्फ के समान ठंढा तथा काले अगर के धूम से सुगन्धित हो गया था उसे पीकर बार बार मेहमानों ने यों कहा—॥८८॥

१—काल, अनुरक्त ।

त्वया विधातर्यदकारि चामृतं कृतञ्च यज्जीवनमम्बु साधु तत् ।
वृथेदमारम्भि तु सर्वतोमुखस्तथोचितः कर्त्तुमिदंपिबस्तव ।'८९'।

"हे विधाता, तुमने जल का नाम अमृत[1] रक्खा और इसे जीवन् बनाया यह ठीक किया पर इसकी सर्वतोमुख[2] संज्ञा वृथा बनाई क्योंकि जो उसे पीते हैं उनको भी वैसा ही होना चाहिए था ॥८९॥

सरोजकोशाभिनयेन पाणिना स्थितेऽपि कूरे मुहुरेव याचते ।
सखि ! त्वमस्मै वितर त्वमित्युभे मिथो न वादाददतुः किलौदनम् ॥९०॥

दो सखियों ने इस तरह के विवाद से एक महमान को चाँवल नहीं दिये—"हे सखी, इन को भात देदो ।" "तुम ही देदो" उस महमान का हाथ कमल के कोष के आकार का था और उसके पास काफी चाँवल थे तो भी वह बराबर माँगता जाता था ॥९०॥

इयं कियच्चारुकुचेति पश्यते पयःप्रदाया हृदयं समावृतम् ।
ध्रुवं मनोज्ञा व्यतरद्यदुत्तरं मिषेण भृङ्गारधृतेः करद्वयी ॥९१॥

एक महमान ने पानी देने वाली एक स्त्रीके—वस्त्रों से ढँके—हृदय को देखकर सोचा—"इसके सुन्दर कुच कितने बड़े हैं ?" तब उसके दोनों हाथों ने झारी धारण करने के बहाने उसके प्रश्न का उत्तर दे दिया ॥९१॥

अमीभिराकण्ठमभोजि तद्गृहे तुषारधारामृदितेव शर्करा ।
हयद्विषद्वष्कयणीपयःसुतं सुधाह्रदात् पङ्कमिवोद्धृतं दधि ॥९२॥

बरातियों ने राजा भीम के यहाँ गले तक पेट भरकर शर्करा का शर्बत पिया जिसमें बरफ़ मिली मालूम होती थी तथा बाखरी (बकेना) भैंस के दूध से जमाया हुआ—सुधाके जलाशय से निकाली गई कीचड़ के समान—दही भी खाया ॥९२॥

तदन्तरन्तः सुषिरस्य विन्दुभिः करम्बितं कल्पयता जगत्कृता ।
इतस्ततः स्पष्टमचोरि मायिना निरीक्ष्य तृष्णाचलजिह्वताभृता ॥९३॥

१—अमृत और जीवन दोनों जलके पर्याय हैं ।

२—सर्वतोमुख = जिसका मुख सब दिशाओं में हो । जल का स्वाद और अच्छी तरह लेनेके लिए बराती एक से अधिक मुख चाहते थे ।

दही को देखकर विधाता की जीभ तृष्णा से लपलपाने लगी और उसने माया से दही के हिस्से इधर उधर से साफ चुरा लिये जिससे दही में आर-पार छेदोंके निशान हो गये ॥९३॥

ददासि मे तन्न रुचेर्यदास्पदं न यत्र रागः सितयापि किं तया ।
इतीरिणे विम्बफलं पलच्छलाद्ददावि विम्बाधरयारुचच्च तत् ॥९४॥

"हे बिम्बोष्ठी, जिस वस्तु में मेरी प्रीति है वह मुझे दो। मुझे शर्करा का क्या करना है क्योंकि इसमें राग[१] तो ही नहीं?" यों कहने वाले एक मनुष्य को विंब फल के समान अधर वाली एक सुन्दरी ने मांस के खण्ड को बिम्ब के आकार का बनाकर दिया जो उसे अच्छा मालूम हुआ ॥९४॥

समं ययोरिङ्गितवान् वयस्ययोस्तयोर्विहायोपहृतप्रतीङ्गिताम् ।
अकारि नाकूतमवारि सा यया विदग्धयाऽरञ्जि तयैव भाववित् ॥९५॥

एक मनुष्य ने दो सखियों से एक साथ इशारे किये, उनमें से जिसने उसकी अभिलाषा को अंगीकार करने का इशारा किया उसको छोड़कर जिस चतुर सखी ने उसकी तरफ इशारा नहीं किया तथा पहली को भी इशारा करने से मना कर दिया उसको उसने पंसद किया ॥९५॥

सखीं प्रति स्माह युवेङ्गितेक्षिणी क्रमेण तेऽयं क्षमते न दित्सुताम् ।
विलोम तद्व्यञ्जनमर्प्यते त्वया वरं किमस्मै न नितान्तमर्थिने ॥९६॥

एक मनुष्य की चेष्टा देखती हुई सखी ने अपनी सखी से कहा—"हे सखी, तुम इस मनुष्य को एक के बाद दूसरा व्यञ्जन देती हो। इसको यह सहन नहीं कर सकता। इस कारण तुम अत्यन्त चंचलता से प्रार्थना करने वाले इस युवक को एक साथ सब व्यंजन क्यों नहीं दे देती हो?" ॥९६॥

समाप्तिलिप्येव भुजिक्रियाविधेर्दलोदरं वर्तुलयाऽऽलयीकृतम् ।
अलङ्कृतं क्षीरवटैस्तदश्नतां रराज पाकार्पितगैरिकश्रिया ॥९७॥

सब से पीछे थालियों में भूनने में लाल हुए लड्डू परोसे गये मानो किसी ताल पत्र पर लिखी पोथी के सबसे पिछले पृष्ठ के बीच में गोल गोल लाल

१—रंग, अनुराग।

घेरे बनाये गये हों। उनसे प्रगट होता था कि खाने वाले भोजन समाप्त कर चुके हैं ॥९७॥

चुचुम्ब नोर्वीवलयोर्वशीं परं पुरोऽधिपारि प्रतिबिम्बितां विटः।
पुनःपुनः पानकपानकैतवाच्चकार तच्चुम्बनचुङ्कृतान्यपि ॥९८॥

किसी कामुक ने सामने शराब से भरे सोने के प्याले में प्रतिबिम्बित हुई उर्वशी के समान सुन्दर स्त्री का केवल चुम्बन ही नहीं किया पर बार बार शराब पीने के बहाने चुंबन के सम्बन्धी चुं चुं शब्द भी किये ॥९८॥

घनैरमीषां परिवेषकैर्जनैरवर्षि वर्षोपलगोलकावली।
चलद्भुजाभूषणरत्नरोचिषा धृतेन्द्रचापैः श्रितचन्द्रसौरभा ॥९९॥

परिवेषकों ने, जो मेघों के समान चंचल भुजाओं के भूषणों के रत्नों की कान्ति से इन्द्र-चाप धारण करते थे, महमानों के सामने लड्डुओं की बर्षा की जिनमें कपूर की सुगंध थी मानों वे ओले थे जो रात्रिमें चन्द्र की तथा दिन में सूर्य की कान्ति धारण करते थे ॥९९॥

कियद्बहु व्यञ्जनमेतदर्प्यते ममेति तृप्तैर्वदतां पुनःपुनः।
अमूनि सङ्ख्यातुमसावढौकि तैश्छलेन तेषां कठिनीव भूयसी ॥१००॥

महमान तृप्त होकर बारबार यों कहने लगे—"कितने व्यञ्जन इमे दिये जायँगे ?" इस पर परिवेषकों ने व्यंजनों के गिनने के लिये बहुत से लड्डू मानों खड़िया के समान दिये ॥१००॥

विदग्धबालेङ्गितगुप्तिचातुरीप्रवह्लिकोत्पाटनपाटवे हृदः।
निजस्य टीकां प्रबबन्ध कामुकः स्फुटशङ्किराकूतशतैस्तदौचितीम् ॥१०१॥

कोई कामुक—जिसने एक चतुर बाला के इशारे गुप्त रखने के कौशल की पहले भली भाँति हल कर ली थी—चतुरता के अनुरूप बहुत से इशारों से अपने हृदयकी टीका करने लगा अर्थात् युवती के दुर्बोध संकेत को समझकर उसके उपयुक्त संकेत करने लगा ॥१०१॥

घृतप्लुते भोजनभाजने पुरः स्फुरत्पुरन्ध्रिप्रतिबिम्बिताकृतेः।
युवा निधायोरसि लड्डुकद्वयं नखैर्लिलेखाथ ममर्द निर्दयम् ॥१०२॥

एक युवक ने घी भरे पात्र में आगे खड़ी हुई स्त्री के प्रतिबिम्ब की आकृति की छाती पर दो लड्डु रख कर उनपर नखों से कुछ लिखा और निर्दय होकर उसको मसल डाला ।।१०२॥

विलोकिते रागितरेण सस्मितं ह्रियाऽथ वैमुख्यमिते सखीजने ।
तदालिरानीय कुतोऽपि शार्करीं करे ददौ तस्य विहस्य पुत्रिकाम् ॥१०३॥

कोई कामुक एक सखी की तरफ मुसकुराहट से देखने लगा तब उसने अपना चेहरा मोड़ लिया लेकिन उसकी सखी कहीं से शर्करा की गुड़िया ले आई और उसने हँसकर गुड़िया युवक के हाथ में दे दीं ॥१०३॥

निरीक्ष्य रम्याः परिवेषिका ध्रुवं न भुक्तमेवैभिरवाप्ततृप्तिभिः ।
अशक्नुवद्भिर्बहुभुक्तवत्तया यदुज्झिता व्यञ्जनपुञ्जराशयः ॥१०४॥

बहुत आहार करने के कारण ज्यादा खाने के लिए असमर्थ हुए बरातियों ने व्यञ्जनों के ढेर के ढेर छोड़े जिनसे ऐसा मालूम हुआ कि उन्हों ने कुछ नहीं खाया—वे केवल परिवेषिकाओं को देख कर ही तृप्त हो गये थे ॥१०४॥

पृथक्प्रकारेङ्गितशंसिताशयो युवा ययोदासि तयापि तापितः ।
ततो निराशः परिभावयन् परामये ! तयाऽतोषि सरोषयैव सः ॥१०५॥

एक युवक—जिसने अनेक प्रकार की चेष्टाओं से अपना आशय प्रकट कर दिया था—स्त्रीके द्वारा जवाब में इशारे से सम्भावित नहीं किया गया तथा पीड़ित किया गया तब निराश होकर उसने अन्य स्त्रीकी तरफ देखा। फिर तो पहली स्त्री ने ही उसे सन्तुष्ट कर दिया, यद्यपि वह प्रसन्न हो गई थी ॥१०५॥

पयःस्मिता मण्डपमण्डनाम्बरा वटाननेन्दुः पृथुलड्डुकस्तनी ।
पदं रुचेर्भोज्यभुजां भुजिक्रिया प्रिया बभूवोज्ज्वलकूरहारिणी ॥१०६॥

भोजन-क्रिया महमानों को स्त्री के समान तृप्ति कारक हुई,-दूधही उसका हास्य, अपूप ही अलङ्कार-युक्त अम्बर, छोटे छोटे लड्डू ही चन्द्र-मुख, मिठाई के बड़े बड़े लड्डू स्तन तथा उज्ज्वल भात मोतियों की माला थे ॥१०६॥

चिरं युवाकूतशतैः कृतार्थनश्चिरं सरोषेङ्गितया च निर्धुतः ।
सुजन करक्षालनलीलयाञ्जलीनसेचि किञ्चिद्विधुताम्बुधारया ॥१०७॥

एक युवक ने हजारों इशारे करके बहुत देर तक प्रार्थना करी पर स्त्री ने क्रोध करके बारबार उसका निराकरण किया। लेकिन जब युवक ने धोने के लिये दोनों हाथ जोड़े तब पानी की धार जरा टेढ़ी करके उसने युवक को भिगो दिया ॥१०७॥

न षड्विधः षिड्गजनस्य भोजने तथा यथा यौवतविभ्रमोद्भवः।
अपारशृङ्गारमयः समुन्मिषन् भृशं रसस्तोषमधत्त सप्तमः ॥१०८॥

भोजन के समय रसिक कामुकों को छह प्रकार के रस से इतना तोष नहीं हुआ जितना सातवें रस से हुआ जो स्त्री संघ के विलास से उत्पन्न हुआ था, अपार शृंगार मय था तथा यथेच्छ क्रीड़ा करता था ॥१०८॥

मुखे निधाय क्रमुकं नलानुगैरथोज्झि पर्णालिरवेक्ष्य वृश्चिकम्।
दमार्पितान्तर्मुखवासनिर्मितं भयाविलैः स्वभ्रमहासिताखिलैः ॥१०९॥

ताम्बूल मुँह में रखने के बाद जब बरातियों ने देखा कि दम ने उसके भीतर मसाले से बना हुआ एक बिच्छू रख दिया है तब उन्होंने पान थूक दिया। वे डर गये थे इससे उनकी गलती पर सब हँसे ॥१०९॥

अमीषु तथ्यानृतरत्नजातयोर्वराद्वराद्वचारुनितान्तचारुणोः।
स्वयं गृहाणैकमिहेत्युदीर्य्य तद् द्वयं ददौ शेषजिघृक्षवे हसन् ॥११०॥

राजा भीम ने—सुन्दर और अति सुन्दर—सच्चे और झूठे रत्नों के ढेर सामने रख कर बरातियों से कहा कि इनमें से जिसे तुम चाहो लेलो। बरातियों ने झूठे रत्न लेने चाहे तब राजा ने दोनों ढेर उन्हें दे दिये ॥११०॥

इति द्विकृत्वः शुचिमृष्टभोजिनां दिनानि तेषां कतिचिन्मुदा ययुः।
द्विरष्टसंवत्सरवारसुन्दरीपरीष्टिभिस्तुष्टिमुपेयुषां निशि ॥१११॥

इस तरह दो दो बार पवित्र और मीठे व्यञ्जन खाकर बरातियों के कुछ दिन हर्ष से कटे। रातमें सोलह सोलह वर्ष की वेश्याएँ अपनी परिचर्या से उन्हें संतुष्ट करती थीं ॥१११॥

उवास वैदर्भगृहेषु पञ्चषा निशाः कृशाङ्गीं परिणीय तां नलः।
अथ प्रतस्थे निषधान् सहानया रथेन वार्ष्णेयगृहीतरश्मिना ॥११२॥

दमयन्ती का विवाह करके नल राजा भीम के घर पाँच छह रात रहा। सातवें दिन वार्ष्णेय सारथि से युक्त रथ में बैठ कर वह दमयन्ती के साथ निषध को रवाना हुआ ॥११२॥

परस्य न स्प्रष्टुमिमामधिक्रिया प्रिया शिशुः प्रांशुरसाविति ब्रुवन्।
रथे स भैमीं स्वयमध्यरूरुहन्न तत् किलाश्लिक्षदिमां जनेक्षितः ॥११३॥

"इसे स्पर्श करने का अधिकार मेरे सिवाय अन्य किसी को नहीं है। यह छोटी है और रथ ऊँचा है।" यों कहकर नल ने दमयन्ती को रथ पर चढ़ाया लेकिन लोग देख रहे थे इस कारण क्या उसका आलिंगन नहीं किया ? ॥११३॥

इति स्मरः शीघ्रमतिश्चकार तं वधूं च रोमाञ्चभरेण कर्कशौ।
स्खलिष्यति स्निग्धतनुः प्रियादियं म्रदीयसी पीडनभीरुदोर्युगात् ॥११४॥

"दमयन्ती सुकुमार और चिकनी है इस कारण नल के हाथों में से फिसल जायगी। वह अपनी बाहुओं से उसे कड़ा पकड़ने में डरता है" यह सोचकर त्वरित-बुद्धि कामदेव ने नल और दमयन्ती की त्वचाओं को रोमाञ्चों के भार से कर्कश कर दिया ॥११४॥

तथा किमाजन्मनिजाङ्कवर्धितां प्रहित्य पुत्रीं पितरौ विषेदतुः।
विसृज्य तौ तं दुहितुः पतिं यथा विनीततालक्षगुणीभवद्गुणम् ॥११५॥

क्या दमयन्ती के माता-पिता नल को विदा करके उतने ही दुःखी हुए जितने वे जन्म से अपनी गोदी में संवर्द्धित हुई दमयन्ती को विदा करके हुए ? विनय के कारण नल के गुण लाख गुने बढ़ गये थे ॥११५॥

निजादनुव्रज्य स मण्डलावधेर्नलं निवृत्तौ चटुलापतां गतः।
तडागकल्लोल इवानिलं तटाद्धृताननतिर्व्यावर्तत वराटराट् ॥११६॥

राजा भीम ने नल को पहुँचा कर अपने मण्डल की सीमा से लौटते में नल से प्रिय भाषण करके उसका नमस्कार स्वीकार किया और वह अपने महलों को इस तरह लौटा जैसे वायु के पीछे जाकर तट से लौटा हुआ किसी सरोवर का चंचल कल्लोल हो ॥११६॥

पितात्मनः पुण्यमनापदः क्षमा धनं मनस्तुष्टिरथाखिलं नलः ।
अतः परं पुत्रि! न कोऽपि तेऽहमित्युदस्त्रुरेष व्यसृजन्निजौरसीम् ॥११७॥

अश्रु-पूर्ण नेत्रों से युक्त हो यों कहकर राजा ने अपनी कन्या को बिदा किया "हे पुत्री, अब तुम्हारा पुण्य ही तुम्हारा पिता है, तुम्हारी क्षमा ही आपत्ति-नाशक उपाय है, संतोष ही धन है और नल तुम्हारा सब कुछ है। अब से मैं तुम्हारा कोई नहीं हूँ" ॥११७॥

प्रियः प्रियैकाचरणाच्चिरेण तां पितुः स्मरन्तीमचिकित्सदाधिषु ।
यथास्त तन्मातृवियोगवाडवः स तु प्रियप्रेममहाम्बुधावपि ॥११८॥

प्रिय नल ने जो कुछ वह चाहती थी केवल वही करके पिता का प्रेम से स्मरण करती दमयन्ती की पीड़ा को मिटा दिया लेकिन उसका मातृ-वियोग रूपी बड़वानल नल के प्रेम रूप महासमुद्र में भी कायम रहा ॥११८॥

असौ महीभृद्बहुधातुमण्डितस्तया निजोपत्यकयेव कामपि ।
भुवा कुरङ्गेक्षणदन्तिचारयोर्बभार शोभां कृतपादसेवया ॥११९॥

राजा नल ने नाना रत्नों से अलंकृत होकर दमयन्ती के साथ इस तरह शोभा धारण की जैसे उपत्यका से पर्वत की शोभा होती है। दमयन्ती के नेत्र हिरन के समान थे और गति हाथी के समान थी। वह भर्ता की पाद-सेवा करती थी। पर्वत बहुत सी गैरिक आदि धातुओं से मंडित होता है। उपत्यका पर हिरन दिखते हैं तथा वहीं हाथी भक्षण करते हैं। प्रत्यन्त-पर्वत उसकी सेवा करते हैं ॥११९॥

तदेकतानस्य नृपस्य रक्षितुं चिरोढया भावमिवात्मनि श्रिया ।
विहाय सापत्न्यमरञ्जि भीमजा समग्रतद्वाञ्छितपूर्तिवृत्तिभिः ॥१२०॥

चिरकाल से धारण की गई राज्य-लक्ष्मी ने दमयन्ती में आसक्त हुए राजा का मानों अपने ऊपर अनुराग स्थिर करने के लिए ईर्ष्या छोड़ कर दमयन्ती के सब वाञ्छित पदार्थों की पूर्ति करने का उपाय करके दमयन्ती को सन्तुष्ट किया ॥१२०॥

मसारमालावलितोरणां पुरं निजाद्वियोगादिव लम्बितालकाम् ।
... पश्यामिव नैषधः ... ॥१२१॥

राजा नल ने अपनी राजधानी को प्रिया की तरह देखा जिसमें नीलम की मालाओं के तोरण लगे थे मानो उसके वियोग से अलक लंबे हो रहे थे। वह बहुत ऊँचे घरों से मानों गर्दन उठाकर उसे देख रही थी ॥१२१॥

पुरीनिरीक्ष्यान्यमना मनागिति प्रियाय भैम्या निभृतं विसर्जितः ।
ययौ कटाक्षः सहसा निवर्त्तिना तदीक्षणेनार्द्धपथे समागमम् ॥१२२॥

"राजा नल पुरी देखने के लिए व्यग्र हो रहा है"—इस बुद्धि से दमयन्ती ने उसे देखने के लिए गुप्त रूप से अपना कटाक्ष फेंका पर पुरी को बिना देखे ही शीघ्र लौटे हुए नल के कटाक्ष के साथ आधे रास्ते में ही उसका सम्बन्ध हो गया ॥१२२॥

अथ नगरधृतैरमात्यरत्नैः पथि समियाय स जाययाऽभिरामः ।
मधुरिव कुसुमश्रिया सनाथः क्रममिलितैरलिभिः कुतूहलोत्कैः ॥१२३॥

फिर दमयन्ती की संगति से मनोहर राजा नल नगर से आये हुए-कौतूहल से उत्कंठित—अमात्य-रत्नों से रास्ते में मिला जैसे फूलों की शोभा से रमणीय वसन्त क्रम से आये हुए भ्रमरों से संयोग करता है ॥१२३॥

कियदपि कथयन् स्ववृत्तजातं श्रवणकुतूहलचञ्चलेषु तेषु ।
कियदपि निजदेशवृत्तमेभ्यः श्रवणपथं स नयन् पुरीं विवेश ॥१२४॥

राजा नल ने सुनने के कुतूहल से चञ्चल मन्त्रियों से अपना कुछ वृत्तान्त कहकर तथा अपने देश का कुछ हाल उनसे सुनकर नगरी में प्रवेश किया ॥१२४॥

अथ पथि पथि लाजैरारमनो बाहुवल्ली-
मुकुलकुलसकुल्यैः पूजयन्त्यो जयेति ।
क्षितिपतिमुपनेमुस्तं दधाना जनाना-
ममृतजलमृणालीसौकुमार्य्यं कुमार्य्यः ॥१२५॥

हर रास्ते में अमृत रूपी जलमें उत्पन्न हुई मृणाली के समान सुकुमार-नागरिकों की—कुमारियों ने "आपकी जय हो" यों कहकर प्रणाम किया तथा खीलों से उसकी पूजा की जो उनकी भुज-लताओं से निकले कलिका-वृन्द मालूम होते थे ॥१२५॥

अभिनवदमयन्तीकान्तिजालावलोक-
प्रवणपुरपुरन्ध्रीवक्त्रचन्द्रान्वयेन ।
निखिलनगरसौधाट्टावलीचन्द्रशाला:
क्षणमिव निजसञ्ज्ञां सान्वयामन्वभूवन् ॥१२६॥

क्षणभर के लिए पूरी नगरी के घरों के सबसे ऊपर बनी हुई चन्द्र-शालाओं ने अपना नाम सार्थक किया क्योंकि उनका नई ब्याही हुई दमयन्ती की शोभा देखने की उत्सुक—नागरिकों की—स्त्रियों के मुख-चन्द्रों के साथ संबंध हो गया था ॥१२६॥

निषधनृपमुखेन्दुश्रीसुधां सौधवाता-
यनविवरगरश्मिश्रेणिनालोपनीताम् ।
पपुरसमपिपासापांसुलत्वोत्परागा-
ण्यखिलपुरपुरन्ध्रीनेत्रनीलोत्पलानि ॥१२७॥

नगर की सब स्त्रियों के नेत्र रूपी नीले कमल—जो अत्यन्त प्यास के कारण शुष्क हो जाने से व्याकुल थे—राजा नल के मुख-चन्द्रकी शोभा रूप सुधा का पान करने लगे। वह सुधा महलों की खिड़कियों के छेदों से बाहर जाती हुई नयन-किरण-पंक्ति रूप कमल-नाल-दंडों के द्वारा नेत्रों के समीप लाई[1] गई थी ॥१२७॥

अवनिपतिपथाट्टस्त्रैणमणिप्रवाल-
स्खलितसुरभिलाजव्याजभाजः प्रतीच्छन् ।
उपरिकुसुमवृष्टीरेष वैमानिकाना-
मभिनवकृतभैमीसौधभूमिं विवेश ॥१२८॥

कौतुक देखने के लिए आकाश में स्थित देवताओं से फेंके गये पुष्पों को स्वीकार करके तथा सड़क पर दूकानों के ऊपर गौख में खड़ी हुई स्त्रियों के कर-प्रवालसे गिरी हुई सुगंधित खीलें ग्रहण करके नल ने दमयन्ती के लिए नये बनाये गये महल में प्रवेश किया ॥१२८॥

१ – आशय यह है कि स्त्रियों ने खिड़कियों के छेदों से नल-मुख-शोभा को आदर देखा।

इति परिणयमित्थं यानमेकत्र याने
दरचकितकटाक्षप्रेक्षणं चानयोस्तत् ।
दिवि दिविषदधीशाः कौतुकेनाविलोक्य
प्रणिदधुरिव गन्तुं नाकमानन्दसान्द्राः ॥१२९॥

दमयन्ती का नल के साथ विवाह, उनकी एक ही रथ में यात्रा तथा उनके कुछ भय-पूर्ण कटाक्ष-इन सब को आकाश में से कौतुक से देखने के बाद देवताओं ने भी हर्ष से स्वर्ग में जाने का इरादा किया ॥१२९॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
काश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विद्भिर्महा-
काव्ये तद्भुवि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत् षोडशः ॥१३०॥

कविराजों की पंक्ति के मुकुटों के अलंकार रूप हीरे श्री हीर नामक पिता तथा मामल्लदेवी नामक माता ने जिसे जन्म दिया उसके—चतुर्दश विद्याओं के ज्ञाता काश्मीरी पंडितों के द्वारा पूजित—नैषध-चरित महाकाव्य में सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१३०॥

सप्तदशः सर्गः ।

अथारभ्य वृथाप्रायं धरित्रीधावनश्रमम् ।
सुराः सरस्वदुल्लोललीला जग्मुर्यथागतम् ॥ १ ॥

तब स्वर्ग जाने के विचार के अनन्तर देवता, पृथ्वी पर आने का श्रम व्यर्थ समझ कर, जैसे आये थे वैसे ही इस तरह स्वर्ग को गये जैसे समुद्र की तरंगें तट तक आकर फिर लौट जाती हैं ॥१॥

भैमीं पत्ये भुवस्तस्मै चिरं चित्ते धृतामपि ।
विद्यामिव विनीताय न विषेदुः प्रदाय ते ॥ २ ॥

चित्त में बहुत काल से बसी हुई दमयन्ती नल को देकर भी देवताओं

को पश्चात्ताप नहीं हुआ जैसे चिरकाल तक अभ्यास की गई विद्या विनीत शिष्य को देकर कोई विषाद नहीं करता है ॥ २॥

कान्तिमन्ति विमानानि भेजिरे भासुराः सुराः ।
स्फटिकाद्रेस्तटानीव प्रतिविम्बा विवस्वतः ॥ ३ ॥

कैलास के तटों पर सूर्य के कान्ति-युक्त प्रतिबिम्बों के समान कान्ति-युक्त विमानों पर तेजस्वी देवता आरूढ़ हुए ॥ ३॥

जवाज्जातेन वातेन बलाकृष्टबलाहकैः ।
श्वसनात् स्वस्य शीघ्रत्वं रथैरेषामिवाकथि ॥ ४ ॥

अपने वेग से उत्पन्न हुई वायु से हठ-पूर्वक मेघों का आकर्षण करने वाले विमान अपना वेग मानो वायु की अपेक्षा अधिक प्रकट करते थे ॥४॥

क्रमाद् दवीयसां तेषां तदानीं समदृश्यत ।
स्पष्टमष्टगुणैश्वर्य्यात् पर्यवस्यन्निवाणिमा ॥ ५ ॥

जाते जाते दूर पहुँचे देवताओं की अणिमा ऐसी स्पष्ट मालूम होती थी। मानों वह उनके अष्ट गुणों के ऐश्वर्य से पृथक् हो गई हो ॥५॥

ततान विद्युता तेषां रथे पीतपताकताम् ।
लब्धकेतुशिखोल्लेखा लेखा जलमुचः क्वचित् ॥ ६ ॥

आकाश के किसी प्रदेश में मेघों की पंक्ति में पताकाओं के अग्रभाग के घुस जाने से बिजली ऐसे चमकने लगती थी माना विमानों में पीली पताकाएँ फहरा रही हों ॥६॥

पुनःपुनर्मिलन्तीषु पथि पाथोदपंक्तिषु ।
नाकनाथरथालम्बि बभूवाभरणं धनुः ॥ ७ ॥

मार्ग में बार-बार दौड़ते हुए मेघों की पंक्ति में वर्तमान धनुष इन्द्र के रथ के पास आकर उसका आभूषण बन जाता था ॥७॥

जले जलदजालानां वज्रिवज्रानुविम्बनैः ।
जाने तत्कालजैस्तेषां जाताऽशनिसनाथता ॥ ८ ॥

मैं समझता हूँ कि मेघ-जाल के जल में उस समय पड़े इन्द्र के वज्र के प्रतिबिम्बों से मेघ-जाल का वज्र के साथ सम्बन्ध हो गया ॥८॥

स्फुटं सावर्णिवंश्यानां कुलच्छत्रं महीभुजाम् ।
चक्रे दण्डभृतश्चुम्बन् दण्डश्चण्डरुचिं क्वचित् ॥ ९ ॥

एक जगह यम के दण्ड ने सूर्य का स्पर्श करके उसे मनुके वंश में उत्पन्न हुए राजाओं के कुल का छत्र (अर्थात् राज-चिन्ह) प्रकट किया ॥९॥

नलभीमभुवोः प्रेम्णि विस्मितायाः दधौ दिवः ।
पाशिपाशः शिरःकम्पस्रस्तभूषश्रवःश्रियम् ॥१०॥

वरुण का पाश नल-दमयन्ती के प्रेम से विस्मित हुए स्वर्ग के—सिर हिलाने से गिरे हुए—कुण्डल से रहित कर्ण की शोभा धारण करता था ॥१०॥

पवनस्कन्धमारुह्य नृत्यत्तरकरः शिखी ।
अनेन प्रापि भैमीति भ्रमं चक्रे नभःसदाम् ॥११॥

पवन के स्कंध पर आरुढ़ होकर चारों ओर किरणें फैलाते हुए अग्नि ने देवताओं में यह भ्रम पैदा कर दिया कि उसने दमयन्ती को प्राप्त कर लिया है ॥११॥

तत्कर्णौ भारती दूनौ विरहाद्भीमजागिराम् ।
अध्वनि ध्वनिभिर्वैणैरनुकल्पैर्व्यनोदयत् ॥१२॥

सरस्वती ने मार्ग में दमयन्ती की वाणी के विरह से संतप्त देवताओं के कानों को—दमयन्ती की वाणी से कुछ न्यून—वीणा की ध्वनि से सुखी किया ॥१२॥

अथायान्तमवैक्षन्त ते जनौघमसित्विषम् ।
तेषां प्रत्युद्गमप्रीत्या मिलद्व्योमेव मूर्त्तिमत् ॥१३॥

फिर देवताओं ने खड्ग के समान कान्ति वाले एक झुंड को इस तरह अपनी तरफ आते देखा मानो देवताओं का स्वागत करने की इच्छा से मूर्तिमान् आकाश आया हो ॥१३॥

अद्राक्षुराजिहानं ते स्मरमग्रेसरं सुराः ।
अक्षाविनयशिक्षार्थं कलिनेव पुरस्कृतम् ॥१४॥

देवताओं ने उस झुंड के आगे आते कामदेव को देखा जो ऐसा मालूम

होता था मानो कलियुग ने अविनय की शिक्षा देने के लिए उसे आगे रक्खा हो ॥१४॥

अगम्यार्थं तृणप्राणाः पृष्ठस्थीकृतभीह्रियः ।
शम्भलीभुक्तसर्वस्वा जना यत्पारिपार्श्विकाः ॥१५॥

अगम्य स्त्रियों के पास जाने के लिए अपने प्राणों को तृण समझने वाले, भय और लज्जा को पीछे रखने वाले तथा जिनका सर्वस्व कुटनियों ने भोग लिया था ऐसे लोग कामदेव के सेवक थे ॥१५॥

बिभर्ति लोकजिद्भावं बुद्धस्य स्पर्द्धयेव यः ।
यस्येशतुल्ययेवात्र कर्तृत्वमशरीरिणः ॥१६॥

कामदेव, मानो बुद्ध की स्पर्धा से, लोक[1]जित् होने का भाव धारण करता है और जगत् में, मानो ईश्वर की स्पर्धा से, अशरीरी होकर कर्ता[2] बनता है ॥१६॥

ईश्वरस्य जगत्कृत्स्नं सृष्टिमाकुलयन्निमाम् ।
अस्ति योऽस्त्रीकृतस्त्रीकस्तस्य वैरं स्मरन्निव ॥१७॥

कामदेव, मानो ईश्वर के साथ शत्रुता का स्मरण करके, स्त्रियों को अस्त्र बनाकर ईश्वर के बनाए हुए सब जगत् को पीड़ा देता है ॥१७॥

चक्रे शक्रादिनेत्राणां स्मरः पीतनलश्रियाम् ।
अपि दैवतवैद्याभ्यामचिकित्स्यमरोचकम् ॥१८॥

कामदेव ने नल की शोभा का पान करने वाले इन्द्र आदि के नेत्रों में अरुचि[3] पैदा करके उनको अश्विनी-कुमारों से भी चिकित्सा के अयोग्य कर दिया ॥१८॥

१—बुद्ध का नाम लोकजित् भी है। कामदेव लोकों का जेता बनता था।

२—जैसे तार्किकों के मत में अशरीरी ईश्वर ने संसार पैदा किया है उसी तरह अशरीरी कामदेव, कामियों के मनोविकारों को प्रेरित करके, संसार का कर्ता बनता है।

३—आशय यह है कि नल के समान अत्यन्त सुन्दर व्यक्ति को देख लेने से उनमें नल की अपेक्षा कम सुन्दर व्यक्तियों को देखने की रुचि नहीं रही।

यत्तत्क्षिपन्तमुत्कम्पमुत्थायुकमथारुणम् ।
बुबुधुर्विबुधाः क्रोधमाक्रोशाक्रोशघोषणम् । १९॥

फिर प्रहार के लिए चाहे जो कुछ फेंकते, सब अंग कँपाने वाले, लड़ने को तैयार, रक्त-वर्ण तथा कोसों तक चिल्ला चिल्लाकर गालियाँ देते क्रोध को देवताओं ने देखा ॥१९॥

यमुपासन्त दन्तौष्ठक्षतासृक्शिष्यचक्षुषः ।
भ्रुकुटीफणिनीनादनिभनिःश्वासफूत्कृतः ॥२०॥

क्रोध के सेवक उसके साथ थे जिन के नेत्र दाँतों से काटे हुए होठ के रुधिर के समान लाल थे और जो भृकुटी रूप सर्पिणी की फूत्कार के समान श्वास की फूत्कार निकालते थे ॥२०॥

दुर्गं कामाशुगेनापि दुर्लङ्घ्यमवलम्ब्य यः ।
दुर्वासोहृदयं लोकान् सेन्द्रानपि दिधक्षति ॥२१॥

दुर्वासा के—कामदेव के बाणों से भी लंघन करने में असमर्थ—हृदय रूप दुर्ग का आश्रय लेकर क्रोध इन्द्र आदि के साथ सब लोकों को जलाना चाहता था ॥२१॥

वैराग्यं यः करोत्युच्चै रञ्जनं जनयन्नपि ।
सूते सर्वेन्द्रियाच्छादि प्रज्वलन्नपि यस्तमः ॥२२॥

क्रोध राग (=मुख की लालिमा आदि) को उत्पन्न करता हुआ भी विराग (=उद्वेग) पैदा करता है तथा प्रज्वलित होकर भी इस प्रकार का तम (=विमोह अथवा मूढ़ता) उत्पन्न करता है जिस से सम्पूर्ण बाह्य इन्द्रियाँ और अन्तरिन्द्रिय (=अन्तःकरण) भी ढँक जाती हैं ॥२२॥

पञ्चेषुविजयाशक्तौ भवस्य क्रुध्यतो जयात् ।
येनान्यविगृहीतारिजयकालनयः श्रितः ॥२३॥

कामदेव के जीतने में असमर्थ होने से रुष्ट हुए महादेव को अपने वश में करने के कारण क्रोध ने—दूसरे के साथ शत्रु का विग्रह हो तब उसपर अपने विजय का समय है—इस नीति को अंगीकार किया ॥२३॥

हस्तौ विस्तारयन्निभ्ये विभ्यदर्धपथस्थवाक् ।
सूचयन् काकुमाकूतैर्लोभस्तत्र व्यलोकि तैः ॥२४॥

उस भीड़ में धनिकों की ओर दोनों हाथ फैलाते, डरपोक, टूटी-फूटी वाणी बोलते तथा इशारों से अपनी दीनता का विकृत भाव प्रदर्शित करते शरीरधारी लोभ को देवताओं ने देखा ॥२४॥

दैन्यस्तैन्यमया नित्यसत्याहारामयाविनः ।
भुञ्जानजनसाकूतपश्या यस्यानुजीविनः ॥२५॥

लोभ के सेवक दीन, चोरी में चतुर, सदा अधिक भोजन करने के कारण पुराने रोगी तथा भोजन करते हुए लोगों पर सार्थक दृष्टि गेरनेवाले थे ॥२५॥

धनिदानाम्बुवृष्टेर्यः पात्रपाणाववग्रहः ।
स्वान् दासानिव हा निःस्वाद्विक्रीणीतेऽर्थवत्सु यः ॥२६॥

धनी मनुष्यों के दान के संकल्प का जलपात्र के हाथ में देने में लोभ विघ्न करता है और अपने गरीब नातेदारों को दासों की तरह बड़े आदमियों को बेच देता है ॥२६॥

एकद्विकरणे हेतू महापातकपञ्चके ।
न तृणे मन्यते कोपकामौ यः पञ्च कारयन् ॥२७॥

लोभ क्रोध और काम की जरा भी परवा नहीं करता । क्रोध पाँच[१] बड़े-बड़े पापों में से एक और काम दो करता है पर लोभ पाँचो करता है ॥२७॥

यः सर्वेन्द्रियसद्मापि जिह्वां वह्ववलम्बते ।
तस्यामाचार्यकं याञ्चावटवे पाटवेऽर्जितुम् ॥२८॥

यद्यपि लोभ सब इन्द्रियों में रहता है पर भिक्षा-निपुण ब्रह्मचारियों को खुशामद करना सिखाने के लिए वह जिह्वा का विशेष प्रकार से आश्रय लेता है ॥२८॥

पथ्यां तथ्यामगृह्णन्तमन्धं बन्धुप्रबोधनाम ।
शून्यमाश्रित्य नोज्झन्तं मोहमैक्षन्त हन्त ते ॥२९॥

१—क्रोध-१ ब्रह्म हत्या । काम-१ ब्रह्म-हत्या तथा २ गुरु-स्त्री-गमन । लोभ-१, २ तथा ३ सुरापान ४ चोरी और ५ इनकी सहकारिता ।

खेद है कि देवताओं ने अंधे मोह को भी देखा जो बन्धुओं के सच्चे तथा हितकारक उपदेश नहीं मानता और किसी व्यर्थ काम से चिपट जाय तो उसे कभी नहीं छोड़ता ॥२९॥

श्वःश्वः प्राणप्रयाणेऽपि न स्मरन्ति स्मरद्विषः।
मग्नाः कुटुम्बजम्बाले बालिशा यदुपासिनः॥३०॥

मोह के सेवक मूर्ख थे जो संसार की चिन्ताओं की दलदल में फँसे थे। जीवन का कल ही समाप्त होना जानकर भी ईश्वर का स्मरण नहीं करते थे ॥३०॥

पुंसामलब्धनिर्वाणज्ञानदीपमयात्मनाम्।
अन्तर्म्लापयति व्यक्तं यः कज्जलवदुज्ज्वलम्॥३१॥

वह मोह अविनाशी ज्ञानरूप दीपक से युक्त आत्मावाले मनुष्यों के निर्मल अन्तःकरण को भी इस प्रकार प्रकट रूप से मलीन कर देता है जैसे बीच में रक्खे दीपक का काजल सफेद घट आदि के मध्य को काला बना देता है ॥२१॥

ब्रह्मचारिवनस्थायियतयो गृहिणं यथा।
त्रयो यमुपजीवन्ति क्रोधलोभमनोभवाः॥३२॥

ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यासी—तीनों जैसे गृहस्थ के आश्रय में रहते हैं उसी तरह—क्रोध, लोभ और काम—तीनों मोह के आश्रय में रहते हैं ॥३२॥

जाग्रतामपि निद्रा यः पश्यतामपि योऽन्धता।
श्रुते सत्यपि जाड्यं यः प्रकाशेऽपि च यस्तमः॥३३॥

मोह जागनेवालों के लिए निद्रा, देखनेवालों के लिए अंधता, शास्त्र-ज्ञान के लिए जड़ता तथा प्रकाश के लिए अंधकार है ॥३३॥

कुरुसैन्यं हरेणेव प्रागलज्जत नार्जुनः।
हतं येन जयन् कामस्तमोगुणजुषा जगत्॥३४॥

तमोगुण की सेवा करने वाले मोह के द्वारा जीते गये जगत् को जीतने में कामदेव को लज्जा नहीं आई जैसे महादेव के द्वारा पहले नष्ट की गई कुरु-सेना को पीछे विनष्ट करने से अर्जुन को लज्जा नहीं हुई थी ॥३४॥

चिह्निताः कतिचिद्देवैः प्राचः परिचयादमी ।
अन्ये न केचनाचूडमेनःकञ्चुकमेचकाः ॥३५॥

उस भीड़ में कुछ व्यक्तियों को देवताओं ने पहचान लिया क्योंकि उनकी पुरानी जान-पहचान थी। कुछ को नहीं पहचाना क्योंकि वे शिखा तक पाप रूप लबादे से काले हो रहे थे ॥३५॥

तत्रोद्घूर्ण इवार्णोधौ सैन्येऽभ्यर्णमुपेयुषि ।
कस्याप्याकर्णयामासुस्ते वर्णान् कर्णकर्कशान् ॥३६॥

समुद्र की तरह उमड़ती कलियुग की सेना पास आई तब देवताओं ने किसी के कर्ण-कर्कश शब्द सुनें ॥३६॥

ग्रावोन्मज्जनवद्यज्ञफलेऽपि श्रुतिसत्यता ।
का श्रद्धा तत्र धीवृद्धाः ! कामाध्वा यत्खिलीकृतः ॥३७॥

जलपर[1] पत्थर तैरने के समान यज्ञों के फल में वेदों की सत्यता है। हे ज्ञानवृद्धो, इसमें क्या श्रद्धा की जाय ? इसने तो स्वेच्छाचार का मार्ग ही रोक दिया है ॥३७॥

केनापि बोधिसत्त्वेन जातं सत्त्वेन हेतुना ।
यद्वेदमर्मभेदाय जगदे जगदस्थिरम् ॥३८॥

कोई बुद्ध वेद का रहस्य भंग करने के लिए उत्पन्न हुआ जिसने जगत् को अस्थिर बतलाया क्योंकि जो पदार्थ हैं सब क्षणिक हैं ॥३८॥

अग्निहोत्रं त्रयीतन्त्रं त्रिदण्डं भस्मपुण्ड्रकम् ।
प्रज्ञापौरुषनिःस्वानां जीवो जल्पति जीविका ॥३९॥

अग्नि होत्र, वेद पाठ, तन्त्र, त्रिदण्ड धारण करना तथा भस्म से मस्तक पर त्रिपुंड्र लगाना ये सब बुद्धि और पौरुष से रहित लोगों की जीविका के साधन मात्र हैं—चार्वाकाचार्य बृहस्पति ने ऐसा ही कहा है ॥३९॥

१—आशय यह है कि जैसे जल पर पत्थर नहीं तैर सकता उसीतरह यज्ञों से स्वर्गादि फल नहीं मिल सकते।

शुद्धिर्वंशद्वयीशुद्धौ पित्रोः पित्रोर्यदेकशः ।
तदानन्तकुलादोषाददोषा जातिरस्ति का ? ॥४०॥

माता-पिता तथा उनके माता-पिता —इनमें से प्रत्येक के दोनों वंशों की शुद्धि होने पर ही पुत्र की शुद्धि होती है । इस कारण कौन सो जाति असंख्य पीढ़ियों की शुद्धता से पवित्र है ? ॥४०॥

कामिनीवर्गसंसर्गैर्न कः सङ्क्रान्तपातकः ।
नाश्नाति स्नाति हा मोहात् कामक्षामव्रतं जगत् ॥४१॥

कामिनियों के समुदाय के साथ संसर्ग होने के कारण कौन पाप से बचा है ? काम ने संसार के व्रत को नष्ट कर दिया है । मोह के कारण लोग उपवास करते हैं और तीर्थों में स्नान करते हैं ॥४१॥

ईर्ष्यया रक्षतो नारीर्धिक् कुलस्थितिदाम्भिकान् ।
स्मरान्धत्वाविशेषेऽपि तथा नरमरक्षतः ॥४२॥

जो अपने कुल की स्थिति का दंभ करें वे निन्दा के योग्य हैं । यद्यपि दोनों में काम की अंधता एक सी होती है तथापि वे ईर्ष्या के कारण स्त्रियों को तो पर-पुरुष के साथ संसर्ग से रोकते हैं पर मनुष्यों को पर-स्त्री के संसर्ग से नहीं रोकते ॥४२॥

परदारनिवृत्तिर्या सोऽयं स्वयमनादृतः ।
अहल्याकेलिलोलेन दम्भो दम्भोलिपाणिना ॥४३॥

अहल्या के साथ सुरत में लंपट हुए इन्द्र ने स्वयं पर-स्त्रियों से अलग रहने के दंभ का अनादर किया ॥४३॥

गुरुतल्पगतौ पापकल्पनां त्यजत द्विजाः ! ।
येषां वः पत्युरत्युच्चैर्गुरुदारग्रहे ग्रहः ॥४४॥

१—महाभारत में लिखा है:—

व्युच्चरन्त्याः पतिं नार्या अद्य प्रभृति पातकं,
भ्रूणहत्यासमं घोरं भविष्यत्यसुखावहम् ।
भार्यां तथा व्युच्चरतः कौमारब्रह्मचारिणीम्,
पतिव्रतामेतदेव भविता पातकं भुवि ॥

ब्राह्मणो, गुरु की स्त्री के साथ संभोग के विषयमें पाप की कल्पना छोड़ दो क्योंकि तुम्हारा स्वामी चन्द्रमा अपने गुरु बृहस्पति की स्त्री के ग्रहण में नियुक्त हुआ था ॥४४॥

पापात्तापा मुदः पुण्यात् परासोः स्युरिति श्रुतिः ।
वैपरीत्यं द्रुतं साक्षात् तदाख्यात बलाऽबले ॥४५॥

वेद में लिखा है कि मरने वाले को पाप से दुःख तथा पुण्य से सुख मिलता है पर इस के विपरीत बातें प्रत्यक्ष तथा निश्चित हैं। ब्राह्मणो, बतलाओ—सुनी हुई और प्रत्यक्ष देखी हुई बातों में कौन सी प्रबल और कौन सी दुर्बल है ? ॥४५॥

सन्देहेऽप्यन्यदेहाप्तेर्विवर्ज्यं वृजिनं यदि ।
त्यजत श्रोत्रियाः! सत्रं हिंसादूषणसंशयात् ॥४६॥

मरणानन्तर देहान्तर-प्राप्ति में सन्देह होने पर भी अगर पाप नहीं करना है तो हे श्रोत्रियो, तुम यज्ञ करना छोड़ दो क्योंकि यज्ञ में पशु-वध से पाप होता है या नहीं—इसमें सन्देह है ॥४६॥

यस्त्रिवेदीविदां वन्द्यः स व्यासोऽपि जजल्प वः ।
रामाया, जातकामायाः प्रशस्ता हस्तधारणा ॥४७॥

तुम्हारे पूजनीय—तीनों वेद पढ़नेवाले—व्यास ने भी कहा है कि कामार्त स्त्री का रमण के लिए ग्रहण करना प्रशंसनीय है ॥४७॥

सुकृते वः कथं श्रद्धा सुरते च कथं न सा ।
तत्कर्म पुरुषः कुर्याद्येनान्ते सुखमेधते ॥४८॥

पुण्य में तुम्हारी श्रद्धा क्यों है ? सुरत में क्यों नहीं है ? मनुष्य को वही कार्य करना चाहिए जिससे अन्त में सुख मिले ॥४८॥

बलात् कुरुत पापानि सन्तु तान्यकृतानि वः ।
सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान् मनुरब्रवीत् ॥४९॥

यदि तुम बल-पूर्वक पाप करोगे तो वे नहीं किए हुए समझे जायँगे क्योंकि मनु ने बल-पूर्वक किए गए सब दोषों को नहीं के बराबर कहा है ॥४९॥

स्वागमार्थेऽपि मा स्थास्मिस्तीर्थिका ! विचिकित्सवः ।
तं तमाचरतानन्दं स्वच्छन्दं यं यमिच्छथ ॥५०॥

धार्मिको, तुम अपने शास्त्र के अर्थ के विषय में संशय मत करो । जो जो आनन्द तुम चाहो उसे स्वेच्छा से प्राप्त करो ॥५०॥

श्रुतिस्मृत्यर्थबोधेषु कैकमत्यं महाधियाम् ।
व्याख्या बुद्धिबलापेक्षा सा नोपेक्ष्या सुखोन्मुखी ॥५१॥

श्रुति और स्मृति के अर्थ के ज्ञान में बड़े बड़े विद्वानों का भी कहीं एक-सा मत होता है ? बुद्धि की शक्ति के अनुसार व्याख्या होती है । जिस व्याख्या से सुख मिले उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ॥५१॥

यस्मिन्नस्मीति धीर्देहे तद्दाहे वः किमेनसा ।
कापि तत्किं फलं न स्यादात्मेति परसाक्षिके ॥५२॥

जिस देह को तुम [1]अहं-बुद्धि का आश्रय समझते हो उसके भस्म होने पर तुम्हें पाप से क्या प्रयोजन है ? यदि आत्मा के रूप से कोई ऐसा देह है जो कर्ता से भिन्न होकर भोक्ता होता है तो क्या उसे पाप का फल नहीं मिलेगा ? ॥५२॥

मृतः स्मरति जन्मानि मृते कर्मफलोर्मयः ।
अन्यभुक्तैर्मृते तृप्तिरित्यलं धूर्त्तवार्तया ॥५३॥

मनुष्य मर कर अपने कर्मों का स्मरण करता है; मरने पर कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं; दूसरों को भोजन देने से मरे हुओं की तृप्ति होती है—इन सब—धूर्तों की बातों—को रहने दो ॥५३॥

जनेन जानतास्मीति कायं नायं त्वमित्यसौ ।
त्याज्यते ग्राह्यते चान्यदहो श्रुत्यातिधूर्तया ॥५४॥

अरे ! कैसे आश्चर्य की बात है कि यह अत्यन्त धूर्त वेद-शास्त्र उसे देह रूपी आत्मा को, जिसे सब लोग अहं-ज्ञान का आश्रय अनुभव करते हैं, उनसे यह कहकर छुड़ाता है कि यह देह आत्मा नहीं है तथा—इस सर्वानुभूत देह-

१—जैसे तुम कहो कि मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ इत्यादि ।

आत्मा का निषेध करके—इससे भिन्न किसी अन्य वस्तु को ही आत्मा ठाकर उसे ग्रहण करने को कहता है ॥५४॥

एकं सन्दिग्धयोस्तावद्भावि तत्रेष्टजन्मनि ।
हेतुमाहुः स्वमन्त्रादीनसङ्गानन्यथा विटाः ॥५५॥

संदिग्ध अर्थों में से निःसन्देह ठीक होगा । तब अभीष्ट का लाभ होने पर धूर्त अपने मंत्र आदि को कारण बतला देते हैं । अभीष्ट का लाभ न हो तो मंत्रों को अंगहीन बतला देते हैं ॥५५॥

एकस्य विश्वपापेन तापेऽनन्ते निमज्जतः ।
कः श्रौतस्यात्मनो भीरो ! भारः स्याद्दुरितेन ते ॥५६॥

हे भीरु, सबके पाप से अक्षय ताप का अनुभव करते हुए—वेद से सिद्ध—अद्वितीय आत्मा को तुम्हारे अकेले के पाप से क्या भार होगा ? ॥५६॥

किं ते वृन्तहृतात् पुष्पात् तन्मात्रे हि फलत्यदः ।
न्यस्य तन्मूर्ध्न्येनन्यस्य न्यास्यमेवाश्मनो यदि ॥५७॥

डंठल से फूल तोड़ने से तुम्हें क्या लाभ ? वह तो डंठल के ऊपर ही फल हो जाता है ; यदि उसे पत्थर पर चढ़ाना है तो अपने सिर पर चढ़ालो ॥५७॥

तृणानीव घृणावादान् विधूनय वधूरनु ।
तवापि तादृशस्यैव का चिरं जनवञ्चना ॥५८॥

स्त्रियों के लिए घृणा के वचन तृण के समान त्याग दो । इस तरह कब तक तुम लोगों को ठगोगे ? तुम भी उतने ही बुरे हो ॥५८॥

कुरुध्वं कामदेवाज्ञां ब्रह्माद्यैरप्यलङ्घिताम् ।
वेदोऽपि देवकीयाज्ञा तत्राज्ञाः ! काधिकार्हणा ॥५९॥

मूर्खों, तुम कामदेव की आज्ञा मानो जिसका ब्रह्मा आदि भी उल्लंघन नहीं कर सकते हैं । वेद भी देवताओं की आज्ञा है । इस कारण वेद की आज्ञा में क्या अधिक माननीयता है ? ॥५९॥

प्रलापमपि वेदस्य भागं मन्यध्व एव चेत् ।
केनाभाग्येन दुःखान्न विधीमधि तथेच्छया ॥६०॥

यदि तुम वेद के किसी भाग को अर्थ-हीन समझते हो ...
जनक विधियों को भी किस अभाग्य से वैसा नहीं समझते ? ॥६०॥

श्रुतिं श्रद्धत्थ विक्षिप्ताः प्रक्षिप्तां ब्रूथ च स्वयम् । जो जो
मीमांसामांसलप्रज्ञास्तां यूपद्विपदापिनीम् ॥६१॥

ब्राह्मणो, तुम्हारी बुद्धि मीमांसा के विचार से प्रकृष्ट[1] हो गई ... विक्षिप्त होकर वेद पर श्रद्धा करते हो लेकिन स्वयं कहते हो कि यूप ... हुआ वस्त्र देने की श्रुति प्रक्षिप्त है ॥६१॥

को हि वेदास्त्यमुष्मिन् वा लोक इत्याह या श्रुतिः ।
तत्प्रामाण्यादमुं लोकं लोकः प्रत्येतु वा कथम् ? ॥६२॥

वेद कहता है—पर-लोक में क्या है—यह कौन जानता है ? इस वेद के प्रमाण से कौन परलोक में विश्वास करेगा ? ॥६२॥

धर्म्माधर्मौ मनुर्जल्पन्नशक्यार्जनवर्जनौ ।
व्याजान्मण्डलदण्डार्थी श्रद्धायि मुधा बुधैः ॥६३॥

केवल राष्ट्र के लोगों को दंड दे दे कर जुर्माना वसूल करने की इच्छा वाले मनु ने धर्म और अधर्म के उपदेश के बहाने ऐसे ऐसे धर्म-नियम बनाये हैं जिनका कभी लोग सर्वांश में पालन नहीं कर सकते तथा ऐसे ऐसे अधर्म-कर्म निषिद्ध किए हैं जिन्हें कभी लोग सर्वांश में छोड़ नहीं सकते । अतः मनु-स्मृति पर मूर्खों ने व्यर्थ ही श्रद्धा करली है ॥६३॥

व्यासस्यैव गिरा तस्मिञ्श्रद्धेत्यद्धा स्थ तात्त्रिकाः । —इन
मत्स्यस्याप्युपदेश्यान् वः को मत्स्यानपि भाषताम् ॥६४॥

यदि व्यास की वाणी[2] से ही मनु में श्रद्धा है तो तुम सच्चे तांत्रिक[3]

१—यहाँ स्थूल हो जाने से आशय है ।

२—व्यास ने कहा है—प्रमाणं धर्माधर्मार्थे आद्यो वक्ता मनुः स्वयम् । महाभारत

३—वाक्य-विचार-चतुर । आशय यह है कि यदि तुम पराशर से दास कन्या में उत्पन्न हुए तथा अपनी भाभी से पुत्र उत्पन्न करने वाले व्यास की बात मानते हो तो तुम बड़े मूर्ख हो ।

आत्मा का शिष्य—तुम मत्स्यों से कौन बातचीत करेगा ? ॥६४॥

ाकर उसे ग्रह तः पाण्डवानां स व्यासश्चाटुपटुः कविः ।

एकं स ेषु निन्दत्सु स्तुवत्सु स्तुतवान् न किम् ? ॥६५॥

. बुद्धिमान् तथा कवि था और पाण्डवों की खुशामद करने में

संदि । जब वे किसी की निन्दा करते थे तब क्या उसने निन्दा नहीं की

धूर्त अप उन्होंने किसी की प्रशंसा की तब क्या उसने प्रशंसा नहीं की ॥६५॥

मंत्रों को न भ्रातुः किल देव्यां स व्यासः कामात् समासजत् ।

दासीरतस्तदासीद्यन्माता, तत्राप्यदेशि किम् ? ॥६६॥

क्या व्यास काम के वशीभूत होकर अपनी भाभी में आसक्त नहीं हुआ ? बाद में वह एक दासी पर अनुरक्त हो गया था। तब भी क्या उसकी माता[3] ने आज्ञा दे दी थी ? ॥६६॥

देवैर्द्विजैः कृता ग्रन्थाः पन्था येषां तदादृतौ ।

गां नतैः किं न तैर्व्यक्तं ततोऽप्यात्माऽधरीकृतः ॥६७॥

जो ब्राह्मणों और देवताओं की पूजा करके इन्हीं के बनाए हुए ग्रन्थों को प्रमाण समझते हैं उन्होंने गौ को नमस्कार कर के क्या अपना तिरस्कार नहीं किया ? ॥६७॥

साधुकामुकतामुक्ता शान्तस्वान्तैर्मखोन्मुखैः ।

सारङ्गलोचनासारां दिवं प्रेत्यापि लिप्सुभिः ॥६८॥

भी हरिण-नयनी सुन्दरियों से युक्त स्वर्ग की कामना करने वाले

तक तुम लो याज्ञिकों ने कामुकता नहीं छोड़कर अच्छा ही किया ॥६८॥

१—मत्स्य-पुराण में मत्स्य वक्ता और मनु श्रोता है। आस्तिकों को मत्स्य का शिष्य बतलाया है क्योंकि वे मनु की संतान हैं। यहाँ आक्षेप किया गया है कि जब मत्स्य तक तुमको उपदेश दे चुके तब मैं क्या कह सकता हूँ ?

२—गुरु-शिष्य का सजातीयत्व दिखाने के लिए आस्तिकों को मत्स्य कहा है।

३—देवरसे पुत्र की उत्पत्ति कराने में धर्म की हानि नहीं होती पर उसमें माता की आज्ञा होना आवश्यक है। यहाँ आक्षेप किया गया है। आशय यह है कि दोनों में व्यास का अनुराग काम के द्वारा हुआ था।

कः शमः क्रियतां प्राज्ञाः ! प्रियाप्रीतौ परिश्रमः ।
भस्मीभूतस्य भूतस्य पुनरागमनं कुतः ? ॥६९॥

मूर्खों, शान्ति किस काम की है ? अपनी स्त्रियों को स[न्तुष्ट] करो। क्या कोई प्राणी भस्म होने के बाद फिर लौटकर [आ]ता है ?

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः ।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि ॥७०॥

पाणिनि ने भी "[1]अपवर्गे तृतीया" कहकर, स्त्री पुरुष दो[नों] में आसक्त हों—यह अभिप्राय प्रकट किया है ॥७०॥

विश्रत्युपरियानाय जना जनितमज्जनाः ।
विग्रहायाग्रतः पश्चाद्गत्वरोरभ्रविभ्रमम् ॥७१॥

स्वर्ग जाने के लिए पवित्र नदियों में स्नान करनेवाले मनुष्य [लड़ने] वाले युद्ध में पीछे जाने वाले भेड़ों के समान होते हैं ॥७१॥

एनसानेन तिर्य्यक् स्यादित्यादिः का विभीषिका ?।
राजिलोऽपि हि राजेव स्वैः सुखी सुखहेतुभिः ॥७२॥

अमुक पाप से मनुष्य दूसरे जन्म में तिर्यक् योनि को प्राप्त हो[ता है, इस] वचन से ही नहीं डरना चाहिए क्योंकि जल का साँप भी अ[पनी] अनुकूल सुख-सामग्री के प्राप्त होने से राजा के समान सुखी होता है।

हताश्चेद्दिवि दीव्यन्ति दैत्या दैत्यारिणा रणे ।
तत्रापि तेन युध्यन्तां हता अपि तथैव ते ॥७३॥

यदि युद्ध में मारे गये मनुष्य स्वर्ग में क्रीड़ा करते हैं तो वि[ष्णु]...

१—"अपवर्गे तृतीया" का यह अर्थ है कि जब कोई कार्य पूरा [होता है तब] तृतीया विभक्ति होती है। यहाँ अर्थ का अनर्थ करके यह प्रकट कि[या गया है कि] पाणिनि ने मैथुन धर्म में अशक्त नपुंसक को तीर्थ-यात्रा आदि के द्वा[रा मोक्ष प्राप्त] करने की सम्मति दी है। जो स्त्री-पुरुष के लक्षणों से युक्त हैं तथा मै[थुन में समर्थ] हैं वे काम-भोग के अधिकारी हैं, न कि तीर्थयात्रा आदि के द्वारा म[ोक्ष के। इस] कारण कामदेव की आराधना का उपदेश दिया गया है।

